********* ओ३म् ******** 5

महाभारत

आर्यटीका

(प्रथम भाग)

टीकाकार :-

निखिलतन्त्रस्वतन्त्र महामहोपाध्याय

पं० आर्यमुनि जी

प्रकाशक :-

हरयाणा साहित्य संस्थान

गुरुकुल झज्जर (रोहतक)

****

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

पुस्तक-विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३०वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

ओ३म्

महाभारतार्यटीका

(प्रथम भाग)

टीकाकार :-

निखिलतन्त्रस्वतन्त्र महामहोपाध्याय

पं० आर्यमुनि जी

प्रकाशक :-

हरयाणा साहित्य संस्थान

गुरुकुल झज्जर (रोहतक)

प्रकाशक :-
हरयाणा साहित्य संस्थान
गुरुकल झज्जर (रोहतक)

मूल्य २०० रुपये

मुद्रक :-
वेदव्रत शास्त्री
आचार्य प्रिंटिंग प्रेस
गोहाना मार्ग, रोहतक
दूरभाष ७२८७४

प्रकाशक का वक्तव्य

पण्डित आर्यमुनि जी आर्यसमाज के प्रथम पीढी के विद्वानों में से हैं। इन्होंने सांख्य योग न्याय वैशेषिक वेदान्त और मीमांसा ६ दर्शनों पर आर्यभाष्य लिखकर छपवाये थे। इसी प्रकार गीता रामायण महाभारत आदि ग्रन्थों पर आर्यटीका लिखकर प्रकाशित किये थे।

प्रस्तुत महाभारत ग्रन्थ चार भागों में छपवाने की उनकी योजना थी। इसका प्रथम भाग उन्होंने संवत् १९७१ वि०, सन् १९१४ ई० में सेठों के रामगढ़ निवासी श्रीमान् सेठ पालीराम जयनारायण रामचन्द्र पौद्धार की सहायता से इम्पायर प्रेस लाहौर से मुद्रित करवा कर पं. देवदत्त शर्मा द्वारा प्रकाशित किया था। ८१ वर्ष पूर्व प्रकाशित यह महाभारत सर्वथा दुर्लभ है। इस के दो भाग हमारे पुस्तकालय में हैं। शेष दो भाग तीसरे और चौथे का अन्वेषण कर रहे हैं।

प्रथम भाग आपके हाथों में हैं। इसी प्रकार के तीन भाग और होंगे। सम्पूर्ण महाभारत चार भागों का अग्रिम मूल्य ५०० रुपये है। छपने के पश्चात् २०० रुपये प्रति भाग के हिसाब से ८०० रुपयों में यह ग्रन्थ मिल सकेगा। जो सज्जन ५०० रुपये अग्रिम जमा करवायेंगे उन्हें शेष ३ भाग भी इसी मूल्य में मिलेंगे।

ज्येष्ठ कृष्णा ७,२०५२ वि०
२१ मई १९९५

निवेदक -
स्वामी ओमानन्द सरस्वती
आचार्य गुरुकुल झज्जर



श्री पण्डित आर्य्यमुनि जी महामहोपाध्याय

प्रस्तावना

नित नित नूतन दृष्ट में सुनत न तृप्तहिं कान।
ऐसी गाथा जगत् में विन भारत नहिं आन॥

अर्थ–जिसको प्रतिदिन पढ़ने तथा सुनने से तृप्ति नहीं होती ऐसी कथा जगत् में महाभारत से विना अन्य कोई नहीं॥

वास्तव में महाभारत ऐसा अद्भुत ग्रन्थ है कि इसके समान दूसरा कोई ऐतिहासिक ग्रन्थ नहीं, मनुष्यजीवन को उच्च बनाने तथा सांसारिक यात्रा में मनुष्य को अपने उद्देश्य पर स्थिर रखने वाला एक यही ग्रन्थ है, यह धर्म, अर्थ, काम, नीति और क्षत्रिय योद्धाओं के अद्भुत कार्य्यों का भाण्डार है, हमारे विचार में एकमात्र यही ग्रन्थ है जिससे हमें भारतवर्ष का प्राचीन ऐश्वर्य्य, आत्मिकज्ञान, वैराग्य, विवेक और आचार की शुद्धि का पूर्ण ज्ञान होता है, यही नहीं महाराज युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि उस समय भारतवर्ष सम्पूर्ण धन धान्य से पूर्ण और विद्या तथा शिल्पादि सब प्रकार के ऐश्वर्य्य से भरपूर था–"मय" दानव का अद्भुत कारीगरी से सभाभवन बनाना और राजसूययज्ञ के समय देश देशान्तरों के ऐश्वर्य्य का खिचकर वहां आना इस बात को सिद्ध करता है कि उस समय भारतवर्ष से शिल्प और ऐश्वर्य्य में बढ़ चढ़कर कोई अन्य देश न था॥

इस इतिहास को विचारपूर्वक देखने से सम्यक् प्रतीत होता है कि यहां के नृप बड़े उच्च प्रभाव वाले थे, और जो यह

कहते हैं कि भारत के समय आर्य्य लोग देशदेशान्तरों में नहीं गये केवल इन्द्रप्रस्थ के आस पास ही उनकी एक छोटी राजधानी थी, उनको यह भाग ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिये कि जिस समय भीम पूर्व दिशा, सहदेव दक्षिण दिशा, अर्जुन उत्तर दिशा और नकुल पश्चिम दिशा को विजय करके इन्द्रप्रस्थ में आये उस समय उनके ऐश्वर्य्य की कोई सीमा न थी, जब महाराज नकुल "जो विचित्र मार्ग के जानने वाले थे" पश्चिम दिशा को विजय करके लौटे तो हज़ारों हाथियों पर उनका ख़ज़ाना लदा हुआ था, जहां हज़ारों हाथियों पर ख़ज़ाने का वर्णन है वहां पैदल और सवारों की तो गणना ही क्या, पाण्डवों ने जिन२ देशों को विजय किया यदि उनकी नामावली लिखीजाय तो एक बड़ा ग्रन्थ बनता है, पाण्डवों की दिग्विजय में ऐसे देशों के अनेक नाम आये हैं जिनको सहस्रों वर्षों के परिवर्तन से निश्चयपूर्वक नहीं कहसकते कि वह कौन २ देश थे, हां जिन २ देशों का विशेष वर्णन करदिया है उनमें हमें भी सन्देह नहीं, जैसाकिः—

रत्नानि भूरीण्यादाय संप्रतस्थे युधांपतिः ।
ततः सागरकुक्षिस्थान्म्लेच्छान्परमदारुणान् ॥
पह्लवान् वरवरांश्चैव किरातान् यवनान् शकान् ।
ततो रत्नान्युपादाय वशेकृत्वा च पार्थिवान् ॥

अर्थ—इसके पश्चात् सागर की कुक्षी में रहने वाले म्लेच्छ जो बड़े दारुण और लड़ाके थे उनको जीता, इस स्थल में हम निश्चयपूर्वक कहसकते हैं कि यह भारतवर्ष से बाहर के फ़ारस तथा यूनान आदि देश थे जिनको "बरबर" और "पह्लव" शब्द भलेप्रकार सिद्ध

करते हैं अर्थात् बरबर स्टेट अब तक उसी नाम से चला आता है और पल्हव फ़ारस का नाम है, इसीलिये फ़ारसी भाषा को पह्लवी कहते हैं, और "सागरकुक्षिस्थ" लेख भी इस बात को सिद्ध करता है कि वह बाहर के देश थे, क्योंकि "सागरकुक्षी" उसको कहते हैं जिसके तीन ओर जल और एक ओर शुष्क प्रदेश हो, सो ऐसे देश अर्ब आदि ही हैं जिनको पाण्डवों ने विजय किया था ॥

यह वह समय था जब आर्यों के वैदिकधर्म का कोष सब जातियों के लिये खुला था, यह वह समय था जब मनुष्यमात्र का उद्धार करना आर्यों का परमधर्म था, यह वह समय था जब क्षात्रधर्म को ही सब मर्यादाओं, वर्णों और धर्मों का साशक माना जाता था-यदि उस समय परमात्मा असुरों से इनकी रक्षा न करता तो न ब्राह्मण, न वैदिकधर्म, न चारों वर्ण और न चारों आश्रमों के धर्म रहते, क्योंकि ब्राह्मणों के नष्ट होजाने से सब नाश को प्राप्त होजाते, यह वह समय था किः—

न बाल एव म्रियते तदा कश्चिज्जनाधिप ।
नच स्त्रियं प्रजानाति कश्चिदप्राप्तयौवनः ॥

अर्थ-जिससमय बाल्यावस्था में कोई नहीं मरता था, और नाही कोई यौवन में पहुंचे विना विवाहित होता था, यह वह समय था जिस समय नर नारी अखण्डित ब्रह्मचर्य्य धारण करके गुरुकुलों में शिक्षा प्राप्त कर "मातृदेवो भव पितृदेवो भव आचार्य्य देवो भव"= माता, पिता तथा आचार्य्य को देवता मानते थे, और वह आचार्य्य जो नितान्त ब्रह्मपरायण हुए २ अपने शिष्यों को यह सदुपदेश करते थे कि हे शिष्य ! तू

"सत्यं वद, धर्मं चर"=सदा सत्य बोलना और वैदिकधर्म के अनुष्ठान में सदा तत्पर रहना, इसी आर्य्यमर्यादा का अवलम्बन कर महर्षि याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, बालब्रह्मचारी भीष्मपितामह और सत्यधर्मपरायण युधिष्ठिर सिद्धि को प्राप्त हो वैदिक पथ को सीधा कर गये अर्थात् आर्य्यजाति के हृदय में वह भाव भर गये जिनसे वह सदा के लिये जीवित रहसक्ती है ॥

इसी भाव को धारण कर मैत्री, गार्गी तथा सुलभा आदि स्त्रियें ब्रह्मज्ञान में पूर्ण हो ब्रह्मवादिनी हुईं जिनके नाम उपनिषदादि शास्त्रों में स्पष्ट हैं, इसी भाव से भूषित हुई पतिव्रता श्रीमती महाराणी सीता के गुणों को हम लोग रात्रिदिन गान करते हैं, इसी भाव से भरी हुई द्रौपदी की सहनशीलता की सारा महाभारत साक्षी दे रहा है, अधिक क्या जब कृष्ण सन्धि कराने के लिये कौरवों के समीप गये तब वहां से लौटते समय कुन्ती ने अपने पुत्रों को यह सन्देश भेजा कि :—

ब्रूयाः केशव राजानं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
भूयस्ते हीयते धर्मो मा पुत्रक वृथा कृथाः ॥
अंगावेक्षस्व धर्मं त्वं यथा सृष्टः स्वयंभुवा ।
बाहुभ्यां क्षत्रियाः सृष्टा बाहुवीर्योपजीविनः ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! धर्मराज युधिष्ठिर को मेरी ओर से कहो कि हे पुत्र ! तेरा धर्म हीन होरहा है तू अपना जीवन वृथा मत बना, हे बेटा ! अपने धर्म को विचार जैसा तुझे परमात्मा ने बनाया है, क्षत्रिय भुजाओं से उत्पन्न होने के कारण वह भुजबल से ही जीविका करने योग्य हैं, और एक प्राचीन इतिहास का स्मरण कराते

हुए कहा कि हे कृष्ण ! युधिष्ठिर को मेरी ओर से कहो कि पूर्व-काल में वैश्रवण ने क्षत्रिय मुचुकुन्द को पृथ्वी देनी चाही थी पर उसने न ली और कहा कि " बाहुवीर्यार्जितं राज्यमश्नीयामिति कामये"= मैं भुजबल से प्राप्त किये राज्य को ही भोगुंगा यही मेरी कामना है, इसलिये हे पुत्र ! मांगकर लेना तेरे लिये निषिद्ध है तू क्षत्रिय होने से भुजबल ही तेरी जीविका है, सो हे महाबाहो ! तू डूबे हुए पितृयंश=पिता के भाग को पुनः उद्धार कर ॥

एतद्धनंजयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः ।
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! अर्जुन तथा युद्ध के लिये सदा उद्यत भीम को यह कहना कि जिस काम के लिये क्षत्रिया जनती है उसका समय यह आया है, और :—

माद्रीपुत्रौ च वक्तव्यौ क्षत्रधर्मरताबुभौ ।
विक्रमेणार्जितान् भोगान् वृणीतं जीवितादपि ॥
विक्रमाधिगता ह्यर्था क्षत्रधर्मेण जीवतः ।
मनो मनुष्यस्य सदा प्रीणन्ति पुरुषोत्तम ॥

अर्थ—क्षात्रधर्म के प्रेमी माद्री के दोनो पुत्रों को यह कहो कि पराक्रम से कमाये हुए भोगों को जीवन से भी बढ़कर समझो, क्योंकि पराक्रम से प्राप्त किये अर्थ ही क्षात्रधर्मावलम्बी पुरुष के मन को सदा प्रसन्न करते हैं ॥

यह वैदिकधर्म को आश्रय करने वाली महिलाओं का भाव

था, यह वेदों की शिक्षा का फल था, इसी भाव को धारण करने वालीं देवी कहलाती थीं, यह वेदों की शिक्षा ही पतिव्रतधर्म का एकमात्र आश्रय था, और इसी भाव से भरपूर हुई अनेक स्त्रीभूषणों के नाम सुवर्ण अङ्कित अक्षरों में लिखे मिलते हैं कि जो धर्मरक्षा के निमित्त अपने जीवन को तृणवत् होम करके अपनी सन्तान को यह शिक्षा देती थीं कि हे पुत्रो ! यह तुम्हारा सनातन मार्ग जो तुम्हारे पुरुषाओं ने बनाया है इसी का आदर करो अर्थात् घर में व्याधि से मरना क्षत्रियों के लिये भूषण नहीं, क्षत्रियों का धर्म युद्ध में मरना है और यही सनातन मर्यादा है, इसी मर्यादा का अवलम्बन करके नाभाग, ययाति, मान्धाता और नहुष आदि बड़े २ नृप सिद्धि को प्राप्त हुए और यही तुम्हारे लिये स्वर्ग का बड़ा द्वार खुला हुआ है ॥

इसी वैदिकमर्यादा का पालन करते हुए बालब्रह्मचारी भीष्मपितामह ने बाणों की शय्या पर शयन करके अपनी सन्तान को यह शिक्षा दी कि: —

ब्राह्मणानां यथाधर्मो दानमध्ययनं तपः ।
क्षत्रियाणां तथा कृष्ण समरे देहपातनम् ॥

अर्थ–हे कृष्ण ! जिसप्रकार ब्राह्मणों का धर्म दान, वेदाध्ययन तथा तप करना है इसी प्रकार क्षत्रियों का धर्म युद्ध में शरीर का त्याग करना है ॥

यह वह भाव था जिससे भारतवर्ष की वैदिकप्रभा का भानु देशदेशान्तर और द्वीपद्वीपान्तरों में प्रदीप्तमान् था, यह वह भाव था जिससेभारतवर्ष के दिव्य देवगणों की शक्तियां दशो दिशाओं

में देवभाव फैलाती थीं, यह वह वैदिक भाव था जिससे सम्पन्न होकर आर्य्यजनों ने दैत्यभाव को आर्य्यावर्त्त से बाहर कर दिया था, यह वह भाव था जिसके प्रभाव से यह देश दरिद्रता, दीनता तथा दुर्बलता आदि सब दुर्गुणों से वर्जित था, यह वह भाव था जिसके दण्ड के आगे मिथ्याविश्वास, नास्तिकता तथा निन्दित नय का दम्भ दम नहीं मारसक्ता था, इसी आत्मसमर्पण का प्रभाव था कि यह देश विद्या, बुद्धि, मान, ऐश्वर्य्य और सब प्रकार के सद्गुणों से भरपूर था, कहां तक लिखें इस भारतवर्ष का गौरव यहां तक बढ़ा कि जिसके लिये द्वीप द्वीपान्तरों में भी कोई बाधा और रुकावट न रही, परन्तु इस न्याय के अनुसार कि वृद्धियें क्षयान्त होती हैं अर्थात् जो चीज अत्यन्त ऊंचाई को पहुंचेगी वह अवश्य गिरेगी, इसी नियमानुसार यह आर्यावर्त्तदेश भी विवादग्रस्त होगया, वह विवाद यहां विस्तार के कारण नहीं लिखा जाता केवल इतना लिखना पूर्ण है कि उस विवाद का मूलकारण यथा नाम तथा गुण दुर्योधन था, इस द्वेषाग्नि को शान्त करने के लिये भीष्मपितामह, विदुर, द्रोणाचार्य्य तथा कृपाचार्य आदि अनेक महानुभावों ने अत्यन्त यत्न किया पर इस दैवी दुर्घटना को कौन शान्त करसक्ता था ॥

यह भारत इतिहास ही है जो हमारे पूर्व पुरुषाओं के जीवनचरित्र द्वारा उस वैदिकपथ का स्मरण कराता है जिसका अनुष्ठान करना ही अमृत और जिससे पतित होना ही मृत्यु है ॥

यद्यपि ब्राह्मण, उपनिषद् तथा सूत्र ग्रन्थों में भी आर्य्यवंश का इतिहास संक्षेपतः वर्णित है परन्तु उनसे कोई पुरुष भी भारतीय इतिहास का चित्र नहीं खेंचसकता, जो कुछ आर्य्यों की

वंशावली मिल सकती हैं उसका मूलभूत "वाल्मीकिरामायण" और "महाभारत" ही हैं ॥

इसमें कई एक लोगों का यह निश्चय है कि महाभारत पहले और रामायण पीछे बना है, और इस सिद्धान्त की पुष्टि में वह इस तर्क का अवलम्बन करते हैं कि जब पहले पहल आर्य्य जाति इन्द्रप्रस्थ के आस पास थी उस समय का महाभारत और जिस समय उसका प्रवेश दक्षिण प्रान्त में हुआ उस समय का रामायण है, क्योंकि उस समय आर्य्यलोग लंका तक पहुंच गये थे जिसको अब सीलोन कहते हैं, और इसका भाव यह निकालते हैं कि रामायण बहुत उन्नति के समय का ग्रन्थ है, क्योंकि उस समय सम्पूर्ण भारतवर्ष में आर्य्यजाति का अधिकार होगया था, इसी सम्बन्ध में वह यह युक्ति भी देते हैं कि रामायण के समय आर्य्यों में सदाचार का पूर्ण अनुष्ठान पाया जाता है अर्थात् एक पुरुष के लिये एक ही स्त्री का होना धर्म और इससे भिन्न को व्यभिचार वर्णन किया गया है परन्तु महाभारत का समय ऐसा नहीं, इससे सिद्ध है कि सदाचार की रेखा पाये जाने से रामायण थोड़े काल का और महाभारत प्राचीन है, क्योंकि उसमें सदाचार की कोई रेखा नहीं पाई जाती और पहले पहल सब जातियों में ऐसा ही होता है, एवंविध अनेक युक्तियों से कई लेखकों ने महाभारत के समय को रामायण से प्रथम ठहराया है ॥

इस निर्णय के लिये हम प्रथम "महाभारत" शब्द के अर्थ का निरूपण करते हैं कि इसका यह नाम क्यों पड़ा ? ॥

भरत राजा से सम्बन्ध रखने वाले इतिहास को भारत कहते हैं और राजा भरत आर्य्यजाति में राम से पूर्व नहीं हुआ, यह

राजा दुष्यन्त का पुत्र था और राम इससे सहस्रों वर्ष पहले हुए हैं, इसलिये महाभारत को पहले और रामायण को पीछे बताना भूल है ॥

और युक्ति यह है कि जिससमय यह ग्रन्थ बना उस समय न्याय, वेदान्त, सांख्य, योग, वैशेषिक और पूर्वमीमांसा इन षट्शास्त्रों की फ़िलासफ़ी का आविर्भाव था, क्योंकि इसमें प्रायः दर्शनों का विचार आता है और रामायण के समय दर्शन फ़िलासफ़ी तथा द्वैताद्वैत के विचार का अंश भी नहीं पाया जाता, इससे सिद्ध है कि उक्त फ़िलासफ़ी का आविर्भाव इस नये समय में हुआ है, जैसाकि ग्रन्थों के इतिहास से पाया जाता है, इससे भी महाभारत का पीछे ही होना सिद्ध है रामायण से पूर्व नहीं ॥

और बड़ा प्रमाण यह है कि महाभारत के किसी योद्धा का रामायण में वर्णन नहीं पाया जाता परन्तु महाभारत में रामायण के राम का कई स्थानों पर वर्णन आया है, जैसाकिः—

असंभवं हेममयस्य जंतोस्तथापिरामो
लुलुभे मृगाय । प्रायः समासन्नपरा-
भवाणां धियो विपर्यस्ततराभवन्ति ॥

महा० सभा० ७१.७

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! जब विपत्ति मनुष्य के निकट आती है तब उसकी बुद्धि भी विपरीत होजाती है, जैसे सुवर्णमय हरिण के असम्भव होने पर भी राम का मन लुभायमान होगया था, इससे भी ज्ञात होता है कि महाभारत पीछे बना है ॥

और जो इसका यह उत्तर दिया जाता है कि महाभारत में समय २ पर मिलावट होती रही इसलिये उसमें इस प्रकार के लेख पाये जाते हैं, एवं दर्शन सम्बन्धी लेख भी पीछे मिलाये गये, यदि इस बात को इसी रूप में मानाजाय तो भी ठीक नहीं, क्योंकि रामायण में भी समय २ पर मिलावट होती रही है और मिलावट होने पर भी उसमें दर्शन सम्बन्धी लेख नहीं पाये जाते और न महाभारत के किसी पुरुष का नाम आता है, इस लिये प्रक्षिप्त मानकर भी रामायण से भारत को प्रथम मानने वालों का निर्वाह नहीं होसकता ॥

रामायण के प्रथम होने में और प्रमाण यह है कि जहां राम ने राजा के कर्तव्य पालन का उपदेश करते हुए भरत को शिक्षा दी है उसी भाव को ज्यों का त्यों महाभारत के कर्त्ता ने उद्धृत किया है अर्थात् सभापर्व में जहां नारद युधिष्ठिर के प्रति राजा के कर्तव्य का निरूपण करते हैं वहां वही भाव और संस्कृत भी ज्यों की त्यों है, जैसाकि " कच्चित्ते सफला वेदाः "=क्या तुम्हारा वेद पढ़ना सफल है, इत्यादि, अधिक क्या "समुद्रमिवगाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव" इत्यादि अलङ्कार और संस्कृत भी रामायण से महाभारत में उद्धृत कीगई है, जिस प्रकार मीमांसा के शवरभाष्य को स्वा० शंकराचार्य्यजी ने अपनी चतुःसूत्री में आश्रित करके कई स्थानों में शवरस्वामी के अनुरूप ही संस्कृत का ग्रन्थन किया है इसी प्रकार महाभारत के कर्त्ता ने भी रामायण को सन्मुख रखकर अनेक स्थानों में वैसा ही ग्रन्थन किया है, इससे भी महाभारत की रचना का काल पीछे ही सिद्ध होता है आगे नहीं ॥

वस्तुतः बात यह है कि प्रक्षिप्तांश तो महाभारत में बहुत पाया जाता है इससे हमें इनकार नहीं,और हम क्या हमारे विचार में कोई भी मनुष्य साहसपूर्वक यह नहीं कहसक्ता कि इसमें मिलावट नहीं, इसमें मिलावट स्पष्ट पाई जाती हैं, जैसाकिः—

नारायणं नमस्कृत्य नरंचैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ।

आदिपर्व १ । १

अर्थ—नरों में उत्तम नारायण और दिव्यगुणयुक्त सरस्वती तथा व्यासजी को नमस्कार करके इस भारत को बनाना प्रारम्भ करते हैं, क्या कोई कहसक्ता है कि यह श्लोक व्यासजी ने स्वयं बनाया है,क्योंकि इसमें व्यास को नमस्कार करके महाभारत का प्रारम्भ करना पाया जाता है, क्या व्यासजी ने अपने आपको नमस्कार करके प्रारम्भ किया ? औरः—

तपसा ब्रह्मचर्य्येण व्यस्य वेदं सनातनम् ।
इतिहासमिमं चक्रे पुण्यं सत्यवतीसुतः ॥

महा० १ । ६८

अर्थ—सत्यवती के पुत्र व्यास ने तप तथा ब्रह्मचर्य्य से सनातन वेद का विभाग करके पुनः इस पवित्र इतिहास को बनाया ॥

इस प्रकार के सैकड़ों श्लोक महाभारत में पाये जाते हैं जिन से स्पष्ट सिद्ध है कि यह श्लोक व्यासकृत नहीं ॥

और यह कथा भी मिलती है कि महारभारत लिखते समय व्यासजी ने गणेश का स्मरण किया, क्योंकि उस समय गणेश से शीघ्र लिखने वाला कोई न था, गणेशजी आये और उन्होंने

आकर कहा कि मैं लिखने को तो तैयार हूं पर मेरे साथ एक प्रतिज्ञा करें कि मेरी लेखनी यदि ठहरगई तो मैं फिर नहीं लिखुंगा, तब व्यासजी ने कहा कि मुझे तुम्हारा कथन सर्वथा स्वीकार है पर तुम्हें भी मेरे साथ यह प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि विना समझे मैं नहीं लिखुंगा, यह गणेशजी ने भी मानकर लिखना प्रारम्भ करदिया, जब व्यासजी लिखाते २ शीघ्र नये श्लोक नहीं बना सकते थे तब कोई न कोई दिष्टकूट डाल देते थे, इतने में गणेशजी सोचने लग जाते और व्यासजी और बना लेते थे, यह कथा आदिपर्व में प्रसिद्ध है ॥

हमारे विचार में पहले तो यह कथा ही असंभव है, क्योंकि कब गणेशजी हुए और कब व्यासजी हुए सहस्रों वर्षों का अन्तर पाया जाता है, यदि "अमरानिर्जरादेवा" इस आधुनिक वाक्य के अनुसार गणेशजी को अमर भी मानाजाय तो भी जब वह लिखने में इतने शीघ्रगामी थे तो क्या समझने में नहीं थे ? हमारे विचार में तो वह समझने में भी प्रवीण थे, क्योंकि उसी स्थल में उनको सर्वज्ञ लिखा है, फिर व्यासजी उनको दिष्टकूट से कैसे अटका सकते थे,अस्तु येन केन प्रकार से यह कथा ठीक भी मानली जाय तब भी मूल महाभारत में इसका क्या सम्बन्ध ? ज्ञात होता है कि इस प्रकार की कथायें अन्य लेखकों ने महाभारत में प्रविष्ट करके ऐसे २ श्लोक निर्माण किये हैं कि :—

अष्टौश्लोकसहस्राणि अष्टौश्लोकशतानि च ।
अहं वेद्मि शुकोवेत्ति संजयो वेत्ति वा नवा ॥

आदि० १ । ११७

अर्थ--व्यासजी कहते हैं कि इसमें आठ हज़ार आठसौ श्लोक ऐसे हैं जिनको मैं तथा शुकदेव जानते हैं और नजाने संजय जानता है वा नहीं, एवं बढ़ाते२ महाभारत की संख्या में यह भेद होगया कि कहीं चौबीसहज़ार, कहीं अनुक्रमणिका सहित उनत्तीसहज़ार और कहीं साठ लाख लिखी है, और इस साठ लाख का विवरण इस प्रकार किया है कि इनमें से १५लाख श्लोक देवलमुनि ने पितृलोक में पितरों को, ३० लाख नारदजी ने देवताओं को तथा १४ लाख शुक्राचार्य्य ने यक्ष, राक्षस और गन्धर्वों को सुनाये और शेष एक लाख वैशम्पायन ने मनुष्यों को सुनाये, यदि यही गणना मानीजाय तब भी ठीक नहीं, क्योंकि इस समय महाभारत में एक लाख तेरहहज़ार श्लोक पाये जाते हैं जो किसी प्रकार भी व्यासजी के बनाये सिद्ध नहीं होसक्ते, क्योंकि इनमें अनुक्रमणिका पर्व तथा पर्वसंग्रहपर्व आदि कई एक प्रक्षिप्त भाग मिलाकर आधुनिक संख्या की पूर्ति कीजाती है, अस्तु इसका निर्णय हम ग्रन्थ के अन्त में करेंगे कि प्रतिपर्व कौन २ श्लोक प्रक्षिप्त हैं ॥

अब विचारणीय यह है कि महाभारत जैसा उत्तम इतिहास जिसमें आर्य्यजाति के अपेक्षित सभी विषयों का पूर्ण रीति से विवरण पाया जाता है और जिसमें वेदाश्रित सदाचार का निरूपण भी भलेप्रकार किया गया है उसमें द्रौपदी जैसी धर्मचारिणी स्त्री के पांच पतियों का वर्णन कैसे संगत होसकता है? इस विषय को बहुत सोच विचार कर हम इस आशय पर पहुंचे हैं कि जहां "**गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं०**" इस वेदमंत्र को मूलाधार रखकर द्रौपदी के विवाह का विवरण है वहां मर्यादा पुरुषोत्तम आर्यों में एक ही पति और एक ही पत्नि होसक्ती है और वहां यह भी दर्शाया है कि

पुराणों में अनेक पति तथा अनेक पत्नियों का विधान है परन्तु वैदिकधर्म में यह मर्यादा नहीं, उक्त लेखानुसार हमें यह विवेचन भी करना पड़ेगा कि महाभारत में कौन २ लेख वेदाश्रित और कौन २ पौराणिक हैं, जिसके लिये हमने कई एक प्राचीन हस्तलिखित महाभारत उपलब्ध करने का यत्न किया है जिनके द्वारा पूर्णतया छानवीन करके इस विषय का निर्णय भूमिका में करेंगे, जिसको श्री पं०आर्य्यमुनिजी महाराज तैयार कर रहे हैं ॥

यदि उक्त कलंकों को ठीक भी मानाजाय तब भी इस ग्रंथ की मनोरंजकता चन्द्रमा के समान किसी कलंक से छिप नहीं सक्ती, इसमें करुणा, रौद्र, वीर तथा भयानक इत्यादि अनेक रस अपने२ विचित्र भावों से जगह २ पर पाठकों के हृदयों को विदीर्ण करते हैं, जैसाकि सभा में लाकर जब कौरव द्रौपदी का निरादर करने लगे तब द्रौपदी ने कहा कि :—

परित्रायस्व मां भीष्म द्रोण द्रौणे तथा कृप ।
परित्रायस्व विदुर धर्मिष्ठो धर्मवत्सल ।
धृतराष्ट्र महाराज परित्रायस्व वै स्नुषाम् ॥

अर्थ— हे भीष्म ! हे द्रोण ! हे अश्वत्थामा ! हे कृपाचार्य्य ! और हे धर्मात्मा विदुर ! आप मेरी रक्षा करें, हे धृतराष्ट्र ! आप अपनी स्नुषा=पुत्रबधु की लाज रखें,जब इस प्रकार विलाप करती हुई द्रौपदी ने दीन बचनों से उस सभा में प्रार्थना की तब उस समय के नियमसूत्र में बंधे हुए उक्त योद्धाओं ने उस भयभीत कदलीस्तम्भ के समान कांपती हुई द्रौपदी को कुछ उत्तर न दिया तब वह बोली कि :—

धिगस्तु नष्टः खलु भारतानां धर्मस्तथा
क्षात्रविदां च वृत्तम् । यत्र ह्यतीतां कुरु-
धर्मबेलां प्रेक्ष्यन्ति सर्वे कुरवः सभायाम् ॥

अर्थ—इन भरतवंशियों को धिक्कार है जो इस अधर्म और मर्यादा रहित काम को देख रहे हैं, निश्चय अब इन सब भरतवंशियों का धर्म तथा क्षत्रियपन नष्ट होगया है, इसप्रकार इस ग्रन्थ में करुणा रस के अनेक प्रवाह वर्षाऋतु की वेगशीला नदियों के समान बहते हुए हृदयकूलों को विदीर्ण करते हैं, एवं इसमें वीर रस यहां तक डंके की चोट से प्रतिपक्षियों के हृदय को कम्पायमान करता है कि जब पाण्डव विपद्ग्रस्त हुए अत्यन्त दुःखित हो बन को जाने लगे तब भीमसेन ने प्रतिज्ञा की कि :—

अहं दुर्योधनं हंता कर्णं हंता धनंजयः ।
शकुनिं चाक्षकितवं सहदेवो हनिष्यति ॥
इदं च भूयो वक्ष्यामि सभामध्ये बृहद्वचः ।
सत्यं देवाः करिष्यन्ति यन्नो युद्धं भविष्यति ॥

अर्थ—मैं दुर्योधन का हनन करूंगा, अर्जुन कर्ण को मारेगा और इस ज्वारी शकुनि का सहदेव बध करेगा, और मैं इस सभा के बीच में दूसरी बड़ी यह प्रतिज्ञा करता हूं, देवता मेरी इस प्रतिज्ञा को युद्ध के आने पर सत्य करें, वह यह है कि:—

सुयोधनमिमं पापं हंतास्मि गदया युधि ।
शिरःपादेनचाभ्याहमधिष्ठास्यामि भूतले ॥

वाक्यशूरस्य चैवास्य परुषस्य दुरात्मनः ।
दुःशासनस्य रुधिरं पातास्मि मृगराडिव ॥

अर्थ-मैं इस पापी दुर्योधन का युद्ध में गदा से हनन करके पृथिवी पर गिराकर इसके शिर को अपने पांव से रगडुंगा, और इस कटुभाषी, बोलने में शूरवीर दुरात्मा दुःशासन की छाती को सिंह के समान फाड़कर इसका लोहू पीउंगा, यदि ऐसा न करूं तो मेरी सद्गति न हो, एवं इस ग्रन्थ के अनेक स्थलों में साहस और वीरता नभोमंडल में तारागण के समान सर्वत्र स्थान २ पर चिवित्र भाव से चित्रित होरही है, तदनन्तर शान्ति पर्व में राजधर्म, नीतिधर्म तथा शान्तिधर्म का उपदेश करके इस प्रदीप्त भारत युद्धाग्नि को शान्ति की आहुतियों से शमन किया गया है और उक्त स्थलों में ऐसे २ अपूर्व उपदेश किये गये हैं जिनमें प्रजा को राजा के साथ वर्त्तने का उत्तम उपदेश पाया जाता है, जैसा कि :—

विद्याशीलवयोवृद्धान् बुद्धिवृद्धांश्च भारत ।
धनाभिजातवृद्धांश्च नित्यं मूढोऽवमन्यते ॥

अर्थ-जो विद्या, शील=गुण तथा आयु में बड़ा हो, जो बुद्धि में बड़ा हो,जो धन में बड़ा हो और जो सेना आदि बलों में बड़ा हो,ऐसे मान्य राजपुरुषों का अपमान करनेवाले मूर्ख होते हैं ॥

इस प्रकार राजधर्म और प्रजाधर्म का वर्णन महाभारत में विशेष रीति से पाया जाता है जिसका साक्षात्कार ग्रन्थ के आद्योपान्त अवलोकन करने ही से होसक्ता है अन्यथा नहीं ॥

अब मैं अंत में सेठों के रामगढ़ निवासी श्रीमान् सेठ पालीराम, जयनारायण, रामचन्द्र पोद्दार को अनेक धन्यवाद देता हूं जिन्होंने अपनी उदारता से इस ग्रन्थ के प्रकाशित करने में हमें सहायता दी है, इन महानुभावों का चरित्र निम्नलिखित कवित्त में वर्णित है, जैसाकि :—

कवित्त

रामगढ़ सेठों का प्रसिद्ध जिला सीकर में-
तांह के निवासी बड़े सेठ साहूकार हैं।
जप तप नेम व्रत विद्या अनुराग सदा-
झूठ पन्थ त्याग करें सत्य का व्योहार हैं॥
भारत के भार को उठाया छपवाने मध्य-
दीना है सहाय्य अति चित्त के उदार हैं।
जयनराण रामचन्द्र पिता पालीराम सेठ-
अग्रवाल वंशी नामनामी पोद्दार हैं॥

देवदत्तशर्मा

लाहौर

सभापर्व

ॐ

अथ महाभारतार्य्यटीका प्रारभ्यते

कुरूणां पाण्डवानां च भवान् प्रत्यक्ष दर्शिवान् ।
तेषां चरितमिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज ॥१॥

अर्थ—जनमेजय ने व्यासजी से पूछा कि हे विप्र ! आपने कौरव और पाण्डवों को प्रत्यक्ष देखा है, इसलिये मैं चाहता हूं कि मेरे प्रति आप उनका चरित्र कहें ॥

कथं समभवद्भेदस्तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
तच्च युद्धं कथं वृत्तं भूतान्तकरणं महत् ॥२॥

अर्थ—उन क्लेशरहित कर्म करने वालों का परस्पर विरोध तथा प्राणियों का अन्त करने वाला वह बड़ा युद्ध कैसे हुआ ॥

पितामहानां सर्वेषां दैवेनाविष्टचेतसाम् ।
कात्स्न्र्येनैतन्ममाचक्ष्व यथावृत्तं द्विजोत्तम ॥३॥

अर्थ—हे द्विजो में श्रेष्ठ ! दुर्भाग्य के कारण जिनके चित्त बिगड़ गये थे, उन मेरे पूर्वज पितामहों के युद्ध का वृत्तान्त मेरे प्रति पूर्णतया कहें ॥

कुरूणां पाण्डवानां च यथा भेदोऽभवत् पुरा ।
तदस्मै सर्वमाचक्ष्व यन्मत्तः श्रुतवानसि ॥४॥

अर्थ—तब व्यासजी ने अपने शिष्य वैशम्पायन से कहा कि पूर्व काल में जिस प्रकार कौरव और पाण्डवों का विरोध हुआ, वह सब वृत्तान्त इस जनमेजय के प्रति वर्णन कर जो तू मुझसे सुन चुका है ॥

गुरोर्वचनमाज्ञाय स तु विप्रर्षभस्तदा ।
आचचक्षे ततः सर्वमितिहासं पुरातनम् ॥५॥

अर्थ—तत्पश्चात् वह श्रेष्ठ ब्राह्मण वैशम्पायन गुरु का वचन सुनकर प्राचीन समस्त इतिहास वर्णन करने लगा ॥

राज्ञे तस्मै सदस्येभ्यः पार्थिवेभ्यश्च सर्वशः ।
भेदं सर्वविनाशं च कुरुपाण्डवयोस्तदा ॥ ६ ॥

अर्थ—राजा जनमेजय और अन्य सभासद् राजाओं के प्रति कौरव पाण्डवों का परस्पर विरोध तथा सर्वनाश का वृत्तान्त इस प्रकार सुनाने लगा कि:—

गुरवे प्राङ् नमस्कृत्य मनोबुद्धिसमाधिभिः ।
सम्पूज्य च द्विजान्सर्वांस्तथान्यान्विदुषो जनान् ॥७॥
महर्षेर्विश्रुतस्येह सर्वलोकेषु धीमतः ।
प्रवक्ष्यामि मतं कृत्स्नं व्यासस्यास्य महात्मनः ॥८॥

अर्थ—मन, बुद्धि तथा ध्यान द्वारा प्रथम गुरु को नमस्कार तथा सब ब्राह्मणों और विद्वानों का सत्कार करके सब लोकों में विख्यात बुद्धिमान् महात्मा महर्षि व्यास के मत को मैं पूर्णतया वर्णन करूंगा ॥

शृणु राजन् यथा भेदः कुरुपाण्डवयोरभूत् ।
राज्यार्थे द्यूतसम्भूतो वनवासस्तथैव च ॥९॥

अर्थ-हे राजन् ! राज्य के लिये कौरव, पाण्डवों में जैसे भेद हुआ तथा जुआ खेलने के कारण जैसे पाण्डवों का वनवास हुआ ॥

यथा च युद्धमभवत् पृथिवीक्षयकारकम् ।
तत्तेऽहं कथयिष्यामि पृच्छते भरतर्षभ ॥ १० ॥

अर्थ-हे भरतकुल में श्रेष्ठ ! वह पृथ्वी का नाश करने वाला युद्ध जैसे हुआ मैं उसका वर्णन तुझ प्रश्नकर्ता के प्रति करूंगा ॥

मृते पितरि ते वीरा वनादेत्य स्वमन्दिरम् ।
न चिरादेव विद्वांसो वेदे धनुषिचाभवन् ॥११॥

अर्थ-वह युधिष्ठिर आदि पांचो वीर पिता के मरजाने पर वन से घर लौट आये और थोड़े ही काल में वेदविद्या तथा धनुर्विद्या में कुशल होगये ॥

तांस्तथा सत्त्ववीर्योजः सम्पन्नान्पौरसम्मतान् ।
नामृष्यन् कुरवो दृष्ट्वा पाण्डवान् श्रीयशोभृतः ॥१२॥

अर्थ-कौरव उन पाण्डवों को धन, यश, पराक्रम, बल और तेज से पूर्ण तथा पुर की प्रजा के प्रेमपात्र देखकर उन्हें न सह सके ॥

ततो दुर्योधनः क्रूरः कर्णश्च सहसौबलः ।
तेषां निग्रहनिर्वासान् विविधांस्ते समारभन् ॥१३॥

अर्थ-तब क्रूरस्वभाव दुर्योधन, कर्ण और सौबल उन पाण्डवों को विविध प्रकार के कष्ट देने लगे ॥

ततो दुर्योधनः शूरः कुलिङ्गस्य मते स्थितः ।
पाण्डवान् विविधोपायैराज्यहेतोरपीडयत् ॥१४॥

अर्थ-तत्पश्चात् कुलिङ्ग राजा के मत में होकर वीर दुर्योधन राज्य के लिये पाण्डवों को अनेक उपायों से पीड़ा देने लगा ॥

ददावथ विषं पापो भीमाय धृतराष्ट्रजः ।
जरयामास तद्वीरः सहान्नेन वृकोदरः ॥१५॥

अर्थ–इसके पश्चात् दुष्ट धृतराष्ट्र के पुत्र ने भीमसेन को अन्न में मिलाकर विष दिया और वीर भीमसेन ने उस विष को अन्न के साथ ही पचा लिया ॥

प्रमाणकोट्यां संसुप्तं पुनर्बद्ध्वा वृकोदरम् ।
तोयेषु भीमं गङ्गायाः प्रक्षिप्य पुरमाव्रजत् ॥१६॥

प्रमाण कोटी=गंगातट पर शाला में सोये हुए वृकोदर=भीमसेन को बांध और गङ्गा के जल में फेंककर दुर्योधन पुर में चला आया ॥

यदा विबुद्धः कौन्तेयस्तदा सञ्छिद्य बन्धनम् ।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्भीमसेनो गतव्यथः ॥१७॥

अर्थ–बड़ी भुजाओं वाला कुन्ती का पुत्र भीमसेन ज्योंही निद्रा से जागा त्योंही बन्धन को काटकर अनायास उठ खड़ा हुआ ॥

आशीविषैः कृष्णसर्पैः सुप्तं चैनमदंशयत् ।
सर्वेष्वेवाङ्गदेशेषु न ममार च शत्रुहा ॥१८॥

अर्थ–शयन करते हुए भीमसेन को विषैले काले सर्पों से सब अङ्गों में डसवाया=कटवाया परन्तु शत्रुओं का घातक भीमसेन मृत्यु को प्राप्त नहीं हुआ ॥

तेषां तु विप्रकारेषु तेषु तेषु महामतिः ।
मोक्षणे प्रतिकारे च विदुरोऽवहितोऽभवत् ॥१९॥

अर्थ–पाण्डवों के प्रत्येक कष्ट के समय उनको कष्टों से छुड़ाने तथा उपाय बतलाने में बुद्धिमान् विदुर सावधान रहा ॥

ततः सम्मन्त्र्य सचिवैर्वृषदुःशासनादिभिः ।
धृतराष्ट्रमनुज्ञाप्य जातुषं गृहमादिशत् ॥ २० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् दुर्योधन कर्ण, दुःशासन आदि मंत्रियों से सलाह करके तथा धृतराष्ट्र की आज्ञा लेकर "लाक्षागृह" बनवाने लगा ॥

सुतप्रियैषी तान् राजा पाण्डवानम्बिकासुतः ।
ततो विवासयामास राज्यभोगबुभुक्षया ॥ २१ ॥

अर्थ—तदनन्तर अम्बिका के पुत्र राजा धृतराष्ट्र ने अपने पुत्रों के हित की इच्छा से राज्यभोग के लालच में आकर उन पाण्डवों का निर्वासन कर दिया ॥

ते प्रातिष्ठन्त सहिता नगरान्नागसाह्वयात् ।
प्रस्थाने चाभवन्मन्त्री क्षत्ता तेषां महात्मनाम् ॥२२॥

अर्थ—वह सब पाण्डव इकट्ठे होकर हस्तिनापुर से प्रस्थान कर गये और उन महात्माओं का प्रस्थान समय में विदुर मन्त्री रहा ॥

ततः सम्प्राप्य कौन्तेया नगरं वारणावतम् ।
न्यवसन्त महात्मानो मात्रा सह परन्तपाः ।
धृतराष्ट्रेण चाज्ञप्ता उषिता जातुषे गृहे ॥ २३ ॥

अर्थ—तब कुन्ती के पुत्र शत्रुओं को दमन करने वाले महात्मा पांचों पाण्डव "वारणावत" नगर में जाकर धृतराष्ट्र की आज्ञा से माता सहित लाक्षा भवन में वास करने लगे ॥

पुरोचनाद्रक्षमाणाः संवत्सरमतन्द्रिताः ।
सुरङ्गाङ्कारयित्वा ते विदुरेण प्रचोदिताः ।
आदीप्य जातुषं वेश्म दग्ध्वा चैव पुरोचनम् ॥२४॥

अर्थ–एक वर्ष तक सावधानी के साथ पुरोचन द्वारा अपनी रक्षा करते रहे, अन्त में विदुर की प्रेरणा से सुरंग लगाकर तथा लाक्षाभवन में अग्नि लगाने से पुरोचन को भी साथ ही भस्म करके:–

प्राद्रवन् भयसंविग्ना मात्रा सह परन्तपाः ।
तद्दृशुर्दारुणं रक्षो हिडिम्बं वननिर्झरे ॥ २५ ॥

अर्थ–शत्रुओं के दमन करने वाले पांचो पाण्डव भयभीत हुए२ माता सहित उस लाक्षागृह से निकल भागे और उन्होंने वन में किसी जल प्रपात=झरना के समीप भयंकर "हिडिम्ब" नामी राक्षस देखा ॥

हत्वा च तं राक्षसेन्द्रं भीताः समवबोधनात् ।
निशि सम्प्राद्रवन् पार्था धार्तराष्ट्रभयार्दिताः ॥ २६ ॥

अर्थ–पाण्डव लोग उस राक्षसाधिराज को मारकर दुर्योधन के भय से पीड़ित हुए २ कौरवों के जागजाने के भय से रातोरात भागते गये ॥

प्राप्ता हिडिम्बा भीमेन यत्र जातो घटोत्कचः ।
एकचक्रां ततो गत्वा पाण्डवाः संशितव्रताः ॥२७॥
वेदाध्ययनसम्पन्नास्तेऽभवन् ब्रह्मचारिणः ।
ते तत्र नियताः कालं कंचिदूषुर्नरर्षभाः ॥२८॥

अर्थ–भीमसेन को हिडिम्बा नाम की राक्षसी प्राप्त हुई जिससे कालान्तर में "घटोत्कच" नामी पुत्र जन्मा, तत्पश्चात् प्रशंसनीय व्रत धारण करने वाले पाण्डव लोग "एकचक्रा" पुरी को गये और वेदों का अध्ययन करते हुए ब्रह्मचारी बन नियमपूर्वक कुछ काल तक वहां रहे ॥

माता सहैकचक्रायां ब्राह्मणस्य निवेशने ।
तत्रासमाद क्षुधितं पुरुषादं वृकोदरः ॥२९॥

अर्थ—एकचक्रापुरी में एक ब्राह्मण के घर में माता सहित विद्यमान भीमसेन को एक भूखे मनुष्यभक्षक राक्षस का सामना करना पड़ा ॥

भीमसेनो महाबाहुर्बकं नाम महाबलम् ।
तं चापि पुरुषव्याघ्रो बाहुवीर्येण पाण्डवः ।
निहत्य तरसा वीरो नागरान् पर्यसान्त्वयत् ॥३०॥

अर्थ—बड़ी भुजाओं वाले, पुरुषसिंह पाण्डु के पुत्र वीर भीमसेन ने उस बलवान् "बक" नामी राक्षस को अपनी भुजाओं के बल से मारकर नगर के लोगों को सान्त्वना=आश्वासन दिया ॥

ततस्ते शुश्रुवुः कृष्णां पाञ्चाल्येषु स्वयम्वराम् ।
श्रुत्वा चैवाभ्यगच्छन्त गत्वा चैवालभन्त ताम् ॥३१॥

अर्थ—फिर उन्होंने सुना कि पाञ्चालदेश में कृष्णा=द्रौपदी का स्वयंवर है, यह सुनते ही वहां पहुंचे और जाकर द्रौपदी को प्राप्त करलिया ॥

ते तत्र द्रौपदीं लब्ध्वा परिसम्वत्सरोषिताः ।
विदिता हास्तिनपुरं प्रत्याजग्मुररिन्दमाः ॥ ३२ ॥

अर्थ—शत्रुओं को दमन करने वाले वह पाण्डव द्रौपदी को पाकर एकवर्ष तक वहीं रहे, और पहचाने जाने पर हस्तिनापुर को लौट आये ॥

ते उक्ता धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च ।
भ्रातृभिर्विग्रहस्तात कथं वो न भवेदिति ॥ ३३ ॥

अर्थ–तब उनसे राजा धृतराष्ट्र और भीष्म ने कहा कि हे पुत्रो! किस उपाय से तुम लोगों का भाइयों के साथ विरोध मिटे ॥

अस्माभिः खाण्डवप्रस्थे युष्मद्वासोऽनुचिन्तितः ।
तस्माज्जनपदोपेतं सुविभक्तमहापथम् ।
वासाय खाण्डवप्रस्थं व्रजध्वं गतमत्सराः ॥३४॥

अर्थ–हम लोगों ने तुम्हारे निवास करने का स्थान "खाण्डवप्रस्थ" सोचा है, सो तुम ईर्ष्यारहित होकर उस अनेक नगरों तथा बड़ी २ सड़कों वाले "खाण्डवप्रस्थ" नामी स्थान में निवास के लिये चले जाओ ॥

तयोस्ते वचनाज्जग्मुः सह सर्वैः सुहृज्जनैः ।
नगरं खाण्डवप्रस्थं रत्नान्यादाय सर्वशः ॥ ३५ ॥

अर्थ–तब वह पाण्डव उन दोनों के कहने से अपने मित्रों सहित सब ओर से रत्नों को ग्रहण करते हुए "खाण्डवप्रस्थ" को चले गये ॥

तत्र ते न्यवसन्पार्थाः संवत्सरगणान् बहून् ।
वशे शस्त्रप्रतापेन कुर्वन्तोऽन्यान्महीभृतः ॥ ३६ ॥

अर्थ–वह पृथा के पुत्र पाण्डव शस्त्रों के बल से अन्य राजाओं को अपने अधीन करते हुए वहां कई साल तक रहे ॥

अजयद्भीमसेनस्तु दिशं प्राचीं महायशाः ।
उदीचीमर्जुनो वीरः प्रतीचीं नकुलस्तथा ॥३७॥
दक्षिणां सहदेवस्तु विजिग्ये परवीरहा ।
एवं चक्रुरिमां सर्वे वशे कृत्स्नां वसुन्धराम् ॥३८॥

अर्थ—महान् यशस्वी भीमसेन ने पूर्व दिशा को विजय किया, वीर अर्जुन ने उत्तर दिशा को, नकुल ने पश्चिम दिशा को तथा वीर शत्रुओं के घातक सहदेव ने दक्षिण दिशा को विजय करके पाण्डवों ने समस्त पृथिवी को अपने आधीन करलिया ॥

पञ्चभिः सूर्यसङ्काशैः सूर्येण च विराजता ।
षट्सूर्येवाभवत्पृथ्वी पाण्डवैः सत्यविक्रमैः ॥३९॥

अर्थ—सच्चे पराक्रम वाले तथा सूर्य के समान तेजस्वी पांचों पाण्डव और एक प्रकाशमान भौतिक सूर्य को मिलाकर मानो पृथ्वी में छः सूर्य होगये ॥

ततो निमित्ते कस्मिंश्चिद्धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
वनं प्रस्थापयामास तेजस्वी सत्यविक्रमः ॥ ४० ॥
प्राणेभ्योऽपि प्रियतरं भ्रातरं सव्यसाचिनम् ।
अर्जुनं पुरुषव्याघ्रं स्थिरात्मानं गुणैर्युतम् ॥ ४१ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् धर्मराज, तेजस्वी तथा सच्चे पराक्रम को धारण करने वाले "युधिष्ठिर" ने किसी कार्य्य के निमित्त अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे, दहने हाथ के समान सहायक, सिंह पुरुष, अटल हृदय वाले गुणवान् भाई "अर्जुन" को वन में भेजा ॥

स वै संवत्सरं पूर्णं मासं चैकं वनेऽवसन् ।
ततोऽगच्छद्धृषीकेशं द्वारवत्यां कदाचन ॥४२॥

अर्थ—वह अर्जुन पूरे एक वर्ष और एक मास तक वन में रहा, तत्पश्चात् किसी समय द्वारका में कृष्णजी के समीप चला गया ॥

लब्धवांस्तत्र बीभत्सुर्भार्यां राजीवलोचनाम् ।
अनुजां वासुदेवस्य सुभद्रां भद्रभाषिणीम् ॥४३॥

अर्थ–वहां अर्जुन ने कमल तुल्य नेत्रों वाली तथा मधुरभाषिणी कृष्ण की छोटी बहिन "सुभद्रा" को भार्या बनाया ॥

मोक्षयामास बीभत्सुर्मयं यत्र महासुरम् ।
स चकार सभां दिव्यां सर्वरत्नसमन्विताम् ॥४४॥

अर्थ–जिस वन में अर्जुन ने "मय" नामी बड़े दानव को छुड़ाया, उसने भी अर्जुन के लिये वहां निखिल रत्नों से जटित दिव्य "सभाभवन" बना दिया ॥

तस्यां दुर्योधनो मन्दो लोभं चक्रे सुदुर्मतिः ।
ततोऽक्षैर्वञ्चयित्वा च सौबलेन युधिष्ठिरम् ।
वनं प्रस्थापयामास सप्तवर्षाणि पञ्च च ॥४५॥

अर्थ–उस "भवन" पर नीच दुर्बुद्धि "दुर्योधन" को लालच आगया, तब सौबल=शकुनि द्वारा युधिष्ठिर को जुए में ठगकर बारहवर्ष के लिये पाण्डवों को वनवास दिया ॥

अज्ञातमेकं राष्ट्रे च ततो वर्षं त्रयोदशम् ।
ततश्चतुर्दशे वर्षे याचमानाः स्वकं वसु ।
नालभन्त महाराज ततो युद्धमवर्तत ॥४६॥

अर्थ–तब एक राज्य में अज्ञात दशा में तेरहवर्ष तक रहकर चौदहवें वर्ष में अपना भाग कौरवों से मांगने लगे, परन्तु हे महाराज! उनको भाग न दिया और इसी कारण संग्राम हुआ ॥

ततस्ते क्षत्रमुत्साद्य हत्वा दुर्योधनं नृपम् ।
राज्यं विहतभूयिष्ठं समपद्यन्त पाण्डवाः ॥४७॥

अर्थ—तदनन्तर उन पाण्डवों ने क्षत्रियकुल को नाश करके और दुर्योधन राजा को मारकर हत्याकाण्ड से परिपूर्ण राज्य प्राप्त कर लिया ॥

एवमेतत् पुरावृत्तं तेषामक्लिष्टकर्मणाम् ।
भेदो राज्यविनाशाय जयश्च जयतांवर ॥४८॥

अर्थ—हे जीतने वालों में श्रेष्ठ राजन्! उन उत्तम कर्म करने वाले कौरव—पाण्डवों का राज्य नष्ट करने के लिये आपस की फूट और विजय का इतिहास संक्षेपतः इस प्रकार है ॥

इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः

अथ द्वितीयोऽध्यायः प्रारभ्यते

जनमेजय उवाच

कथितं वै समासेन त्वया सर्वं द्विजोत्तम ।
महाभारतमाख्यानं कुरूणां चरितं महत् ॥१॥

अर्थ—जनमेजय बोले कि हे द्विजोत्तम ! आपने "महाभारत-इतिहास" नामी कौरवों का महान् चरित्र संक्षेप से सब कहा ॥

कथां त्वनघ चित्रार्थां कथयस्व तपोधन ।
विस्तरश्रवणे जातं कौतूहलमतीव मे ॥२॥

अर्थ—हे तपोधन ! अब आप इस विचित्र कथा को विस्तारपूर्वक कहें, क्योंकि मुझे विस्तारपूर्वक श्रवण करने के लिये अत्यन्त उत्कण्ठा उत्पन्न हुई है ॥

स भवान् विस्तरेणेमां पुनराख्यातुमर्हति ।
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥३॥

अर्थ—सो आप विस्तार के साथ इस कथा को फिर कथन करें, क्योंकि मैं अपने पूर्वजों के महान् चरित्र को सुनकर तृप्त नहीं होता ॥

न तत्कारणमल्पं वै धर्मज्ञा यत्र पाण्डवाः ।
अवध्यान् सर्वशो जघ्नुः प्रशस्यन्ते च मानवैः ॥४॥

अर्थ—अवश्य ही वह कारण छोटा न होगा जिससे धर्मात्मा

पाण्डवों ने अवध्य कुटुम्बियों का वध कर डाला और फिर भी मनुष्यों से प्रशंसित हुए ॥

किमर्थं ते नरव्याघ्राः शक्ताः सन्तो ह्यनागसः ।
प्रयुज्यमानान् संक्लेशान्क्षान्तवन्तो दुरात्मनाम् ॥५॥

अर्थ–निर्दोष और सामर्थ्यवान् होते हुए उन सिंह समान पाण्डवों ने दुष्टों की ओर से दिये हुए क्लेशों को क्यों क्षमा किया ? ॥

कथं नागायुतप्राणो बाहुशाली वृकोदरः ।
परिक्लिश्यन्नपि क्रोधं धृतवान्वै द्विजोत्तम ॥६॥

अर्थ–हे श्रेष्ठ द्विज ! दश सहस्र हाथियों के समान बलवान् तथा बड़ी भुजाओं वाला "भीमसेन" क्लेश भोगता हुआ भी क्रोध को कैसे रोके रहा ? ॥

कथं सा द्रौपदी कृष्णा क्लिश्यमाना दुरात्मभिः ।
शक्ता सती धार्तराष्ट्रान्नादहत् क्रोधचक्षुषा ॥७॥

अर्थ–उस कृष्णा=द्रौपदी ने दुष्टों से सताये जाने पर भी सामर्थ्य वाली होकर उन धृतराष्ट्र के पुत्रों को क्रोध की दृष्टि से क्यों नहीं भस्म कर डाला ? ॥

कथं व्यसनिनं द्यूते पार्थौ माद्रीसुतौ तदा ।
अन्वयुस्ते नरव्याघ्रा बाध्यमाना दुरात्मभिः ॥८॥

अर्थ–जुए में हारे हुए युधिष्ठिर का सिंह समान पराक्रमी पृथा=कुन्ती के पुत्र भीम, अर्जुन तथा माद्री के पुत्र नकुल, सहदेव ने दुष्टों से पीड़ित होते हुए भी कैसे साथ दिया ? ॥

कथं धर्मभृतां श्रेष्ठः सुतो धर्मस्य धर्मभृत् ।
अनर्हः परमं क्लेशं सोढवान् स युधिष्ठिरः ॥९॥

अर्थ–धर्मात्माओं में श्रेष्ठ धर्मात्मा तथा धर्मपुत्र युधिष्ठिर ने दुःख भोगने के अधिकारी न होते हुए भी कैसे महान् कष्ट सहा ? ॥

एतदाचक्ष्व मे सर्वं यथावृत्तं तपोधन ।
यद्यच्च कृतवन्तस्ते तत्र तत्र महारथाः ॥१०॥

अर्थ–हे तपोधन ! जो कुछ हुआ है वह सब वृतान्त मेरे प्रति वर्णन कर तथा उन २ स्थानों में महावीरों ने जो २ कुछ किया है वह भी कह ॥

वैशम्पायन उवाच

पौरवाणां वंशकरो दुष्यन्तो नाम वीर्यवान् ।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता भरतसत्तम ॥ ११ ॥
चतुर्भागं भुवः कृत्स्नं यो भुङ्क्ते मनुजेश्वरः ।
समुद्रावरणांश्चापि देशान् स समितिञ्जयः ॥ १२ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे भरतकुलश्रेष्ठ ! पुरुवंशी राजाओं का वंशधर "दुष्यन्त" नामी बड़ा पराक्रमी राजा हुआ जो चारो समुद्र पर्यन्त पृथ्वी पर राज्य करता था, और वह युद्ध विजयी राजा पृथिवी के चारो भागों और समुद्री देशों का भी सदा पालन करता था ॥

आम्लेच्छावधिकान् सर्वान् स भुङ्क्ते रिपुमर्द्दनः ।
रत्नाकरसमुद्रान्तांश्चातुर्वर्ण्यजनावृताम् ॥ १३ ॥

अर्थ–वह शत्रुओं का विध्वंस करने वाला म्लेच्छ लोगों के

सब देशों पर भी शासन करता था और चारों वर्णों से बसी हुई समुद्रपर्यन्त पृथ्वी को भोगता था ॥

न वर्णसङ्करकरो न कृष्याकरकृज्जनः ।
न पापकृत्कश्चिदासीत्तस्मिन्राजनि शासति ॥१४॥
धर्मे रतिं सेवमाना धर्मार्थावभिपेदिरे ।
तदा नरा नरव्याघ्र तस्मिन् जनपदेश्वरे ॥ १५ ॥

अर्थ—उस राजा के शासन काल में कोई मनुष्य वर्णसंकर न था, थोड़े प्रयत्न से ही पृथ्वी में अधिक अन्न उत्पन्न होता था, इसी कारण उस समय कोई अधिकता से धातुओं की कानें भी नहीं खोदता था, उस समय कोई पापकारी भी न था, हे राजन् ! उस राजा के राज्य में मनुष्य धर्म में प्रीति रखते हुए धर्म और अर्थ का सद्व्यवहार करते थे ॥

नासीच्चौरभयं तात न क्षुधाभयमण्वपि ।
नासीद् व्याधिभयं चापि तस्मिन् जनपदेश्वरे ॥१६॥
कालवर्षी च पर्जन्यः शस्यानि रसवन्ति च ।
सर्वरत्नसमृद्धा च मही पशुमती तथा ॥ १७ ॥

अर्थ—हे राजन् ! उस राजा के राज्य में चोरों से भय नहीं था, भूख से कोई पीड़ित नहीं होता था और रोग का भी कुछ भय नहीं था, मेघ समय पर बरसता, खेतिएं रसवाली होतीं और यह पृथ्वी भी सब रत्नों तथा पशुओं से भरपूर थी ॥

स चाद्भुतमहावीर्यो वज्रसंहननो युवा ।
उद्यम्य मन्दरं दोर्भ्यां वहेत्सवनकाननम् ॥१८॥

चतुष्पथगदायुद्धे सर्वप्रहरणेषु च ।
नागपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च बभूव परिनिष्ठितः ॥ १९ ॥

अर्थ–और वह युवक राजा भी वज्र के समान दृढ़ अंगों वाला बड़ा बलिष्ठ था, मानो सहित वृक्षादि के मन्दर=पर्वत को भुजाओं से उठा लेजायगा, चारो ओर से गदायुद्ध करने, सब शस्त्रों के चलाने और घोड़े तथा हाथी की सवारी में निपुण था॥

स कदाचिन्महाबाहुः प्रभूतबलवाहनः ।
वनं जगाम गहनं हयनागशतैर्वृतः ॥ २० ॥
तत्र तत्र च विप्रेन्द्रैः स्तूयमानः समन्ततः ।
निर्ययौ परमप्रीत्या वनं मृगजिघांसया ॥ २१ ॥

अर्थ–वह लंबी भुजाओं वाला राजा एक समय बहुतसी सेना, सवारियें, घोड़े और हाथियों सहित सघन वन की ओर चला, चारो ओर से जहां तहां मार्ग में ब्राह्मण लोग स्तुति करते थे, और वह परम आनन्द के साथ शिकार खेलने की इच्छा से वन में निकल गया ॥

स गच्छन् ददृशे धीमान् नन्दनप्रतिमं वनम् ।
बिल्वार्कखदिराकीर्णकपित्थधवसंयुतम् ॥२२॥
निर्जलं निर्मनुष्यं च बहुयोजनमायतम् ।
मृगसिंहैर्वृतं घोरैरन्यैश्चापि वनेचरैः ॥२३॥

अर्थ–उस बुद्धिमान् राजा ने चलते २ एक वन देखा जो मन्दनवन के समान था, जिसमें बेल, आर्क, खैर, कैथ और धव आदि के वृक्ष थे, जिसमें न जल मिलता था, न वहां कोई

मनुष्य था, जो कई योजन लंबा चौड़ा और हिरन, शेर आदि अनेक भयानक जंगली जानवरों से घिरा हुआ था ॥

तद्वनं मनुजव्याघ्रः स भृत्यबलवाहनः ।
लोडयामास दुष्यन्तः सूदयन् विविधान्मृगान् ॥२४॥
बाणगोचरसंप्राप्तांस्तत्र व्याघ्रगणान् बहून् ।
पातयामास दुष्यन्तो निर्बिभेद च सायकैः ॥२५॥

अर्थ—वह राजा सेवक, सेना और सवारियों सहित उस बन में घुसकर अनेक जानवरों को मारता हुआ वन को मथने लगा, बाण की मार में जितने भेड़िये वा चीते आदि व्याघ्र वहां आजाते उन सब को राजा दुष्यन्त वाणों से वींधकर गिरा देता था ॥

दूरस्थान्सायकैः कांश्चिदभिनत्स नराधिपः ।
अभ्यासमागतांश्चान्यान् खड्गेन निरकृन्तत ॥२६॥
राज्ञा चाद्भुतवीर्येण योधैश्च समरप्रियैः ।
लोड्यमानं महारण्यं तत्यजुः स्म मृगाधिपाः ॥२७॥

अर्थ—राजा दूर के अनेक व्याघ्रादिकों को बाणों से मारने और पास पहुंचे हुओं को तलवार से काटने लगा, इस प्रकार अद्भुत पराक्रमी राजा तथा युद्ध के प्रेमी उसके योधाओं ने उस घने जंगल को मथ डाला और सब शेर भेड़िये आदि हिंसक जीव उस वन को छोड़कर भाग गये ॥

ततो मृगसहस्राणि हत्वा स बलवाहनः ।
राजा मृगप्रसङ्गेन वनमन्यद्विवेश ह ॥२८॥

एक एवोत्तमबलः क्षुत्पिपासाश्रमान्वितः ।
स वनस्यान्तमासाद्य महच्छून्यं समासदत् ॥२९॥

अर्थ-तब राजा सेना तथा सवारियों सहित सहस्रों पशुओं को मार कर मृगों के साथ २ दूसरे बन में जा निकला, वह महाबली अकेला ही भूखा प्यासा और थका हुआ बन के अन्त तक पहुंच कर सूने स्थान में चला गया ॥

तच्चाप्यतीत्य नृपतिरुत्तमाश्रमसंयुतम् ।
मनः प्रह्लादजननं दृष्टिकान्तमतीव च ॥३०॥
शीतमारुतसंयुक्तं जगामान्यं महद्वनम् ।
पुष्पितैः पादपैः कीर्णमतीव सुखशाद्वलम् ॥३१॥

अर्थ-राजा उस सूने वन को भी लांघकर एक अन्य बड़े वन में जा पहुंचा, जिसमें एक उत्तम आश्रम बना हुआ था, जो मन में आनन्द उत्पन्न करने वाला तथा नेत्रों को प्रिय था, जहां शीतल वायु बह रहा था और जिसमें फूले हुए वृक्ष तथा सुखदायी हरी २ घास उगी हुई थी ॥

विपुलं मधुरारावैर्नादितं विहगैस्तथा ।
पुंस्कोकिलनिनादैश्च झिल्लीकगणनादितम् ॥३२॥
प्रवृद्धविटपैर्वृक्षैः सुखच्छायैः समावृतम् ।
षट्पदाघूर्णिततलं लक्ष्म्या परमया युतम् ॥३३॥

अर्थ-जिसमें कोयल और झिल्लीक शब्द कर रहे थे और जो अन्य मधुर बोली वाले पाक्षियों की गूंज से गुञ्जायमान होरहा था,

जहां बड़ी २ शाखाओं वाले ठंडी छाया के वृक्ष लगे हुए थे, जहां भौंरे गुंजार रहे थे और जो परमशोभायमान था ॥

नापुष्पः पादपः कश्चिन्नाफलो नापि कण्टकी ।
षट्पदैर्वाप्यनाकीर्णस्तस्मिन्वै काननेऽभवत् ॥३४॥
विहगैर्नादितं पुष्पैरलङ्कृतमतीव च ।
सर्वर्तुकुसुमैर्वृक्षैः सुखच्छायैः समावृतम् ॥३५॥

अर्थ—उस वन में कोई वृक्ष पुष्प वा फल रहित अथवा कांटों वाला न था, और नाही कोई ऐसा वृक्ष था जो भौंरों से लतपथ न हो, वह पक्षियों से गुंजायमान तथा फूलों से सुशोभित और जिसमें ठंडी छाया वाले ऐसे वृक्ष थे जो सब ऋतुओं में फूलते थे ॥

मनोरमं महेश्वासो विवेश वनमुत्तमम् ।
मारुताकुलितास्तत्र द्रुमाः कुसुमशालिनः ।
पुष्पवृष्टिं विचित्रां तु व्यसृजंस्ते पुनः पुनः ॥ ३६
दिवस्पृशोऽथ संघुष्टाः पक्षिभिर्मधुरस्वनैः ।
विरेजुः पादपास्तत्र विचित्रकुसुमाम्बराः ॥३७॥

अर्थ—वह महाधनुर्धारी उस उत्तम वन में प्रविष्ट हुआ, वहां फूलों वाले वृक्ष जो वायु से हिलते थे वह मानों वार २ राजा पर फूलों की विचित्र वृष्टि कर रहे थे, और वह आकाश से बातें करने वाले वृक्ष जो चित्र विचित्र फूलों को ही वस्त्र के समान धारण किये हुए थे वह पक्षिओं के शब्दों से ऐसे प्रतीत होते थे कि मानों राजा के लिये जय जय शब्द उच्चारण कर रहे हैं ॥

तेषां तत्र प्रवालेषु पुष्पभारावनामिषु ।
रुवन्ति रावान्मधुरान् षट्पदा मधुलिप्सवः ।
तत्र प्रदेशांश्च बहून् कुसुमोत्करमण्डितान् ॥३८॥
लतागृहपरिक्षिप्तान्मनसः प्रीतिवर्द्धनान् ।
संपश्यन् सुमहातेजा बभूव मुदितस्तदा ॥ ३९ ॥

अर्थ–उन वृक्षों की शाखाओं पर जो फूलों के बोझ से झुकी हुई थीं, बैठे हुए मधु के लोभी भौंरे मधुर शब्द कर रहे थे, वहां बहुत से ऐसे स्थान थे जिनमें फूलों के समूह लगे हुए थे और जिनमें लतागृह=कुंजभवन मन को आनन्दित करते थे, उनको देखता हुआ वह महातेजस्वी राजा उस समय बड़ा आनन्दित हुआ ॥

प्रेक्षमाणो वनं तत्तु सुप्रहृष्टविहङ्गमम् ।
आश्रमप्रवरं रम्यं ददर्श च मनोरमम् ॥४०॥
नानावृक्षसमाकीर्णं संप्रज्वलितपावकम् ।
तं तदाऽप्रतिमं श्रीमानाश्रमं प्रत्यपूजयत् ॥४१॥

अर्थ–उस वन को देखते हुए राजा ने उस मनोहर उत्तम आश्रम को भी देखा जो पक्षियों से भरपूर तथा जो अनेक प्रकार के वृक्षों से हरा भरा था, और जिसमें हवन की अग्नि जल रही थी, ऐसे अनुपम आश्रम का श्रीमान् ने बड़ा आदर किया ॥

महाकच्छैर्बृहद्भिश्च विभ्राजितमतीव च ।
मालिनीमभितो राजन् नदीं पुण्यां सुखोदकाम् ॥४२॥

नैकपक्षिगणा कीर्णां तपोवन मनोरमाम् ।
तत्रव्यालमृगान् सौम्यान्पश्यन्प्रीतिमवाप सः ॥४३॥

अर्थ-वह आश्रम बड़े विशाल जलस्थानों से अत्यन्त सुशोभित था, जो मालिनी नदी के दोनों ओर विद्यमान थे, हे राजन् ! वह उत्तम जलवाली पवित्र नदी अनेक पक्षियों के झुंडों से घिरी हुई तथा तपस्वी लोगों के निवास से अत्यन्त रमणीय थी और जहां के सिंह आदि हिंसक पशुओं को भी शान्तस्वभाव देखकर राजा परम प्रसन्न हुआ ॥

तस्यास्तीरे भगवतः काश्यपस्य महात्मनः ।
आश्रमप्रवरं रम्यं महर्षिगणसेवितम् ॥४४॥
नदीमाश्रमसंबद्धां दृष्ट्वाश्रमपदं तथा ।
चकाराभिप्रवेशाय मतिं स नृपतिस्तदा ॥ ४५ ॥

अर्थ-उसी नदी के किनारे पर भगवान् महात्मा काश्यप का वह परमोत्तम रमणीय आश्रम था, जिसमें महर्षि लोग निवास किया करते थे, आश्रम से मिली हुई उस नदी और आश्रम के स्थान को अवलोकन कर पश्चात् राजा की इच्छा आश्रम में प्रवेश करने की हुई ॥

अतीवगुणसम्पन्नमनिर्देश्यं च वर्चसा ।
महर्षिं काश्यपं द्रष्टुमथ कण्वं तपोधनम् ॥४६॥
ध्वजिनीमश्वसंबाधां पदातिगजसङ्कुलाम् ।
अवस्थाप्य वनद्वारि सेनामिदमुवाच सः ॥४७॥

मुनिं विरजसं द्रष्टुं गमिष्यामि तपोधनम् ।
काश्यपं स्थीयतामत्र यावदागमनं मम ॥४८॥

अर्थ–तब राजा महर्षि तपस्वी काश्यप "कण्व" के दर्शन करने के लिये उत्सुक हुआ जो अनेक गुणों से संपन्न और अकथनीय प्रभावशाली थे, वह अपनी सेना को जिसमें असंख्य घोड़े, हाथी और पैदल मनुष्य थे, वन के द्वार पर ठहरा कर बोला कि मैं वीतराग तपस्वी मुनि "कण्व" के दर्शनार्थ जाता हूं, जब तक मैं लौटकर न आऊं तुम यहीं ठहरो ॥

आमात्यो राज्यलिङ्गानि सोऽपनीय नराधिपः ।
पुरोहितसहायश्च जगामाश्रममुत्तमम् ।
षट्पदोद्गीतसंघुष्टं नानाद्विजगणायुतम् ॥४९॥

अर्थ–राजा पुरोहित और मंत्रियों को साथ लेकर राज्य के चिह्न धनुष आदि को वहीं छोड़कर उस उत्तम आश्रम में चला जहां भौंरे उच्च स्वर से गान कर रहे थे, और जहां अनेक प्रकार के अन्य पक्षी भी विद्यमान थे ॥

ऋचो बह्वृचमुख्यैश्च प्रेर्यमाणाः पदक्रमैः ।
शुश्राव मनुजव्याघ्रो विततेष्विह कर्मसु ॥५०॥
यज्ञविद्याङ्गविद्भिश्च यजुर्विद्भिश्च शोभितम् ।
मधुरैः सामगीतैश्च ऋषिभिर्नियतव्रतैः ॥५१॥

अर्थ–आश्रम में प्रवेश कर उस नरेश ने प्रधान ऋग्वेदियों की उन ऋचाओं को भी श्रवण किया जिनको वह यज्ञों में पदक्रमानुसार उच्चारण कर रहे थे, वह आश्रम यज्ञविद्या के अङ्गों

को जानने वाले यजुर्वेदियों से सुशोभित था और वहां व्रतधारी ऋषि लोग सामवेद का भी मधुर स्वर से गान कर रहे थे ॥

न्यायतत्त्वात्मविज्ञानसम्पन्नैर्वेदपारगैः ।
विशेषकार्यविद्भिश्च मोक्षधर्मपरायणैः ॥५२॥
स्थापनाक्षेपसिद्धान्तपरमार्थज्ञतां गतैः ।
शब्दच्छन्दोनिरुक्तज्ञैः कालज्ञानविशारदैः ॥५३॥

अर्थ–वह आश्रम नैयायिक, आत्मज्ञानी, वेदवेत्ता, मोक्ष धर्म में तत्पर, विशेष कार्यों के ज्ञाता, प्रतिज्ञा, आक्षेप तथा सिद्धान्त का मर्म जानने वाले और व्याकरण–छन्द–निरुक्त तथा ज्योतिष विद्या का तत्व जानने वालों से पूर्ण था ॥

द्रव्यकर्मगुणज्ञैश्च कार्यकारणवेदिभिः ।
कपिपक्षिरुतज्ञैश्च व्यासग्रन्थसमाश्रितैः ॥५४॥
नानाशास्त्रेषु मुख्यैश्च शुश्राव स्वनमीरितम् ।
लोकायतिकमुख्यैश्च समन्तादनुनादितम् ॥५५॥

अर्थ–वह आश्रम द्रव्य–गुण–कर्म और कार्य कारण के तत्ववेत्ता, बन्दर तथा पक्षिओं की बोली जानने वाले और कथा ग्रन्थों को पढ़ने वालों से सुशोभित था, राजा ने भिन्न २ शास्त्रों के प्रधान विद्वानों के शब्दों को सुना जहां नास्तिक लोग भी सब ओर अपने वाक्य उच्चारण कर रहे थे ॥

तत्र तत्र च विप्रेन्द्रान्नियतान् संशितव्रतान् ।
जपहोमपरान् विप्रान् ददर्श परवीरहा ॥५६॥
आसनानि विचित्राणि रुचिराणि महीपतिः ।

प्रयत्नोपहितानिस्म दृष्ट्वा विस्मयमागतः ॥५७॥

अर्थ–राजा ने जहां तहां बैठे हुए उत्तम ब्राह्मणों को भी देखा जो प्रशंसित व्रतधारी और जप होम में लगे हुए थे, वहां राजा विचित्र तथा मनोहर आसन नियमपूर्वक बिछे हुए देखकर विस्मय को प्राप्त हुआ ॥

स काश्यपतपोगुप्तमाश्रमप्रवरं शुभम् ।
नातृप्यत् प्रेक्षमाणो वै तपोबलगुणैर्युतम् ॥५८॥
स काश्यपस्यायतनं महाव्रतैर्वृतं समन्ता-
दृषिभिस्तपोधनैः। विवेश सामात्यपुरो-
हितोरिहा विविक्तमत्यर्थमनोहरंशुभम् ॥५९॥

अर्थ–और वह राजा काश्यप ऋषि के तप से सुरक्षित और तपोबल के प्रभाव से पूर्ण उस मनोहर प्रधान आश्रम के दर्शन से तृप्त न हुआ, जब राजा काश्यप के अत्यन्त मनोहर सूने आश्रम में जिसके चारो ओर व्रतधारी तपस्वी ऋषि निवास करते थे उसमें मन्त्री और पुरोहित सहित प्रवेश करने को उद्यत हुआ ॥

ततोऽगच्छन् महाबाहुरेकोऽमात्यान् विसृज्य तान् ।
नापश्यच्चाश्रमे तस्मिंस्तमृषिं संशितव्रतम् ॥६०॥
सोऽपश्यमानस्तमृषिं शून्यं दृष्ट्वा तथाश्रमम् ।
उवाच क इहेत्युच्चैर्वनं सन्नादयन्निव ॥६१॥

अर्थ–तब राजा मन्त्रियों को वहीं छोड़कर अकेला ही आश्रम में गया, परन्तु आश्रम में उस प्रशंसित व्रतधारी ऋषी को न देखा, राजा ने ऋषि को न देखकर और आश्रम को सूना देख उच्च स्वर से वन को गुंजारते हुए कहा कि "यहां कौन है" ॥

श्रुत्वाथ तस्य तं शब्दं कन्या श्रीरिव रूपिणी ।
निश्चक्रामाश्रमात्तस्मात्तापसी वेशधारिणी ॥६२॥
सा तं दृष्ट्वैव राजानं दुष्यन्तमासितेक्षणा ।
स्वागतं त इति क्षिप्रमुवाच प्रतिपूज्य च ॥६३॥

अर्थ—राजा के उस शब्द को सुनकर लक्ष्मी के समान रूपवती कन्या तपस्विनी का वेश धारण किये हुए आश्रम से निकली, श्यामनेत्रों वाली वह कन्या राजा दुष्यन्त को देखते ही आदरपूर्वक शीघ्रतया बोली कि "आपका स्वागत हो" ॥

यथावदर्च्चयित्वाथ पृष्ट्वा चानामयं तदा ।
उवाच स्मयमानेव किं कार्यं क्रियतामिति ॥६४॥
तामब्रवीत्ततो राजा कन्यां मधुरभाषिणीम् ।
दृष्ट्वा चैवानवद्याङ्गीं यथावत्प्रतिपूजितः ॥६५॥

अर्थ—तब विधिपूर्वक राजा का सत्कार करके और उनका कुशल मङ्गल पूछकर मुसकराती हुई शकुन्तला बोली कि कहिये क्या आज्ञा है ? तब राजा विधिवत् सत्कार पाकर उस मधुरभाषिणी तथा मनोहर अङ्गों वाली कन्या की ओर देखकर बोला कि :—

आगतोऽहं महाभागमृषिं कण्वमुपासितुम् ।
क्व गतो भगवान् भद्रे तन्ममाचक्ष्व शोभने ॥६६॥
गतः पिता मे भगवान् फलान्याहर्तुमाश्रमात् ।
मुहूर्तं संप्रतीक्षस्व द्रष्टास्येनमुपागतम् ॥६७॥

अर्थ—हे सुन्दरी ! मैं महाभाग ऋषी कण्व के दर्शन को आया हूं, हे भद्रे ! मुझे बताओ कि भगवान् कहां गये हैं ? तब शकु-

न्तव्या बोली कि मेरे श्रीमान् पिता दूसरे आश्रम से फल लेने गये हैं, आप कुछ काल ठहरें तो उनको आया हुआ देखेंगे ॥

वैशम्पायन उवाच

अपश्यमानस्तमृषिं तथा चोक्तस्तया च सः ।
तां दृष्ट्वा च वरारोहां श्रीमतीं चारुहासिनीम् ॥६८॥
विभ्राजमानां वपुषा तपसा च दमेन च ।
रूपयौवनसम्पन्नामित्युवाच महीपतिः ॥६९॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि वह राजा उस कन्या के ऐसा कहने और ऋषी को वहां न देखकर तथा उस कन्या को सुन्दर आकार वाली, श्रीमती, मनोहर मुसकान वाली, शरीर, तप तथा दम से शोभायमान और रूप तथा यौवन से सम्पन्न देखकर इस प्रकार बोला कि:—

सुवर्णमालां वासांसि कुण्डले परिहाटके ।
नानापत्तनजे शुभ्रे मणिरत्ने च शोभने ॥७०॥
आहरामि तवाद्याहं निष्कादीन्यजिनानि च ।
सर्वराज्यं तवाद्यास्तु भार्या मे भव शोभने ॥७१॥

अर्थ—हे सुन्दरि ! मैं आज ही तुम्हारे लिये सोने की माला, उत्तमोत्तम वस्त्र, सोने के कुण्डल, विविध देशों में उत्पन्न हुए सुन्दर मणि, रत्नों के हार तथा मृगचर्म आदि वस्त्र ले आता हूं, और यह सब राज्य तुम्हारा ही होगा तुम मेरी भार्या बनो ॥

गान्धर्वेण च मां भीरु विवाहेनैहि सुन्दरि ।
विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते ॥७२॥

फलाहारो गतो राजन् पिता मे इत आश्रमात् ।
मुहूर्त्तं सम्प्रतीक्षस्व स मां तुभ्यं प्रदास्यति ॥७३॥

अर्थ—हे सुन्दरि, मेरे साथ गान्धर्व विवाह कर, क्योंकि गान्धर्व विवाह और विवाहों में उत्तम है, तब शकुन्तला बोली कि हे राजन् ! मेरे पिता फल लाने के लिये इस आश्रम में गये हुए हैं, थोड़ी देर ठहर जायं वह आकर मेरा तुम्हारे साथ विवाह कर देंगे ॥

दुष्यन्त उवाच

इच्छामि त्वां वरारोहे भजमानामनिन्दिते ।
त्वदर्थं मां स्थितं विद्धि त्वद्गतं हि मनो मम ॥७४॥
आत्मनो बन्धुरात्मैव गतिरात्मैव चात्मनः ।
आत्मनैवात्मनो दानं कर्तुमर्हसि धर्मतः ॥७५॥

अर्थ—राजा दुष्यन्त बोले कि हे सुन्दरि ! मैं चाहता हूं कि तुम मेरे साथ विवाह करो, तुम्हारे लिये ही मैं यहां खड़ा हुआ हूं, क्योंकि मेरा मन तुम्हारे में प्रवेश कर गया है, अपना आत्मा ही अपना बन्धु और अपना आत्मा ही अपना आश्रय है, इसलिये तुम्हें आपही अपना दान करना उचित है ॥

सा त्वं मम सकामस्य सकामा वरवर्णिनी ।
गान्धर्वेण विवाहेन भार्या भवितुमर्हसि ॥७६॥

अर्थ—हे सुन्दरि ! मुझे तुम्हारी और तुम्हें भी मेरी कामना है, इसलिये तुम्हें गान्धर्व विवाह से मेरी भार्या बनना चाहिये ॥

शकुन्तलोवाच

यदि धर्मपथस्त्वेष यदि चात्मा प्रभुर्मम ।
प्रदाने पौरवश्रेष्ठ शृणु मे समयं प्रभो ॥७७॥

अर्थ–शकुन्तला बोली कि हे पुरुवंशी नरेश ? यदि यह धर्ममार्ग है और मैं अपने आपको दान करने में समर्थ हूं तो मैं जो प्रण कराना चाहती हूं सो सुनो :–

सत्यं मे प्रतिजानीहि यथा वक्ष्याम्यहं रहः ।
मयि जायेत यः पुत्रः स भवेत्त्वदनन्तरः ॥७८॥
युवराजो महाराज सत्यमेद्ब्रवीमि ते ।
यद्येतदेवं दुष्यन्त अस्तु मे सङ्गमस्त्वया ॥७९॥

अर्थ–आप मुझसे यह सत्य प्रण करें जो मैं आपसे एकान्त में कहती हूं कि "मुझसे जो पुत्र उत्पन्न हो वह तुम्हारे पश्चात् युवराज बने" मैं यह बात सत्य कह रही हूं, यदि तुम्हें ऐसा स्वीकार हो तो तुम्हारा मेरे साथ विवाह होजाय ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमस्त्विति तां राजा प्रत्युवाचाविचारयन् ।
अपि च त्वां हि नेष्यामि नगरं स्वं शुचिस्मिते ।
यथा त्वमर्हा सुश्रोणि सत्यमेतद् ब्रवीति ते ॥८०॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि राजा ने बिना विचारे ही उत्तर दिया कि "ऐसा ही होगा" और हे सुन्दरि ! मैं तुमको अपने नगर में ही लेजाउंगा जिसके तुम योग्य हो, मैं तुमसे यह सत्य कहता हूं ॥

एवमुक्त्वा स राजर्षिस्तामनिन्दितगामिनीम् ।
जग्राह विधिवत् पाणावुवास च तया सह ।

विश्वास्य चैनां स प्रायादब्रवीच्च पुनः पुनः ॥८१॥

अर्थ—उस राजऋषि ने शकुन्तला से ऐसा कह उसका विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया, और उसको विश्वास देकर चलते समय वार २ उससे यह कहा कि:—

प्रेषयिष्ये तवार्थाय वाहिनीं चतुरङ्गिणीम् ।
तया त्वानाययिष्यामि निवासं स्वं शुचिस्मिते ॥८२॥

अर्थ—हे सुन्दरि ! तुम्हारे लिये "चतुरङ्गिणी"=मनुष्य, हाथी, घोड़े, रथों, वाली सेना भेजकर उसके साथ तुम्हें अपने स्थान पर बुलाउंगा ॥

वैशम्पायन उवाच

इति तस्याः प्रतिश्रुत्य स नृपो जनमेजय ।
मनसा चिन्तयन् प्रायात् काश्यपं प्रति पार्थिवः ॥८३॥
भगवांस्तपसा युक्तः श्रुत्वा किं नु करिष्यति ।
एवं स चिन्तयन्नेव प्रविवेश स्वकं पुरम् ॥८४॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे जनमेजय ! राजा इस प्रकार उसके साथ प्रतिज्ञा करके महर्षि कण्व विषयक चिन्तन करता हुआ चला कि भगवान् तपस्वी कण्व ऋषि न जाने इस बात को सुनकर क्या करेंगे, इस प्रकार वह सोचता हुआ अपने नगर में आया ॥

मुहूर्त्तयाते तस्मिंस्तु कण्वोऽप्याश्रममागमत् ।
शकुन्तला च पितरं ह्रिया नोपजगाम तम् ॥८५॥

ततः प्रक्षाल्य पादौ सा विश्रान्तं मुनिमब्रवीत् ।
विनिधाय ततो भारं संनिधाय फलानि च ॥८६॥

अर्थ–राजा के जाने पर थोड़ी देर में ही कण्व ऋषि भी आश्रम में आगये, किन्तु शकुन्तला लाज से पिता के पास नहीं गई, पश्चात् जब समिधाओं का भार और फलों को रखकर मुनि विश्राम कर चुके तब शकुन्तला उनके चरण धोकर इस प्रकार बोली कि :–

मया पतिर्वृतो राजा दुष्यन्तः पुरुषोत्तमः ।
तस्मै स सचिवायत्वं प्रसादं कर्तुमर्हसि ॥८७॥

अर्थ–हे पिता ! मैंने सत्पुरुष महाराज दुष्यन्त को अपना पति बना लिया है, सो मुझपर और उन पर आपको अनुग्रह करना उचित है ॥

कण्व उवाच

प्रसन्न एव तस्याहं त्वत्कृते वरवर्णिनि ।
गृहाण च वरं मत्तस्त्वं शुभे यदभीप्सितम् ॥८८॥
ततो धर्मिष्ठतां वव्रे राज्याच्चास्खलनं तथा ।
शकुन्तला पौरवाणां दुष्यन्तहितकाम्यया ॥ ८९॥

अर्थ–तब कण्व ऋषि बोले कि हे सुन्दरि कन्ये ! मैं तेरे कारण उस पर भी प्रसन्न ही हूं, और तू मुझसे अपनी इच्छानुसार वर मांग, तब शकुन्तला ने राजा दुष्यन्त के हित की कामना से यह वर मांगा कि पुरुवंशी राजा धर्मात्मा और अखण्ड राज्य वाले हों ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः

अथ तृतीयोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

प्रतिज्ञाय तु दुष्यन्ते प्रतियाते शकुन्तलाम् ।
गर्भसुषाव वामोरुः कुमारममितौजसम् ॥१॥
जातकर्मादिसंस्कारं कण्वः पुण्यकृतां वरः ।
विधिवत् कारयामास वर्द्धमानस्य धीमतः ॥२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि राजा दुष्यन्त के प्रतिज्ञा कर चले जाने के कुछ काल पीछे शकुन्तला के एक पराक्रमी पुत्र उत्पन्न हुआ, महात्मा कण्व की रक्षा में क्रम से ज्यों २ वह बुद्धिमान् बालक बढ़ता गया त्यों २ ही उसके "जातकर्म" आदि सब संस्कार विधिपूर्वक होते गये ॥

षडवर्ष एव बालः स कण्वाश्रमपदं प्रति ।
सिंहव्याघ्रान् वराहांश्च महिषांश्च गजांस्तथा ।
बबन्ध वृक्षे बलवानाश्रमस्य समीपतः ॥३॥

अर्थ–यह बलवान् बालक छः ही वर्ष का हुआ था कि कण्व के आश्रम के समीपवर्ती शेर भेड़िया, सूअर, भैंसे और हाथियों को आश्रम के वृक्षों में लाकर बांध दिया करता था ॥

आरोहन्दमयंश्चैव क्रीडंश्च परिधावति ।
ततोऽस्य नाम चक्रुस्ते कण्वाश्रमनिवासिनः ।
अस्त्वयं सर्वदमनः सर्वं हि दमयत्यसौ ॥४॥

अर्थ-और उन पर चढ़कर उनको दमन करता तथा उनसे खेल करता हुआ दौड़ा करता था, तब कण्व आश्रम निवासियों ने इसका नाम "सर्वदमन" रख दिया, क्योंकि वह सब पशुओं को दमन करता था ॥

स सर्वदमनो नाम कुमारः समपद्यत ।
विक्रमेणौजसा चैव बलेन च समन्वितः ॥५॥

अर्थ-वह राजकुमार पराक्रम, तेज और बल से पूर्ण होने के कारण वास्तव में "सर्वदमन" ही बन गया ॥

तं कुमारमृषिर्दृष्ट्वा कर्म चास्यातिमानुषम् ।
समयो यौवराज्यायेत्यब्रवीच्च शकुन्तलाम् ॥६॥

अर्थ-कण्व ऋषी उसकी कुमारदशा देख और उसके कर्म साधारण मनुष्यों से बढ़े हुए जानकर शकुन्तला से बोले कि अब इसको "युवराज" बनाने का अवसर है ॥

तस्य तद्बलमाज्ञाय कण्वः शिष्यानुवाच ह ।
शकुन्तलामिमां शीघ्रं सहपुत्रामितो गृहात् ।
भर्तुः प्रापयतागारं सर्वलक्षणपूजिताम् ॥७॥

अर्थ-तब कण्व उस कुमार को ऐसा बलवान् जान अपने शिष्यों से बोले कि शकुन्तला को पुत्र सहित इस आश्रम से शीघ्र ही लेजाकर सर्वगुणसंपन्न इसके पति के घर पहुंचा दो, क्योंकि :-

नारीणां चिरवासो हि बान्धवेषु न रोचते ।
कीर्तिचारित्रधर्मघ्नस्तस्मान्नयत मा चिरम् ॥८॥

अर्थ-स्त्रियों का चिरकाल तक अपने बन्धुओं के घर रहना अच्छा नहीं, प्रत्युत यश, आचरण और धर्म का मिटाने वाला है, इसलिये शीघ्र ही इसको लेजाओ विलम्ब न करो ॥

तथेत्युक्त्वा तु ते सर्वे प्रातिष्ठन्त महौजसः ।
शकुन्तलां पुरस्कृत्य सपुत्रां गज्जसाह्वयम् ॥९॥
अभिसृत्य च राजानं विदित्वा च प्रवेशिता ।
सह तेनैव पुत्रेण बालार्कसमतेजसा ॥१०॥

अर्थ-तत्पश्चात् वह तेजस्वी शिष्य लोग "बहुत अच्छा" कह कर उसके हाथी समान बली पुत्र समेत शकुन्तला को आगे कर चल दिये, पुनः राजा के समीप पहुंच उनको सूचना देकर अपने बाल सूर्य समान तेजस्वी पुत्र सहित शकुन्तला सभा में प्रविष्ट हुई ॥

निवेदयित्वा ते सर्वे आश्रमं पुनरागता ।
पूजयित्वा यथान्यायमब्रवीच्च शकुन्तला ॥११॥

अर्थ-और वह सब शिष्य राजा के प्रति निवेदनकर आश्रम को लौट आये, और शकुन्तला विधिपूर्वक राजा का सत्कार करके इस प्रकार बोली कि:—

अयं पुत्रस्त्वया राजन् यौवराज्येऽभिषिच्यताम् ।
यथा समयमेतस्मिन् वर्त्तस्व पुरुषोत्तम ॥१२॥
यथा मत्सङ्गमे पूर्वं यः कृतः समयस्तथा ।
तं स्मरस्व महाभाग कण्वाश्रमपदं प्रति ॥१३॥

अर्थ-हे सत्पुरुष महाराज ! आप इस पुत्र को युवराज का

तिलक दें, इसके साथ अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार व्यवहार करें, हे महाभाग! आपने ऋषि कण्व के आश्रम में मुझसे गान्धर्व विवाह करते समय पहले जो प्रतिज्ञा की थी उसको स्मरण कर यथोचित वर्तें ॥

भार्यां पतिः संप्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः ।
जायायास्तद्धि जायात्वं पौराणाःकवयो विदुः ॥१४॥
पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् पितरं त्रायते सुतः ।
तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयम्भुवा ॥१५॥

अर्थ—पुराणज्ञ कवि यह मानते हैं कि पति ही स्त्री में प्रविष्ट होकर फिर पुत्ररूप से जन्म लेता है, इसीलिये स्त्री को "जाया" कहते हैं अथवा तभी स्त्री जाया कहलासकती है, "पुं"=नरक=दुःख का नाम है, दुःख से पिता की रक्षा करने के कारण परमात्मा ने स्वयं इसका नाम "पुत्र" रक्खा है ॥

सा भार्या या गृहे दक्षा सा भार्या या प्रजावती ।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या पतिव्रता ॥१६॥
अर्द्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा ।
भार्या मूलं त्रिवर्गस्य भार्या मूलं तरिष्यतः ॥१७॥

अर्थ—हे राजन्! वही भार्या होसकती है जो घर के कामों में चतुर, पुत्रवती, पति को प्राण समान मानने वाली और पतिव्रता हो, भार्या मनुष्य का आधा अङ्ग है, भार्या ही सबसे उत्तम मित्र है, भार्या ही धर्म-अर्थ-काम का मूल है और भार्या ही दुःखों से पार होने का साधन है ॥

भार्यावन्तः क्रियावन्तः सभार्या गृहमेधिनः ।
भार्यावन्तः प्रमोदन्ते भार्यावन्तःश्रियान्विताः ॥१८॥

सखायः प्रविविक्तेषु भवन्त्येताः प्रियम्वदाः ।
पितरो धर्मकार्येषु भवन्त्यार्त्तस्य मातरः ॥ १९ ॥

अर्थ—भार्या वाले पुरुष ही कर्मशील होते, भार्या वाले ही "गृहस्थ" कहलाते और भार्या वाले ही आनन्द तथा लक्ष्मी को भोगते हैं, यह मधुरभाषिणी स्त्रियें निर्जनदेश में मित्र का काम देतीं तथा धर्म कार्यों में पिता के समान सहायक होतीं और दुःख दशा में माता के समान रक्षा करती हैं ॥

कान्तारेष्वपि विश्रामो जनस्याध्वनिकस्य वै ।
यः सदारः स विश्वास्यस्तस्माद्दाराः परागतिः ।
एतस्मात्कारणाद्राजन् पाणिग्रहणमिष्यते ॥२०॥

अर्थ—यदि यात्री पुरुष स्त्री सहित हो और वह यात्रा करता हुआ जंगली मनुष्यों के घरों में भी जा निकले तो वह लोग विश्वास कर उसे विश्राम देंगे, इसलिये स्त्रियें पुरुष के सुख का मुख्य साधन हैं, और हे राजन् ! इसी कारण विवाह किया जाता है ॥

आत्मात्मनैव जनितः पुत्र इत्युच्यते बुधैः ।
तस्माद् भार्यां नरः पश्येन्मातृवत् पुत्रमातरम् ॥२१॥
भार्यायां जनितं पुत्रमादर्शेष्विव चाननम् ।
ह्लादते जनिता प्रेक्ष्य स्वर्गं प्राप्येव पुण्यकृत् ॥२२॥

अर्थ—विद्वान् लोग कहते हैं कि मनुष्य आपही अपने से उत्पन्न होकर "पुत्र" कहलाने लगता है, इसलिये पुत्र की माता को भी एक प्रकार से अपनी ही माता जानना चाहिये, भार्या से उत्पन्न हुआ पुत्र ऐसा है जैसा दर्पण में प्रतिबिम्बित हुआ अपना

सुख होता है, पुत्रको देखकर पिता इस प्रकार आनन्दित होता है जैसे धर्मात्मा पुरुष स्वर्ग को पाकर प्रसन्न होते हैं ॥

दह्यमाना मनोदुःखैर्व्याधिभिश्चातुरा जनाः ।
ह्लादन्ते स्वेषु दारेषु घर्मार्त्ताः सलिलेष्विव ॥२३॥
सुसंरब्धोऽपि रामाणां न कुर्यादप्रियं नरः ।
रतिं प्रीतिं च धर्मं च तास्वायत्तमवेक्ष्य हि ॥२४॥

अर्थ—मन के दुःख और अनेक प्रकार की व्याधियों से दुःखी पुरुष अपनी स्त्रियों में आकर प्रसन्न होजाते हैं, जैसे गर्मी से सताये हुए मनुष्य पानी पाकर आनन्दित होते हैं, क्रोध में आये हुए पुरुष को भी उचित है कि सुख, प्रेम और धर्म को स्त्रियों के ही आधार समझकर उनके प्रति अनुचित व्यवहार न करे ॥

आत्मनो जन्मनः क्षेत्रं पुण्यं रामाः सनातनम् ।
ऋषीणामपि का शक्तिः स्रष्टुं रामामृते प्रजाम्॥२५॥
प्रतिपद्य यदा सूनुर्धरणीरेणुगुण्ठितः ।
पितुराश्लिष्यतेऽङ्गानि किमस्त्यभ्याधिकं ततः ॥२६॥

अर्थ—स्त्रियें ही सदा से अपनी सन्तान उत्पन्न करने की क्षेत्ररूप हैं, ऋषियों की भी क्या शक्ति है जो विना स्त्री के सन्तान उत्पन्न करसकें, जब पृथ्वी की धूल से सना हुआ पुत्र आकर पिता से लिपट जाता है तब उससे अधिक क्या सुख है ॥

न वाससां न रामाणां नापां स्पर्शस्तथाविधः ।
शिशोरालिङ्ग्यमानस्य स्पर्शः सूनोर्यथा सुखः ॥२७॥

ब्राह्मणो द्विपदां श्रेष्ठो गौर्वरिष्ठश्चतुष्पदाम् ।
गुरुर्गरीयसां श्रेष्ठः पुत्रः स्पर्शवतां वरः ॥२८॥

अर्थ—वस्त्रों, स्त्रियों अथवा जलों का स्पर्श करना भी वैसा सुख दायी नहीं जैसा आलिङ्गन किये हुए अपने शिशुपुत्र का स्पर्श सुखकर होता है, जैसे मनुष्यों में ब्राह्मण, पशुओं में गौ, और बड़ों में गुरु श्रेष्ठ होता है, ऐसे ही स्पर्श करने योग्य पदार्थों में पुत्र सबसे श्रेष्ठ है ॥

स्पृशतु त्वां समाश्लिष्य पुत्रोऽयं प्रियदर्शनः ।
पुत्रस्पर्शात्सुखतरः स्पर्शो लोके न विद्यते ॥२९॥

अर्थ—हे राजन् ! यह रूपवान् पुत्र तुम्हें आलिङ्गन करके स्पर्श करे, क्योंकि संसार में पुत्र के स्पर्श से बढ़कर किसी वस्तु का स्पर्श करना सुखकारी नहीं ॥

ननु नामाङ्कमारोप्य स्नेहाद्ग्रामान्तरं गताः ।
मूर्ध्नि पुत्रानुपाघ्राय प्रतिनन्दन्ति मानवाः ॥३०॥

अर्थ—परदेश से आये हुए मनुष्य स्नेह से अपने पुत्रों को गोद में बैठा उनका मस्तक चूमकर परम आनन्दित होते हैं ॥

अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम् ॥३१॥
जीवितं त्वदधीनं मे सन्तानमपि चाक्षयम् ।
तस्मात्त्वं जीव मे पुत्र सुसुखी शरदां शतम् ॥३२॥

अर्थ—और पुत्र के प्रति कहते हैं कि हे पुत्र ! तू मेरे अङ्ग २ से विशेष कर हृदय से उत्पन्न होता है, मेरा आत्मा ही तू पुत्र नाम वाला हुआ है, सो तू सौ वर्ष तक जीता रह, मेरा जीवन

और मेरे वंश की स्थिरता तेरे ही अधीन है, इसलिये, हे पुत्र ! तू सुखपूर्वक सौ वर्ष तक जीवन धारण कर ॥

त्वदङ्गेभ्यः प्रसूतोऽयं पुरुषात्पुरुषोऽपरः ।
सरसीवामलेत्मानं द्वितीयं पश्य वै सुतम् ॥३३॥
यथा ह्याहवनीयोऽग्निर्गार्हपत्यात्प्रणीयते ।
तथा त्वत्तः प्रसूतोऽयं त्वमेकः सन् द्विधाकृतः ॥३४॥

अर्थ–हे राजन् ! यह तुम्हारे ही अङ्गों द्वारा एक मनुष्य से दूसरा मनुष्य बनगया है, निर्मल तालाब में अपने दूसरे रूप= प्रतिबिम्ब के समान इस पुत्र को समझो, जैसे "गार्हपत्य" अग्नि से थोड़ा अग्नि अलग करके उसको "आहवनीय" बना लिया जाता है, वैसे ही तुम्हारे ही अंश से यह पुत्र बन गया है अर्थात् तुमने एक होते हुए ही दूसरा रूप धारण करलिया है ॥

मृगावकृष्टेन पुरा मृगयां परिधावता ।
अहमासादिता राजन् कुमारी पितुराश्रमे ॥३५॥

अर्थ–हे राजन् ! आपने पूर्व काल में शिकार के लिये दौड़ते २ एक हिरण के पीछे लगे हुए पिता के आश्रम में पहुंच मुझ कुमारी को प्राप्त किया था ॥

ततस्तस्य तदा राजा पितृकर्माणि सर्वशः ।
कारयामास मुदितः प्रीतिमानात्मजस्य ह ॥३६॥
मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय सस्नेहं परिषस्वजे ।
सभाज्यमानो विप्रैश्च स्तूयमानश्च वन्दिभिः ॥३७॥

अर्थ–तब राजा ने प्रसन्न होकर प्रीति सहित अपने उस

पुत्र के सब संस्कार जो पिता के कर्म थे किये, ब्राह्मणों के आशीर्वाद और बन्दी लोगों के स्तुति करते हुए राजा ने अपने पुत्र का मस्तक चूमकर आलिङ्गन किया ॥

स मुदं परमां लेभे पुत्रसंस्पर्शजां नृपः ।
तां चैव भार्यां दुष्यन्तः पूजयामास धर्मतः ॥३८॥

अर्थ—राजा ने अपने पुत्र को स्पर्श करके परम आनन्द माना और अपनी भार्या शकुन्तला का भी धर्मानुसार सत्कार किया ॥

दुष्यन्तस्तु ततो राजा पुत्रं शाकुन्तलं तदा ।
भरतं नामतः कृत्वा यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥३९॥

अर्थ—तब राजा दुष्यन्त ने शकुन्तला के पुत्र का नाम "भरत" रखकर उसको युवराज्य का तिलक देदिया ॥

तस्य तत् प्रथितं चक्रं प्रावर्तत महात्मनः ।
भास्वरं दिव्यमजितं लोकसन्नादनं महत् ॥ ४० ॥
स विजित्य महीपालांश्चकार वशवर्त्तिनः ।
चचार च सतां धर्मं प्राप चानुत्तमं यशः ॥४१॥

अर्थ—तब महात्मा राजा "भरत" का राज्यचक्र प्रवृत्त हुआ जो तेजवान्, अलौकिक, अजेय और संसार को गुंजारने वाला था, उसने राजाओं को जीतकर अपने वश में करलिया और महात्माओं के कहे धर्म का आचरण कर अनुपम यश पाया ॥

स राजा चक्रवर्त्त्यासीत् सार्वभौमः प्रतापवान् ।
भरताद्भारती कीर्त्तिर्येनेदं भारतं कुलम् ॥४२॥

अर्थ—वह प्रतापी राजा सारी पृथिवी का चक्रवर्ती राजा

हूआ, इसी भरत राजा से भारतवर्ष की कीर्ति हुई और इसी से यह कुल "भारत" कहलाया ॥

अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः ।
भरतस्यान्ववाये हि देवकल्पा महौजसः ॥४३॥
बभूवुर्ब्रह्मकल्पाश्च बहवो राजसत्तमाः ।
येषामपरिमेयानि नामधेयानि सर्वशः ॥४४॥

अर्थ—राजा भरत के पश्चात् और पहले भी देवताओं के समान, महाप्रतापी, ब्रह्मनिष्ठ श्रेष्ठ राजा "भरतकुल" में हुए हैं वह भी "भरत" नाम से विख्यात थे जिनके नाम सर्वथा अगणनीय हैं ॥

तेषां तु ते यथामुख्यं कीर्त्तयिष्यामि भारत ।
महाभागान्देवकल्पान् सत्यार्जवपरायणम् ॥४५॥

अर्थ—हे भरतवंशी जनमेजय उनमें से जो मुख्य २ राजा बड़े भागशील, देवताओं के समान सत्य और विनय से पूर्ण हुए हैं उनका मैं वर्णन करता हूं ॥

इति तृतीयोऽध्यायः समाप्तः

अथ चतुर्थोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

प्रजापतेस्तु दक्षस्य मनोर्वैवस्वतस्य च ।
भरतस्य कुरोः पूरोराजमीढ चानघ ॥ १ ॥
यादवानामिमं वंशं कौरवाणां च सर्वशः ।
तथैव भरतानां च पुण्यं स्वस्त्ययनं महत् ।

धान्यं यशस्यमायुष्यं कीर्त्तयिष्यामि तेऽनघ ॥२॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! अब मैं तुम्हारे प्रति प्रजापति दक्ष, मनु, वैवस्वत, भरत, कुरु, पूरु और अजमीढ राजाओं के वंश का वर्णन करता हूं, यह यदुवंशी, कुरुवंशी और पुरुवंशियों का वंशकीर्त्तन बड़ा पवित्र, कल्याणकारी, धान्य तथा यश और आयु के बढ़ाने वाला है ॥

विवस्वतः सुतो जज्ञे यमो वैवस्वतः प्रभुः ।
मार्त्तण्डस्य मनुर्धीमानजायत सुतः प्रभुः ॥ ३ ॥

अर्थ-विवस्वान् का पुत्र राजा "यम" तथा मार्तण्ड का पुत्र बुद्धिमान् राजा "मनु" हुआ ॥

धर्मात्मा स मनुर्धीमान् यत्र वंशः प्रतिष्ठितः ।
मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत् ॥४॥
ब्रह्मक्षत्रादयस्तस्मान्मनोर्जातास्तु मानवाः ।
ततोऽभवन् महाराज ब्रह्मक्षत्रेण सङ्गतम् ।
ब्राह्मणा मानवास्तेषां साङ्गं वेदमधारयन् ॥५॥

अर्थ-वह मनु बड़ा धार्मिक और बुद्धिमान् था, जिससे वंश की बड़ी प्रतिष्ठा हुई और उसी मनु से यह मानववंश विख्यात हुआ, हे राजन् ! उसी मनु से उत्पन्न हुए मनुष्य ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि बन गये और उसी से ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर मिले रहे, उनमें मनु के पुत्र जो ब्राह्मण हुए उन्होंने अङ्ग-उपाङ्गों सहित वेदों का अभ्यास किया ॥

वेनं धृष्णुं नरिष्यन्तं नाभागेक्ष्वाकुमेव च ।

कारूपमथ शर्य्यातिं तथा चैवाष्टमीमिलाम् ॥६॥
पृषध्रं नवमं प्राहुः क्षत्रधर्मपरायणम् ।
नाभागारिष्टदशमान् मनोः पुत्रान् प्रचक्षते ॥७॥

अर्थ–कहते हैं कि मनु के नौ पुत्र और एक पुत्री हुई–(१) "वेन" (२) "धृष्णु" (३) "नरिष्यन्" (४) "नाभाग" (५) "इक्ष्वाकु" (६) "कारूप" (७) "शर्याति" (८) आठवीं पुत्री "इला" (९) नौवां पुत्र "पृषध्र" जोकि क्षात्रधर्म में तत्पर था और दशवां पुत्र (१०) "नाभागारिष्ट" हुआ ॥

पुरूरवास्ततो विद्वानिलायां समपद्यत ।
षट् सुता जज्ञिरे चैलादायुर्धीमानमावसुः ।
दृढायुश्च वनायुश्च शतायुश्चोर्वशीसुताः ॥८॥
नहुषं वृद्धशर्माणं रजिञ्जयमनेनसम् ।
स्वर्भानवीसुतानेतानायोः पुत्रान् प्रचक्षते ॥९॥

अर्थ–पुनः इला से पुरूरवा पुत्र उत्पन्न हुआ और "पुरूरवा" के "उर्वशी" स्त्री से आयु, धीमान, अमावसु, दृढ़ायु, वनायु और शतायु यह छः पुत्र जन्मे "आयु" के "स्वर्भानवी" स्त्री से नहुष, वृद्धशर्मा, रजिञ्जय और अनेनस् यह चार पुत्र कहे गये हैं ॥

आयुषो नहुषः पुत्रो धीमान् सत्यपराक्रमः ।
राज्यं शशास सुमहद्धर्मेण पृथिवीपते ॥१०॥
स हत्वा दस्युसंघातानृषीन् करमदापयत् ।
पशुवच्चैवतान् पृष्ठे वाहयामास वीर्यवान् ॥११॥

अर्थ—हे राजन्! "आयु" का बड़ा पुत्र नहुष बुद्धिमान् तथा सच्चे पराक्रम वाला हुआ और उसने बड़े भारी राज्य का शासन किया; उस प्रतापी ने दस्यु लोगों के समुदाय को मारा तथा उस से ऋषियों को कर दिलाया, और दस्युओं को पशुओं की भांति गाड़ी में जोतकर उनकी पीठ पर सवारी की ॥

यतिं ययातिं संयातिमायातिमयतिं ध्रुवम् ।
नहुषो जनयामास षट् सुतान् प्रियवादिनः ॥१२॥
यतिस्तु योगमास्थाय ब्रह्मभूतोऽभवन्मुनिः ।
ययातिर्नाहुषः सम्राडासीत्सत्यपराक्रमः ॥१३॥

अर्थ—नहुष के यति, ययाति, संयाति, आयाति, अयति और ध्रुव यह छः पुत्र उत्पन्न हुए जो बड़े प्रियवादी थे, "यति" तो संन्यास लेकर ब्रह्मनिष्ठ मुनि होगया, और दूसरा पुत्र ययाति जो सच्चा पराक्रमी था सम्राट् हुआ ॥

स पालयामास महीमीजे च बहुभिर्मखैः ।
अतिभक्त्या पितॄनर्च्चन्देवांश्च प्रयतः सदा ।
अन्वगृह्णात् प्रजाः सर्वा ययातिरपराजितः ॥१४॥

अर्थ—उस अजेय ययाति राजा ने पृथ्वी का पालन किया और बहुत से यज्ञ किये तथा नियमपूर्वक सदा अत्यन्त भक्ति से पितर और देवों का सत्कार करते हुए सारी प्रजा पर अनुग्रह किया ॥

तस्य पुत्रा महेष्वासाः सर्वैः समुदिताः गुणैः ।
देवयान्यां महाराज शर्मिष्ठायां च जज्ञिरे ॥१५॥
देवयान्यामजायेतां यदुस्तुर्वसुरेव च ।

द्रुह्युश्चानुश्च पूरुश्चश र्मिष्ठायां प्रजज्ञिरे ॥ १६ ॥

अर्थ–हे राजन् ! ययाति के देवयानी और शर्मिष्ठा नामक दो स्त्रियों से वाण चलाने में निपुण सर्वगुणसम्पन्न पांच पुत्र उत्पन्न हुए, देवयानी से "यदु" और "तुर्वसु" नाम के दो पुत्र हुए और शर्मिष्ठा से द्रुह्यु, अनु और पूरु नामक तीन पुत्र जन्मे ॥

ततः स नृपशार्दूल पूरुं राज्येऽभिषिच्य च ।
कालेन महता पश्चात्कालधर्ममुपेयिवान् ॥१७॥

अर्थ–हे महाराज ! तत्पश्चात् ययाति "पूरु" को राजतिलक देकर चिरकालानन्तर मृत्यु को प्राप्त होगये ॥

जनमेजय उवाच

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि पूरोवंशकरान् नृपान् ।
यद्वीर्यान् यादृशांश्चापि यावतो यत्पराक्रमान् ॥१८॥
नह्यस्मिन् शीलहीनो वा निर्वीर्यो वा नराधिपः ।
प्रजाविरहितो वापि भूतपूर्वः कथंचन ॥१९॥

अर्थ–जनमेजय वोला कि हे भगवन् ! मैं "पूरू" राजा के वंशधर राजाओं का इतिहास सुनना चाहता हूं जो जिस प्रकार के वल और पराक्रम वाले अब तक हुए हैं, इस वंश में कोई राजा दुःशील वा निर्वीर्य्य अथवा सन्तान रहित तो कभी नहीं हुआ ? ॥

वैशम्पायन उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि यन्मां त्वं परिपृच्छसि ।
पूरोवंशधरान्वीरान् शक्रप्रतिमतेजसः ॥ २० ॥

अर्थ–वैशम्पायन वोले कि हे जनमेजय ! जिन अपने पूर्वज राजाओं का इतिहास तू मुझसे पूछता है, उन इन्द्रसमान अपरिमित

तेज वाले पूरुवंशधर वीरों का चरित्र तुम्हारे सन्मुख श्लोक से कहता हूं :–

प्रवीरेश्वररौद्राश्वास्त्रयः पुत्रा महारथाः ।
पूरोः पौष्ट्यामजायन्त प्रवीरो वंशकृत्ततः ॥२१॥
मनस्युरभवत् तस्माच्छूरसेनी सुतः प्रभुः ।
पृथिव्याश्चतुरन्ताया गोप्ता राजीवलोचनः ॥२२॥

अर्थ–"पूरू" राजा के तीन पुत्र बड़े योद्धा "पौष्टी" नामक स्त्री से उत्पन्न हुए अर्थात् प्रवीर, ईश्वर और रौद्राश्व, इन्हीं से "प्रवीर" वंशधर पुत्र हुआ, प्रवीर का पुत्र "शूरसेनी" नाम भार्या से उत्पन्न हुआ जो "मनस्यु" नामी राजा कहलाया, और वह बड़ा सुरूपवान् तथा चारो समुद्रों तक पृथिवी का स्वामी था ॥

शक्तः संहननो वाग्मी सौवीरीतनयास्त्रयः ।
मनस्योरभवन् पुत्राः शूराः सर्वे महारथाः ॥२३॥
अन्वग्भानुप्रभृतयो मिश्रकेश्यां मनस्विनः ।
रौद्राश्वस्यमहेष्वासा दशाप्सरसि सूनवः ॥२४॥

अर्थ–मनस्यु के "सौवीरी" नामक स्त्री से शक्त, संहनन तथा वाग्मी, यह तीन पुत्र उत्पन्न हुए जो सब शूरवीर और बड़े योद्धा थे, पूरु के तीसरे पुत्र रौद्राश्व के "मिश्रकेशी" नामक स्त्री से "अन्वग्भानु" आदि चार पुत्र हुए जो विवेकी तथा बाण चलाने में बड़े निपुण थे, और अप्सरा नामक स्त्री से दस पुत्र जन्मे, जिनके नाम यह हैं :–

ऋचेयुरथकक्षेयुः कृकणेयुश्च वीर्यवान् ।
स्थण्डिलेयुर्वनेयुश्च जलेयुश्च महायशाः ॥२५॥

तेजेयुर्बलवान् धीमान् सत्येयुश्चेन्द्रविक्रमः ।
धर्मेयुः सन्नतेयुश्च दशमो देवविक्रमः ॥२६॥

अर्थ–"ऋचेयु" "कक्षेयु" पराक्रमी "कृकणेयु" "स्थण्डिलेयु" "वनेयु" कीर्तिमान् "जलेयु" बलवान् तथा बुद्धिमान् "तेजेयु" इन्द्र जैसा पराक्रमी "सत्येयु" "धर्मेयु" और दशवां देवताओं के समान पराक्रमी "सन्नतेयु" हुआ ॥

यज्वानो जज्ञिरे शूराः प्रजावन्तो बहुश्रुताः ।
सर्वे सर्वास्त्रविद्वांसः सर्वे धर्मपरायणाः ॥२७॥

अर्थ–यह सब राजा यज्ञ करने वाले, बहादुर, सन्तान वाले, बड़े विद्वान्, सब शस्त्रों के चलाने में निपुण और धर्मपरायण थे ॥

अनाधृष्टिरभूत्तेषां विद्वान् भुवि तथैकराट् ।
अनाधृष्टिसुतस्त्वासीद्राजसूयाश्वमेधकृत् ।
मतिनार इति ख्यातो राजा परमधार्मिकः ॥२८॥

अर्थ–उक्त दश पुत्रों में से "ऋचेयु" का पुत्र "अनाधृष्टि" हुआ जो पृथ्वी भर में विद्वान्, चक्रवर्ती राजा था, अनाधृष्टि का पुत्र "मतिनार" नामी राजा हुआ, जिसने राजसूय तथा अश्वमेध यज्ञ किये और जो परम धार्मिक प्रसिद्ध था ॥

मतिनारसुता राजंश्चत्वारोऽमितविक्रमाः ।
तंसुर्महानतिरथो द्रुह्युश्चाप्रतिमद्युतिः ॥२९॥
तेषां तंसुर्महावीर्यः पौरवं वंशमुद्वहन् ।
आजहार यशो दीप्तं जिगाय च वसुन्धराम् ॥३०॥

अर्थ-हे राजन् ! "मतिनार" के तंसु, महान्, अतिरथ और अनुपम प्रभाव वाला "द्रुह्यु" यह चार पुत्र उत्पन्न हुए इनमें "द्रुह्यु" राजा बड़ा पराक्रमी और पौरव वंश का बढ़ाने वाला हुआ, जिसने प्रकाशमान यश पाया तथा पृथ्वी को विजय किया ॥

ईलिनं तु सुतं तंसुर्जनयामास वीर्यवान् ।
सोऽपि कृत्स्नामिमां भूमिं विजिग्ये जयतांवरः ॥३१॥

अर्थ-पराक्रमी राजा तंसु का पुत्र "ईलिन" नामक राजा हुआ, इस महाविजयी ने भी सारी पृथ्वी का विजय किया ॥

रथन्तर्यां सुतान् पञ्च पञ्चभूतोपमांस्ततः ।
ईलिनो जनयामास दुष्यन्तप्रभृतीन्नृपान् ॥३२॥
दुष्यन्तं शूरभीमौ च प्रवसुं वसुमेव च ।
तेषां ज्येष्ठोऽभवद्राजा दुष्यन्तो जनमेजय ॥३३॥

अर्थ-पश्चात् "ईलिन" राजा के "रथन्तरी" स्त्री से "दुष्यन्त" आदि पांच पुत्र उत्पन्न हुए, वह पांचो मानों भूत=पंचतत्व थे, हे जनमेजय! दुष्यन्त, शूर, भीम, प्रवसु और वसु, इनमें जो बड़ा पुत्र "दुष्यन्त" था वही राजा हुआ ॥

दुष्यन्ताद्भरतो जज्ञे विद्वान् शाकुन्तलो नृपः ।
तस्माद्भारतवंशस्य विप्रतस्थे महद्यशः ॥३४॥
भरतस्तिसृषु स्त्रीषु नव पुत्रानजीजनत् ।
नाभ्यनन्दत तान्राजा नानुरूपा ममेत्युत ॥३५॥

अर्थ-दुष्यन्त का शकुन्तला से "भरत" नामक पुत्र हुआ जो बड़ा विद्वान् राजा था और इसी से भारतवंश का महान् यश

स्थिर हुआ, भरत के तीन स्त्रियों से नौ पुत्र हुए, परन्तु राजा भरत ने उनको अपने अनुरूप=समानरूप न देखकर ग्रहण नहीं किया ॥

ततो महाद्भिः क्रतुभिर्राजानो भरतस्तदा ।
लेभे पुत्रं भरद्वाजाद्भुमन्युं नाम भारत ॥३६॥
ततः पुत्रिणमात्मानं ज्ञात्वा पौरवनन्दनः ।
भुमन्युं भरतश्रेष्ठ यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥३७॥

अर्थ–हे जनमेजय ! इसके पश्चात् भरत ने भरद्वाज ऋषि को पुरोहित बनाकर बड़े २ यज्ञ किये और उन्हीं की कृपा से "भुमन्यु" नामक पुत्र पाया, हे भरतकुल भूषण ! तब पुरुवंश के आनन्दकारी भरत ने अपने को पुत्र वाला जानकर "भुमन्यु" को युवराज का तिलक दिया ॥

सुहोत्रश्च सुहोता च सुहविः सुयजुस्तथा ।
पुष्करिण्यामृचीकश्च भुमन्योरभवन् सुताः ॥३८॥

अर्थ–"भुमन्यु" के पुष्करिणी नामक स्त्री से सुहोत्र, सुहोता, सुहवि, सुयजु और ऋचीक, यह पांच पुत्र उत्पन्न हुए ॥

राजसूयाश्वमेधाद्यैः सोऽयजद्बहुभिर्मखैः ।
सुहोत्रः पृथिवीं कृत्स्नां बुभुजे सागराम्बराम् ।
पूर्णां हस्तिगजाश्वैश्च बहुरत्नसमाकुलाम् ॥३९॥

अर्थ–सुहोत्र ने राजसूय, अश्वमेध आदि बहुत से यज्ञ किये और समुद्ररूपी वस्त्रों को धारण करने वाली सारी पृथ्वी पर शासन किया, जो हाथी, रथ, घोड़े आदि पशुओं तथा रत्नों से भरपूर थी ॥

ममज्जेव मही तस्य भूरिभारावपीडिता ।
हस्त्यश्वरथ संपूर्णा मनुष्यकलिलाभृशम् ॥ ४० ॥

अर्थ--उसके हाथी, घोड़े, रथ और प्रजा के मनुष्य इतने थे कि मानो उनके बोझ से पृथ्वी नीचे को धसी जाती थी ॥

सुहोत्रे राजनि तदा धर्मतः शासति प्रजाः ।
चैत्ययूपाङ्किता चासीद्भूमिः शतसहस्रशः ।
प्रवृद्धजनशस्या च सर्वदैव व्यरोचत ॥ ४१ ॥

अर्थ--उस समय "सुहोत्र" राजा के धर्मपूर्वक प्रजाओं पर शासन करते हुए भूमी सैकडों हज़ारों यज्ञमण्डप और यज्ञस्तम्भों से भूषित और सदा ही मनुष्य समुदाय तथा कृषि की वृद्धि से सुशोभित रहती थी ॥

ऐक्ष्वाकी जनयामास सुहोत्रात् पृथिवीपते ।
अजमीढं सुमीढं च पुरुमीढं च भारत ॥ ४२ ॥
अजमीढो वरस्तेषां तस्मिन् वंशः प्रतिष्ठितः ।
षट् पुत्रान् सोऽप्यजनयत् तिसृषु स्त्रीषु भारत ॥४३॥

अर्थ--हे भरतवंशी राजन् ! सुहोत्र के इक्ष्वाकु की पुत्री से अजमीढ़, सुमीढ और पुरुमीढ यह तीन पुत्र हुए, इनमें अजमीढ श्रेष्ठ था जिससे वंश की प्रतिष्ठा हुई, पुनः अजमीढ के तीन स्त्रियों से छः पुत्र हुए :-

ऋक्षं धूमिन्यथो नीली दुष्यन्तपरमेष्ठिनौ ।
केशिन्यजनयज्जह्नुं सुतौ च जलरूपिणौ ॥ ४४ ॥

अर्थ—धूमिनी नामक स्त्री में ऋक्ष और नीली नामी स्त्री में दुष्यन्त तथा परमेष्ठी और केशिनी नामक स्त्री से जह्नु, जल और रूपिण ॥

तथेमे सर्वपाञ्चाला दुष्यन्तपरमेष्ठिनोः ।
अन्वयाः कुशिका राजन् जह्नोरमिततेजसः ॥४५॥
जलरूपिणयोर्ज्येष्ठमृक्षमाहुर्जनाधिपम् ।
ऋक्षात् संवरणो जज्ञे राजवंशकरः सुतः ॥४६॥

अर्थ—हे राजन् ! यह सब पाञ्चाल देश के कुशिक लोग ऋक्ष, दुष्यन्त, परमेष्ठी, महाप्रतापी जह्नु, जल और रूपिण के वंश में हैं, इन छओं में से "ऋक्ष" नामी बड़ा पुत्र राजा हुआ और इसी से राजवंश के चलाने वाला "संवरण" नामक पुत्र जन्मा ॥

आर्क्षे संवरणे राजन् प्रशासति वसुन्धराम् ।
संक्षयः सुमहानासीत् प्रजानामिति नः श्रुतम् ॥४७॥
व्यशीर्यत ततो राष्ट्रं क्षयैर्नानाविधैस्तदा ।
क्षुन्मृत्युभ्यामनावृष्ट्या व्याधिभिश्च समाहतम् ॥४८॥

अर्थ—हे राजन् ! हमने सुना है कि ऋक्ष के पुत्र "संवरण" राजा के पृथ्वी पर राज्य करते समय प्रजाओं का सर्वनाश होने लगा था, उस समय अनेक प्रकार की हानि, भूख, मृत्यु, अकाल और रोगों का मारा हुआ देश छिन्न भिन्न हो चला था ॥

अभ्यघ्नन् भारतांश्चैव सपत्नानां बलानि च ।
चालयन् वसुधां चेमां बलेन चतुरङ्गिणा ॥४९॥
अभ्ययात्तं च पाञ्चाल्यो विजित्य तरसा महीम् ।

अक्षौहिणीभिर्दशभिः स एनं समरेऽजयत् ॥ ५० ॥

अर्थ—शत्रुओं की सेनायें भरतवंशिओं को मारने लगीं और पञ्चाल देश का राजा अपनी चतुरङ्गिणी सेना के द्वारा पृथ्वी को कंपाता हुआ अपने बल से सारी पृथ्वी को विजय करके दश अक्षौहिणी सेना के साथ इस "संवरण" राजा पर चढ़ आया और इसको युद्ध में जीत लिया ॥

ततः सदारः सामात्यः सपुत्रः ससुहृज्जनः ।
राजा संवरणस्तस्मात् पलायत महाभयात् ॥५१॥

अर्थ—तब अपने मन्त्री, स्त्री, पुत्र और मित्रों सहित राजा संवरण भयभीत हो वहां से भागकर :—

सिन्धोर्नदस्य महतो निकुञ्जे न्यवसत् तदा ।
नदीविषयपर्यन्ते पर्वतस्य समीपतः ।
तत्रावसन् बहून् कालान् भारता दुर्गमाश्रिताः ॥५२॥

अर्थ—महानद सिन्धु के समीप वनकुंज में रहने लगा, इस प्रकार भरतवंशी लोग नदी तथा पर्वत के समीप प्रदेशों में दुर्ग बनाकर उसके सहारे बहुत काल तक रहे ॥

अथाभ्यगच्छद् भरतान् वशिष्ठो भगवानृषिः ।
तमागतं प्रयत्नेन प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च ।
अर्घ्यमभ्याहरन्तस्मै ते सर्वे भारतास्तदा ॥५३॥

अर्थ—इसके पश्चात् भारत लोगों के समीप एक समय भगवान् वशिष्ठ ऋषि आये, उनको आये हुए देखकर आदर के साथ सब भारत लोग उठ खड़े हुए और प्रणाम करके उनके लिये सत्कारार्थ जल आदि लाये ॥

निवेद्य सर्वमृषये सत्कारेण सुवर्चसे ।
तमासने चोपविष्टं राजा वव्रे स्वयं तदा ।
पुरोहितो भवान्नोऽस्तु राज्याय प्रयते महि ॥५४॥

अर्थ—उस तेजस्वी ऋषि के आसन पर बैठ जाने के पश्चात् उनसे विनयपूर्वक सब वृत्तान्त निवेदन करके राजा ने स्वयं प्रार्थना की कि हम राज्य पाने के लिये यत्न करेंगे और आप हमारे पुरोहित=अग्रणी बनें ॥

ओमित्येवं वशिष्ठोऽपि भारतान् प्रत्यपद्यत ।
अथाभ्यषिञ्चत्साम्राज्ये सर्वक्षत्रस्य पौरवम् ॥५५॥

अर्थ—वाशिष्ठ जी ने भी भारतों से "वहुत अच्छा" कहकर उनके कथन को स्वीकार करलिया और कुछ समय पश्चात् वाशिष्ठजी ने सब क्षत्रिओं के राज्य पर उस पुरुवंशी "संवरण" राजा को राज्य-तिलक देदिया ॥

विषाणभूतं सर्वस्यां पृथिव्यामिति नः श्रुतम् ।
भरताध्युषितं पूर्वं सोऽध्यतिष्ठत्पुरोत्तमम् ।
पुनर्बलिभृतश्चैव चक्रे सर्वमहीक्षितः ॥५६॥

अर्थ—हमने सुना है कि पृथ्वी भर में उत्तम नगर जो हाथी दांत का बना हुआ था और जिसमें पहले राजा भरत रहते थे उसी में वह रहने लगा, और सब राजाओं को फिर से उसने कर देने वाला बनाया ॥

ततः स पृथिवीं प्राप्य पुनरीजे महाबलः ।
आजमीढो महायज्ञैर्बहुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥५७॥

अर्थ—तब अजमीढ़ के पौत्र महाबली राजा ने फिर से पृथ्वी को पाकर बहुत दक्षिणा वाले अनेक बड़े २ यज्ञ किये ॥

ततः संवरणात् सौरी तपती सुषुवे कुरुम् ।
राजन्नेतं प्रजाः सर्वा धर्मज्ञ इति वव्रिरे ॥५८॥
तस्य नाम्नाभिविख्यात पृथिव्यां कुरु जाङ्गलम् ।
कुरुक्षेत्र स तपसा पुण्यं चक्रे महातपाः ॥५९॥

अर्थ—तत्पश्चात् सूर की पुत्री "तपती" नामक भार्या से संवरण का पुत्र "कुरु" हुआ, हे राजन् ! सारी प्रजाओं ने इस "कुरु" को धर्मात्मा कहकर पुकारा, इसी के नाम से पृथ्वी में "कुरु-जाङ्गल" देश विख्यात हुआ और इसी महा तपस्वी ने अपने तप द्वारा "कुरुक्षेत्र" नामक पवित्र देश स्थापित किया ॥

अविक्षितमभिष्यन्तं तथा चैत्ररथं मुनिम् ।
जनमेजयं च विख्यातं पुत्रांश्चास्यानुशुश्रुमः ।
पञ्चैतान् वाहिनी पुत्रान् व्यजायत मनस्विनी ॥ ६० ॥

अर्थ—इस राजा के "वाहिनी" नामक धर्मात्मा भार्या से अविक्षित्, अभिष्यन्त, चैत्ररथ, मुनि और जनमेजय नाम से प्रसिद्ध पांच पुत्र हुए, ऐसा हमने सुना है ॥

अविक्षितः परीक्षित्तु शवलाश्वश्च वीर्यवान् ।
आदिराजो विरजाश्च शाल्मलि महाबलः ।
उच्चैःश्रवा भङ्गकारो जितारिश्चाष्टमः स्मृतः ॥६१॥

अर्थ—अविक्षित के "परीक्षित" पराक्रमी "शवलाश्व"

" आदिराज " " विरजा " महाबली " शाल्मलि " "उच्चैश्रवा" " भङ्गकार " और आठवां " जितारि " यह आठ पुत्र उत्पन्न हुए ॥

जनमेजयादयः सप्त तथैवान्ये महारथाः ।
परीक्षितोऽभवन् पुत्राः सर्वे धर्मार्थकोविदाः ॥६२॥
कक्षसेनोग्रसेनौ तु चित्रसेनश्च वीर्यवान् ।
इन्द्रसेनः सुषेणश्च भीमसेनश्च नामतः ॥६३॥

अर्थ–परीक्षित् राजा के जनमेजय आदि सात पुत्र तथा और भी बहादुर अन्य पुत्र हुए जो सभी धर्म और अर्थ में निपुण थे, उन सातों के नाम यह हैं–जनमेजय, कक्षसेन, उग्रसेन, पराक्रमी चित्रसेन, इन्द्रसेन, सुषेण और भीमसेन ॥

जनमेजयस्य तनया भुवि ख्याता महाबलः ।
धृतराष्ट्रः प्रथमजः पाण्डुर्बाह्लीक एव च ॥६४॥
निषधश्च महातेजास्तथा जाम्बूनदो बली ।
कुण्डोदरः पदातिश्च वसातिश्चाष्टमः स्मृतः ।
सर्वे धर्मार्थ कुशलाः सर्वभूतहिते रताः ॥६५॥

अर्थ–जनमेजय के महाबली आठ पुत्र जगत् में प्रसिद्ध हुए–पहला पुत्र " धृतराष्ट्र " हुआ, पश्चात् पाण्डु, बाह्लीक, महा प्रतापी निषध, बलवान् जाम्बूनद, कुण्डोदर, पदाति और आठवां वसाति हुआ, यह सब धर्म तथा अर्थ विषय में विद्वान् और सब प्राणियों के हितकारी थे ॥

धृतराष्ट्रोऽथ राजासीत्तस्य पुत्रोऽथ कुण्डिकः ।

हस्ती वितर्कः क्राथश्च कुण्डिनश्चापि पञ्चमः ।
हविःश्रवास्तथेन्द्राभः भुमन्युश्चापराजितः ॥६६॥

अर्थ—इन सब में धृतराष्ट्र राजा हुआ और उसके "कुण्डिक" "हस्ती" "वितर्क" "क्राथ" "कुण्डिन" इन्द्र के समान प्रतापी "हविश्रवा" और युद्ध में न हारने वाला "भुमन्यु" यह सात पुत्र उत्पन्न हुए ॥

धार्तराष्ट्रसुतानाहुस्त्रीनेतान् प्रथितान भुवि ।
प्रतीपं धर्मनेत्रं च सुनेत्रं चापि भारत ॥६७॥

अर्थ—हे राजन् ! धृतराष्ट्र के पुत्र "कुण्डिक" राजा के प्रतीप, धर्मनेत्र तथा सुनेत्र यह तीन पुत्र हुए जो पृथ्वी में विख्यात थे ॥

प्रतीपः प्रथितस्तेषां बभूवाप्रतिमो भुवि ।
प्रतीपस्य त्रयः पुत्रा जज्ञिरे भरतर्षभ ।
देवापिः शन्तनुश्चैव बाह्लीकश्च महारथः ॥६८॥

अर्थ—उन तीनों में प्रतीप सब से बढ़कर पृथ्वी पर विख्यात हुआ, और हे भरतकुल भूषण राजन् ! प्रतीप के "देवापि" "शन्तनु" और महाबली "बाह्लीक" यह तीन पुत्र हुए ॥

देवापिश्च प्रवव्राज तेषां धर्महितेप्सया ।
शन्तनुश्च महीं लेभे बाह्लीकश्च महारथः ॥ ६९ ॥

अर्थ—उनमें से देवापि ने धर्मप्राप्ति की इच्छा से संन्यास ले लिया और शन्तनु तथा महापराक्रमी बाह्लीक ने राज्य प्राप्त किया ॥

भरतस्यान्वये जाताः सत्त्ववन्तो नराधिपाः ।

देवर्षिकल्पा नृपते बहवो राजसत्तमाः ॥ ७० ॥
एवं विधाश्चाप्यपरे देवकल्पा महारथाः ।
जाता मनोरन्ववाये ऐलवंशविवर्द्धनाः ॥ ७१ ॥

अर्थ–हे राजन् ! इस प्रकार " भरत " के वंश में अनेक पराक्रमी श्रेष्ठ राजा हुए जो देवता और ऋषियों के तुल्य थे, इस प्रकार के और भी बहुत से राजा मानववंश में उत्पन्न हुए जो देवताओं के समान महायोद्धा तथा पुरूरवा के वंश को चलाने वाले थे ॥

जनमेजय उवाच

श्रुतस्त्वत्तो मया ब्रह्मन् पूर्वेषां सम्भवो महान् ।
उदाराश्चापि वंशेऽस्मिन्राजानो मे परिश्रुताः ॥७२॥
किं तु लघ्वर्थसंयुक्तं प्रियाख्यानं न मामति ।
प्रीणात्यतो भवान् भूयो विस्तरेण ब्रवीतु मे ।
एतामेव कथां दिव्यामाप्रजापतितो मनोः ॥७३॥

अर्थ–जनमेजय बोला कि हे ब्रह्मन् ! मैंने आपसे पूर्व पुरुषाओं के उत्कृष्ट जन्म सुने, और इस वंश के जो उदार राजा हुए उनका भी श्रवण किया, परन्तु संक्षेप से कहा हुआ यह प्यारा इतिहास मुझे पूर्ण तृप्त नहीं करता, इसलिये प्रजापति मनु से आरम्भ करके इसी अद्भुत कथा को आप पुनः विस्तारपूर्वक मेरे प्रति कहें ॥

तेषामाजननं पुण्यं कस्य न प्रीतिमावहेत् ।
सद्धर्मगुण माहात्म्यैरभिवर्द्धितमुत्तमम् ॥७४॥
गुणप्रभाववीर्यौजः सत्त्वोत्साहवतामहम् ।
न तृप्यामि कथां शृण्वन्नमृतास्वादसम्मिताम् ॥७५॥

अर्थ—उन पूर्व पुरुषाओं का पवित्र जीवन किसको प्रसन्न नहीं करता जो सच्चे धर्म, गुण और महत्त्व से परिपूर्ण थे, सो मैं उन पुरुषों की अमृत के समान आनन्द दायक कथा को सुनता हुआ तृप्त नहीं होता जो प्रभाव, पराक्रम, तेज, बल और उत्साह सम्पन्न थे ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु राजन् पुरा सम्यङ् मया द्वैपायनाच्छ्रुतम् ।
प्रोच्यमानं मया कृत्स्नं स्ववंशजननं शुभम् ॥७६॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! आप अपने वंश का उत्तम इतिहास पूर्णरूप से भलेप्रकार सुनें, जो मैंने पहले व्यासजी से सुना है॥

दक्षाददितिरदितेर्विवस्वान् विवस्वतो मनुर्मनोरिळा इलायाः पुरूरवाः । पुरूरवस आयुरायुषो नहुषो नहुषाद्ययातिर्ययातेर्द्वे भार्ये बभूवतुः। उशनस्य दुहिता देवयानी वृषपर्वणश्च दुहिता शर्म्मिष्ठा नाम ॥७७॥

अर्थ—दक्ष से "अदिति" हुई, अदिति से विवस्वान् विवस्वान् से मनु मनु से इला हुई, इला का पुत्र "पुरूरवा" हुआ पुरूरवा से आयुस् आयुस् से "नहुष" नहुष से "ययाति" हुआ, ययाति की दो स्त्रियां थीं, एक शुक्र की पुत्री "देवयानी" दूसरी वृषपर्वा की पुत्री "शर्मिष्ठा" नामक थी ॥

यदुं च तुर्वसुं चैव देवयानी व्यजायत-
द्रुह्युं चानुं च पूरुं च शर्मिष्ठा वार्षपर्वणी-
यदोर्यादवाः पूरोः पौरवाः ॥ ७८ ॥

अर्थ–देवयानी के "यदु" और "तुर्वसु" दो पुत्र हुए, और वृषपर्वा की पुत्री "शर्मिष्ठा" के "द्रुह्यु" "अनु" और "पूरु" नामी तीन पुत्र जन्मे, यदु से यादव और पूरु से पौरव लोग उत्पन्न हुए॥

पूरोस्तु भार्या कौशल्या नाम तस्यामस्य जज्ञे जनमेजयो नाम। जनमेजयः खल्वनन्तां नामोपयेमे माधवीं तस्यामस्य जज्ञे प्राचिन्वान्। यः प्राचीं दिशं जिगाय यावत् सूर्योदयात् ततस्तस्य प्राचिन्वत्त्वम्॥ ७९॥

अर्थ–पूरु की "कौशल्या" नामक स्त्री से "जनमेजय" नामी पुत्र हुआ, जनमेजय ने मधुवंश की पुत्री "अनन्ता" से विवाह किया, उससे इसका पुत्र "प्राचिन्वान्" उत्पन्न हुआ, जिसने सूर्योदय के स्थान तक प्राची=पूर्व दिशा को विजय किया और इसीलिये उसका नाम "प्राचिन्वान्" हुआ॥

प्राचिन्वान् खल्वश्मकीमुपयेमे यादवी तस्यामस्य जज्ञे संयातिः। संयातिः खलु दृषद्वतो दुहितरं वराङ्गी नामोपयेमे तस्यामस्य जज्ञे अहंयातिः। अहंयातिः खलु कृतवीर्यदुहितरमुपयेमे भानुमती नाम तस्यामस्य जज्ञे सार्वभौमः॥८०॥

अर्थ–प्राचिन्वान् ने यदुवंशी "अश्मकी" नामक कन्या से विवाह किया और उससे "संयाति" नामक पुत्र हुआ, संयाति ने "दृषद्वत्" की "वराङ्गी" नामक कन्या से विवाह किया और उससे "अहंयाति" नामी पुत्र उत्पन्न हुआ,

अहंयाति ने "कृतवीर्य" की पुत्री "भानुमती" से विवाह किया और उससे "सार्वभौम" नामक पुत्र जन्मा ॥

सार्वभौमः खलु जित्वा जहार कैकेयीं सुनन्दां नामतामुपयेमे तस्यामस्य जज्ञे जयत्सेनो नाम । जयत्सेनः खलु वैदर्भीमुपयेमे सुश्रवां नाम तस्यामस्य जज्ञे अवाचीनः । अवाचीनोऽपि वैदर्भीमपरामेवोपयेमे मर्यादां नाम तस्यामस्य जज्ञे अरिहः ॥८१॥

अर्थ—सार्वभौम "केकय" वंश की पुत्री "सुनन्दा" को विजय करके छीन लाया और उससे विवाह किया, जिससे इसका पुत्र "जयत्सेन" नामी उत्पन्न हुआ, जयत्सेन ने "विदर्भ" वंश की कन्या "सुश्रवा" से विवाह किया और उससे "अवाचीन" नामी पुत्र हुआ, अवाचीन ने भी विदर्भवंश की ही दूसरी "मर्यादा" नामी स्त्री से विवाह किया और उससे इसका "अरिह" नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥

अरिहः खल्वाङ्गीमुपयेमे तस्यामस्य जज्ञे महाभौमः, महाभौमः खलु प्रासेनजितीमुपयेमे सुयज्ञां नाम । तस्यामस्य जज्ञे अयुतनायी, यः पुरुषमेधानामयुतमानयत् तेनास्यायुतनायित्वम् ॥८२॥

अर्थ—"अरिह" ने अङ्ग वंश की कन्या से विवाह किया और उससे "महाभौम" नामी इसका पुत्र हुआ, महाभौम ने "प्रसेनजित्" के वंश की "सुयज्ञा" नामक स्त्री से विवाह किया और उससे "अयुतनायी" नामी पुत्र हुआ, जिसने अयुत=दस

हज़ार "नरमेध" यज्ञ किये और इसी से इसका नाम "अयुतनायी" हुआ ॥

अयुतनायी खलु पृथुश्रवसो दुहितरमुपयेमे कामां नाम तस्यामस्य जज्ञे अक्रोधनः। स खलु कालिङ्गीं करम्भां नामोपयेमे तस्यामस्य जज्ञे देवातिथिः। देवातिथिः खलु वैदेहीमुपयेमे मर्यादां नाम तस्यामस्य जज्ञेऽरिहो नाम ॥८३॥

अर्थ–अयुतनायी ने "पृथुश्रवा" की पुत्री "कामा" से विवाह किया और उससे इसका "अक्रोधन" नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, उसने "कलिङ्ग" वंश की कन्या "करम्भा" से विवाह किया और उससे "देवातिथि" पुत्र हुआ, देवातिथि ने विदेह वंश की कन्या "मर्यादा" से विवाह किया और उससे "अरिह" नामक पुत्र जन्मा ॥

अरिहः खल्वाङ्गेयीमुपयेमे सुदेवां नाम तस्यां पुत्रमजीजनदृक्षम्। ऋक्षः खलु तक्षकदुहितरमुपयेमेज्वालां नाम तस्यां पुत्रं मतिनारं नामोत्पादयामास ॥८४॥

अर्थ–अरिह ने "अङ्ग" वंश की कन्या "सुदेवा" से विवाह किया, और उससे "ऋक्ष" नामक पुत्र हुआ, ऋक्ष ने "तक्षक" की पुत्री "ज्वाला" से विवाह किया और उससे "मतिनार" नामी पुत्र उत्पन्न हुआ ॥

मतिनारः खलु सरस्वत्यां गुणसमन्वितं द्वादशवार्षिकं सत्रमाहरत्। समाप्ते च सत्रे सरस्वत्याभिगम्य

तं भर्त्तारं वरयामास । स तस्यां पुत्रमजीजनत् तंसुं नाम ॥८५॥

अर्थ—मतिनार ने "सरस्वती" नामक स्त्री की प्राप्ति के लिये सर्व गुणसंपन्न बारह वर्ष का यज्ञ किया, और यज्ञ समाप्त होने पर सरस्वती ने स्वयम् आकर उसको पति वर लिया, उससे इसका "तंसु" नामी पुत्र हुआ ॥

तंसुं सरस्वती पुत्रं मतिनारादजीजनत् ।
ईलिनं जनयामास कालिङ्ग्यां तंसुरात्मजम् ॥८६॥

अर्थ—मतिनार का सरस्वती से "तंसु" और तंसु का "कलिङ्ग" वंश की पुत्री से "ईलिन" नामी पुत्र उत्पन्न हुआ ॥

ईलिनस्तु रथन्तर्यां दुष्यन्ताद्यान् पञ्च पुत्रानजीजनत् । दुष्यन्तः खलु विश्वामित्रदुहितरं शकुन्तलां नामोपयेमे तस्यामस्य जज्ञे भरतः । भरतः खलु काशेयीमुपयेमे सार्वसेनीं सुनन्दां नाम तस्यामस्य जज्ञे भुमन्युः ॥८७॥

अर्थ—ईलिन के "रथन्तरी" नामक स्त्री से "दुष्यन्त" आदि पांच पुत्र उत्पन्न हुए, दुष्यन्त ने विश्वामित्र की कन्या "शकुन्तला" से विवाह किया और उससे "भरत" नामक पुत्र उत्पन्न हुआ "भरत" ने "काशेय" वंश की कन्या "सर्वसेन" की पुत्री "सुनन्दा" से विवाह किया और उससे इसका पुत्र "भुमन्यु" उत्पन्न हुआ ॥

भुमन्युः खलु दाशार्हीमुपयेमे विजयां नाम तस्या-

मस्य जज्ञे सुहोत्रः । सुहोत्रः खल्विक्ष्वाकु कन्या मुपयेमे सुवर्णां नाम तस्यामस्य जज्ञे हस्ती । य इदं हास्तिनपुरं स्थापयामास एतदस्य हास्तिनपुरत्त्वम् ।८८।

अर्थ–भुमन्यु ने "दाशार्ह" वंश की कन्या "विजया" से विवाह किया जिससे "सुहोत्र" नामी पुत्र उत्पन्न हुआ, सुहोत्र ने "इक्ष्वाकु" की कन्या "सुवर्णा" से विवाह किया, उससे इसका "हस्ती" नाम पुत्र हुआ, जिसने इस "हस्तिनापुर" को बसाया और इसी कारण से इस नगर का नाम "हस्तिनापुर" हुआ ॥

हस्ती खलु त्रैगर्त्तीमुपयेमे यशोधरां नाम तस्या-मस्य जज्ञे विकुण्ठनो नाम । विकुण्ठनः खलु दाशार्हीमुपयेमे सुदेवां नाम तस्यामस्य जज्ञे अजमीढो नाम। अजमीढस्य वंशकरः संवरणः।।८९।।

अर्थ–हस्ती ने "त्रिगर्त" वंश की "यशोधरा" नामक कन्या से विवाह किया और उससे इसका पुत्र "विकुण्ठन" नामी हुआ, विकुण्ठन ने "दाशार्ह" वंश की "सुदेवा" नामक कन्या से विवाह किया, उससे इसका पुत्र "अजमीढ" हुआ और अजमीढ का वंशधर पुत्र "संवरण" हुआ ॥

संवरणः खलु वैवस्वतीं तपतीं नामोपयेमे तस्यामस्य जज्ञे कुरुः । कुरुः खलु दाशार्हीमुपयेमे शुभाङ्गीं नाम तस्यामस्य जज्ञे विदूरथः । विदूरथस्तु माधवीमुपयेमे संप्रियां नाम तस्यामस्य जज्ञे अनश्वा नाम ।।९२।।

अर्थ-संवरण ने विवस्वान् वंश की तपती नामक कन्या से विवाह किया और उससे इस[illegible]ा पुत्र कुरु हुआ, कुरु ने दाशार्ह वंश की शुभाङ्गी कन्या से विवाह किया और उससे विदूरथ नामी पुत्र उत्पन्न हुआ, विदूरथ ने मधुवंश की संप्रिया नामी कन्या से विवाह किया और उससे अनश्वा नामी पुत्र जन्मा ॥

अनश्वा खलु मागधीमुपयेमे अमृतां नाम तस्यामस्य जज्ञे परीक्षित् । परीक्षित् खलु वाहुदामुपयेमे सुयशां नाम तस्यामस्य जज्ञे भीमसेनः । भीमसेनः खलु कैकेयीमुपयेमे कुमारीं नाम तस्यामस्य जज्ञे प्रतिश्रवा नाम ॥९१॥

अर्थ-अनश्वा ने मगधवंश की अमृता नामक कन्या से विवाह किया और उससे परीक्षित नामक पुत्र हुआ, परीक्षित ने वहुद वंश की सुयशा नामक कन्या से विवाह किया और उससे भीमसेन नामी पुत्र हुआ, भीमसेन ने केकय वंश की कुमारी से विवाह किया और उससे प्रतिश्रवा नामी पुत्र उत्पन्न हुआ ॥

प्रतिश्रवसः प्रतीपः, प्रतीपः खलु शैब्यामुपयेमे सुनन्दां नाम तस्यां पुत्रानुत्पादयामास देवापिं शन्तनुं वाह्लीकं चेति । देवापिः खलु बाल एवारण्यं विवेश शन्तनुस्तु महीपालो बभूव ॥९२॥

अर्थ-प्रतिश्रवा का पुत्र प्रतीप हुआ, प्रतीप ने शिवि वंश की सुनन्दा नामक कन्या से विवाह किया और उससे देवापि, शन्तनु,तथा वाह्लीक यह तीन पुत्र,हुए देवापि के बाल्यावस्था में ही

तप करने के लिये वन को चले जाने के कारण शन्तनु राजा हुआ॥

शन्तनुः खलु गंगां भागीरथीमुपयेमे तस्यामस्यजज्ञे देवव्रतो नाम यमाहुर्भीष्ममिति । भीष्मः खलु पितुः प्रियचिकीर्षया सत्यवतीं नाम मातरमुद्वाहयत् यामाहुर्गन्धकालीमिति ॥ ९३ ॥

अर्थ–शन्तनु ने "भगीरथ" वंश की "गङ्गा" नामक कन्या से विवाह किया और उससे इसका पुत्र "देवव्रत" हुआ, जिसको "भीष्म" भी कहते हैं, भीष्म ने पिता के हित की इच्छा से "सत्यवती" नाम कन्या से पिता का दूसरा विवाह कराया, जिसको "गन्धकाली" भी कहते हैं ॥

तस्यां पूर्वं कानीनो गर्भः पराशराद् द्वैपायनोऽभवत् । तस्यामेव शन्तनोरन्यौ द्वौ पुत्रौ बभूवतुः विचित्र-वीर्यश्चित्राङ्गदश्च, तयोरप्राप्तयौवन एव चित्राङ्गदो गन्धर्वेण हतः, विचित्रवर्यिस्तु राजासीत् ॥९४॥

अर्थ–उससे पहले इसी में पराशर से पुत्र उत्पन्न हुआ जिसको द्वैपायन=व्यास नाम से पुकारते हैं, उसी से शन्तनु के "विचित्रवीर्य" और "चित्राङ्गद" दो पुत्र उत्पन्न हुए, उनमें से चित्राङ्गद तो युवावस्था में ही युद्ध में गन्धर्व से मारा गया और विचित्रवीर्य राजा हुआ ॥

विचित्रवीर्यः खलु कौशल्यात्मजे अम्बिकाम्बालिके काशिराजदुहितरावुपयेमे । विचित्रवीर्यस्त्वनपत्य एव विदेहत्वं प्राप्तः, ततः सत्यवत्यचिन्तयन्मा

दौष्यन्तो वंश उच्छेदं व्रजेदिति ॥९५॥

अर्थ–विचित्रवीर्य ने "कौशल्या" से उत्पन्न हुई "काशिराज" की "अम्बिका" "अम्बालिका" नामी दो कन्याओं से विवाह किया, परन्तु विचित्रवीर्य विना सन्तान के ही मृत्यु को प्राप्त हुआ, इस कारण माता सत्यवती चिन्ता करने लगी कि कहीं दुष्यन्त का वंश नष्ट न होजाय ॥

सा द्वैपायनमृषिं चिन्तयामास । स तस्याः पुरतः स्थितः किंकरवाणीति । सा तमुवाच भ्राता तवानपत्य एव स्वर्यातो विचित्रवीर्यः । साध्वपत्यं तस्योत्पादयेति ॥९६॥

अर्थ–उसने ऋषि व्यास को बुलाया और वह उसके सन्मुख उपस्थित होकर बोले कि कहो क्या आज्ञा है? तब वह उनसे बोली कि तुम्हारा भाई "विचित्रवीर्य" विना सन्तान के स्वर्गवासी होगया है अब तुम उसके लिये उत्तम सन्तान उत्पन्न करो ॥

स तथेत्युक्त्वा त्रीन् पुत्रानुत्पादयामास, धृतराष्ट्रं पाण्डुं विदुरं चेति । तत्र धृतराष्ट्रस्य राज्ञः पुत्रशतं बभूव गांधार्यादिषु* तेषां धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां चत्वारः

---

* कई ग्रन्थों में "गान्धार्यां" पाठ देख पडता है, जिसके अर्थ यह हैं कि एकमात्र गान्धारी नामक स्त्री में १०० पुत्र उत्पन्न हुए, परन्तु एक स्त्री में सौ पुत्र होना असम्भव होने से "गान्धार्यादिषु" पाठ ही ठीक है अर्थात् धृतराष्ट्र के गान्धारी आदि स्त्रियों से १०० पुत्र जन्मे, जिनमें से दुर्योधन, दुःशासन, विकर्ण और चित्रसेन, यह चार गान्धारी से और अन्य ९६ और २ स्त्रियों से उत्पन्न हुए, जिनमें से कई स्त्रियों में कई पुत्र नियोग द्वारा उत्पन्न हुए और वह भी पटरानी अर्थात् बड़ी होने से गान्धारी के ही कहलाये, ऐसा इतिहास से विदित होता है ॥

प्रधाना बभूवः । दुर्योधनो दुःशासनो विकर्णश्चित्रसेनश्चेति ॥९७॥

अर्थ–व्यासजी ने "बहुत अच्छा" कहकर धृतराष्ट्र, पाण्डु और "विदुर" यह तीन पुत्र उत्पन्न किये, इनमें से राजा धृतराष्ट्र के सौ पुत्र गान्धारी आदि स्त्रियों से उत्पन्न हुए जिनमें "दुर्योधन" "दुःशासन" "विकर्ण" और "चित्रसेन" यह चार मुख्य थे ॥

पाण्डोस्तु द्वे भार्ये बभूवतुः कुन्ती पृथा नाम, माद्री चेत्युभे स्त्रीरत्ने । अथ पाण्डुः शृणोमि नानपत्यस्य लोकाः सन्तीति, सा त्वं मदर्थे पुत्रानुत्पादयेति कुन्तीमुवाच, सा तथोक्ता पुत्रानुत्पादयामास धर्माद्युधिष्ठिरं मारुताद्भीमसेनं शक्रादर्जुनमिति ॥९८॥

अर्थ–पाण्डु की दो भार्या थीं, एक का नाम "कुन्ती" जिसका दूसरा नाम पृथा भी था, और दूसरी "माद्री" ये दोनों स्त्रियें रत्नरूपा थीं, कालान्तर में पाण्डु ने कुन्ती से कहा कि मैं सुनता हूं कि सन्तान रहित के लिये कोई गति नहीं, सो तू मेरे लिये पुत्र उत्पन्न कर, ऐसी आज्ञा पाई हुई कुन्ती ने धर्म से "युधिष्ठिर" मारुत से "भीमसेन" और शक्र से "अर्जुन" यह तीन पुत्र उत्पन्न कराये ॥

तां संहृष्टः पाण्डुरुवाच, इयं ते सपत्न्यनपत्या साध्वस्या अपत्यमुत्पाद्यतामिति । माद्रयामश्विभ्यां नकुल सहदेवावुत्पादितौ ॥९९॥

अर्थ–तब पाण्डु प्रसन्न होकर कुन्ती से बोले कि यह तुम्हारी सौत सन्तान रहित है, इसके भी सन्तान उत्पन्न कराओ, पश्चात्

माद्री के दो अश्वियों=अश्विनी तथा कुमार से नकुल और सहदेव दो पुत्र उत्पन्न कराये ॥

माद्रीं खल्वलङ्कृतां दृष्ट्वा पाण्डुभावं चक्रे स तां स्पृष्ट्वैव विदेहत्वं प्राप्तः। तत्रैनं चिताग्निस्थं माद्री समन्वारुरोह, उवाच कुन्तीं यमयोरप्रमत्तया त्वया भवितव्यम् इति ॥१००॥

अर्थ—एक दिन माद्री को भूषणादि से अलंकृत देखकर पाण्डु को काम उत्पन्न हो आया और वह उसका स्पर्श करते ही मृत्यु को प्राप्त होगया, तब वन में माद्री उसको चिता पर रखकर आप भी चढ़ गई, और कुन्ती से बोली कि तुम नकुल और सहदेव का सावधानी से पालन करना ॥

ततस्ते पाण्डवाः कुन्त्या सहिता हस्तिनपुरमानीय तापसैर्भीष्मस्य विदुरस्य च निवेदिताः। तांस्तत्र निवसतः पाण्डवान् बाल्यात्प्रभृति दुर्योधनो नामर्षयत्। पापाचारो राक्षसीं बुद्धिमाश्रितोऽनेकैरुपायैरुद्धर्त्तुं च व्यवसितो भावित्वाच्चार्थस्यनशक्तितास्तेसमुद्धर्तुम्।१०१

अर्थ—तब तपस्वियों ने पांचो पाण्डवों को कुन्ती समेत वन से हस्तिनापुर में लाकर भीष्म और विदुरजी के सपुर्द करदिया और वह पाण्डव वहां निवास करने लगे, पर दुर्योधन बचपन से ही इनको देखकर जलता था, और पापाचारी राक्षसी बुद्धि धारण किये हुए उनके नाश के अनेक उपाय करने लगा, परन्तु वह बात भावी=होनहार न थी, इसलिये उन पाण्डवों का नाश न होसका ॥

ततश्च धृतराष्ट्रेण व्याजेन वारणावतमनुप्रेषिता गमनमरोचयन् । तत्रापि जतुगृहे दग्धुं समारब्धा न शकिता विदुरमन्त्रितेनेति ॥१०२॥

अर्थ—इसके पश्चात् धृतराष्ट्र ने किसी बहाने से उनको "वारणावत" नगर में भेज दिया और उन्होंने जाना स्वीकार कर लिया, वहां भी लाख के घर में पाण्डवों को जला देने का यत्न किया गया, परन्तु विदुरजी की मन्त्रणा से वह न जल सके ॥

तस्माच्च हिडिम्बमन्तरा हत्वा एकचक्रां गताः, तस्यामस्येकचक्रायां बकं नाम राक्षसं हत्वा पाञ्चालनगरमधिगताः तत्र द्रौपदीं भार्यामविन्दन् स्वविषयं चाभिजग्मुः ॥१०३॥

अर्थ—वहां से निकलकर और बीच में "हिडिम्ब" नामी पापाचारी राक्षस को मारकर "एकचक्रा" नगरी में पहुंचे, और वहां भी "बक" नामी राक्षस को मार "पाञ्चाल" नगर में गये, वहां "द्रौपदी" नामक स्त्री को प्राप्त कर अपने देश को लौट आये ॥

कुशलिनः पुत्रांश्चोत्पादयामासुः प्रतिविन्ध्यं युधिष्ठिरः, सुतसोमं वृकोदरः, श्रुतकीर्त्तिमर्जुनः, शतानीकं नकुलः, श्रुतकर्माणं सहदेव इति ॥ १०४ ॥

अर्थ—और वहां कुशलपूर्वक रहते हुए उन पांचों के पांच पुत्र हुए—युधिष्ठिर का "प्रतिविन्ध्य, भीमसेन का "सुतसोम" अर्जुन का "श्रुतकीर्त्ति" नकुल का "शतानीक" और सहदेव का "श्रुतकर्मा" ॥

युधिष्ठिरस्तु गोवासनस्य शैब्यस्य देविकां नाम कन्यां स्वयंवरात् लेभे, तस्यां पुत्रं जनयामास यौधेयं नाम, भीमसेनोऽपि काश्यां वलन्धरां नामोपयेमे वीर्यशुल्कां तस्यां पुत्रं सर्वगं नामोत्पादयामास॥१०५॥

अर्थ—युधिष्टिर ने शिविवंशी "गोवासन" की "देविका" नामक कन्या को स्वयंवर में प्राप्त किया और उससे "यौधेय" नामी पुत्र हुआ, भीमसेन ने भी काशी में "वलन्धरा"="वीर्यशुल्का" नामक कन्या से विवाह किया और उससे "सर्वग" नामी पुत्र हुआ॥

अर्जुनः खलु द्वारवतीं गत्वा भगिनीं वासुदेवस्य सुभद्रां भद्रभाषिणीं भार्यामुदावहत्, स्वविषयं चाभ्याजगाम कुशली, तस्यां पुत्रमभिमन्युमतीवगुणसम्पन्नं दयितं वासुदेवस्याजनयत्॥१०६॥

अर्थ—अर्जुन ने द्वारकापुरी में जाकर कृष्ण की बहिन मधुरभाषिणी "सुभद्रा" को भार्या बनाकर कुशलपूर्वक अपने देश को लौट आया, उससे "अभिमन्यु" नामी पुत्र हुआ जो सर्वगुणसंपन्न होने से कृष्णजी का प्यारा था॥

नकुलस्तु चैद्यां करेणुमतीं नाम भार्यामुदावहत् तस्यां पुत्रं निरामित्रं नामाजनयत्, सहदेवोऽपि माद्रीमेव स्वयंवरे विजयां नामोपयेमे भद्रराजस्य द्युतिमतो दुहितरं तस्यां पुत्रमजनयत् सुहोत्रं नाम॥१०७॥

अर्थ—नकुल ने "चेदी" नगरी में "करेणुमती" कन्या को भार्या बनाया और उससे "निरामित्र" नामी पुत्र हुआ, सहदेव ने

भी मद्र देश में मद्र के तेजस्वी राजा की पुत्री "विजया" से स्वयंवर विवाह किया और उससे "सुहोत्र" नामी पुत्र उत्पन्न हुआ ॥

भीमसेनस्तु पूर्वमेव हिडिम्बायां राक्षसं घटोत्कचं पुत्रमुत्पादयामास, इत्येते एकादश पाण्डवानां पुत्रास्तेषां वंशकरोऽभिमन्युः ॥१०८॥

अर्थ–भीमसेन ने इससे पूर्व ही "हिडिम्बा" नामी राक्षस की कन्या से "घटोत्कच" नामक पुत्र उत्पन्न किया, इस प्रकार यह ग्यारह पाण्डवों के पुत्र हुए, परन्तु इनमें वंश चलाने वाला पुत्र "अभिमन्यु" हुआ ॥

स विराटस्य दुहितरमुपयेमे उत्तरां नाम, तस्यामस्य परासुर्गर्भोऽभवत् तमुत्सङ्गेनप्रतिजग्राह पृथा नियोगात् पुरुषोत्तमस्य वासुदेवस्य, षाण्मासिकं गर्भमहमेनं जीवयिष्यामीति ॥१०९॥

अर्थ–अभिमन्यु ने विराट की पुत्री "उत्तरा" से विवाह किया, उससे इसका पुत्र मरा हुआ सा उत्पन्न हुआ, किंतु पुरुषोत्तम कृष्णजी की इस प्रतिज्ञा से कि इस छः महीने के गर्भ को मैं जीवित कर दूंगा, कुन्ती ने उस पुत्र को गोद में रख लिया ॥

स भगवता वासुदेवेन तेजसा स्वेन जीवितः जीवयित्वा चैनमुवाच परिक्षीणेकुलेजातो भवत्वयं परीक्षिन्नामेति।११०

अर्थ–उसको भगवान् कृष्ण ने अपने सामर्थ्य से जीवित करादिया और जीवित करके बोले कि यह कुल के परिक्षय=नाश समय उत्पन्न हुआ है, इसलिये इसका नाम "परीक्षित" रहेगा ॥

परीक्षित् खलु माद्रवतीं नामोपयेमे त्वन्मातरं तस्यां भवान् जज्ञे जनमेजयः। भवतो वपुष्टमायां द्वौ पुत्रौ जज्ञाते, शतानीकः शङ्कुकर्णश्च, शतानीकस्य वैदेह्यां पुत्र उत्पन्नोऽश्वमेधदत्त इति ॥ १११ ॥

अर्थ–हे जनमेजय! परीक्षित् ने "माद्रवती" से विवाह किया जो तुम्हारी माता है, उससे आप "जनमेजय" उत्पन्न हुए, आपके "वपुष्टमा" स्त्री से "शतानीक" और "शंकुकर्ण" यह दो पुत्र जन्मे और शतानीक के "वैदेही" स्त्री से "अश्वमेधदत्त" पुत्र उत्पन्न हुआ॥

एष पूरोर्वंशः पाण्डवानां च कीर्त्तितो धन्यः पुण्यः परम पवित्रः सततं श्रोतव्यो ब्राह्मणैर्नियमवद्भिरनन्तरं क्षत्रियैः, स्वधर्मनिरतैः प्रजापालनतत्परैर्वैश्यैरपि च श्रोतव्योऽधिगम्यश्च तथा शूद्रैरपि त्रिवर्णशुश्रूषुभिः श्रद्दधानैरिति ॥११२॥

अर्थ–यह "पूरु" का वंश है जो पाण्डवों के सुयश से धन्य, पुण्य और परमपवित्र है, नियमधारी ब्राह्मणों, अपने धर्म में तत्पर तथा प्रजापालन में रत हुए क्षत्रियों और वैश्यों को भी सदा इस वंश का जीवनचरित्र सुनना तथा धारण करना आवश्यक है, और तीनों वर्णों की सेवा करने वाले श्रद्धालु शूद्रों को भी इसका अवश्य श्रवण करना चाहिये॥

इति चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः

अथ पंचमोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

स राजा शान्तनुर्धीमान् देवराजर्षिसत्कृतः ।
धर्मात्मा सर्वलोकेषु सत्यवागिति विश्रुतः ॥ १ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि वह प्रसिद्ध राजा शान्तनु बुद्धिमान् देवर्षि और राजर्षियों से सत्कार योग्य, सब लोकों में धर्मात्मा और सत्यवादी प्रसिद्ध था ॥

दमो दानं क्षमा बुद्धिर्ह्रीर्धृतिस्तेज उत्तमम् ।
नित्यान्यासन्महासत्त्वे शान्तनौ पुरुषर्षभे ॥ २ ॥
एवं स गुणसम्पन्नो धर्मार्थकुशलो नृपः ।
आसीद्भरतवंशस्य गोप्ता सर्वजनस्य च ॥ ३ ॥

अर्थ—उस सिंह पुरुष महाबली शान्तनु में दमन, दान, क्षमा, बुद्धि, लज्जा, धैर्य्य और उत्तम तेज, यह गुण सदा रहते थे इस प्रकार वह सर्वगुणसम्पन्न, धर्म तथा अर्थ में चतुर और भरतवंश सारी प्रजाओं का संरक्षक राजा हुआ ॥

तस्य कीर्त्तिमतो वृत्तमवेक्ष्य सततं नराः ।
धर्म एव परः कामादर्थाच्चेति व्यवस्थिताः ॥४॥
वर्तमानं हि धर्मेषु सर्वधर्मभृतां वरम् ।
तं महीपा महीपालं राजराज्येऽभ्यषेचयन् ॥५॥

अर्थ—उस यशस्वी राजा के निरन्तर सदाचार को देखकर लोग इस बात पर स्थिर होगये थे कि अर्थ और काम से

धर्म ही बढ़कर है, सब धर्मों में दृढ़ और सब धर्मात्माओं में श्रेष्ठ शान्तनु राजा को अन्य राजाओं ने राजराज्य=सम्राट् का राज्य निष्कण्टक देदिया ॥

स हास्तिनपुरे रम्ये कुरूणां पुटभेदने ।
वसन् सागरपर्यन्तामन्वशासद्वसुन्धराम् ॥६॥
वधः पशुवराहाणां तथैव मृगपक्षिणाम् ।
शान्तनौ पृथिवीपाले नावर्त्तत तथा नृप ॥७॥

अर्थ–वह राजा "हास्तिनापुर" नामी कौरवों के सुन्दर नगर में रहकर समुद्रपर्यन्त पृथ्वी का शासन करने लगा, हे राजन्! शान्तनु के शासनकाल में पशु, वराह, हिरण और पक्षियों का वध नहीं होता था ॥

स समाः षोडशाष्टौ च चतस्रोऽष्टौ तथापराः ।
रतिमप्राप्नुवन् स्त्रीषु बभूव वनगोचरः ॥८॥
तथारूपस्तथाचारस्तथावृत्तस्तथाश्रुतः ।
गाङ्गेयस्तस्य पुत्रोऽभून्नाम्ना देवव्रतो वसुः ॥ ९ ॥

अर्थ–वह राजा छत्तीस वर्ष तक स्त्रियों के विषयभोग से पृथक् रहकर वन में वास करता रहा, इसके पश्चात् "गङ्गा" नामक स्त्री से उसके "देवव्रत" नामी पुत्र हुआ, जिसका रूप, आचरण, वर्ताव और विद्या पिता के समान थी ॥

सर्वास्त्रेषु स निष्णातः पार्थिवेष्वितरेषु च ।
महाबलो महासत्त्वो महावीर्यो महारथः ॥१०॥
स कदाचिन्मृगं विद्ध्वा गङ्गामनुसरन्नदीम् ।
भागीरथीमल्पजलां शान्तनुर्दृष्टवान्नृपः ॥११॥

अर्थ—वह देवव्रत सब अस्त्र शस्त्रों के चलाने में निपुण, महाबली, प्रभावशाली, महापराक्रमी और महायोधा था, राजा शान्तनु एक समय शिकार खेलते हुए गङ्गा नदी के समीप जारहे थे कि उसमें उन्होंने बहुत थोड़ा जल देखा॥

तां दृष्ट्वा चिन्तयामास शान्तनुः पुरुषर्षभ ।
स्यन्दते किंन्वियं नाद्य सरिच्छ्रेष्ठा यथा पुरा ॥१२॥
ततो निमित्तमन्विच्छन्ददर्श स महामनाः ।
कुमारं रूपसम्पन्नं वृहन्तं चारुदर्शनम् ।
कृत्स्नां गंगां समावृत्य शरैस्तीक्ष्णैरवस्थितम् ॥१३॥

अर्थ—पुरुषों में श्रेष्ठ राजा शान्तनु उसको देखकर सोचने लगे कि आज यह श्रेष्ठ नदी पहले की भांति क्यों नही बहती ? तब वह उदार राजा इसके कारण की खोज करता हुआ क्या देखता है कि एक राजकुमार जो परम रूपवान्, सुन्दर आकृति तथा बड़े डीलडौल वाला अपने तीक्ष्ण बाणों द्वारा सारी गङ्गा नदी को रोके खड़ा है ॥

तां शरैराचितां दृष्ट्वा नदीं गंगां तदन्तिके ।
अभवद् विस्मितो राजा दृष्ट्वा कर्मातिमानुषम् ॥१४॥
जातमात्रं पुरां दृष्ट्वा तं पुत्रं शान्तनुस्तदा ।
सर्वकामसमृद्धयर्थं मेने चात्मानमात्मना ॥१५॥

अर्थ—उस कुमार के समीप गङ्गा नदी को बाणों से घिरी हुई देख और इस कार्य्य को अन्य मनुष्यों की शक्ति से बाहर देखकर राजा बड़ा अचम्भित हुआ, उस समय शान्तनु राजा पहले ही पहल उस बालक पुत्र को ऐसा पराक्रमी देखकर अन्तःकरण

में अपने आप को सब कामनाओं के पूर्ण करने में समर्थ समझने लगा ॥

पौरवेषु ततः पुत्रं राज्यार्थमभयप्रदम् ।
गुणवन्तं महात्मानं यौवराज्येऽभ्यषेचयत् ॥१६॥
पौरवाञ्छान्तनोः पुत्रः पितरं च महायशाः ।
राष्ट्रं च रञ्जयामास वृत्तेन भरतर्षभ ॥१७॥

अर्थ—हे राजन् ! तब राजा शान्तनु ने अपने अभयदाता, गुणवान् महात्मा पुत्र को पुरुवंशी राजाओं के राज्य के लिये युवराज्य का अभिषेक दे दिया और शान्तनु के उस महाकीर्त्ति पुत्र ने पुरुवंशी लोगों, अपने पिता और सारे देश को अपने सदाचार से परम आह्लादित करदिया ॥

स तथा सह पुत्रेण रममाणो महीपतिः ।
वर्त्तयामास वर्षाणि चत्वार्यमितविक्रमः ॥१८॥
स कदाचिद् वनं यातो यमुनामभितो नदीम् ।
स ददर्श तदा कन्यां दाशानां देवरूपिणीम् ॥१९॥

अर्थ—महा पराक्रमी राजा शान्तनु ने इस प्रकार अपने पुत्र के साथ आनन्द से रहते हुए चार वर्ष व्यतीत किये, एक समय राजा वन में यमुना नदी के इधर उधर घूम रहा था कि उसने देवताओं के समान रूपवती एक दाशकन्या को देखा ॥

तामपृच्छत् स दृष्ट्वैव कन्यामसितलोचनाम् ।
कस्य त्वमसि का चासि किंच भीरु चिकीर्षसि ॥२०॥
साब्रवीद् दाशकन्यास्मि धर्मार्थं वाहये तरिम् ।
पितुर्नियोगाद् भद्रं ते दाशराज्ञो महात्मनः ॥२१॥

अर्थ-तब राजा देखते ही उस श्याम नेत्रों वाली कन्या से पूछने लगे कि हे लज्जावती ! तू कौन है ? किसकी पुत्री है ? और क्या काम करती है ? वह कन्या बोली कि तुम्हारा कल्याण हो, मैं दाश=मल्लाह की पुत्री हूं और अपने पिता महात्मा दाशराज की आज्ञा से धर्मार्थ नाव चलाती हूं ॥

रूपमाधुर्यगन्धैस्तां संयुक्तां देवरूपिणीम् ।
समीक्ष्य राजा दाशेयीं कामयामास शान्तनुः ॥२२॥
स गत्वा पितरं तस्या वरयामास तां तदा ।
पर्यपृच्छत् ततस्तस्याः पितरं चात्मकारणात् ॥२३॥

अर्थ-राजा शान्तनु उस दाशकन्या को रूप, कोमलता तथा सुगन्ध से युक्त और देवताओं के समान रूपवती देखकर कामवश हो अपने निमित्त उस कन्या को वरण करने के लिये उसके पिता के समीप जाकर पूछा ॥

स च तं प्रत्युवाचेदं दाशराजो महीपतिम् ।
हृदि कामस्तु मे कश्चित् तं निबोध जनेश्वर ॥२४॥
यदीमां धर्मपत्नीं त्वं मत्तः प्रार्थयसेऽनघ ।
सत्यवागसि सत्येन समयं कुरु मे ततः ॥२५॥
समयेन प्रदद्यां ते कन्यामहामिमां नृप ।
नहि मे त्वत्समः कश्चिद् वरो जातु भविष्यति ॥२६॥

अर्थ-तब वह दाशराज राजा शान्तनु से बोला कि हे राजन्! मेरे हृदय में जो संकल्प है उसको आप पहले समझ लें, हे निष्पाप! यदि आपमेरी कन्या को अपनी धर्मपत्नी बनाने के लिये मुझसे कहते हो तो तुम सत्यभाषी हो मेरे साथ एक सत्य प्रतिज्ञा करो,

हे राजन् ! मैं एक नियम पर आपको अपनी कन्या दे सक्ता हूं, क्योंकि मेरे लिये तुम्हारे जैसा कोई वर नहीं है ॥

श्रुत्वा तव वरं दाश व्यवस्येयमहं तव ।
दातव्यं चेत्प्रदास्यामि न त्वदेयं कथंचन ॥२७॥
अस्यां जायेत यः पुत्रः स राजा पृथिवीपते ।
त्वदूर्ध्वमभिषेक्तव्यो नान्यः कश्चन पार्थिव ॥२८॥

अर्थ–राजा शान्तनु बोले कि हे दाश ! मैं तुम्हारे वर=संकल्प को सुनकर निर्णय कर सकता हूं, यदि देने योग्य होगा तो दूंगा, यदि न देने योग्य हुआ तो कभी नहीं देसकता, दाश बोला कि हे राजन् ! मेरा वर यह है कि इस कन्या का जो पुत्र हो वह तुम्हारे पश्चात् राज्य का अधिकारी हो, दूसरा कोई न हो ॥

वैशम्पायन उवाच

नाकामयत तं दातुं वरं दाशाय शान्तनुः ।
शरीरजेन तीव्रेण दह्यमानोऽपि भारत ॥२९॥
स चिन्तयन्नेव तदा दाशकन्यां महीपतिः ।
प्रत्ययाद् हास्तिनपुरं कामोपहतचेतनः ॥३०॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तीव्र कामवश होते हुए भी राजा शान्तनु ने दाश को वह वर देना न चाहा, तब वह राजा उस दाशकन्या का चिन्तन करता हुआ काम से पीड़ित हस्तिनापुर को लौट आया ॥

ततः कदाचिच्छोचन्तं शान्तनुं ध्यानमास्थितम् ।
पुत्रो देवव्रतोऽभ्येत्य पितरं वाक्यमब्रवीत् ॥३१॥

सर्वतो भवतः क्षेमं विधेयाः सर्वपार्थिवाः ।
तत् किमर्थमिहाभीक्ष्णं परिशोचसि दुःखितः ॥३२॥

अर्थ–इसके पश्चात् एक समय राजा शान्तनु चिन्ता में बैठे हुए सोच रहे थे कि उनका पुत्र देवव्रत समीप आकर उनसे कहने लगा कि हे पिता ! सब ओर से कुशल मंगल और सब राजा आपके अधीन हैं फिर आप किसलिये यहां बैठे हुए दुःखित होकर सदा चिन्तातुर रहते हैं ॥

ध्यायन्निव च मां राजन् नाभिभाषसि किंचन ।
न चाश्वेन विनिर्यासि विवर्णो हरिणः कृशः ।
व्याधिमिच्छामि ते ज्ञातुं प्रतिकुर्यां हि तत्र वै ॥३३॥

अर्थ–हे राजन् ! आप चिन्तातुर हुए २ न तो मुझसे कुछ बातचीत करते हैं, नाही घोड़े पर चढ़कर बाहर निकलते हैं, प्रत्युत आपका रंग पीला पड़ गया और आप दुर्बल होगये हैं, मैं तुम्हारे इस रोग को जानना चाहता हूं, जिसका मैं उपाय करूं ॥

एवमुक्तः स पुत्रेण शान्तनुः प्रत्यभाषत ।
असंशयं ध्यानपरो यथावत्स तथा शृणु ॥३४॥
अपत्यं नस्त्वमेवैकः कुले महति भारत ।
शस्त्रनित्यश्च सततं पौरुषे पर्यवस्थितः ॥३५॥

अर्थ–पुत्र के इस प्रकार पूछने पर शान्तनु बोले कि बेटा निःसन्देह मैं चिन्तातुर रहता हूं जिसका कारण सुन, हे भरतकुल भूषण ! हमारे बड़े भारी वंश में तू ही एक पुत्र है और तू शस्त्र-विद्या में तत्पर तथा पुरुषार्थ में सदा दृढ़ रहता है ॥

अनित्यतां च लोकानामनुशोचामि पुत्रक ।
कथंचित् तव गाङ्गेय विपत्तौ नास्ति नः कुलम् ॥३६॥
असंशयं त्वमेवैकः शतादपि वरः सुतः ।
नचाप्यहं वृथा भूयो दारान् कर्तुमिहोत्सहे ।
सन्तानस्याविनाशाय कामये भद्रमस्तु ते ॥३७॥

अर्थ—हे पुत्र ! जब मैं संसार की अनित्यता को विचारता हूं तो यह चिन्ता उत्पन्न होती है कि दैव ऐसा न करे यदि किसी कारणवशात् तुम्हारा शरीर न रहा तो हमारा वंश स्थिर न रहेगा, इसमें सन्देह नहीं कि तुम अकेले ही सौ पुत्रों से भी उत्तम हो और नाही मैं वृथा बार २ विवाह करने को उद्यत हूं, परन्तु अपने वंश का नाश न हो इस कारण मैं पुनर्विवाह करना आवश्यक समझता हूं, पुत्र तुम्हारा अभ्युदय हो ॥

अनपत्यन्त्वेकपुत्रमित्याहुर्धर्मवादिनः ।
अग्निहोत्रं त्रयीविद्या सन्तानमपि चाक्षयम् ॥३८॥

अर्थ—धर्म के जानने वाले कहते हैं कि एक पुत्र वाला मनुष्य निःसन्तान के बराबर होता है, अग्निहोत्र, त्रयीविद्या और सन्तान यह अक्षय होने चाहियें ॥

त्वं च शूरः सदामर्षी शस्त्रनित्यश्च भारत ।
नान्यत्र युद्धात् तस्मात् ते निधनं विद्यते क्वचित् ॥३९॥
सोऽस्मि संशयमापन्नस्त्वपि शान्ते कथं भवेत् ।
इति ते कारणं तात दुःखस्योक्तमशेषतः ॥४०॥

अर्थ—हे भरतवंशी पुत्र ! तू शूरवीर, तेजस्वी और शस्त्रविद्या

में परम प्रवीण होने के कारण सदा युद्ध में रहता है सो युद्ध से अन्यत्र तुम्हारी मृत्यु नहीं होसक्ती, इसीलिये मैं चिन्ता ग्रस्त हूं कि किसी युद्ध में तुम्हारी मृत्यु होगई तो फिर यह वंश निःसन्तान होजायगा, हे पुत्र! मैंने अपने दुःखका कारण पूर्णतया तुम से कह दिया है॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तत्कारणं राज्ञो ज्ञात्वा सर्वमशेषतः ।
देवव्रतो महाबुद्धिः प्रज्ञया चान्वचिन्तयत् ॥४१॥
अभ्यगच्छत् तदैवाशु वृद्धामात्यं पितुर्हितम् ।
तमपृच्छत् तदाभ्येत्य पितुस्तच्छोककारणम् ॥४२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे जनमेजय! तब महा बुद्धिमान् देवव्रत राजा की चिन्ता के कारण को पूर्णरूप से समझकर अपनी बुद्धि द्वारा विचारने लगा, और उसी समय पिता के हितकारी वृद्ध मंत्री के समीप शीघ्र पहुंचा और उनसे मिलकर पिता के शोक का कारण पूछने लगा॥

तस्मै स कुरुमुख्याय यथावत् परिपृच्छते ।
वरं शशंस कन्यां तामुद्दिश्य भरतर्षभ ॥ ४३ ॥
ततो देवव्रतो वृद्धैः क्षत्रियैः सहितस्तदा ।
अभिगम्य दाशराजं कन्यां वव्रे पितुः स्वयम् ॥४४॥

अर्थ—हे राजन्! कुरुवंश भूषण देवव्रत के ऐसा पूछने पर मन्त्री ने उस दाशकन्या को लक्ष्य करके राजा की कामना बतलाई, तब देवव्रत वृद्ध क्षत्रियों को साथ लेकर दाशराज के पास गया और अपने पिता के लिये स्वयं उस कन्या को दाशराज से मांगने लगा॥

तं दाशः प्रतिजग्राह विधिवत् प्रतिपूज्य च ।
अब्रवीच्चैनमासीनं राजसंसदि भारत ॥ ४५ ॥
त्वमेव नाथः पर्याप्तः शान्तनो भरतर्षभ ।
पुत्रः शस्त्रभृतां श्रेष्ठः किं तु वक्ष्यामि ते वचः ॥४६॥

अर्थ—तब दाशराज उनको अपने घर लेगया और उनका विधिपूर्वक सत्कार करके राजसभा में गया, और वहां बैठे हुए सभासदों के सन्मुख देवव्रत से बोला कि हे भरतकुलश्रेष्ठ ! तुम महाराज शान्तनु के पूर्ण पराक्रमी और शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ पुत्र हो सो मैं आपसे यह रहस्य कहता हूं कि :—

अपत्यं चैतदार्यस्य यो युष्माकं समो गुणैः ।
यस्य शुक्रात् सत्यवती सम्भूता वरवर्णिनी ॥४७॥
तेन मे बहुशस्तात पिता ते परिकीर्त्तितः ।
अर्हः सत्यवतीं वोढुं धर्मज्ञः स नराधिपः ॥ ४८ ॥

अर्थ—मेरी यह सुन्दर कन्या "सत्यवती" जिसकी सन्तान है अर्थात् जिसके वीर्य से उत्पन्न हुई है वह आर्य्य गुणों में आप लोगों के ही समान है, उसने मेरे आगे तुम्हारे पिता की बहुत वार प्रशंसा की और कहा था कि वह धर्मज्ञ राजा सत्यवती से विवाह करने योग्य है ॥

कन्यापितृत्वात् किंचित् तु वक्ष्यामि त्वां नराधिप ।
बलवत् सपत्नतामत्र दोषं पश्यामि केवलम् ॥४९॥
एतावानत्र दोषो हि नान्यः कश्चन पार्थिव ।
एतज्जानीहि भद्रं ते दानादाने परंतप ॥ ५० ॥

अर्थ—हे राजन्! कन्या का पिता होने के कारण मैं भी आपसे कुछ कहता हूं, इस विवाह संबन्ध में केवल "बलवान् सौतेले भाई का होना" एक दोष समझता हूं और कुछ नहीं, हे शत्रु सन्ताप-कारिन्! कन्या के देने और न देने में यह रहस्य समझ लें, आपका कल्याण हो ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु गाङ्गेयस्तद्युक्तं प्रत्यभाषत ।
शृण्वतां भूमिपालानां पितुरर्थाय भारतः ॥ ५१ ॥
इदं मे व्रतमादत्स्व सत्यं सत्यवतांवर ।
नैवजातो न वा जात ईदृशं वक्तुमुत्सहेत् ॥ ५२ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! दाशराज के ऐसा कहने पर देवव्रत सब श्रोता राजाओं के मध्य पिता के प्रयोजनार्थ इस प्रकार उचित वचन बोला कि हे सत्यवादियों में श्रेष्ठ! आप मेरे इस सत्य प्रण को सुनें, अब तक ऐसा कोई मनुष्य न हुआ न होगा जो ऐसी प्रतिज्ञा करने का उत्साह करे ॥

एवमेतत् करिष्यामि यथा त्वमनुभाषसे ।
योऽस्यां जनिष्यते पुत्रः स नो राजा भविष्यति ॥५३॥
इत्युक्तः पुनरेनाथ तं दाशः प्रत्यभाषत ।
चिकीर्षुर्दुष्करं कर्म राज्यार्थे भरतर्षभ ॥ ५४ ॥

अर्थ—जैसा तुम कहते हो वैसा ही करूंगा अर्थात् इस कन्या से जो पुत्र उत्पन्न होगा वही हमारा राजा होगा, हे राजन्! ऐसी प्रतिज्ञा करने पर भी वह दाश राज्य के लिये कठोर कर्म करने की

इच्छा से पुनः देवव्रत से इस प्रकार बोला कि :-

यत्त्वया सत्यवत्यर्थे सत्यधर्मपरायण ।
राजमध्ये प्रतिज्ञातमनुरूपं तवैव तत् ॥ ५५ ॥
नान्यथा तन्महाबाहो संशयोऽत्र न कश्चन ।
तवापत्यं भवेद्यत्तु तत्र नः संशयो महान् ॥ ५६ ॥

अर्थ—हे सत्यधर्म में तत्पर महाबाहु ! आपने जो राजा लोगों के बीच सत्यवती के हितार्थ प्रण किया है सो तुम्हारे योग्य ही है, वह कभी अन्यथा न होगा इसमें संशय नहीं, परन्तु तुम्हारा जो बलवान् पुत्र होगा उससे हमें बड़ा संशय है अर्थात् सम्भव है कि वह मेरी कन्या के पुत्र से राज्य छीन ले ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यैतन्यतमाज्ञाय सत्यधर्मपरायणः ।
प्रत्यजानात् तदा राजन् पितुः प्रियचिकीर्षया ॥५७॥
दाशराज निबोधेदं वचनं मे नृपोत्तम ।
शृण्वतां भूमिपालानां यद्ब्रवीमि पितुः कृते ॥५८॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! उस दाशराज का ऐसा विचार सुनकर सत्यधर्म में दृढ़ देवव्रत पिता के हित की इच्छा से यह प्रतिज्ञा करने को कटिबद्ध हुआ कि हे दाशनरेश ! इन सब श्रोता राजाओं के मध्य मैं अपने पिता के हित की कामना से जो प्रण करता हूं वह आप सुनें :—

राज्यं तावत् पूर्वमेव मया त्यक्तं नराधिपाः ।
अपत्यहेतोरपि च करिष्येऽद्य विनिश्चयम् ।
अद्यप्रभृति मे दाश ब्रह्मचर्यं भविष्यति ॥५९॥

अर्थ—हे राजाओ! राज्य तो मैंने पहले ही त्याग दिया है, अब सन्तान के लिये भी मैं यह दृढ़ प्रतिज्ञा करता हूं कि हे दाश! मैं आज से सदा ब्रह्मचारी रहुंगा ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा संप्रहृष्टतनूरुहः ।
ददानीत्येव तं दाशो धर्मात्मा प्रत्यभाषत ॥६०॥
ततः सः पितुरर्थाय तामुवाच यशस्विनीम् ।
अधिरोह रथं मातर्गच्छावः स्वगृहानिति ॥६१॥

अर्थ—देवव्रत की यह प्रतिज्ञा सुनकर, धर्मात्मा दाशराज हर्ष से रोमांचित हुआ २ बोला कि मैं अपनी कन्या महाराज को दान करता हूं, तब देवव्रत पिता के लिये उस यशस्विनी सत्यवती से बोला कि हे मात! चलिये अब रथ पर चढ़कर अपने घर चलें ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु भीष्मस्तां रथमारोप्य भाविनीम् ।
आगम्य हास्तिनपुरं शान्तनोः संन्यवेदयत् ॥६२॥
तस्य तद्दुष्करं कर्म प्रशशंसुर्नराधिपाः ।
समेताश्च पृथक् चैव भीष्मोऽयमिति चाब्रुवन् ॥६३॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! उस महाकठिन कर्म करने वाले "देवव्रत" ने ऐसा कहकर और सत्यवती को रथ पर बिठा हस्तिनापुर में पहुंच महाराजा शान्तनु की सेवा में अर्पण किया, तब सब राजा लोग उसके इस महाकठिन कर्म की प्रशंसा करने लगे, और सब मिलकर तथा प्रत्येक मनुष्य, देवव्रत को "भीष्म" कर्म करने वाला पुकारने लगे अर्थात् उसी समय से उनका नाम देवव्रत से "भीष्म" हुआ ॥

इति पंचमोऽध्यायः समाप्तः

अथ षष्ठोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततो विवाहे निर्वृत्ते स राजा शान्तनुर्नृप ।
तां कन्यां रूपसम्पन्नां स्वगृहे संन्यवेशयत् ॥१॥
ततः शान्तनवो धीमान् सत्यवत्यामजायत ।
वीरश्चित्राङ्गदो नाम वीर्यवान् पुरुषेश्वरः ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्, तब विवाह होने के पश्चात् राजा शान्तनु ने उस रूपवती कन्या को अपने घर में प्रविष्ट किया, तदनन्तर सत्यवती से राजा शान्तनु का बुद्धिमान् तथा पराक्रमी "चित्राङ्गद" नामी पुत्र उत्पन्न हुआ ॥

अथापरं महेष्वासं सत्यवत्यां सुतं प्रभुः ।
विचित्रवीर्यं राजानं जनयामास वीर्यवान् ॥३॥
अप्राप्तवति तस्मिंस्तु यौवनं पुरुषर्षभे ।
स राजा शान्तनुर्धीमान् कालधर्ममुपेयिवान् ॥४॥

अर्थ—इसके पश्चात् पराक्रमी राजा शान्तनु का सत्यवती से दूसरा "विचित्रवीर्य" नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो वाणविद्या में बड़ा निपुण था, परन्तु उस पुरुषसिंह पुत्र के युवा होने से पहले ही वह बुद्धिमान् राजा शान्तनु मृत्यु को प्राप्त होगया ॥

स्वर्गते शान्तनौ भीष्मश्चित्राङ्गदमरिन्दमम् ।
स्थापयामास वै राज्ये सत्यवत्या मते स्थितः ॥५॥

स तु चित्राङ्गदः शौर्यात् सर्वांश्चिक्षेप पार्थिवान् ।
मनुष्यं नहि मेने स कञ्चित् सदृशमात्मनः ॥६॥

अर्थ–शान्तनु के स्वर्गवास होजाने पर भीष्मजी ने सत्यवती की सम्मति से शत्रुओं के दमन करने वाले "चित्राङ्गद" का राज्याभिषेक किया, तब उसने अपने बल से सब शत्रु राजाओं को पराजय कर दिया, वह किसी को भी अपने सदृश बलवान् नहीं समझता था ॥

गन्धर्वराजो बलवांस्तुल्यनामाभ्ययात्तदा ।
तयो स्तेनास्य सुमहद् युद्धं कुरुक्षेत्रे बभूव ह ॥७॥
तयोर्बलवतोस्तत्र गन्धर्वकुरुमुख्ययोः ।
नद्यास्तीरे सरस्वत्याः समास्तिस्रोऽभवद्रणः ॥८॥

अर्थ–तब इसके ही समान नाम तथा गुण कर्मों वाला "गन्धर्व" जाति का बलवान् राजा उस पर चढ़ाई करके आया और उसके साथ कुरुक्षेत्र के मैदान में इसकी भारी लड़ाई हुई, गन्धर्व राज और कुरुराज, इन दोनों महाबली राजाओं का सरस्वती नदी के किनारे तीन वर्ष तक युद्ध होता रहा ॥

तस्मिन् विमर्दे तुमुले शस्त्रवर्षसमाकुले ।
मायाधिकोऽवधीद्वीरं गन्धर्वः कुरुसत्तमम् ॥९॥
तस्मिन् पुरुषशार्दूले निहते भूरितेजसि ।
विचित्रवीर्यं च तदा बालमप्राप्तयौवनम् ।
कुरुराज्ये महाबाहुरभ्यषिञ्चत्तदन्तरम् ॥१०॥

अर्थ–उस शस्त्रों की वर्षा से पूर्ण भारी संग्राम में महाछली

गन्धर्व ने वीर कुरुराज "चित्राङ्गद" को मार दिया, तब उस महाप्रतापी सिंहपुरुष के मरणानन्तर महाबाहु "भीष्म" ने बालक "विचित्रवीर्य" को जो अभी जवान नहीं हुआ था कौरवों के राज्य पर बिठाया ॥

विचित्रवीर्यः स तदा भीष्मस्य वचने स्थितः ।
अन्वशासन्महाराज पितृपैतामहं पदम् ॥११॥
स धर्मशास्त्रकुशलं भीष्मं शान्तनवं नृपः ।
पूजयामास धर्मेण स चैनं प्रत्यपालयत् ॥१२॥

अर्थ—हे राजन् ! तब विचित्रवीर्य भीष्मजी की आज्ञा में रहकर अपने पिता-पितामहों के राज्यपद का शासन करने लगा, वह धर्मशास्त्र में निपुण शान्तनु के पुत्र भीष्मजी की धर्मपूर्वक सेवा करता रहा, और भीष्मजी भी इसकी सम्यक् रक्षा करते रहे ॥

वैशम्पायन उवाच

हते चित्राङ्गदे भीष्मो बाल्ये भ्रातरि कौरव ।
पालयामास तद्राज्यं सत्यवत्या मते स्थितः ॥१३॥
संप्राप्तयौवनं दृष्ट्वा भ्रातरं धीमतां वरः ।
भीष्मो विचित्रवीर्यस्य विवाहायाकरोन्मतिम् ॥१४॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे कुरुवंशी राजन्! चित्राङ्गद के मरने पश्चात् जब तक भाई "विचित्रवीर्य" बालक रहा तब तक सत्यवती की सम्मति से भीष्मजी ने राज्य की रक्षा की, बुद्धिमानों में श्रेष्ठ भीष्मजी भाई विचित्रवीर्य को जवान हुआ देखकर उसके विवाह का विचार करने लगे ॥

अथ काशिपतेर्भीष्मः कन्यास्तिस्रोऽप्सरोऽपमाः ।

शुश्राव सहिता राजन् वृण्वाना वै स्वयंवरम् ॥१५॥
ततः स रथिनां श्रेष्ठो रथेनेकेन शत्रुजित् ।
जगामानुमते मातुः पुरीं वाराणसीं प्रभुः ॥१६॥

अर्थ–हे राजन् ! पश्चात् भीष्मजी ने सुना कि काशीराज की अप्सराओं के समान रूपवती तीन कन्यायें एक साथ ही स्वयंवर विवाह करने वाली हैं, तब वह महायोद्धा, शत्रुविजयी, प्रभावशाली भीष्म माता की सम्मति से अकेला ही रथ पर चढ़ काशी नगरी में गया ॥

तत्र राज्ञः समुदितान् सर्वतः समुपागतान् ।
ददर्श कन्यास्ताश्चैव भीष्मः शान्तनुनन्दनः ॥१७॥
कीर्त्तमानेषु राज्ञां तु तदा नामसु सर्वशः ।
भीष्मस्तदा स्वयं कन्या वरयामास ताः प्रभुः ॥१८॥

अर्थ–वहां शान्तनु के पुत्र भीष्मजी ने सब ओर से इकट्ठे हुए राजाओं और उन तीनों कन्याओं को देखा, उस समय जब कि सब राजाओं के नाम कीर्त्तन किये जारहे थे, प्रभावशाली भीष्मजी ने स्वयं उन कन्याओं को वरण किया ॥

उवाच च महीपालान् राजन् जलदनिस्वनः ।
रथमारोप्य ताः कन्या भीष्मः प्रहरतां वरः ॥ १९ ॥
ता इमाः पृथिवीपाला जिहीर्षामि बलादितः ।
ते यतध्वं परं शक्त्या विजयायेतराय वा ॥ २० ॥

अर्थ–हे राजन् ! शस्त्र चलाने वालों में श्रेष्ठ भीष्मजी उन कन्याओं को रथ पर विठा मेघ के समान गर्जकर उन राजाओं से बोले कि हे राजाओ ! मैं बलपूर्वक इन कन्याओं को हरण करना

चाहता हूं, सो तुम अपनी २ शक्ति से पूर्ण यत्न करो चाहे जीत हो चाहे हार हो ॥

स्थितोऽहं पृथिवीपाला युद्धाय कृतनिश्चयः ।
एवमुक्त्वा महीपालान् काशिराजं च वीर्यवान् ॥२१॥
सर्वाः कन्याः स कौरव्यो रथमारोप्य च स्वकम् ।
आमंत्र्य च स तान् प्रायाच्छीघ्रं कन्याः प्रगृह्य ताः ॥२२॥

अर्थ–हे राजाओ ! मैं युद्ध के लिये निश्चय करके तैयार हूं, वह पराक्रमी भीष्म सब राजाओं तथा काशिराज से ऐसा कहकर और अपने रथ पर सब कन्याओं को बिठा शीघ्र ही चल दिये ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे समुत्पेतुरमार्षिताः ।
संस्पृशन्तः स्वकान् बाहून् दशन्तो दशनच्छदान् ॥२३॥
तेषामाभरणान्याशु त्वरितानां विमुञ्चताम् ।
आमुञ्चतां च वर्माणि सम्भ्रमः सुमहानभूत् ॥२४॥

अर्थ–तब वह सब राजा क्रोध में भर कर अपनी बाहों को छूते और दांतों से ओष्ठों को काटते हुए दौड़े, उस समय शीघ्रता से आभूषण उतारने तथा कवच पहरने का बड़ा भारी कोलाहल हुआ ॥

रथानास्थाय ते वीराः सर्वप्रहरणान्विताः ।
प्रयान्तमुपकौरव्यमनुसस्रुरुदायुधाः ॥ २५ ॥
ततः समभवद् युद्धं तेषां तस्य च भारत ।
एकस्य च बहूनां च तुमुलं लोमहर्षणम् ॥ २६ ॥

अर्थ–वह सब वीर राजा शस्त्रों समेत रथों पर बैठकर शस्त्रों को उठाये हुए दौडे और भीष्मजी का पीछा किया, हे राजन् ! तब

उन राजाओं और भीष्मजी का एक २ के साथ और बहुतों के साथ भी बड़ा भयानक रोमाञ्चित करने वाला युद्ध होने लगा, और :-

ते त्विषून् दशसाहस्रांस्तस्मिन् युगपदाक्षिपन् ।
अप्राप्तांश्चैव तानाशु भीष्मः सर्वांस्तथान्तरा ।
अच्छिनच्छरवर्षेण महता लोमवाहिना ॥ २७ ॥

अर्थ–उन राजाओं ने भीष्म पर एक साथ दसहज़ार बाण छोड़े, परन्तु भीष्मजी ने शीघ्र ही अपनी उलटी भारी बाणवर्षा से उन सब बाणों को अपने पास पहुंचने से पहले बीच ही में काट दिया ॥

ततस्ते पार्थिवाः सर्वे सर्वतः परिवार्य तम् ।
ववृषुः शरवर्षेण वर्षेणेवाद्रिमम्बुदाः ॥ २८ ॥
स तं बाणमयं वर्षं शरैरावर्य सर्वतः ।
ततः सर्वान्महीपालान्पर्यविध्यत् त्रिभिस्त्रिभिः ॥२९॥

अर्थ–तब वह सब राजा भीष्म को चारों ओर से घेरकर ऐसे बाण बरसाने लगे जैसे बादल पहाड़ पर वर्षा करते हैं, परंतु भीष्म ने उस बाण वर्षा को सब ओर से अपने बाणों द्वारा निवारण करके पश्चात् सब राजाओं को तीन २ बाणों से बींध दिया ॥

एकैकस्तु ततो भीष्मं राजन् विव्याध पञ्चभिः ।
स च तान्प्रतिविव्याध द्वाभ्यां द्वाभ्यां पराक्रमन् ॥३०॥
तद्युद्धमासीत्तुमुलं घोरं देवासुरोपमम् ।
पश्यतां लोकवीराणां शरशक्तिसमाकुलम् ॥ ३१ ॥

अर्थ–हे राजन् ! तब एक २ ने भीष्म पर पांच २ बाण चलाये

तब बाण और शक्तियों से पूर्ण उस देश के वीर और विज्ञानी पुरुषों का ऐसा महाभयानक संग्राम हुआ जैसाकि पहले आर्य्य और दस्युओं का हुआ था ॥

स धनूंषि ध्वजाग्राणि वर्माणि च शिरांसि च ।
चिच्छेद समरे भीष्मः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ३२ ॥
तस्यातिपुरुषानन्याल्लाघवं रथचारिणः ।
रक्षणं चात्मनः संख्ये शत्रवोऽप्यभ्यपूजयन् ॥३३॥

अर्थ—भीष्म ने सैकड़ों और हज़ारों धनुप, ध्वजायें, कवच और योधाओं के सिर युद्ध में काट डाले, उस युद्ध में भीष्म ने बड़े २ सैनिक लोगों के प्रति ऐसी युद्ध की निपुणता और साथ ही आत्मरक्षा की, कि उनकी शत्रु लोग भी प्रशंसा करने लगे ॥

तान् विनिर्जित्य तु रणे सर्वशस्त्रभृतांवरः ।
कन्याभिः सहितःप्रायाद् भारतो भारतान् प्रति ॥३४॥
ततस्तं पृष्ठतो राजञ्छाल्वराजो महारथः ।
अभ्यगच्छदमेयात्मा भीष्मं शान्तनवं रणे ॥ ३५ ॥

अर्थ हे राजन् ! जब सब शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ भरतवंशी भीष्म उन राजाओं को युद्ध में जीतकर कन्याओं के सहित अपने घर की ओर चलने लगे तब महावीर अतुलपराक्रमी राजा "शाल्व" शन्तनुपुत्र भीष्म के पीछे युद्ध के लिये चढ़ आया ॥

स्त्रीकाम तिष्ठ तिष्ठेति भीष्ममाह स पार्थिवः ।
शाल्वराजो महाबाहुरमर्षेण प्रचोदितः ॥ ३६ ॥
ततः स पुरुषव्याघ्रो भीष्मः परबलार्दनः ।

नद्वाक्याकुलितः क्रोधाद्विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥३७॥

अर्थ–महाबाहु राजा "शाल्व" क्रोध में भरा हुआ भीष्म से बोला कि हे स्त्री की कामना वाले खड़ा रह, खड़ा रह, तब वह सिंह समान शत्रुओं की सेना का नाशक भीष्म विना धुएं की आग्नि के समान क्रोध से जलता हुआ उसके वाक्य से व्याकुल होगया ॥

क्षत्रधर्मं समास्थाय व्यपेतभयसंभ्रमः ।
निवर्त्तयामास रथं शाल्वं प्रति महारथः ॥३८॥
निवर्त्तमानं तं दृष्ट्वा राजानः सर्व एव ते ।
प्रेक्षकाः समपद्यन्त भीष्मशाल्वसमागमम् ॥३९॥

अर्थ–महायोधा भीष्म ने भय और भ्रम से रहित हो क्षत्रिय-धर्म को धारण कर शाल्व की ओर रथ लौटाया, तब वह सब राजा उसको लौटते देखकर भीष्म और शाल्व के युद्ध को देखने के लियें ठहर गये ॥

ततो भीष्मं शान्तनवं शरैः शतसहस्रशः ।
शाल्वराजो नरश्रेष्ठः समवाकिरदाशुगैः ॥४०॥
पूर्वमभ्यर्द्दितं दृष्ट्वा भीष्मं शाल्वेन ते नृपाः ।
विस्मिताः समपद्यन्त साधुसाध्विति चाब्रुवन् ॥४१॥

अर्थ–तब राजा शाल्व ने शन्तनु पुत्र भीष्म को सहस्रों बाणों से घेर लिया, शाल्व राजा से पीड़ित हुए भीष्म को देखकर वह दर्शक राजा अचम्भित हो वाह २ कहने लगे ॥

क्षत्रियाणां ततो वाचः श्रुत्वा परपुरञ्जयः ।
क्रुद्धः शान्तनवो भीष्मस्तिष्ठ तिष्ठेत्यभाषत ॥४२॥

ततोऽस्त्रं वारुणं सम्यग्योजयामास कौरवः ।
तेनाश्वांश्चतुरोऽमृद्नाच्छाल्वराजस्य भूपतेः ॥४३॥

अर्थ—तब शत्रुओं के नगर को जीतने वाले भीष्म उन राजाओं की वाणियें सुन क्रोध में आकर शाल्व से बोले कि "खड़ा रह" इसके पश्चात् भीष्म ने "वारुण" नामी अस्त्र चलाया और उससे राजा शाल्व के चारो घोड़ों को मार दिया ॥

अस्त्रैरस्त्राणि संवार्य शाल्वराजस्य कौरवः ।
भीष्मो नृपतिशार्दूल न्यवधीत् तस्य सारथिम् ॥४४॥
अस्त्रेण चास्यथैन्द्रेण न्यवधीत् तुरगोत्तमान् ।
कन्याहेतोर्नरश्रेष्ठो भीष्मः शान्तनवस्तदा ॥४५॥

अर्थ—हे महाराज ! कुरुवंशी भीष्म ने शाल्व राजा के अस्त्रों को अपने अस्त्रों से हटाकर उसके सारथि को मार दिया, इसके पश्चात् महापुरुष भीष्म ने कन्याओं के लिये ऐन्द्र अस्त्र से उसके उत्तम घोड़ों को भी मार डाला ॥

जित्वा विसर्ज्जयामास जीवन्तं नृपसत्तमम् ।
ततः शाल्वः स्वनगरं प्रययौ भरतर्षभ ।
स्वराज्यमन्वशाच्चैव धर्मेण नृपतिस्तदा ॥४६॥

अर्थ—हे राजन् ! भीष्म ने श्रेष्ठ राजा शाल्व को जीतकर जीवित ही छोड़ दिया, तब राजा शाल्व अपने नगर को चला गया और वह धर्मपूर्वक अपना राज्य करने लगा ॥

राजानो ये च तत्रासन् स्वयंवरदिदृक्षवः ।
स्वान्येव तेऽपिराष्ट्राणि जग्मुः परपुरञ्जयाः ॥४७॥

एवं विजित्य ताः कन्याः भीष्मः प्रहरतां वरः ।
प्रययौ हास्तिनपुरं यत्र राजा स कौरवः ॥४८॥

अर्थ–और वहां पर जो वीर राजा स्वयंवर के दर्शक आये हुए थे वह भी अपने २ देश को चले गये, इस प्रकार शस्त्र चलाने वालों में श्रेष्ठ भीष्मजी उन कन्याओं को जीतकर हस्तिनापुर चले गये जहां वह कुरुवंशी राजा था ॥

स्नुषा इव स धर्मात्मा भगिनीरिव चानुजाः ।
यथा दुहितरश्चैव परिगृह्य ययौ कुरून् ॥४९॥
भीष्मो विचित्रवीर्याय प्रददौ विक्रयाहृताः ।
एवं धर्मेण धर्मज्ञः कृत्वा कर्मातिमानुषम् ॥५०॥

अर्थ–वह धर्मात्मा भीष्म अपनी पुत्र वधुओं के समान अथवा छोटी बहनों वा पुत्रियों के तुल्य उन कन्याओं को लेकर कौरवों के समीप आये, इस प्रकार साधारण मनुष्यों की शक्ति से बाहर धर्मपूर्वक पराक्रम करके धर्मज्ञ भीष्म ने अपने पराक्रम से जीती हुई कन्यायें विचित्रवीर्य को दीं ॥

भ्रातुर्विचित्रवीर्यस्य विवाहायोपचक्रमे ।
सत्यवत्या सह मिथः कृत्वा निश्चयमात्मवान् ॥५१॥
विवाहं कारयिष्यन्तं भीष्मं काशिपतेः सुता ।
ज्येष्ठा तासामिदं वाक्यमब्रवीद्धसती सती ॥५२॥

अर्थ–पराक्रमी भीष्म सत्यवती के साथ एकान्त में विचार करके भाई विचित्रवीर्य के विवाह करने को तैयार हुए, भीष्मजी विवाह करने वाले ही थे कि काशीराज की सब से बड़ी कन्या उस

समय हंसती हुई यह वचन बोली कि :-

मया सौभपतिः पूर्वं मनसा हि वृतः पतिः ।
तेन चास्मि वृता पूर्वमेष कामश्च मे पितुः ॥५३॥
मया वरयितव्योऽभूच्छाल्वस्तस्मिन् स्वयंवरे ।
एतद् विज्ञाय धर्मज्ञ धर्मतत्त्वं समाचर ॥५४॥

अर्थ-मैंने राजा शाल्व को अपने मन से पहिले पति वर लिया था और उन्होंने भी मुझे वरा था और मेरे पिता का भी यही संकल्प था कि उस स्वयंवर में मुझे राजा शाल्व को दें, सो हे धर्मज्ञ ! ऐसा जानकर तुम धर्म की मर्यादा का पालन करो ॥

एवमुक्तस्तया भीष्मः कन्यया विप्रसंसदि ।
चिन्तामभ्यगमद्वीरोऽयुक्तां तस्यैव कर्मणः ॥५५॥
विनिश्चित्य स धर्मज्ञो ब्राह्मणैर्वेद पारगैः ।
अनुजज्ञे तदा ज्येष्ठामम्बां काशिपतेः सुताम् ॥५६॥

अर्थ-ब्राह्मणों की सभा में उस कन्या के ऐसा कहने पर वीर भीष्म चिन्ता में पड़ गये जो उस शुभकर्म में अयुक्त थी, तब उस धर्मात्मा ने वेदपारग ब्राह्मणों से सम्मति करके काशीराज की "अम्बा" नामक बड़ी पुत्री को राजा शाल्व के पति बनाने की अनुमति दी, और :-

अम्बिकाम्बालिके भार्ये प्रादाद् भ्रात्रे यवीयसे ।
भीष्मो विचित्रवीर्याय विधिदृष्टेन कर्मणा ॥५७॥

अर्थ-भीष्म ने "अम्बिका" तथा "अम्बालिका" नामक दो भार्यायें अपने छोटे भाई विचित्रवीर्य को विधिपूर्वक विवाह करके देदीं ॥

तयोः पाणी गृहीत्वा तु रूपयौवनदर्पितः ।
विचित्रवीर्यो धर्मात्मा कामात्मा समपद्यत ॥५८॥
ते चापिबृहती श्यामे नीलकुञ्चितमूर्द्धजे ।
रक्ततुङ्गनखोपेते पीनश्रोणिपयोधरे ॥५९॥

अर्थ—वह धर्मात्मा विचित्रवीर्य उक्त दोनों से विवाह करके रूप, यौवन के गर्व में आया हुआ अधिक कामवश होगया, और वह दोनों स्त्रियें भी तरुणीं, श्यामा तथा काले घुंघराले बालों वालीं, लाल ऊंचे नखों वालीं और मोटे नितम्ब तथा स्तनों वाली थीं॥

आत्मनः प्रतिरूपोऽसौ लब्धः पतिरितिस्थिते ।
विचित्रवीर्यं कल्याण्यौ पूजयामासतुः शुभे ॥६०॥
ताभ्यां सह समाः सप्त विहरन् पृथिवीपतिः ।
विचित्रवीर्यस्तरुणो यक्ष्मणा समगृह्यत ॥ ६१ ॥

अर्थ—वह दोनों सुन्दरीं इस बात से संतुष्ट हुईं २ कि हमें अपने अनुकूल यह पति मिलगया है विचित्रवीर्य की मन से सेवा करने लगीं वह तरुण राजा विचित्रवीर्य उन भार्याओं के साथ सात वर्ष तक विषयभोग करते रहनेसे "राजयक्ष्मा"=थाइसिज़ रोग में ग्रस्त होगया ॥

सुहृदां यतमानानामाप्तैः सह चिकित्सकैः ।
जगामास्तमिवादित्यः कौरव्यो यमसादनम् ॥६२॥

अर्थ—मित्र, संबन्धी लोग और वैद्यों के यत्न करते हुए भी कुरुवंशी विचित्रवीर्य मृत्यु को प्राप्त हुआ, मानो कुरुवंश का सूर्य्य अस्त होगया ॥

इति षष्ठोऽध्यायः समाप्तः

अथ सप्तमोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती दीना कृपणा पुत्रगृद्धिनी ।
समाश्वास्य स्नुषे ते च भीष्मं शस्त्रभृतां वरम् ॥१॥

धर्मं च पितृवंशं च मातृवंशं च भाविनी ।
प्रसमीक्ष्य महाभागा गाङ्गेयं वाक्यमब्रवीत् ॥२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! उस समय सत्यवती बड़ी दीन, आर्त्त और पुत्र की अभिलाषिणी थी, वह भाग्यवती उन दोनों वधुओं को धैर्य्य दे और पितृवंश, मातृवंश तथा धर्म का विचार करके महायोद्धा शन्तनुपुत्र *गाङ्गेय=भीष्मजी से बोली कि :-

वेत्थ धर्मांश्च धर्मज्ञ समासेनेतरेण च ।
विविधास्त्वं श्रुतीर्वेत्थ वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥ ३ ॥
व्यवस्थानं च ते धर्मे कुलाचारं च लक्षये ।
प्रतिपत्तिं च कृच्छ्रेषु शुक्राङ्गिरसयोरिव ॥ ४ ॥

अर्थ–हे धर्मज्ञ ! तुम धर्मों, अनेक प्रकार की श्रुतियों तथा वेदाङ्गों को संक्षेप तथा विस्तार से पूर्णतया जानते हो, और मैं तुम्हारी धर्मव्यवस्था और कुलाचार को भी जानती हूं तथा आपत्तिकाल में जो तुम्हारी शुक्र तथा बृहस्पति के समान प्रतिभा है उसका भी मुझे भले प्रकार ज्ञान है ॥

*गंगा नामक स्त्री का पुत्र होने से भीष्मजी का नाम गाङ्गेय था, गंगा नदी का पुत्र नहीं ॥

तस्मात् सुभृशमाश्वस्य त्वयि धर्मभृतां वर ।
कार्ये त्वां विनियोक्ष्यामि तच्छ्रुत्वा कर्तुमर्हसि ॥५॥

अर्थ–हे धर्मात्माओं में श्रेष्ठ ! इसलिये मैं तुम पर पूरा विश्वास करके तुम्हें एक कार्य्य में लगाना चाहती हूं उसको सुनकर तुम्हें आचरण करना उचित है ॥

मम पुत्रस्तव भ्राता वीर्यवान् सुप्रियश्च ते ।
बाल एव गतः स्वर्गमपुत्रः पुरुषर्षभ ॥ ६ ॥
इमे महिष्यौ भ्रातुस्ते काशिराजसुते शुभे ।
रूपयौवनसंपन्ने पुत्रकामे च भारत ॥ ७ ॥

अर्थ–हे पुरुषसिंह ! मेरा पुत्र "चित्राङ्गद" जो तुम्हारा प्यारा पराक्रमी भ्राता था वह बचपन में ही बिना सन्तान हुए मृत्यु को प्राप्त होगया, हे भरतवंशी ! यह तुम्हारे भाई विचित्रवीर्य्य की दोनों रानियें काशीराज की रूप यौवन सम्पन्न पुत्रियें पुत्र की इच्छुक हैं ॥

तयोरुत्पादयापत्यं सन्तानाय कुलस्य नः ।
मन्नियोगान्महाबाहो धर्मं कर्त्तुमिहार्हसि ॥ ८ ॥
राज्ये चैवाभिषिच्यस्व भारताननुशाधि च ।
दारांश्च कुरु धर्मेण मा निमज्जीः पितामहान् ॥ ९ ॥

अर्थ–हे महाबाहु ! हमारा कुल चलाने के लिये मेरी आज्ञा से तू इन दोनों स्त्रियों में सन्तान उत्पन्न कर, और यह धर्मकार्य तुम्हें करना उचित है, तुम धर्मपूर्वक सन्तानमात्र के लिये इनको अपनी स्त्री बनाओ, और राज्याभिषेक को प्राप्त होकर भरतवंशियों

को शिक्षा प्रदान कर, अपने पूर्व पुरुषाओं का नाम न मिटने दे अर्थात् इन दोनों में नियोगविधि से सन्तान उत्पन्न कर ॥

वैशम्पायन उवाच

तथोच्यमानो मात्रा स सुहृद्भिश्च परंतपः ।
इत्युवाचाथ धर्मात्मा धर्म्यमेवोत्तरं वचः ॥ १० ॥
असंशयं परोधर्मस्त्वया मातरुदाहृतः ।
त्वमपत्यं प्रति च मे प्रतिज्ञां वेत्थ वै पराम् ॥ ११ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! माता सत्यवती और सब इष्ट मित्रों के कथन करने पर वह धर्मात्मा शत्रुसन्तापक भीष्म इस प्रकार धर्मयुक्त वचन बोले कि हे मात ! निःसन्देह तुमने यह परमधर्म कहा है परन्तु सन्तानोत्पत्ति न करने विषयक जो मेरी दृढ़ प्रतिज्ञा है उसको भी तुम भलेप्रकार जानती हो ॥

जानासि च यथावृत्तं शुल्कहेतोस्त्वदन्तरे ।
स सत्यवति सत्यं ते प्रतिजानाम्यहं पुनः ॥ १२ ॥

अर्थ—हे माता सत्यवती ! तुम जानती हो कि पिता के साथ तुम्हारा विवाह होने से पूर्व क्या शर्त हुई थी, सो मैं फिर भी तुम से सत्य २ प्रतिज्ञा करता हूं कि :—

त्यजेच्च पृथिवी गन्धमापश्च रसमात्मनः ।
ज्योतिस्तथा त्यजेद्रूपं वायुः स्पर्शगुणं त्यजेत् ॥१३॥
प्रभां समुत्सृजेदर्को धूमकेतुस्तथोष्णताम् ।
त्यजेच्छब्दं तथाकाशं सोमः शीतांशुतां त्यजेत् ।
न त्वहं सत्यमुत्स्रष्टुं व्यवस्येयं कथंचन ॥ १४ ॥

अर्थ—चाहे पृथ्वी अपने स्वाभाविक गन्ध गुण को त्याग दे, जल अपने गुण रस को, अग्नि रूप को और वायु अपने स्पर्शगुण को छोड़ दे, सूर्य्य तेज को, अग्नि गर्मी को, आकाश शब्द को और चाहे चन्द्रमा अपनी शीतल किरणों को त्याग दे परन्तु मैं अपनी सत्य प्रतिज्ञा का कदापि त्याग नहीं करसक्ता ॥

एवमुक्ता तु पुत्रेण भूरिद्रविणतेजसा ।
माता सत्यवती भीष्ममुवाच तदनन्तरम् ॥ १५ ॥
जानामि ते स्थितिं सत्ये परां सत्यपराक्रम ।
जानामि चैवं सत्यं तन्मदर्थे यच्च भाषितम् ।
आपद्धर्मं त्वमावेक्ष्य वह पैतामहीं धुरम् ॥ १६ ॥

अर्थ—अग्नि के समान तेजस्वी पुत्र भीष्म के उक्त कथन करने पर माता सत्यवती उससे बोली कि हे सच्चे पराक्रमी ! मैं तुम्हारी सत्य में परमनिष्ठा को समझती हूं, और जो कुछ तुमने मेरे प्रति कहा है उसको भी मैं सत्य समझती हूं, परन्तु तुम इसको आपद्धर्म मानकर अपने पिता पितामह के राज्यभार को सम्भालो ॥

यथा ते कुलतन्तुश्च धर्मश्च न पराभवेत् ।
सुहृदश्च प्रहृष्येरंस्तथा कुरु परन्तप ॥ १७ ॥

अर्थ—हे परंतप ! जिस प्रकार तुम्हारे कुल और धर्म का नाश न हो और तुम्हारे बन्धु लोग भी प्रसन्न रहें, वैसा करो ॥

लालप्यमानां तामेवं कृपणां पुत्रगृद्धिनीम् ।
धर्मादपेतं ब्रुवतीं भीष्मो भूयोऽब्रवीदिदम् ॥१८॥
राज्ञि धर्मानवेक्षस्व मानः सर्वान् व्यनीनशः ।

सत्याच्च्युतिः क्षत्रियस्य न धर्मेषु प्रशस्यते ॥१९॥

अर्थ–इस प्रकार पुत्र के लालच में विलाप करती तथा धर्म विरुद्ध वचन बोलती हुई सत्यवती से भीष्म फिर बोले कि हे मात! तुम राजा के धर्मों को देखो,हम सब का नाश मत करो,सत्य से गिर जाना क्षत्रिय के लिये प्रशंसनीय नहीं ॥

शान्तनोरपि सन्तानं यथा स्यादक्षयं भुवि ।
तत्ते धर्मं प्रवक्ष्यामि क्षात्रं राज्ञि सनातनम् ॥२०॥
श्रुत्वा तां प्रतिपद्यस्व प्राज्ञैः सह पुरोहितैः ।
आपद्धर्मार्थकुशलैर्लोकतंत्रमवेक्ष्य च ॥२१॥

अर्थ–जिस प्रकार शान्तनु का वंश पृथ्वी में अक्षय हो वह धर्म तुम्हें बताता हूं जो राजा के लिये सदा से चला आया है, हे मात! उसको सुनकर तुम आपद्धर्म के विचार में निपुण तथा विद्वान् पुरोहितों के साथ विचार करके और लौकिक रीति को भी विचार कर उसका अनुष्ठान करो ॥

भीष्म उवाच

जामदग्न्येन रामेण पितुर्वधममृष्यता ।
राजा परशुना पूर्वं हैहयाधिपतिर्हतः ॥२२॥
पुनश्च धनुरादाय महास्त्राणि प्रमुञ्चता ।
निर्दग्धं क्षत्रमसकृद्रथेन जयता महीम् ॥२३॥

अर्थ–भीष्मजी बोले कि पूर्वकाल में जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने पिता के वध को सहन न करके हैहय देश के राजा "अर्जुन" को अपने परशे से मारने के पश्चात् भी धनुष् लेकर बड़े २

शस्त्र-अस्त्रों से पृथ्वी को विजय कर कई वार क्षत्रियवंश को विध्वंस किया था ॥

एवमुच्चावचैरस्त्रैर्भार्गवेण महात्मना ।
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा ॥२४॥
एवं निःक्षत्रिये लोके कृते तेन महार्षिणा ।
उत्पादितान्यपत्यानि ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ॥२५॥

अर्थ-एवं अनेक प्रकार के शस्त्र-अस्त्रों द्वारा भृगुवंशी महात्मा परशुराम ने पूर्वकाल में इक्कीस वार पृथ्वी को क्षत्रियहीन कर दिया था, परन्तु इस प्रकार उस महर्षि से पृथ्वी के क्षत्रियहीन होजाने पर भी वेदपारदर्शी ब्राह्मणों ने नियोग द्वारा उन विधवा क्षत्राणियों से क्षत्रिय सन्तान उत्पन्न की थीं ॥

पाणिग्राहस्य तनय इति वेदेषु निश्चितम् ।
धर्मं मनसि संस्थाप्य ब्राह्मणांस्ताः समभ्ययुः ॥२६॥
लोकेऽप्याचरितो दृष्टः क्षत्रियाणां पुनर्भवः ।
ततः पुनः समुदितं क्षत्रं समभवत् तदा ॥२७॥

अर्थ-यह वेदों में निश्चित सिद्धान्त है कि नियोग द्वारा उत्पन्न किया हुआ पुत्र विवाह करने वाले का ही होता है, इस धर्म को मन में स्थिर करके वह स्त्रियें ब्राह्मणों के साथ नियुक्त हुई, इस प्रकार लोक में भी क्षत्रियों का पुनरुद्धार हुआ २ देखा गया और तब से फिर भी क्षत्रियों का समुदाय बढ़ गया है ॥

एवमन्ये महेष्वासा ब्राह्मणैः क्षत्रिया भुवि ।
जाताः परमधर्मज्ञा वीर्यवन्तो महाबलाः ।

एतच्छ्रुत्वा त्वमप्यत्र मातः कुरु यथेप्सितम् ॥२८॥

अर्थ—हे मात ! इस प्रकार और भी बड़े २ बाण चलाने वाले परम धर्मात्मा, पराक्रमी तथा महाबली क्षत्रिय पृथ्वी पर ब्राह्मणों से उत्पन्न होचुके हैं, ऐसा जानकर तुम भी इस अवसर में जैसा उचित समझो करो ॥

भीष्म उवाच

पुनर्भरतवंशस्य हेतुं सन्तानवृद्धये ।
वक्ष्यामि नियतं मातस्तन्मे निगदतः शृणु ॥२९॥
ब्राह्मणो गुणवान् कश्चिद्धनेनोपनिमन्त्र्यताम् ।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु यः समुत्पादयेत् प्रजाः ॥३०॥

अर्थ—भीष्मजी फिर बोले कि हे माता ! मैं तुम्हें भरतवंश की सन्तान वृद्धि का नियत उपाय बतलाता हूं सो तुम सुनो, किसी गुणवान् ब्राह्मण को धन देकर नियोग के लिये वरण करो जो विचित्रवीर्य के क्षेत्र=स्त्री में सन्तान उत्पन्न करे ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती भीष्मं वाचा संसज्जमानया ।
विहसन्तीव सव्रीडमिदं वचनमब्रवीत् ॥३१॥
सत्यमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत ।
विश्वासात्ते प्रवक्ष्यामि सन्तानाय कुलस्य नः ॥३२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तब सत्यवती मुसकराती हुई लज्जा के साथ अटपटी वाणी से भीष्म के प्रति यह बचन बोली कि हे महाबाहु ! जो कुछ तुम कहते हो सत्य है, हे भरतवंशी ! मैं तुम

पर विश्राम करके अपना कुल चलाने के लिये कुछ कहती हूं सो आप सुनें :-

न ते शक्यमनाख्यातुमापद्धर्मं तथाविधम् ।
त्वमेव नः कुले धर्मस्त्वं सत्यं त्वं परागतिः ।
तस्मान्निशम्य सत्यं मे कुरुष्व यदनन्तरम् ॥३३॥

अर्थ-तुमने जिसप्रकार का आपद्धर्म बताया है वह खण्डन नहीं किया जासकता, तुम्हीं हमारे कुल में धर्म और सत्य के रूप हो और तुम्हीं परम आश्रय हो, इसलिये तुम मेरा यह सत्य कथन सुन कर पश्चात् जो कर्तव्य हो सो करो ॥

पाराशर्यो महायोगी स बभूव महानृषिः ।
योऽभ्यस्य वेदांश्चतुरस्तपसा भगवानृषिः ।
लोके व्यासत्वमापेदे कार्ष्ण्यात् कृष्णत्वमेव च ॥३४॥

अर्थ-पराशर का पुत्र जिसने तप द्वारा वेदों का अभ्यास करके "व्यास" नाम पाया और सांवला रंग होने से जो "कृष्ण" कहलाया वह महायोगी और महान् ऋषि है ॥

स नियुक्तो मया व्यक्तं त्वया चाप्रतिमद्युतिः ।
भ्रातुः क्षेत्रेषु कल्याणमपत्यं जनयिष्यति ॥३५॥
स हि मामुक्तवांस्तत्र स्मरेः कृच्छ्रेषु मामिति ।
तं स्मरिष्ये महावाहो यदि भीष्म त्वमिच्छसि ॥३६॥

अर्थ-वह महातेजस्वी ऋषि मुझसे और तुमसे नियुक्त किया हुआ तुम्हारे भाई के क्षेत्र में योग्य सन्तान उत्पन्न कर देगा, हे महाबाहु ! उसने मुझसे कहा था कि तुम कष्ट पड़ने पर मुझे याद

करना, सो हे भीष्म! तुम्हारी सम्मति हो तो मैं उसको बुलाऊं ॥

तव ह्यनुमते भीष्म नियतं स महातपाः ।
विचित्रवीर्यक्षेत्रेषु पुत्रानुत्पादयिष्यति ॥३७॥

अर्थ—हे भीष्म ! यह निश्चय है कि वह महातपस्वी तुम्हारे कहने से विचित्रवीर्य के क्षेत्र में पुत्र उत्पन्न करेगा ॥

वैशम्पायन उवाच

महर्षेः कीर्त्तने तस्य भीष्मः प्राञ्जलिरब्रवीत् ।
धर्ममर्थं च कामं च त्रीनेतान् योऽनुपश्यति ।
यो विचिन्त्यधिया धीरो व्यवस्यति स बुद्धिमान् ॥३८॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! उस महर्षि का नाम लेते ही भीष्मजी हाथ जोड़कर माता से बोले कि जो धर्म, अर्थ, काम इन तीनों को जानता और जो धैर्यवान् बुद्धि द्वारा इनका निश्चय कर सकता है वह बुद्धिमान् "व्यास" है ॥

तदिदं धर्मयुक्तं हितं चैव कुलस्य नः ।
उक्तं भवत्या यच्छ्रेयस्तन्मह्यं रोचते भृशम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—हे माता ! आपने जो यह धर्मयुक्त और हमारे कुल का हितकारी श्रेष्ठ उपाय बताया है वह मुझे भी स्वीकार है ॥

ततोऽभिगम्य सा देवी स्नुषां रहसि संगताम् ।
धर्म्यमर्थसमायुक्तमुवाच वचनं हितम् ।
कौशल्ये धर्ममन्त्रं त्वां यद्ब्रवीमि निबोध तत् ॥४०॥

अर्थ—इसके पश्चात् वह देवी सत्यवती एकान्त में अपनी पुत्रवधु के पास जाकर धर्म और प्रयोजन से युक्त हितकारी बचन बोली

कि हे अम्बिका ! मैं जो तुम्हें धर्मयुक्त सम्मति देती हूं सो तू सुन :-

भरतानां समुच्छेदो व्यक्तं मद्भाग्यसंक्षयात् ।
व्यथितां मां च संप्रेक्ष्य पितृवंशं च पीडितम् ॥४१॥
भीष्मो बुद्धिमदान्मह्यं कुलस्यास्य विवृद्धये ।
सा च बुद्धिस्त्वय्यधीना पुत्रि प्रापय मां तथा ।
नष्टं च भारतं वंशं पुनरेव समुद्धर ॥ ४२ ॥

अर्थ–यह स्पष्ट है कि मेरे दुर्भाग्य से भरत के वंश का नाश होगया है, सो मेरा दुःख तथा पिता के वंश की आपत्ति को देखकर भीष्म ने इस कुल की वृद्धि के लिये मुझे एक उपाय बताया है और हे पुत्रि ! वह उपाय तेरे अधीन है, सो तू मेरा कहना कर और नष्ट हुए भरतवंश को फिर से चला ॥

पुत्रं जनय सुश्रोणि देवराजसमप्रभम् ।
स हि राज्यधुरं गुर्वीमुद्वक्ष्यति कुलस्य नः ॥ ४३ ॥
सा धर्मतोऽनुनीयैनां कथंचिद्धर्मचारिणीम् ।
भोजयामास विप्रांश्च देवर्षीनतिथींस्तथा ॥ ४४ ॥

अर्थ–हे सुन्दरि ! तू देवताओं के राजा के समान प्रतापी पुत्र नियोग द्वारा उत्पन्न कर, वही हमारे वंश के महान् राज्यभार का निर्वाह करेगा, सत्यवती ने इस धर्मात्मा अम्बिका को धर्मपूर्वक येन केन प्रकार से वह बात मनवा कर उसी हर्ष में ब्राह्मणों, देव ऋषियों और अतिथियों को भोज दिया ॥

इति सप्तमोऽध्यायः समाप्तः

अथ अष्टमोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततः सत्यवती काले वधूं स्नातामृतौ तदा ।
संवेशयन्ती शयने शनैर्वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
कौशल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्य त्वानुप्रवेक्ष्यति ।
अप्रमत्ता प्रतीक्षैनं निशीथे ह्यागमिष्यति ॥ २ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! इसके पश्चात् ऋतुकाल में शुद्ध होकर स्नान कीहुई पुत्रवधु को सेज पर सुलाते समय सत्यवती धीरे से यह वचन बोली कि हे अम्बिका ! तुम्हारा एक देवर=द्वितीयवर आज तुझसे संयुक्त होगा और आधी रात के समय तेरे समीप आवेगा सो तैने सावधान होकर उसकी प्रतीक्षा करना ॥

ततोऽम्बिकायां प्रथमं नियुक्तः सत्यवानृषिः ।
दीप्यमानेषु दीपेषु शरणं प्रविवेश ह ॥ ३ ॥
तस्य कृष्णस्य कपिलां जटां दीप्ते च लोचने ।
बभ्रूणि चैव श्मश्रूणि दृष्ट्वा देवी न्यमीलयत् ॥४॥

अर्थ–तब पहिले अम्बिका के लिये नियुक्त कियेहुए सत्यधारी ऋषि व्यासजी दीपकों के जलते हुए भवन में प्रविष्ट हुए, परन्तु देवी अम्बिका ने उनका काला रंग, भूरी जटायें, चमकते हुए दोनों नेत्र और सफ़ेद दाढ़ी देखकर आंख मीच लीं ॥

संबभूव तया सार्द्धं मातुः प्रियचिकीर्षया ।
भयात् काशिसुता तं तु नाशक्नोदभिवीक्षितुम् ॥५॥

ततो निष्क्रान्तमागम्य माता पुत्रमुवाच ह ।
अप्यस्या गुणवान् पुत्र राजपुत्रो भविष्यति ॥६॥

अर्थ—माता सत्यवती के हित की इच्छा से उसमें व्यासजी ने गर्भाधान किया, परन्तु काशीराज की पुत्री भयभीत हुई उनको देख न सकी, पश्चात् महल से निकलते समय माता सत्यवती आकर व्यास से पूछने लगी कि हे पुत्र! इसका पुत्र गुणवान् तो होगा? ॥

निशम्य तद्वचो मातुर्व्यासः सत्यवतीसुतः ।
प्रोवाचातीन्द्रियज्ञानो विधिना संप्रचोदितः ॥७॥
महाभागो महावीर्यो महाबुद्धिर्भविष्यति ।
किंतु मातुः स वैगुण्यादन्ध एव भविष्यति ॥८॥

अर्थ—माता का उक्त वचन सुनकर सूक्ष्मदर्शी सत्यवती के पुत्र व्यासजी शास्त्रविधि के अनुसार बोले कि इसका पुत्र बड़ा भाग्यवान्, बड़ा पराक्रमी और बड़ा बुद्धिमान् होगा, परन्तु माता के अपराध से वह अन्धा जन्मेगा ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा माता पुत्रमथाब्रवीत् ।
नान्धः कुरूणां नृपतिरनुरूपस्तपोधन ॥९॥
ज्ञातिवंशस्य गोप्तारं पितॄणां वंशवर्द्धनम् ।
द्वितीयं कुरुवंशस्य राजानं दातुमर्हसि ॥१०॥

अर्थ—व्यासजी की यह बात सुनकर सत्यवती उनसे बोली कि हे तपोधन! अन्धा पुत्र कुरुवंशियों का राजा होने योग्य नहीं, जो पुत्र अपने बन्धुओं के वंश का रक्षक तथा अपने पितरों के वंश का चलाने वाला और कुरुओं का राजा होने योग्य हो, ऐसा एक दूसरा पुत्र उत्पन्न करो ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय निश्चक्राम महायशाः ।
साऽपि कालेन कौशल्या सुषुवेऽन्धंतमात्मजम् ॥११॥
पुनरेवतु सा देवी परिभाष्य स्नुषां ततः ।
ऋषिमावाहयत् सत्या यथापूर्वमरिन्दम ॥१२॥

अर्थ–तब सुप्रसिद्ध व्यासजी वैसा पुत्र उत्पन्न करने की प्रतिज्ञा करके चले गये, समय पर अम्बिका के वह अन्धा पुत्र धृतराष्ट्र उत्पन्न हुआ, हे राजन् ! इसके पश्चात् सत्यवती ने दुबारा अपनी दूसरी वधू अम्बालिका को समझा बुझाकर पहले की भांति ऋषि व्यास को बुलाया ॥

अम्बालिकामथाभ्यागादृषिं दृष्ट्वा च सापि तम् ।
विवर्णा पाण्डुसङ्काशा समपद्यत भारत ॥१३॥
तां भीतां पाण्डुसंकाशां विषण्णां प्रेक्ष्य भारत ।
व्यासः सत्यवतीपुत्र इदं वचनमब्रवीत् ॥१४॥

अर्थ–हे राजन् ! पुनः व्यासजी अम्बालिका के समीप गये और वह भी ऋषि को देखते ही भय से विवर्ण=पीली होगई, हे राजन् ! उसको भय से पीली और विषादयुक्त देखकर सत्यवती के पुत्र व्यासजी यह वचन बोले कि:–

यस्मात् पाण्डुत्वमापन्ना विरूपं प्रेक्ष्य मामिह ।
तस्मादेष सुतस्ते वै पाण्डुरेव भविष्यति ॥१५॥
इत्युक्त्वा स निराक्रामद् भगवानृषिसत्तमः ।
ततो निष्क्रान्तमालोक्य सत्या पुत्रमथाब्रवीत् ॥१६॥

अर्थ–तू मेरे रूप को देखकर पाण्डु=पीली होगई इसलिये यह

तेरा पुत्र भी "पाण्डु"=पीले रंग का ही उत्पन्न होगा, यह कहकर भगवान् व्यास वहां से निकलने लगे तब सत्यवती ने उनको निकलते हुए देख वहां आकर पूर्ववत् पूछा ॥

शशंस स पुनर्मात्रे तस्य बालस्य पाण्डुताम् ।
तं माता पुनरेवान्यमेकं पुत्रमयाचत ।
तथेति च महर्षिस्तां मातरं प्रत्यभाषत ॥१७॥

अर्थ–तब व्यासजी ने माता सत्यवती से उस बालक के पाण्डु रंग होने का वृत्तान्त कह दिया, तदनन्तर माता सत्यवती ने एक और पुत्र उत्पन्न करने की प्रार्थना की और महर्षि ने वैसा करने की माता से प्रतिज्ञा करली ॥

ततः कुमारं सा देवी प्राप्तकालमजीजनत् ।
पाण्डुलक्षणसम्पन्नं दीप्यमानं वराश्रिया ।
यस्य पुत्रा महेष्वासा जज्ञिरे पंच पाण्डवाः ॥१८॥

अर्थ–तब समय पर देवी अम्बालिका के वह पुत्र उत्पन्न हुआ जो पीले रंग का परन्तु उत्तम शोभा से प्रकाशमान था, और जिसके पुत्र बड़े बाण चलाने वाले पांच "पाण्डव" उत्पन्न हुए थे ॥

ऋतुकाले ततो ज्येष्ठां वधूं तस्मै न्ययोजयत् ।
सा तु रूपं च गन्धं च महर्षेः प्रविचिन्त्य तम् ।
नाकरोद् वचनं देव्या भयात् सुरसुतोपमा ॥१९॥

अर्थ–तब सत्यवती ने ऋतुकाल में ज्येष्ठ वधु अम्बिका को व्यासजी के लिये फिर नियुक्त किया, परन्तु उस महासुन्दरी ने महर्षि के उस रूप और गन्ध का ध्यान करके भय से सत्यवती का कहना नहीं माना ॥

ततः स्वैर्भूषणैर्दासीं भूषयित्वाप्सरोपमाम् ।
प्रेषयामास कृष्णाय ततः काशिपतेः सुता ॥२०॥
सा तं ऋषिमनुप्राप्तं प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च ।
संविवेशाभ्यनुज्ञाता सत्कृत्योपचचार ह ॥२१॥

अर्थ—तब काशिराज की पुत्री ने अपने भूषण वस्त्र पहना-कर अप्सरा के समान सुन्दरी अपनी दासी को व्यासजी के समीप भेज दिया, उसने ऋषि के आते ही आदर से उठकर उन के समीप जा अभिवादन किया और उनकी आज्ञा पाकर शयन किया तथा सत्कार के साथ उनकी सेवा में प्रवृत्त हुई ॥

तया सहोषितो राजन् महर्षिः संशितव्रतः ।
उत्तिष्ठन्नब्रवीच्चैनामभुजिष्या भविष्यसि ॥२२॥
स जज्ञे विदुरो नाम कृष्णद्वैपायनात्मजः ।
धृतराष्ट्रस्य वै भ्राता पाण्डोश्चैव महात्मनः ॥२३॥

अर्थ—हे राजन् ! प्रशंसित व्रतधारी महर्षि व्यासजी ने उसमें गर्भाधान किया और उठते समय कहा कि तू दासभाव से छूट जायगी, उससे व्यासजी का वह पुत्र "विदुर" नामक उत्पन्न हुआ जो धृतराष्ट्र और महात्मा पाण्डु का भाई कहलाया ॥

कृष्णद्वैपायनोप्येतत् सत्यवत्यै न्यवेदयत् ।
प्रलम्भमात्मनश्चैव शूद्रायाः पुत्रजन्म च ॥२४॥
एते विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रे द्वैपायनादपि ।
जज्ञिरे देवगर्भाभाः कुरुवंशविवर्द्धनाः ॥२५॥

अर्थ—व्यासजी ने भी सत्यवती से यह वृत्तान्त निवेदन कर

दिया कि उनको इस प्रकार वञ्चन कियागया और इससे शूद्रा= दासी पुत्र उत्पन्न होगा, इस प्रकार विचित्रवीर्य के क्षेत्र में व्यासजी से यह देवपुत्रों के समान गुणवान् तथा कुरुवंश के चलाने वाले तीन पुत्र उत्पन्न हुए ॥

वैशम्पायन उवाच

तेषु त्रिषु कुमारेषु जातेषु कुरुजाङ्गलम् ।
कुरवोऽथ कुरुक्षेत्रं त्रयमेतदवर्द्धत ॥२६॥
ऊर्ध्वशस्याभवद्भूमिः शस्यानि रसवन्ति च ।
यथर्त्तुवर्षी पर्जन्यो बहुपुष्पफला द्रुमाः ॥२७॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! उन तीनों कुमारों के उत्पन्न होने पश्चात् कुरुजाङ्गल देश, कुरुवंशी लोग और कुरुक्षेत्र, ये तीनों बढ़ने लगे, उस समय पृथ्वी पर ऊंचे २ और रसीले अन्न खेती में उत्पन्न होते थे, बादल समय पर बरसता और वृक्ष पूर्णतया फूलते फलते थे ॥

वाहनानि प्रहृष्टानि मुदिता मृगपक्षिणः ।
गन्धवन्ति च माल्यानि रसवन्ति फलानि च ॥२८॥
वाणिग्भिश्चान्वकीर्यन्त नगराण्यथ शिल्पिभिः ।
शूराश्चकृतविद्याश्चसन्तश्च सुखिनोऽभवन् ॥२९॥

अर्थ—घोड़े आदि सवारी के पशु और जंगली पशु-पक्षी आनन्दित रहते थे, फूल सुगन्धित और फल रसीले होते थे, नगर व्यापारी और कारीगरों से भरपूर थे और शूरवीर विद्वान् तथा सज्जन पुरुष सुखी रहते थे ॥

नाभवन् दस्यवः केचिन्नाधर्मरुचयो जनाः ।
धर्मक्रिया यज्ञशीलाः सत्यव्रतपरायणाः ।
अन्योन्यप्रीतिसंयुक्ता व्यवर्द्धन्त प्रजास्तदा ॥३०॥

अर्थ—उस समय दस्यु लोग वा अधर्मात्मा जन नहीं रहे थे, प्रजायें धर्मात्मा, यज्ञ करने वालीं, सच्चे व्रत धारण करने वालीं और आपस में स्नेहयुक्त रहकर दिनो दिन बढ़ती जाती थीं ॥

तन्महोदधिवत् पूर्णं नगरं वै व्यरोचत ।
द्वारतोरणनिर्व्यूहैर्युक्तमभ्रचयोपमैः ॥ ३१ ॥
नदीषु वनखण्डेषु वापीपल्वलसानुषु ।
काननेषु च रम्येषु विजह्रुर्मुदिता जनाः ॥ ३२ ॥

अर्थ—महासागर के समान भरपूर वह " हस्तिनापुर " नगर बड़ा सुशोभित था और दरवाजों पर रंगविरंगे वन्दनवारों के समूह से ऐसा सुशोभित था जैसे मेघों के समूह से आकाश शोभायमान प्रतीत होता है, आनन्द में भरे हुए लोग नदियों पर, बन के उत्तम स्थानों, तालावों, पहाड़ों और सुन्दर वनों में सैर किया करते थे ॥

नाभवत् कृपणः कश्चिन्नाभवन् विधवाः स्त्रियः ।
तस्मिञ्जनपदे रम्ये कुरुभिर्वहुलीकृते ॥ ३३ ॥
कूपारामसभावाप्यो ब्राह्मणावसथास्तथा ।
वभूवुः सर्वर्द्धियुतास्तस्मिन् राष्ट्रे सदोत्सवाः ।
भीष्मेण धर्मतो राजन् सर्वतः परिरक्षिते ॥ ३४ ॥

अर्थ—कुरुवंशियों से वसे हुए उस रमणीय प्रान्त में न कोई मनुष्य कृपण होता और न कोई स्त्री विधवा होती थी, हे राजन् !

भीष्म से धर्मपूर्वक रक्षा किये हुए उस देश में कुएं, बाग़, सभायें, और ब्राह्मणों के आश्रम सब संपत्तियों से पूर्ण और सदा सुरक्षित रहते थे ॥

स देशः परराष्ट्राणि विसृज्याभिप्रवर्द्धितः ।
भीष्मेण विहितं राष्ट्रे धर्मचक्रमवर्तत ॥ ३५ ॥
क्रियमाणेषु कृत्येषु कुमाराणां महात्मनाम् ।
पौरजानपदाः सर्वे बभूवुः परमोत्सुकाः ॥ ३६ ॥

अर्थ—वह देश दूसरों के राज्य को छोड़कर भी दिनों दिन बढ़ता और भीष्मजी का चलाया हुआ धर्मचक्र उस देश में प्रवृत्त रहता था, महात्मा कुमारों के जब संस्कार किये जाते तब नगर और प्रान्त निवासी सब परम उत्सुक होते थे ॥

गृहेषु कुरुमुख्यानां पौराणां च नराधिप ।
दीयतां भुज्यतां चेति वाचोऽश्रूयन्त सर्वशः ॥३७॥

अर्थ—हे राजन् ! उस समय श्रेष्ठ कुरुवंशियों और पुरवासियों के घरों से यही शब्द सुना जाता था कि दान करो और भोगो ॥

धृतराष्ट्रश्च पाण्डुश्च विदुरश्च महामतिः ।
जन्मप्रभृति भीष्मेण पुत्रवत्परिपालिताः ॥ ३८ ॥
संस्कारैः संस्कृतास्ते तु ततोऽध्ययनसंयुताः ।
श्रमव्यायामकुशलाः समपद्यन्त यौवनम् ॥ ३९ ॥

अर्थ—धृतराष्ट्र, पाण्डु और महाबुद्धिमान् विदुर को भीष्म ने जन्म से पुत्र के समान पाला था, वह संस्कारों से शुद्ध होकर विद्या-

ध्ययन में लगे हुए और परिश्रम तथा व्यायाम करने में चतुर युवावस्था को प्राप्त हुए ॥

धनुर्वेदे च वेदे च गदायुद्धेऽसि चर्मणि ।
तथैव राजशिक्षायां नीतिशास्त्रेषु पारगाः ॥ ४० ॥
इतिहासपुराणेषु नानाशिक्षासु बोधिताः ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञाः सर्वत्र कृतनिश्चयाः ॥ ४१ ॥

अर्थ—वह कुमार शस्त्रविद्या, वेदविद्या, गदायुद्ध, खड्गविद्या, ढाल का प्रयोग, राजशिक्षा और नीतिशास्त्र में पारदर्शी, इतिहास, पुराण और नाना शिक्षाओं में कुशल हुए २ वेद वेदाङ्गों का तत्त्व जानने वाले और सब विषयों में निश्चयात्मक बन गये थे ॥

पाण्डुर्धनुषि विक्रान्तो नरेष्वभ्यधिकोऽभवत् ।
अन्येभ्यो बलवानासीद्धृतराष्ट्रो महीपतिः ॥ ४२ ॥
त्रिषुलोकेषु न त्वासीत् कश्चिद्विदुरसम्मितः ।
धर्मनित्यस्तथा राजन् धर्मे च परमं गतः ॥ ४३ ॥

अर्थ—पाण्डु धनुर्विद्या में अन्य मनुष्यों से अधिक पराक्रमी हुआ और राजा धृतराष्ट्र औरों से बल में अधिक रहा और हे राजन्! विदुर के समान धर्मनिष्ठ तथा धर्म का पारदर्शी तीनो लोकों में कोई नहीं हुआ ॥

प्रनष्टं शान्तनोर्वंशं समीक्ष्य पुनरुद्धृतम् ।
ततो निर्वचनं लोके सर्वराष्ट्रेष्ववर्त्तत ॥ ४४ ॥
वीरसूनां काशिसुते देशानां कुरुजाङ्गलम् ।
सर्वधर्मविदां भीष्मः पुराणं गजसाह्वयम् ॥ ४५ ॥

अर्थ—नष्ट हुए २ शान्तनु के वंश का पुनरुद्धार देखकर सब देशों में इस प्रकार प्रसिद्धि फैल गई कि संसार भर की वीरमाताओं में काशीराज की पुत्रियें, देशों में कुरुजाङ्गल देश, धर्मज्ञानियों में भीष्म और सब नगरों में हस्तिनापुर बढ़कर है ॥

धृतराष्ट्रस्त्वचक्षुष्ट्वाद्राज्यं न प्रत्यपद्यत ।
पारसवत्त्वाद्विदुरो राजा पाण्डुर्बभूव ह ॥ ४६ ॥

अर्थ—अन्धा होने से धृतराष्ट्र को और दासी पुत्र होने से विदुर को राज्य नहीं मिला, इसलिये पाण्डु राजा बनाया गया ॥

कदाचिदथ गाङ्गेयः सर्वनीतिमतांवरः ।
विदुरं धर्मतत्त्वज्ञं वाक्यमाह यथोचितम् ॥ ४७ ॥

अर्थ—एक समय नीतिज्ञों में श्रेष्ठ भीष्म धर्म के तत्ववेत्ता विदुर से इस प्रकार उचित वचन बोले ॥

इति अष्टमोऽध्यायः समाप्तः

अथ नवमोऽध्यायः प्रारभ्यते

भीष्म उवाच

गुणैः समुदितं सम्यगिदं नः प्रथितं कुलम् ।
अप्यन्यान् पृथिवीपालान् पृथिव्यामधिराज्यभाक् ॥१॥
रक्षितं राजभिः पूर्वं धर्मविद्भिर्महात्मभिः ।
नोत्सेदमगमच्चेदं कदाचिदिह नः श्रुतम् ॥ २ ॥

अर्थ—भीष्मजी बोले कि हमारा यह विख्यात वंश सर्वगुण-सम्पन्न तथा पृथ्वीभर के अन्य राजाओं के राज्य का भी भागी है,

हमने सुना है कि धर्मज्ञानी महात्मा राजा पहले से इसकी रक्षा करते रहे हैं इसलिये इसका नाश कभी नहीं हुआ ॥

मया च सत्यवत्या च कृष्णेन च महात्मना ।
समवस्थापितं भूयो युष्मासु कुलतन्तुषु ॥३॥
तच्चैतद् वर्द्धते भूयः कुलं सागर वद्यथा ।
तथा मया विधातव्यं त्वया चैव न संशयः ॥४॥

अर्थ-मैंने, सत्यवती ने और महात्मा व्यासजी ने तुम तीनों कुलवर्द्धकों की उत्पत्ति द्वारा इस कुल का पुनरुद्धार करदिया है इसमें संशय नहीं, अब मेरा और तुम्हारा वह कर्तव्य है कि जिससे यह वंश समुद्र के समान फिर से फैल जावे वही हमें करना चाहिये ॥

श्रूयते यादवी कन्या स्वनुरूपा कुलस्य नः ।
सुबलस्यात्मजा चैव तथा मद्रेश्वरस्य च ॥५॥
कुलीना रूपवत्याश्च ताः कुन्याः पुत्र सर्वशः ।
उचिताश्चैव संबन्धे ह्यस्माकं क्षत्रियर्षभाः ॥६॥

अर्थ-सुना जाता है कि यदुवंश की कन्या, सुबल और मद्रनरेश की पुत्रियें हमारे वंश के योग्य हैं, हे पुत्र ! वह श्रेष्ठ क्षत्रियों की पुत्रियें कुलीन,सब प्रकार से रूपवतीं और हम लोगों के साथ विवाह सम्बन्ध करने योग्य हैं ॥

मन्ये वरयितव्यास्ता इत्यहं धीमतां वर ।
सन्तानार्थं कुलस्यास्य यद्वा विदुर मन्यसे ॥ ६ ॥

अर्थ-हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ विदुर! मैं समझता हूं कि इस कुल के चलाने के लिये उन कन्याओं का वरण कर लेना चाहिये अथवा जैसी तुम्हारी सम्मति हो ॥

विदुर उवाच

भवान् पिता भवान् माता भवान्नः परमो गुरुः ।
तस्मात् स्वयं कुलस्यास्य विचार्य कुरु यद्धितम् ॥७॥

अर्थ–विदुर बोले कि आप हमारे पिता, आपही माता और आपही परम गुरु हैं, अतएव इस कुल के लिये जो हित हो वह आप स्वयं विचार कर करें ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो गान्धारराजस्य प्रेषयामास भारत ।
अचक्षुरिति तत्रासीत् सुवलस्य विचारणा ॥८॥
कुले ख्यातिं च वृत्तं च बुद्धचातु प्रसमीक्ष्य सः ।
ददौ तां धृतराष्ट्राय गान्धारींधर्मचारिणीम् ॥९॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तब भीष्मजी ने कंधारनरेश के समीप यह विवाह सम्बन्धी समाचार भेजा, परन्तु राजा सुवल को यह विचार हुआ कि वर नेत्रहीन है, अन्त में उसने बुद्धि द्वारा धृतराष्ट्र के कुल, यश और आचरण पर विचार करके अपनी धर्मात्मा कन्या गान्धारी को धृतराष्ट्र के लिये दे दिया ॥

गान्धारी त्वथ शुश्राव धृतराष्ट्मचक्षुषम् ।
आत्मानं दित्सितं चास्मै पित्रा मात्रा च भारत ॥१०॥
ततः सा पटमादाय कृत्वा बहुगुणं तदा ।
बबन्धनेत्रे स्वे राजन् पतिव्रत परायणा ।
नाभ्यसूयां पतिमहामित्येवं कृतनिश्चया ॥११॥

अर्थ–हे राजन् ! जब गान्धारी ने सुना कि धृतराष्ट्र नेत्रहीन

हैं और मेरे माता पिता उसके साथ मेरा विवाह करना चाहते हैं तब उस पतिव्रता ने उसी समय एक कपड़ा ले और उसकी कई तह बनाकर अपने नेत्रों पर इस विचार से पट्टी बांधली कि मैं अपने पति से बढ़कर न रहूं ॥

ततो गान्धारराजस्य पुत्रः शकुनिरभ्ययात् ।
स्वसारं वयसा लक्ष्म्या युक्तामादाय कौरवान् ॥१२॥
तां तदा धृतराष्ट्राय ददौ परमसत्कृताम् ।
भीष्मस्यानुमते चैव विवाहं समकारयत् ॥१३॥

अर्थ--तब कंधार के राजा का पुत्र शकुनि अपनी शोभासम्पन्न युवती बहिन को लेकर कुरुवंशियों के समीप पहुंचा, वहां उसने परम सत्कारपूर्वक धृतराष्ट्र के लिये अपनी भगिनी प्रदान कर भीष्म की सम्मति से उन दोनों का विवाह कर दिया ॥

दत्त्वा स भगिनीं वीरो यथार्हं च परिच्छदम् ।
पुनरायात् स्वनगरं भीष्मेण प्रतिपूजितः ॥१४॥

अर्थ--वह वीर शकुनि अपनी भगिनी को यथोचित भूषण वस्त्रादि सहित दान करके भीष्म से सत्कार पाकर फिर अपने नगर को लौट आया ॥

गान्धार्यपि वरारोहा शीलाचारविचेष्टितैः ।
तुष्टिं कुरूणां सर्वेषां जनयामास भारत ॥१५॥
वृत्तेनाराध्य तान् सर्वान् गुरून्पतिपरायणा ।
वाचापि पुरुषानन्यान् सुव्रता नान्वकीर्त्तयत् ॥१६॥

अर्थ--हे राजन ! सुन्दरी गान्धारी ने भी अपने स्वभाव और

उत्तम आचरण तथा कर्म द्वारा सब कुरुवंशियों को आनन्दित कर दिया, उस पतिव्रता ने सदाचारपूर्वक अपने बड़ों की सेवा शुश्रूषा की और धृतराष्ट्र के अन्धा होने पर भी उसने अन्य पुरुष का कभी नाम तक न लिया ॥

वैशम्पायन उवाच

शूरो नाम यदुश्रेष्ठो वसुदेवपिताभवत् ।
तस्य कन्या पृथा नाम रूपेणाप्रतिमा भुवि ॥१७॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! यदुवंश में श्रेष्ठ वसुदेव का पिता "शूर" नामक था जिसकी "पृथा" नामक कन्या पृथ्वी पर रूप में अद्वितीय थी ॥

पितृस्वस्रीयाय सतामनपत्याय भारत ।
अग्र्यमग्रे प्रतिज्ञाय स्वस्यापत्यं स सत्यवाक् ॥१८॥
अग्रजामथ तां कन्यां शूरोऽनुग्रहकांक्षिणे ।
प्रददौ कुन्तिभोजाय सखा सख्ये महात्मने ॥१९॥

अर्थ—हे राजन् ! शूर ने अपने पिता की भगिनी के पुत्र कुन्तिभोज से जो कि सन्तान रहित था पहले यह प्रतिज्ञा करली थी कि मैं अपनी पहली सन्तान तुम्हें दूंगा सो उस सत्यवादी ने अपनी पहले जन्मी हुई वह कन्या अनुग्रहाभिलाषी महात्मा मित्र कुन्तिभोज के लिये दान करदी ॥

सत्त्वरूपगुणोपेता धर्मारामा महाव्रता ।
दुहिता कुन्तिभोजस्य पृथा पृथुललोचना ॥२०॥
तां रतु तेजस्विनीं कन्यां रूपयौवनशालिनीम् ।
व्यावृण्वन् पार्थिवाः केचिदतीवस्त्रीगुणैर्युताम् ॥२१॥

अर्थ-वह कुन्तिभोज की पुत्री "पृथा" विशाल नेत्रों वाली, उत्साह, रूप तथा गुणों वाली, धर्मनिष्ठ और बड़ी व्रतधारिणी थी, उस रूप यौवन सम्पन्न तेजस्विनी तथा स्त्री के गुणों से युक्त कन्या को कई एक राजाओं ने वरण किया ॥

ततः सा कुन्तिभोजेन राज्ञाहूय नराधिपान् ।
पित्रा स्वयंवरे दत्ता दुहिता राजसत्तम ॥२२॥
ततः सा रङ्गमध्यस्थं तेषां राज्ञां मनस्विनी ।
ददर्श राजशार्दूलं पाण्डुं भरतसत्तमम् ॥२३॥

अर्थ-हे महाराज ! तब राजा कुन्तिभोज ने अपनी पुत्री को स्वयंवर में राजाओं को बुलाकर देना निश्चय किया, उस तेजस्विनी ने उन राजाओं के रंगशाला में बैठे हुए भरतकुल भूषण तथा राजाओं में सिंहसमान "पाण्डु" राजा को देखा, और :-

तं दृष्ट्वा सानवद्याङ्गी कुन्तिभोजसुता शुभा ।
पाण्डुं नरवरं रङ्गे हृदयेनाकुलाभवत् ॥२४॥
ततः कामपरीताङ्गी सकृत्प्रचलमानसा ।
व्रीडमाना स्रजं कुन्ती राज्ञः स्कन्धेसमासजत् ॥२५॥

अर्थ-कुन्तिभोज की वह सुन्दरी कन्या उस परमसुन्दर पाण्डु राजा को देखते ही हृदय में व्याकुल होगई, पश्चात् काम से पीड़ित और एक वार चित्त में चञ्चल हुई २ कुन्ती ने लज्जा के साथ राजा पाण्डु के गले में माला डालदी ॥

तं निशम्य वृतं पाण्डुं कुन्त्या सर्वे नराधिपाः ।
यथा गतं समाजग्मुर्गजैरश्वैरथैस्तथा ॥२६॥

ततस्तस्याः पिता राजन् विवाहमकरोत्प्रभुः ।
कुन्त्याः पाण्डोश्च राजेन्द्र कुन्तिभोजो महीपतिः ॥२७॥

अर्थ—सब राजा लोग यह सुनकर कि कुन्ती ने राजा पाण्डु को वर लिया अपने हाथी, घोड़े और रथों पर चढ़कर अपने २ स्थान को चले गये, हे राजन् ! पश्चात् कुन्ती के पिता प्रभावशाली राजा कुन्तिभोज ने कुन्ती और पाण्डु का विवाह कर दिया ॥

कृत्वोद्वाहं तदा तं तु नानावसुभिरर्च्चितम् ।
स्वपुरं प्रेषयामास स राजा कुरुसत्तम ॥ २८ ॥
संप्राप्य नगरं राजा पाण्डुः कौरवनन्दनः ।
न्यवेशयत तां भार्यां कुन्तीं स्वभवने प्रभुः ॥२९॥

अर्थ—हे कुरुश्रेष्ठ राजन् ! राजा कुन्तीभोज ने राजा पाण्डु का विवाह करके और उनको नाना प्रकार के पदार्थों से सत्कृत कर उनके अपने नगर "हस्तिनापुर" को भेज दिया, प्रभावशाली कुरुवंशियों को आनन्दित करने वाले राजा पाण्डु ने अपने नगर में पहुंचकर धर्मपत्नी कुन्ती को अपने महल में उतारा ॥

इति नवमोऽध्यायः समाप्तः

अथ दशमोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततः शान्तनवो भीष्मो राज्ञः पाण्डोर्यशस्विनः ।
विवाहस्यापरस्यार्थे चकार मतिमान्मतिम् ॥ १ ॥

सोऽमात्यैः स्थविरैः सार्द्धं ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
बलेन चतुरङ्गेण ययौ मद्रपतेः पुरम् ॥ २ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! इसके पश्चात् बुद्धिमान् शन्तनुपुत्र भीष्मजी ने विचार किया कि प्रतापी राजा पाण्डु का दूसरा विवाह किया जाय, सो वह वृद्ध मन्त्रियों, ब्राह्मणों, ऋषियों और चतुरङ्ग सेना को साथ लेकर मद्र=मदरास के राजा के नगर में पहुंचे ॥

तमागतमभिश्रुत्य भीष्मं बाह्लीकपुङ्गवः ।
प्रत्युद्गम्यार्चयित्वा च पुरं प्रावेशयन्नृपः ॥ ३ ॥
तं भीष्मः प्रत्युवाचेदं मद्रराजं कुरूद्वहः ।
आगतं मां विजानीहि कन्यार्थिनमरिन्दम ॥४॥

अर्थ–बाह्लीकवंश में श्रेष्ठ मद्रनरेश भीष्म का आगमन सुनकर उनका स्वागत और सत्कार करके अपने नगर में लेगया, कुरुवंशियों में श्रेष्ठ भीष्मजी मद्रनरेश से बोले कि हे शत्रुसन्तापक! मैं कन्या के लिये आया हूं ॥

श्रूयते भवतः साध्वी स्वसा माद्री यशस्विनी ।
तामहं वरयिष्यामि पाण्डोरर्थे यशस्विनीम् ॥५॥
युक्तरूपो हि संबन्धे त्वं नो राजन् वयं तव ।
एतत् संचिन्त्य मद्रेश गृहाणास्मान्यथाविधि ॥६॥

अर्थ–सुना है कि आपकी गुणवती तथा सदाचारिणी "माद्री" नामक बहिन है, सो राजा पाण्डु के लिये उस कीर्त्तिमती कन्या को मैं वरना चाहता हूं, हे राजन्! विवाहसम्बन्ध में तुम हमारे और हम तुम्हारे समान हैं, ऐसा सोचकर आप हमें विधिपूर्वक ग्रहण करें ॥

इत्युक्त्वा स महातेजाः शातकुम्भं कृताकृतम् ।
रत्नानि च विचित्राणि शल्यायादात्सहस्रशः ॥७॥
गजानश्वान्रथांश्चैव वासांस्याभरणानि च ।
मणिमुक्ता प्रवालं च गाङ्गेयो व्यसृजच्छुभम् ॥८॥

अर्थ—महातेजस्वी भीष्म ने ऐसा कहकर राजा शल्य को सुवर्ण, सुवर्ण की मोहरें और अनेक प्रकार के हज़ारों रत्न प्रदान किये, भीष्म ने शल्य को उपरोक्त वस्तुओं के अतिरिक्त हाथी, घोड़े, रथ, वस्त्र, भूषण और उत्तम मणियें, मोती तथा मूंगे भी दिये ॥

तत्प्रगृह्य धनं सर्वं शल्यः संप्रीतमानसः ।
ददौ तां समलङ्कृत्य स्वसारं कौरवर्षभे ॥ ९ ॥
तत इष्टेऽहनि प्राप्ते मुहूर्त्ते साधुसम्मते ।
जग्राह विधिवत्पाणिं माद्र्याः पाण्डुर्नराधिपः ॥१०॥

अर्थ—राजा शल्य ने मन में प्रसन्न हो, वह सब धन लेकर अपनी बहिन माद्री को अलंकृत करके कुरुवंशभूषण भीष्म को दे दिया, इसके पश्चात् सज्जनों की सम्मति से शुभ दिन और उत्तम मुहूर्त्त में राजा पाण्डु ने विधिपूर्वक माद्री से विवाह किया ॥

ततो विवाहे निर्वृत्ते स राजा कुरुनन्दन ।
स्थापयामास तां भार्यां शुभे वेश्मनि भाविनीम् ॥११
स ताभ्यां व्यचरत् सार्द्धं भार्याभ्यां राजसत्तम ।
कुन्त्या माद्र्या च राजेन्द्र यथाकामं यथासुखम् ॥१२॥

अर्थ—हे कुरुवंशानन्दकारी राजा ! विवाह होने के पश्चात राजा पाण्डु ने धर्मपत्नी माद्री को अपने उत्तम महल में बास दिया,

हे महाराज ! राजा पाण्डु अपनी दोनों भार्याओं अर्थात् कुन्ती और माद्री के साथ यथेष्ट सुखपूर्वक गृहस्थधर्म का आचरण करता रहा ॥

ततः स कौरवो राजा विहृत्य त्रिदशा निशाः ।
जिगीषया महीं पाण्डुर्निरक्रामत्पुरात् प्रभो ॥१३॥
स भीष्मप्रमुखान् वृद्धानभिवाद्य प्रणम्य च ।
धृतराष्ट्रं च कौरव्यं तथान्यान् कुरुसत्तमान् ।
गजवाजिरथौघेन बलेन महतागमन् ॥१४॥

अर्थ—हे राजन् ! तब वह कुरुवंशी पाण्डु राजा तीस रात्रि=एक मास तक गृहस्थ में रहकर पृथ्वी का विजय करने के लिये अपने नगर से चला, चलने से पहले उसने भीष्म आदि वृद्ध पुरुषों, कुरुवंशभूषण धृतराष्ट्र तथा अन्य पुरुषों को अभिवादन तथा प्रणाम कर और साथ में हाथी घोड़े तथा रथों की बड़ी सेना लेकर चल दिया॥

हृष्टपुष्टबलैः प्रायात् पाण्डुः शत्रूननेकशः ।
पूर्वमागस्कृतो गत्वा दशार्णाः समरे जिताः ॥१५॥

अर्थ—पाण्डु ने हृष्ट पुष्ट सेना के साथ अनेक शत्रुओं पर चढ़ाई की, उसने सब से पहले "दशार्ण"=कच्छ आदि सामुद्रीय देश के लोगों को युद्ध में विजय किया जो बड़े राजविरोधी थे ॥

ततः सेनामुपादाय पाण्डुर्नानाविधध्वजाम् ।
प्रभूतहस्त्यश्वयुतां पदातिरथसङ्कुलाम् ॥ १६ ॥
आगस्कारी महीपानां बहूनां बलदर्पितः ।
गोप्ता मगधराष्ट्रस्य दीर्घो राजगृहे हतः ॥ १७ ॥

अर्थ—तब राजा पाण्डु ने नाना प्रकार की ध्वजाओं वाली तथा

असंख्य हाथी, घोड़े, पैदल और रथों से परिपूर्ण अपनी सेना को साथ लेकर मगधदेश के बड़े राजा को जो बहुत से राजाओं का अपराधी और जिसको अपने बल का अति अभिमान था उसको राजभवन में ही मार डाला ॥

ततः कोषं समादाय वाहनानि च भूरिशः ।
पाण्डुना मिथिलां गत्वा विदेहाः समरे जिताः ॥१८॥
तथा काशिषु सुह्मेषु पुण्ड्रेषु च नरर्षभ ।
स्वबाहुबलवीर्येण कुरूणामकरोद्यशः ॥ १९ ॥

अर्थ–तब पाण्डु वहां का कोष=ख़ज़ाना और बहुत सी सवारियें घोड़े आदि लेकर मिथिलापुरी में पहुंचा और वहां विदेह लोगों को युद्ध में विजय किया, हे पुरुषश्रेष्ठ राजन् ! इसके अतिरिक्त उसने काशी तथा काशी प्रान्तीय सुह्म और पुण्ड्र देशों में भी अपने भुजबल के प्रभाव से कुरुवंशियों का यश फैला दिया ॥

तं शरौघमहाज्वालं शस्त्रार्चिषमरिन्दमम् ।
पाण्डुपावकमासाद्य न दह्यन्त नराधिपाः ॥२०॥
ते ससेनाः ससेनेन विध्वंसित बलानृपाः ।
पाण्डुना वशगाः कृत्वा कुरु कर्मसु यौजिताः ॥२१॥

अर्थ–वह पाण्डुरूप शत्रुनाशक अग्नि जिसमें बाणों का समूह और शस्त्र मानो बड़ी २ ज्वालायें थीं जिसके समीप जाते ही विरोधी राजा भस्म होजाते थे, राजा पाण्डु ने अपनी सेना द्वारा उन राजाओं को सेना समेत विध्वंस करके अपने वंश के कौरव लोगों की सेवा में नियुक्त कर दिया ॥

तं कृताञ्जलयः सर्वे प्रणता वसुधाधिपाः ।

उपाजग्मुर्धनं गृह्य रत्नानि विविधानि च ॥२२॥
तदादाय ययौ पाण्डुः पुनर्मुदितवाहनः ।
हर्षमिष्यन् स्वराष्ट्राणि पुरं च गजसाह्वयम् ॥२३॥

अर्थ–तदनन्तर सब राजा लोग नम्र हुए २ हाथ जोड़कर धन और विविध प्रकार के रत्न लेकर पाण्डु की सेवा में आ उपस्थित हुए, उस उपहार को लेकर राजा पाण्डु प्रसन्नतापूर्वक रथ पर चढ़ अपने देश= "हस्तिनापुर" नगर को हर्ष देने के लिये लौट आया ॥

शान्तनो राजसिंहस्य भरतस्य च धीमतः ।
प्रनष्टः कीर्त्तिजः शब्द पाण्डुना पुनराहृतः ॥२४॥

अर्थ–राजेन्द्र शान्तनु और महा बुद्धिमान् राजा भरत के नष्ट हुए यशपूर्ण नाम को पाण्डु ने फिर से प्रसिद्ध कर दिया ॥

ये पुरा कुरुराष्ट्राणि जह्रुः कुरुधनानि च ।
ते नागपुरसिंहेन पाण्डुना करदीकृताः ॥२५॥
इत्यभाषन्त राजानो राजामात्याश्च सङ्गताः ।
प्रतीतमनसो हृष्टाः पौरजानपदैः सह ॥२६॥

अर्थ–राजा, राजाओं के मन्त्री तथा नगर और प्रान्त के निवासी लोग सब मन में प्रसन्न हुए २ हर्ष से कहने लगे कि जिन्होंने पहले कुरु देश और कौरवों के धन को विजय किया था अब हस्तिनापुर के सिंह पाण्डु ने उनको कर देने वाला बना दिया ॥

प्रत्युद्ययुश्च तं प्राप्तं सर्वे भीष्मपुरोगमाः ।
तेन दूरमिवाध्वानं गत्वा नागपुरालयात् ॥२७॥

आवृतं ददृशुर्हृष्टा लोकं बहुविधैर्धनैः ।
नानायानसमानीतै रत्नैरुच्चावचैस्तदा ॥२८॥

अर्थ—जब पाण्डु विजय करके अपने देश में पहुंचा तो भीष्म आदि सब लोग हस्तिनापुर से चलकर बहुत दूर उसका स्वागत करने के लिये गये, और वहां सब लोगों ने हर्षपूर्वक देखा कि राजा पाण्डु के सब सैनिक लोग अनेक प्रकार के धनों और भिन्न २ सवारियों में लदे हुए नाना रत्नों से घिरे हुए हैं ॥

हस्त्यश्वरथरत्नैश्च गोभिरुष्ट्रैस्तथाविभिः ।
नान्तं ददृशुरासाद्य भीष्मेण सह कौरवाः ॥२९॥

अर्थ—तब भीष्म समेत सब कुरुवंशियों ने देखा कि पाण्डु के साथ हाथी, घोड़े, रथ, रत्न, गौवें, ऊंट और भेड़ें आदि का कोई अन्त नहीं॥

सोऽभिवाद्य पितुः पादौ कौशल्यानन्दवर्द्धनः ।
यथार्हं मानयामास पौरजानपदानपि ॥३०॥

अर्थ—माता अम्बालिका के आनन्दकारी पुत्र पाण्डु ने पितामह भीष्मजी के चरणों में अभिवादन करके नगर और प्रान्त के निवासियों का भी यथोचित सत्कार किया ॥

प्रमृद्य रिपुराष्ट्राणि कृतार्थं पुनरागतम् ।
पुत्रमाश्लिष्य भीष्मस्तु हर्षादश्रूण्यवर्तयत् ॥३१॥
स तूर्यशतशङ्खानां भेरीणां च महास्वनैः ।
हर्षयन् सर्वशः पौरान् विवेश गजसाह्वयम् ॥३२॥

अर्थ—इस प्रकार शत्रुओं के देशों को मर्दन कर, कृतार्थ हो लौटे हुए पुत्र पाण्डु को आलिङ्गन करके भीष्मजी ने हर्ष के आंसू

बहाये, राजा पाण्डु ने सैंकड़ों बाजों, शंखों और नगारों के नाद से सब पुरवासियों को हर्षित करते हुए हस्तिनापुर में प्रवेश किया ॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातः स्वबाहुविजितं धनम् ।
भीष्माय सत्यवत्यै च मात्रे चोपजहार सः ॥३३॥
विदुराय च वै पाण्डुः प्रेषयामास तद्धनम् ।
सुहृदश्चापि धर्मात्मा धनेन सम तर्पयत् ॥३४॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! धृतराष्ट्र की आज्ञानुसार पाण्डु ने अपनी भुजाओं से जीता हुआ धन भीष्मजी, सत्यवती और माता अम्बालिका की भेंट किया, उस धर्मात्मा ने उसमें से कुछ धन विदुरजी की सेवा में भी भेजा और कुछ अपने मित्रों को देकर उन्हें भी सन्तुष्ट किया ॥

तस्य वीरस्य विक्रान्तैः सहस्र शत दक्षिणैः ।
अश्वमेध शतैरीजे धृतराष्ट्रो महामखैः ॥३५॥

अर्थ–धृतराष्ट्र ने उस वीर पाण्डु के पराक्रम के सहारे बड़े २ सैंकड़ों अश्वमेध यज्ञ किये और उनमें सैंकड़ों हज़ारों मुद्रा आदि दक्षिणायें दीं ॥

संप्रयुक्तस्तु कुन्त्या च माद्र्या च भरतर्षभ ।
जिततन्द्रस्तदा पाण्डुर्बभूव वनगोचरः ॥३६॥
हित्वा प्रासादनिलयं शुभानि शयनानि च ।
अरण्यनित्यः सततं बभूत मृगया परः ॥३७॥

अर्थ–हे भरतवंशभूषण राजन् ! इसके पश्चात् कुन्ती और

माद्री की प्रेरणा से पाण्डु आलस्य को जीतकर वन में मृगया के लिये रहने लगा, वह अपने महल और सुन्दर सेजें छोड़कर सदा वन में रहकर शिकार में आसक्त होगया ॥

स चरन् दक्षिणं पार्श्वं रम्यं हिमवतो गिरेः ।
उवास गिरिपृष्ठेषु महाशाल वनेषु च ॥ ३८ ॥
तस्य कामांश्च भोगांश्च नरा नित्य मतन्द्रिताः ।
उपजह्रुर्वनान्तेषु धृतराष्ट्रेण चोदिताः ॥३९॥

अर्थ—वह हिमालय पर्वत के सुन्दर दक्षिणी भाग में घूमता हुआ पहाड़ के ऊपरी खण्डों और साल वृक्षों के घने जंगलों में निवास करने लगा, उन वनों में भी धृतराष्ट्र की प्रेरणा से वहां के लोग सदा आलस्य रहित होकर पाण्डु के लिये इच्छित भोग की सामग्री पहुंचाते रहते थे ॥

राजपुत्रस्तु कौरव्यः पाण्डुर्मूलफलाशनः ।
जगाम सहपत्नीभ्यां ततो नागशतं गिरिम् ॥४०॥
स चैत्ररथमासाद्य कालकूटमतीत्य च ।
हिमवन्तमतिक्रम्य प्रययौ गन्धमादनम् ॥४१॥

अर्थ—कुरुवंशी राजकुमार पाण्डु कंद, मूल, फलों से निर्वाह करता हुआ दोनों स्त्रियों सहित " नागशत " पर्वत पर गया, पश्चात् चैत्ररथ, कालकूट और हिमालय को क्रम से लांघता हुआ " गन्धमादन " पर पहुंचा ॥

रक्ष्यमाणो महाभूतैः सिद्धैश्च परमर्षिभिः ।
उवास स महाराज समेषु विषमेषु च ॥ ४२ ॥

इन्द्रद्युम्नसरः प्राप्य हंसकूटमतीत्य च ।
शतशृंगे महाराज तापसः सम तप्यत ॥४३॥

अर्थ—हे महाराज ! बड़े पराक्रमी सिद्ध पुरुष और महर्षियों से रक्षा किया हुआ राजा पाण्डु पर्वत के सम-विषम स्थानों में वास करता रहा, हे राजन् ! वह इन्द्रद्युम्न नामी झील पर पहुंच और हंसकूट को लांघकर " शतशृङ्ग " पर्वत पर तपस्वियों की भांति तप करने लगा ॥

अथ पारसवीं कन्यां देवकस्य महीपतेः ।
रूपयौवनसम्पन्नां स शुश्रावापगा सुतः ॥ ४४ ॥

अर्थ—इसके अनन्तर भीष्मजी ने सुना कि शूद्रा से उत्पन्न देवक राजा की पुत्री रूप यौवन सम्पन्न है ॥

ततस्तु वरयित्वा तामानीय भरतर्षभ ।
विवाहं कारयामास विदुरस्य महीपतेः ॥४५॥
तस्यां चोत्पादयामास विदुरः कुरुनन्दनः ।
पुत्रान् विनय सम्पन्नानात्मनः सदृशान् गुणैः॥४६॥

अर्थ—हे भरतकुल श्रेष्ठ ! तब भीष्मजी उस कन्या को वर कर हस्तिनापुर में लाये और महाबुद्धिमान् विदुरजी का उसके साथ विवाह करदिया, कुरुवंश के आनन्दकारी विदुरजी ने उस भार्या से अपने ही समान गुणसम्पन्न तथा विनीत पुत्र उत्पन्न किये ॥

इति दशमोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकादशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततः पुत्रशतं जज्ञे गान्धार्यां जनमेजय ।
पाण्डोः कुन्त्यां च माद्र्यां च पुत्राः पंच महारथाः ॥१॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे जनमेजय ! तत्पश्चात् धृतराष्ट्र से गन्धारी में सौ पुत्र और पाण्डु से कुन्ती तथा माद्री में महारथी पांच पुत्र उत्पन्न हुए ॥

जज्ञे क्रमेण चैतेन तेषां दुर्योधनो नृपः ।
जन्मतस्तु प्रमाणेन ज्येष्ठो राजा युधिष्ठिरः ॥२॥
यास्मिन्नहनि दुर्धर्षो जज्ञे दुर्योधनस्तदा ।
तस्मिन्नेव महाबाहुर्जज्ञे भीमोऽपि वीर्यवान् ॥३॥

अर्थ—उन सौ पुत्रों में क्रमपूर्वक पहले राजा दुर्योधन उत्पन्न हुआ, परन्तु जन्मकाल की अपेक्षा राजा युधिष्ठिर उससे भी बड़ा था, जिस दिन पराक्रमी दुर्योधन का जन्म हुआ ठीक उसी दिन महाबाहु पराक्रमी भीमसेन उत्पन्न हुआ ॥

जनमेजय उवाच

ज्येष्ठानुज्येष्ठतां तेषां नामानि च पृथक् पृथक् ।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणामानुपूर्व्या प्रकीर्त्तय ॥४॥

अर्थ—जनमेजय बोले कि हे वैशम्पायन ! धृतराष्ट्र के उन सौ पुत्रों का क्रम से बड़ा छोटापन और उनके अलग २ नामों का कथन करें ॥

वैशम्पायन उवाच

दुर्योधनो युयुत्सुश्च राजा दुःशासनस्तथा ।
दुःसहो दुःशलश्चैव जलसन्धः समः सह ॥५॥
विन्दानुविन्दौ दुर्धर्षः सुबाहुर्दुष्प्रधर्षणः ।
दुर्मर्षणो दुर्मुखश्च दुष्कर्णः कर्ण एव च ॥६॥

अर्थ—तब वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! उन सब के नाम सुनें :—

(१) दुर्योधन (२) युयुत्सु (३) दुःशासन (४) दुःसह (५) दुःशल (६) जलसन्ध (७) विन्द (८) अनुविन्द (९) दुर्धर्ष (१०) सुबाहु (११) दुष्प्रधर्षण (१२) दुर्मर्षण (१३) दुर्मुख (१४) दुष्कर्ण (१५) कर्ण ॥

विविंशतिर्विकर्णश्च शलःसत्त्वाःसुलोचनः ।
चित्रोपचित्रौ चित्राक्षश्चारुचित्रः शरासनः ॥७॥
दुर्मदो दुर्विगाहश्च विवित्सुर्विकटाननः ।
ऊर्णनाभः सुनाभश्च तथा नन्दोपनन्दकौ ॥८॥

अर्थ—(१६) विविंशति (१७) विकर्ण (१८) शल (१९) सत्वा (२०) सुलोचन (२१) चित्र (२२) उपचित्र (२३) चित्राक्ष (२४) चारुचित्र (२५) शरासन (२६) दुर्मद (२७) दुर्विगाह (२८) विवित्सु (२९) विकटानन (३०) ऊर्णनाभ (३१) सुनाभ (३२) नन्द (३३) उपनन्दक ॥

चित्रबाणश्चित्रवर्मा सुवर्मा दुर्विमोचनः ।
अयोबाहुर्महाबाहुश्चित्रांगश्चित्रकुण्डलः ॥९॥
भीमवेगो भीमबलो बलाकी बलवर्द्धनः ।

उग्रायुधः सुषेणश्च भीमकर्मा महोदरः ॥ १० ॥

अर्थ–(३४) चित्रवाण (३५) चित्रवर्मा (३६) सुवर्मा (३७) दुर्विमोचन (३८) अयोबाहु (३९) महाबाहु (४०) चित्राङ्ग (४१) चित्रकुण्डल (४२) भीमवेग (४३) भीमबल (४४) बलाकी (४५) बलबर्द्धन (४६) उग्रायुध (४७) सुषेण (४८) भीमकर्मा (४९) महोदर॥

चित्रायुधो निषंगी च पाशी वृन्दारकस्तथा ।
दृढ़वर्मा दृढक्षत्रः सोमकीर्त्तिरनूदरः ॥ ११ ॥
दृढ़सन्धो जरासन्धः सत्यसन्धः सदःसुवाक् ।
उग्रश्रवा उग्रसेनः सेनानीर्दुष्पराजयः ॥ १२ ॥

अर्थ–(५०) चित्रायुध (५१) निषंङ्गी (५२) पाशी (५३) वृन्दारक (५४) दृढवर्मा (५५) दृढक्षत्र (५६) सोमकीर्त्ति (५७) अनूदर (५८) दृढसन्ध (५९) जरासन्ध (६०) सत्यसन्ध (६१) सदःसुवाक् (६२) उग्रश्रवा (६३) उग्रसेन (६४) सेनानी (६५) दुष्पराजय ॥

अपराजितः कुण्डशायी विशालाक्षो दुराधरः ।
दृढहस्तः सुहस्तश्च वातवेगसुवर्च्चसौ ॥ १३ ॥
आदित्यकेतुर्वह्वाशीर्नागदत्तोग्रयाय्यपि ।
कवची क्रशनः कुण्डो कुण्डधारो धनुर्धरः ॥१४॥

अर्थ–(६६) अपराजित (६७) कुण्डशायी (६८) विशालाक्ष (६९) दुराधर (७०) दृढहस्त (७१) सुहस्त (७२) वातवेग (७३) सुवर्चा (७४) आदित्यकेतु (७५) नागदत्त (७६) अग्रयायी (७७) कवची (७८) क्रशन (७९) कुण्ड (८०) कुण्डधार (८१) धनुर्धर ॥

उग्रभीमरथौ वीरौ वीरबाहुरलोलुपः ।
अभयो रौद्रकर्मा च तथा दृढरथाश्रयः ॥ १५ ॥
अनाधृष्यः कुण्डभेदी विरावी चित्रकुण्डलः ।
प्रमथश्च प्रमाथी च दीर्घरोमश्च वीर्यवान् ॥ १६ ॥

अर्थ-(८२) उग्र (८३) भीमरथ (८४) वीरबाहु (८५) अलोलुप (८६) अभय (८७) रौद्रकर्मा (८८) अनाधृष्य (८९) कुण्डभेदी (९०) विरावी (९१) चित्रकुण्डल (९२) प्रमथ (९३) प्रमाथी (९४) दीर्घरोम ॥

दीर्घबाहुर्महाबाहुर्व्यूढोरुः कनकध्वजः ।
कुण्डाशी विरजाश्चैव दुःशला च शताधिका ॥१७॥
इति पुत्रशतं राजन् कन्या चैव शताधिका ।
नामधेयानुपूर्व्येण विद्धि जन्मक्रमं नृप ॥१८॥

अर्थ-(९५) दीर्घबाहु (९६) महाबाहु (९७) व्यूढोरु (९८) कनकध्वज (९९) कुण्डाशी (१००) विरजा, यह सौ पुत्र और इनके पीछे एक "दुःशला" कन्या भी उत्पन्न हुई, हे राजन् ! यह सौ धृतराष्ट्र के पुत्र तथा एकसौ एकवीं कन्या थी, और इन नामों के क्रम से ही इनके जन्म का क्रम भी जानना चाहिये ॥

सर्वे त्वतिरथाः शूराः सर्वे युद्धविशारदाः ।
सर्वे वेदविदश्चैव सर्वे सर्वास्त्रकोविदाः ॥ १९ ॥

अर्थ-यह सब पुत्र बड़े सैनिक, वीर, युद्ध करने में प्रवीण, वेद के ज्ञाता और सब प्रकार की शस्त्र-अस्त्रविद्या में निपुण थे ॥

सर्वेषामनुरूपाश्च कृता दारा महीपते ।

धृतराष्ट्रेण समये परीक्ष्य विधिवन्नृप ॥ २० ॥
दुःशलां चापि समये धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
जयद्रथाय प्रददौ विधिना भरतर्षभ ॥ २१ ॥

अर्थ–हे राजन् ! राजा धृतराष्ट्र ने विधिपूर्वक परीक्षा करके ठीक अवसर पर सब पुत्रों का अनुकूल भार्याओं के साथ विवाह किया, हे भरतकुल भूषण ! राजा धृतराष्ट्र ने अपनी कन्या "दुःशला" भी समय पर जयद्रथ को विधिपूर्वक प्रदान की ॥

जनमेजय उवाच

कथितो धार्त्तराष्ट्राणामार्षः सम्भव उत्तमः ।
अमनुष्यो मनुष्याणां भवता ब्रह्मवादिना ॥ २२ ॥
नामधेयानि चाप्येषां कथ्यमानानि भागशः ।
त्वत्तः श्रुतानि मे ब्रह्मन्पाण्डवानां च कीर्त्तय ॥२३॥

अर्थ–जनमेजय बोला कि हे वेद के ज्ञाता वैशम्पायन! आपने धृतराष्ट्र के पुत्रों का जन्मचरित जो ऋषियों के समान उत्तम और उनके मनुष्य होते हुए भी अन्य मनुष्यों से अपूर्व है कथन किया, हे ब्रह्मन् ! मैंने आपसे कहे हुए इनके नाम भी पृथक् २ सुने, अब कृपाकरके पाण्डु के पुत्र पाण्डवों के नाम सुनावें ॥

नामानि चक्रिरे तेषां शतशृङ्गनिवासिनः ।
भक्त्या च कर्मणा चैव तथाशीर्भिर्विशांपते ॥२४॥
ज्येष्ठं युधिष्ठिरेत्येवं भीमसेनेति मध्यमम् ।
अर्जुनेति तृतीयं च कुन्तीपुत्रानकल्पयन् ॥२५॥

अर्थ–हे राजन ! शतशृङ्ग पर्वत के रहने वाले ऋषियों ने भक्ति,

संस्कारकर्म तथा शुभ कामनाओं के साथ उन "पाण्डवों" के यह नाम रक्खे, कुन्ती के तीनो पुत्रों में सब से बड़े का नाम "युधिष्ठिर" बीच के पुत्र का नाम "भीमसेन" और छोटे पुत्र का नाम "अर्जुन" धरा ॥

पूर्वजं नकुलेत्येवं सहदेवेति चापरम् ।
माद्रीपुत्रावकथयंस्ते विप्राः प्रीतमानसाः ॥२६॥
अनुसंवत्सरं जाता अपि ते कुरुसत्तमा ।
पाण्डुपुत्रा व्यराजन्त पंच संवत्सरा इव ॥ २७ ॥

अर्थ—प्रसन्नचित्त हुए २ ब्राह्मणों ने माद्री के दोनो पुत्रों में से बड़े का नाम "नकुल" और छोटे का नाम "सहदेव" रखा, एक २ साल के पश्चात् जन्मे हुए भी वह कुरुवंश में उत्तम पाण्डु के पुत्र पांचवर्ष के समान शोभायमान प्रतीत होते थे ॥

पाण्डुर्दृष्ट्वा सुतांस्तांस्तु देवरूपान्महौजसः ।
मुदं परमिकां लेभे ननन्द च नराधिपः ॥ २८ ॥
ऋषीणामपि सर्वेषां शतशृंगनिवासिनाम् ।
प्रियां बभूवुस्तास्तां च तथैव मुनियोषिताम् ॥२९॥

अर्थ—राजा पाण्डु अपने पुत्रों को देवताओं के समान प्रभावशाली देखकर परम आनन्दित और समृद्ध होगया, वह पाण्डव शतशृङ्ग के रहने वाले सब ऋषियों तथा ऋषिपत्नियों के परम प्यारे बन गये ॥

सम्भूताः कीर्त्तिमन्तश्च कुरुवंशविवर्द्धनाः ।
शुभलक्षणसंपन्नाः सोमवत्प्रियदर्शनाः ॥ ३० ॥
सिंह दर्पा महेष्वासाः सिंहविक्रान्तगामिनः ।

सिंह ग्रीवा मनुस्येन्द्र ववृधुर्देवविक्रमाः ॥३१॥

अर्थ—हे राजन् ! इस प्रकार पाण्डु के पुत्र महाबली, कीर्त्तिमान् कुरुवंश के बढ़ाने वाले, शुभलक्षणों से युक्त, चन्द्रमा के समान सुन्दर रूप वाले, सिंह समान पराक्रमी, बड़े बाण चलाने वाले, सिंह के समान गर्दन वाले और देवताओं के समान तेजस्वी क्रम २ से बढ़ने लगे॥

विवर्द्धमानास्ते तत्र पुण्ये हैमवते गिरौ ।
विस्मयं जनयामासुर्महर्षीणां समेयुषाम् ॥ ३२ ॥
ते च पंच शतं चैव कुरुवंशविवर्द्धनाः ।
सर्वे ववृधुरल्पेन कालेनाप्स्विव नीरजाः ॥ ३३ ॥

अर्थ—वह उस पवित्र हिमालय पहाड़ पर क्रमशः बड़े होते गये और जो ऋषि लोग वहां आते रहे उन सबको अपने गुणों से विस्मित करते रहे, वह पांच पाण्डु के और सौ धृतराष्ट्र के अर्थात् एकसौ पांच कुरुवंश के बढ़ाने वाले पुत्र बहुत थोड़े समय में बड़े २ होगये, जैसे जल में कमल शीघ्र बढ़जाता है ॥

इति एकादशोऽध्यायः समाप्तः

अथ द्वादशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

सुपुष्पितवने काले कदाचिन्मधु माधवे ।
भूत सम्मोहने राजा सभार्यो व्यचरद्वनम् ॥ १ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! एक समय वसन्त ऋतु के वैशाख मास में सब प्राणियों को मोहित करने वाले सुन्दर फूले हुए

वन में राजा पाण्डु अपनी भार्याओं सहित भ्रमण कर रहा था ॥

पलाशैस्तिलकैश्चूतैश्चम्पकैः पारिभद्रकैः ।
कर्णिकारैरशोकैश्च केशरैरतिमुक्तकैः ॥ २ ॥
तथा कुरबकैश्चैव मत्तभ्रमरनादितैः ।
वृतैर्मञ्जरितैश्चैव पारिजातवनैः शुभैः ॥ ३ ॥

अर्थ—पलाश, तिलक=तिल वृक्ष, आम, चमेली, पारिभद्रक=देवदारु, कनेर, अशोक, केसर, अतिमुक्तक=मोतिया और कुरुवक इत्यादि पुष्प वृक्षों से वह वन सुशोभित था जिन पर मत्त हुए २ भौंरे गुंजार रहे थे और जिनसे पारिजात वृक्षों के रमणीय मञ्जरी युक्त वन घिरे हुए थे॥

कलकण्ठकलोद्घुष्टं षट्पदैः प्रतिकूजितम् ।
अन्यैश्च बहुभिर्वृक्षैः फलपुष्प समृद्धिभिः ॥ ४ ॥
जलस्थानैश्च विविधैः पद्मिनीभिश्च शोभितम् ।
पाण्डोर्वनं तत् संप्रेक्ष्य प्रजज्ञे हृदि मन्मथः ॥ ५ ॥

अर्थ—वह वन कोयल और भौरों की मधुर ध्वनि से गुंजायमान तथा अन्य अनेक प्रकार के फलपुष्पसंपन्न जल में होने वाले वृक्षों और कमलिनियों से सुशोभित था, उस वन को देखकर राजा पाण्डु के हृदय में कामोद्दीपन हो आया ॥

प्रहृष्टमनसं तत्र विचरन्तं यथामरम् ।
तं माद्र्यनुजगामैका वसनं बिभातीशुभम् ॥ ६ ॥
समीक्षमाणः स तु तां वयस्यां तनुवाससम् ।
तस्य कामः प्रववृधे गहनेऽग्निरिवोद्गतः ॥७॥

अर्थ—तब मन में आनन्दित हुए २ तथा अमर=कभी न मरने वाले के समान विचरते हुए राजा पाण्डु के साथ उस समय सुन्दर वस्त्र धारण किये हुए अकेली माद्री जारही थी, उस सुन्दर वस्त्र वाली तरुणी माद्री को देखते ही उसका काम ऐसा बढ़गया कि जैसे वन में लगी हुई अग्नि तुरन्त ही सर्वत्र फैल जाती है ॥

रहस्येकां तु तां दृष्ट्वा राजा राजीव लोचनाम् ।
शशाक न नियन्तुं तं कामं कामवशीकृतः ॥८॥
तत एनं बलाद्राजा निजग्राह रहोगताम् ।
वार्यमाणस्तया देव्या विस्फुरन्त्या यथाबलम् ॥९॥

अर्थ—उस कमल तुल्य नेत्रों वाली सुन्दरी को एकान्त में देखकर काम के वशीभूत हुआ २ राजा अपने काम को न रोक सका, तब उस कांपती हुई देवी माद्री से बलपूर्वक हटाये जाने पर भी राजा पाण्डु ने एकान्त में बलपूर्वक उसको पकड़ लिया ॥

माद्रीं मैथुनधर्मेण सोऽन्वगच्छद्बलादिव ।
जीवितान्ताय कौरव्य मन्मथस्य वशंगतः ॥१०॥
तस्यकामात्मनो बुद्धिः साक्षात्कालेन मोहिता ।
सं प्रमथ्येन्द्रियग्रामं प्रनष्टा सह चेतसा ॥ ११ ॥

अर्थ—हे कुरुवंशी राजन् ! वह कामवश हुआ २ मानो अपनी मृत्यु के लिये बलपूर्वक माद्री से संभोग करने लगा, उस कामवश हुए २ की बुद्धि साक्षात् काल ने आकर बिगाड़दी और वह इन्द्रियों के समूह को बिध्वंस करके अन्तःकरण के साथ लुप्त होगई ॥

स तया सह संगम्य भार्यया कुरुनन्दनः ।

पाण्डुः परमधर्मात्मा युयुजे कालधर्मणा ॥१२॥
ततो माद्री समालिंग्य राजानं गतचेतसम् ।
मुमोच दुःखजं शब्दं पुनः पुनरतीव हि ॥१३॥

अर्थ—वह कुरुवंश को आनन्दित करनेवाला परमधर्मात्मा पाण्डु अपनी भार्या से समागम करके अन्तकाल को प्राप्त होगया, तब माद्री मृतक राजा को आलिङ्गन करके वार २ दुःख से रोने लगी॥

सह पुत्रैस्ततः कुन्ती माद्री पुत्रौ च पाण्डवौ ।
आजग्मुः सहितास्तत्र यत्र राजा तथा गतः ॥१४॥
ततो माद्र्य ब्रवीद्राजन्नार्त्ता कुन्तीमिदं वचः ।
एकैव त्वामिहागच्छ तिष्ठन्त्वत्रैव दारकाः ॥१५॥

अर्थ—इसके पश्चात् कुन्ती अपने और माद्री के पुत्रों समेत वहां आई जहां राजा की मृत्यु हुई थी, हे राजन्! तब घबराई हुई माद्री ने कुन्ती से कहा कि बालक वहीं खड़े रहें, तुम अकेली यहां आओ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्यास्तत्रैवाधाय दारकान् ।
हताहमिति विक्रुश्य सहसैवाजगाम सा ॥१६॥
दृष्ट्वा पाण्डुं च माद्रीं च शयानौ धरणी तले ।
कुन्ती शोकपरीतांगी विललाप सुदुःखिता ॥१७॥

अर्थ—माद्री का वह वचन सुन और बालकों को वहीं ठहरा कर "मैं मर गई" ऐसे चिल्लाती हुई कुन्ती तत्काल वहां जा पहुंची और पाण्डु तथा माद्री को पृथ्वी पर लेटे हुए देखकर शोकग्रस्त हुई २ कुन्ती दुःख से विलाप करने लगी ॥

ननु नाम त्वया माद्रि रक्षितव्यो नराधिपः ।
सा कथं लोभितवती विजने त्वं नराधिपम् ॥१८॥
धन्या त्वमसि बाह्लीकि मत्तो भाग्यतरा तथा ।
दृष्टवत्यसि यद् वक्त्रं प्रहृष्टस्य महीपतेः ॥१९॥

अर्थ—हे माद्री! तुझे उचित था कि राजा को ऐसे अवसर पर उक्त तृष्णा से बचाती, तैने एकान्त में राजा को कैसे लुभा लिया. हे माद्री! तुझे धन्य है, तू मुझसे अधिक भाग्यवती है जो तैने हर्ष युक्त राजा का मुख अन्तकाल में देखा ॥

विलपन्त्या मया देवी वार्यमाणेन चासकृत् ।
आत्मा न वारितोऽनेन सत्यं दिष्टं चिकीर्षुणा ॥२०॥

अर्थ—हे देवी! मैंने रोते हुए राजा को अनेक वार इस कर्म से हटाया, परन्तु वह मानो अपने भाग्य को सच्चा कर दिखलाने के लिये अपने आपको न रोकसके ॥

कुन्ति उवाच

अहं ज्येष्ठा धर्मपत्नी ज्येष्ठं धर्मफलं मम ।
अवश्यंभाविनो भावान्मा मां माद्रि निवर्त्तय ॥२१॥

अर्थ—हे माद्री! मैं राजा की बड़ी धर्मपत्नी हूं और धर्म का फल भी मेरा बड़ा है, इसलिये इस अवश्य होने वाली अर्थात् पति के साथ जाने वाली बात से मुझे मत हटा ॥

माद्री उवाच

अहमेवानुयास्यामि भर्त्तारमपलायिनम् ।
मां चाभिगम्य क्षीणोऽयं कामाद्भरतसत्तमः ॥२२॥

न चाप्यहं वर्त्तयन्ती निर्विशेषं सुतेषु ते ।
तस्मान्मे सुतयोः कुन्ति वर्त्तितव्यं स्वपुत्रवत् ॥२३॥

अर्थ—माद्री बोली कि हे कुन्ती ! संग्राम से न भागने वाले अपने स्वामी के साथ मैं ही जाउंगी, क्योंकि यह भरतकुल भूषण मुझसे समागम करके ही काम से क्षीण=नष्ट हुए हैं, हे कुन्ति ! मैं तुम्हारे पुत्रों को अपने पुत्रों से अधिक मानती रही हूं, इसलिये तुम भी मेरे दोनों पुत्रों के साथ अपने पुत्रों जैसा वर्ताव रखना ॥

राज्ञः शरीरेण सह ममापीदं कलेवरम् ।
दग्धव्यं सुप्रतिच्छन्नमेतदार्ये प्रियं कुरु ॥२४॥
दारकेस्वप्रमत्ता च भवेथाश्च हिता मम ।
अतोऽन्यं न प्रपश्यामि सन्देष्टव्यं हि किंचन ॥२५॥

अर्थ—हे आर्ये ! इतना मेरा प्रिय करना कि मेरा भी शरीर सुरक्षित रूप से राजा के शरीर के साथ जला देना, मेरी हितकारिणी रहकर इन सब बालकों की रक्षा में सावधान रहना, इससे अतिरिक्त मैं और कोई संदेश कहना नहीं चाहती ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा तं चिताग्निस्थं धर्मपत्नी नरर्षभम् ।
मद्रराजसुता तूर्णमन्वारोहद्यशस्विनी ॥२६॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! वह कीर्तिशाली धर्मपत्नी मद्रनरेश की पुत्री माद्री ऐसा कहकर और उस सिंह पुरुष पाण्डु के शरीर को चिता की अग्नि पर रखकर आप भी शीघ्र चढ़ गई ॥

वैशम्पायन उवाच

पाण्डोरुपरमं दृष्ट्वा देवकल्पा महर्षयः ।

ततो मन्त्रविदः सर्वे मन्त्रयांचक्रिरे मिथः ॥२७॥
हित्वा राज्यं च राष्ट्रं च स महात्मा महायशाः ।
अस्मिन् स्थाने तपस्तपत्वा तापसान् शरणं गतः॥२८॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! तब देवताओं के समान विचार में निपुण महर्षि लोग पाण्डु का स्वर्गवास देखकर आपस में इस प्रकार सलाह करने लगे कि वह महात्मा महाप्रतापी पाण्डु अपने राज्य और देश को छोड़कर इस स्थान में तप करता हुआ तपस्वियों की शरण में आया था ॥

स जातमात्रान् पुत्रांश्च दारांश्च भवतामिह ।
प्रदायोपनिधिं राजा पाण्डुः स्वर्गमितो गतः ॥२९॥
तस्येमानात्मजान्देहं भार्यां च सुमहात्मनः ।
स्वराष्ट्रं गृह्य गच्छामो धर्म एष हि नः स्मृतः॥३०॥

अर्थ—वह राजा पाण्डु बाल्यावस्था को प्राप्त पुत्रों और धर्मपत्नी को आपके पास धरोहर के रूप में रखकर यहां से स्वर्ग को प्राप्त हुआ है, सो हमारा धर्म है कि हम उस महात्मा के इन पुत्रों शरीर=अस्थियों और उसकी भार्या को उसके अपने देश में ले चलें॥

वैशम्पायन उवाच

ते परस्परमामन्त्र्य देवकल्पा महर्षयः ।
पाण्डोः पुत्रान् पुरस्कृत्य नगरं नागसाह्वयम् ॥३१॥
उदारमनसः सिद्धागमने चक्रिरे मनः ।
भीष्माय पाण्डवान् दातुं धृतराष्ट्राय चैव हि ॥३२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! वह देवताओं के समान महर्षि उदार हृदय वाले सिद्ध पुरुष आपस में सलाह करके कुन्ती सहित पाण्डु के पुत्रों को भीष्म और धृतराष्ट्र की सेवा में पहुंचाने के निमित्त उन पाचो पाण्डवों को आगे करके "हस्तिनापुर" नगर को जाने के लिये तैयार होगये ॥

तस्मिन्नेव क्षणे सर्वे तानादाय प्रतस्थिरे ।
पाण्डोर्दारांश्च पुत्रांश्च शरीरे ते च तापसाः ॥३३॥

अर्थ—वह सब तपस्वी उसी क्षण में पाण्डु की पत्नी कुन्ती, पुत्रों और दोनों शरीरों की अस्थियों को साथ लेकर चल दिये ॥

सुखिनी सा पुरा भूत्वा सततं पुत्रवत्सला ।
प्रपन्ना दीर्घमध्वानं संक्षिप्तं तदमन्यत ॥३४॥
सा त्वदीर्घेण कालेन संप्राप्ता कुरुजांगलम् ।
वर्द्धमानपुरद्धारमाससाद यशस्विनी ॥३५॥

अर्थ—जो पहिले सदा सुख भोगती रही, उस शरणागत कुन्ती ने अब पुत्रों के मोह में आकर उस बड़े मार्ग को थोड़ा माना, वह यशस्विनी थोड़े समय में ही कुरजाङ्गल देश में आगई और पश्चात् वर्द्धमान नगर के द्वार पर आ पहुंची ॥

द्वारिणं तापसा ऊचू राजानं च प्रकाशय ।
ते तु गत्वा क्षणेनैव सभायां विनिवेदिताः ॥३७॥
मुहूर्त्तोदित आदित्ये सर्वे बालपुरस्कृताः ।
सदारास्तापसान्द्रष्टुं निर्ययुः पुरवासिनः ॥३८॥

अर्थ—तदनन्तर तपस्वियों ने द्वारपाल से कहा कि तुम राजा को

हमारे आने की सूचना दो, तब द्वारपाल ने तत्काल राजसभा में पहुंचकर उनका समाचार कह सुनाया, सूर्योदय से एक घड़ी पश्चात् पुरवासी अपने बालकों को आगे करके स्त्रियों समेत तपस्वियों के दर्शनार्थ नगर से निकले, और :-

तथा भीष्मः शान्तनवः सोमदत्तोऽथ वाह्लिकः ।
प्रज्ञाचक्षुश्च राजर्षिः क्षत्ता च विदुरः स्वयम् ॥३९॥
सा च सत्यवती देवी कौशल्या च यशस्विनी ।
राजदारैः परिवृता गान्धारी चापि निर्ययौ ॥४०॥

अर्थ-शन्तनुपुत्र भीष्म, बह्लिकपुत्र सोमदत्त, प्रज्ञाचक्षु राजऋषि धृतराष्ट्र, दासी पुत्र विदुर, देवी सत्यवती, यशस्विनी अम्बिका तथा अम्बालिका और राजमहिलाओं से घिरी हुई गान्धारी भी नगर से बाहर चलदी, और :-

धृतराष्ट्रस्य दायादा दुर्योधन पुरोगमाः ।
भूषिता भूषणैश्चित्रैः शतसंख्या विनिर्ययुः ॥४१॥

अर्थ-धृतराष्ट्र के दायभागी दुर्योधन आदि सौ पुत्र भी विचित्र भूषणों से भूषित हुए२ वहां गये ॥

तान्महर्षिगणान्दृष्ट्वा शिरोभिरभिवाद्य च ।
उपोपविविशुः सर्वे कौरव्याः सपुरोहिताः ॥४२॥
तथैव शिरसा भूमावभिवाद्य प्रणम्य च ।
उपोपविविशुः सर्वे पौरजानपदा अपि ॥४३॥

अर्थ-कौरव लोग पुरोहित सहित उन महर्षियों का दर्शन कर तथा शिर से प्रणाम करके क्रमपूर्वक पास २ बैठ गये, उसी प्रकार

नगर और प्रान्त के निवासी लोग भी शिर से अभिवादन तथा प्रणाम करके क्रमपूर्वक बैठ गये ॥

तेषामथो वृद्धतमः प्रत्युत्थाय जटाजिनी ।
ऋषीणां मतमाज्ञाय महर्षिरिदमब्रवीत् ॥४३॥

अर्थ—इसके पश्चात् उन ऋषियों में वृद्ध तथा जटा और मृगचर्मधारी महर्षि उठकर ऋषियों के मतानुसार सब से इस प्रकार बोला कि:—

यः स कौरव्य दायादः पाण्डुर्नाम नराधिपः ।
कामभोगान् परित्यज्य शतशृंग मितोगतः ॥४४॥
चरता धर्मनित्येन वनवासं यशस्विना ।
नष्टः पैतामहो वंशः पाण्डुना पुनरुद्धृतः ॥४५॥

अर्थ—वह कुरुवंश का दायभागी पाण्डु नामी राजा विषय भोगों को त्यागकर यहां से शतशृङ्ग पर्वत पर चला गया था, उस प्रतापी ने सदा धर्माचरण पूर्वक वनवास करते हुए अपने पितामह का नष्ट हुआ २ वंश फिर से चलाया ॥

पुत्राणां जन्म वृद्धिं च वैदिकाध्ययनानि च ।
पश्यन्तः सततं पाण्डोः परां प्रीतिमवाप्स्यथ ॥४६॥
वर्त्तमानः सतां वृत्ते पुत्रलाभमवाप्य च ।
पितृलोकं गतः पाण्डुरितः सप्तदशेऽहनि ॥४७॥

अर्थ—पाण्डु के पुत्रों का जन्म, वृद्धि तथा वेदों का अभ्यास देखकर तुम लोग सदा परमानन्द को प्राप्त होगे, सत्पुरुषों के आचरण में रहकर तथा पुत्रों को पाकर आजसे सत्रहवें दिन पहले पाण्डु मृत्यु को प्राप्त होगया ॥

तं चितागतमाज्ञाय वैश्वानरमुखे हुतम् ।
प्रविष्टा पावकं माद्री हित्वा जीवितमात्मनः ॥४८॥
इमे तयोः शरीरे द्वे पुत्राश्चेमे तयोर्वराः ।
क्रियाभिरनुगृह्यन्तां सहमात्रा परन्तपाः ॥४९॥

अर्थ–राजा पाण्डु को चिता पर अग्नि के मुख में प्रविष्ट हुआ जानकर माद्री भी अपने जीवन को न रखने के लिये अग्नि में प्रवेश कर गई, उन दोनों के ये दोनों शरीर=अस्थियां और यह उत्तम पांचो पुत्र हैं, सो आप लोग माता कुन्ती समेत इन शत्रुतापक पुत्रों पर संस्कारों की क्रियाओं से अनुग्रह करें, अर्थात् इनके संस्कार करायें ॥

एवमुक्त्वा कुरून् सर्वान् कुरूणामेव पश्यताम् ।
क्षणेनान्तर्हिताः सर्वे तापसा गुह्यकैः सह ॥५०॥

अर्थ–इस प्रकार सब कौरवों को सूचना देकर वह तपस्वी गुह्यक लोगों सहित कौरवों के देखते २ शीघ्र ही बन में अदृश्य होगये अर्थात् अपने स्थान को चले गये ॥

इति द्वादशोऽध्यायः समाप्तः

अथ त्रयोदशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

अथाप्तवन्तो वेदोक्तान् संस्कारान् पाण्डवास्तदा ।
संव्यवर्द्धन्त भोगांस्ते भुञ्जानाः पितृवेश्मनि ॥१॥

धार्त्तराष्ट्रैश्च सहिताः क्रीडन्तो मुदिताः सुखम् ।
बालक्रीडासु सर्वासु विशिष्टास्तेजसाभवन् ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! इसके पश्चात् पाण्डवों के वेदोक्त संस्कार किये गये और वह पिता के घर में अनेक भोग भोगते हुए बढ़ने लगे, धृतराष्ट्र के पुत्रों के साथ आनन्दपूर्वक क्रीडा करते हुए सब प्रकार की बालक्रीडाओं में सब से बढ़कर तेजस्वी होगये ॥

जवे लक्ष्याभिहरणे भोज्ये पांशुविकर्षणे ।
धार्त्तराष्ट्रान्भीमसेनः सर्वान् स परिमर्द्दति ॥ ३ ॥
हर्षात्प्रक्रीडमानांस्तान् गृह्य राजन्निलीयते ।
शिरःसु विनिगृह्यैतान् योधयामास पाण्डवः ॥४॥

अर्थ—भीमसेन दौड़ में, निशाना लगाने में, भोजन में और धूल उड़ाने में सब पुत्रों को हरा देता था, हे राजन् ! भीमसेन उन हर्षपूर्वक खेलते हुओं को उठाकर भाग जाता और कभी २ उनको पकड़कर उनके आपस में सिर से सिर भिड़ा देता था ॥

शतमेकोत्तरं तेषां कुमाराणां महौजसाम् ।
एक एव निगृह्णाति नातिकृच्छ्राद्वृकोदरः ॥५॥
कचेषु च निगृह्यैनान् विनिहत्यबलाद्बली ।
चकर्ष क्रोशतो भूमौ घृष्टजानुशिरोंसकान् ॥६॥

अर्थ—भीमसेन अकेला ही उन महाबली धृतराष्ट्र के सब बालकों को बिना कष्ट हरा देता, वह बली इनके बाल पकड़कर और बलपूर्वक मारपीट कर पृथ्वी पर घसीटता था जिसकारण वह घुटने, सिर और कन्धों की रगड़ से चिल्लाया करते थे ॥

दशबालान् जले क्रीडन् भुजाभ्यां परिगृह्य सः ।
आस्तेस्मसलिले मग्नो मृतकल्पान् विमुञ्चति ॥७॥
फलानिवृक्षमारुह्य विचिन्वन्ति च ते यदा ।
तदा पादप्रहारेण भीमः कम्पयते द्रुमान् ॥८॥

अर्थ–भीमसेन जलक्रीडा के समय उनमें से दस बालकों को भुजाओं मे पकड़कर पानी में डुबाये रखता और जब वह मृतक समान होजाते तब छोड़ता था, और जब वह बालक वृक्ष पर चढ़कर फल तोड़ते तो भीमसेन अपनी लात मारकर वृक्ष को हिला देता था ॥

प्रहारवेगाभिहता द्रुमा व्याघूर्णितास्ततः ।
सफलाः प्रपतन्ति स्म द्रुतंस्तस्ताः कुमारकाः ॥९॥
न ते नियुद्धे न जवे न योग्यासु कदाचन ।
कुमारा उत्तरं चक्रुः स्पर्द्धमाना वृकोदरम् ॥१०॥

अर्थ–उसकी लात की चोट के वेग से वृक्ष फलों सहित तत्काल चक्कर खाकर गिर जाते और साथ ही वह बालक भी गिर पड़ते थे, इस प्रकार वह बालक बाहुयुद्ध, दौड़ अथवा किसी अन्य योग्यता में भीमसेन के साथ स्पर्द्धा करते हुए उत्तर नहीं देसक्ते थे ॥

एवं संधार्त्तराष्ट्रांश्च स्पर्द्धमानो वृकोदरः ।
अप्रियेऽतिष्ठदत्यन्तं बाल्यान्न द्रोहचेतसा ॥११॥
ततो बलमतिख्यातं धार्त्तराष्ट्रः प्रतापवान् ।
भीमसेनस्य तज्ज्ञात्वा दुष्टभावमदर्शयत् ॥१२॥

अर्थ–इस प्रकार वह भीमसेन लड़कपन के अज्ञान से धृतराष्ट्र के पुत्रों की स्पर्द्धा=मुकाबला करता हुआ उनके हृदय में शत्रुरूप

मे बैठ गया, परन्तु उसने द्रोहबुद्धि से ऐसा नहीं किया था, तब प्रतापी दुर्योधन भीमसेन का बल बड़ा विख्यात देखकर उसके साथ दुष्टता का बर्त्ताव आरम्भ करने लगा ॥

तस्य धर्मादपेतस्य पापानि परिपश्यतः ।
मोहादैश्वर्य्यलोभाच्च पापामतिरजायत ॥ १३ ॥
अयं बलवतां श्रेष्ठः कुन्तीपुत्रो वृकोदरः ।
मध्यमः पाण्डुपुत्राणां निकृत्या संनिगृह्यताम् ॥१४॥

अर्थ–अज्ञान और राज्य के लोभ से धर्मच्युत हुए २ तथा पाप कर्मों का संकल्प किये हुए दुर्योधन की बुद्धि पापपूर्ण होगई, वह सोचने लगा कि पांचो पाण्डवों में यह कुन्ती का बिचला पुत्र सब बलवानों में बढ़ा हुआ है सो इसको निरादर के साथ मरवा देना ही उचित है ॥

प्राणवान् विक्रमी चैव शौर्येण महतान्वितः ।
स्पर्द्धते चापि सहितानस्मानेको वृकोदरः ॥१५॥
तं तु सुप्तं पुरोधाने गंगायां प्रक्षिपामहे ।
अथ तस्मादवरजं ज्येष्ठं चैव युधिष्ठिरम् ।
प्रसह्य बन्धने बध्वा प्रशासिष्ये वसुन्धराम् ॥१६॥

अर्थ–यह भीमसेन बड़ा बलवान्, पराक्रमी तथा शूरवीर होने से अकेला ही हम सब इकट्ठे हुओं की स्पर्द्धा करता है, हम इस सोते हुए को नगर के बाग में जाकर गङ्गा में गिरादें और इससे छोटे अर्जुन तथा बड़े युधिष्ठिर को भी बलपूर्वक कैद करके पृथ्वी पर राज्य करें ॥

एवं स निश्चयं पापः कृत्वा दुर्योधनस्तदा ।
नित्यमेवान्तरप्रेक्षी भीमस्यासीन्महात्मनः ॥१७॥

अर्थ—तब वह पापी दुर्योधन ऐसा निश्चय कर महात्मा भीमसेन को मारने के लिये नित्य अवसर देखता रहा ॥

ततो जलविहारार्थं कारयामास भारत ।
चैलकम्बलवेश्मानि विचित्राणि महान्ति च ॥१८॥
सर्वकामैः सुपूर्णानि पताकोच्छ्रायवन्ति च ।
तत्र सञ्जनयामास नानागाराण्यनेकशः ॥१९॥

अर्थ—हे भरतवंशी राजन् ! तब दुर्योधन ने जलक्रीडा के लिये नानाप्रकार के बड़े २ वस्त्रों और कम्बलो के मकान=तम्बू तथा छोलदारियें तैयार कराकर उनमें अनेक घर बनवाये जिनमें सब आवश्यक सामग्री रखकर उनके ऊपर बड़ी २ ध्वजायें लगाईं ॥

उदकक्रीडनं नाम कारयामास भारत ।
प्रमाणकोट्यां तं देशं स्थलं किंचिदुपेत्य ह ॥२०॥
उपाकृतं नरैस्तत्र कुशलैः सूदकर्मणि ।
भक्ष्यं भोज्यं च लेह्यं च पेयं चोष्यमथापि च ।
न्यवेदयंस्तत्पुरुषा धार्त्तराष्ट्राय वै तदा ॥ २१ ॥

अर्थ—हे राजन् ! उसने प्रमाणकोटी में जल के समीप कुछ स्थल से मिला हुआ वह "उदकक्रीडन" नामक स्थान बनवाया और वहां पर चतुर रसोइयों ने भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, पेय और चोष्य सब प्रकार के भोजन तैयार किये, इसके पश्चात् उन लोगों ने दुर्योधन को यह समाचार दिया ॥

ततो दुर्योधनस्तत्र पाण्डवानाह दुर्मतिः ।
गंगा चैवानुयास्याम उद्यानवनशोभिताम् ॥२२॥
सहिता भ्रातरः सर्वे जलक्रीडामवाप्नुयुः ।
एवमस्त्विति तं चापि प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ॥२३॥

अर्थ—तत्पश्चात् दुष्ट दुर्योधन ने पाण्डवों से कहा कि हम सब भाई मिलकर बाग से शोभायमान गङ्गा नदी पर चलकर वहां जलक्रीडा करेंगे, यह बात युधिष्ठिर ने भी स्वीकार कर उत्तर दिया कि "बहुत अच्छा" ॥

तैरथैर्नगराकारैर्देशजैश्च गजोत्तमैः ।
निर्ययुर्नगराच्छूराः कौरवाः पाण्डवैः सह ॥ २४ ॥
उद्यानवनमासाद्य विसृज्य च महावनम् ।
विशन्ति स्म तदा वीराः सिंहा इव गिरेर्गुहाम् ॥२५॥

अर्थ—तब वह नगर जैसी आकृति वाले रथों और उत्तम देशों के सुन्दर हाथियों पर चढ़कर वीर कौरव लोग पाण्डवों के साथ नगर से बाहर निकले, बाग के समीप होते हुए तथा बड़े वन को लांघकर वह वीर पुरुष उस स्थान में इस प्रकार प्रविष्ट हुए जैसे सिंह गुफा में प्रवेश करता है ॥

उद्यानमभिपश्यन्तो भ्रातरः सर्व एव ते ।
उपस्थानगृहैः शुभ्रैर्वलभीभिश्च शोभितम् ॥ २६ ॥
गवाक्षकैस्तथा जालैर्यन्त्रैः साञ्चारिकैरपि ।
संमार्जितं सौधकारैश्चित्रकारैश्च चित्रितम् ॥ २७ ॥

अर्थ—वह सब भाई बाग को देखते हुए चले, जो बाग

आराम करने के सुन्दर घरों, वलभीयों=सहनों, झरोखों, जालों और आप से आप चलने वाले यन्त्रों से शोभायमान था, लेपन करने वाले पुरुषों से लेपन=सफेदी किया हुआ और चित्रकारों द्वारा चित्रित किया हुआ था ॥

जलं तच्छुशुभे छन्नं फुल्लैर्जलरुहैस्तथा ।
उपच्छन्ना वसुमती तथा पुष्पैर्यथर्त्तुकैः ॥२८॥
तत्र प्रविष्टास्ते सर्वे पाण्डवाः कौरवाश्च ह ।
उपच्छन्नान् बहून् कामांस्ते भुञ्जन्ति ततस्ततः ॥२९॥

अर्थ–वहां का जल फूलों और कमलों से आच्छादित तथा पृथिवी ऋतु २ में होने वाले फूलों से व्याप्त थी, वह सब पाण्डव और कौरव उसमें प्रविष्ट होकर जहां तहां अपने २ आनन्द मनाने लगे॥

अथोद्यानवरे तस्मिंस्तथा क्रीडागताश्च ते ।
परस्परस्य वक्त्रेभ्यो ददुर्भक्ष्यांस्ततस्ततः ॥ ३० ॥
ततो दुर्योधनः पापस्तद्भक्ष्ये कालकूटकम् ।
विषं प्रक्षेपयामास भीमसेन जिघांसया ॥ ३१ ॥

अर्थ–इसके पश्चात् वह सब उस बाग में उक्त प्रकार क्रीडा करते हुए एक दूसरे के मुख में भोजन देने लगे, तब पापी दुर्योधन ने भीमसेन के मारने की इच्छा से उस भोजन में कालकूट=तीव्र विष मिलाकर दिया ॥

स्वयमुत्थाय चैवाग्रं हृदयेन क्षुरोपमः ।
स वाचामृतकल्पश्च भ्रातृवच्च सुहृद्यथा ॥ ३२ ॥
स्वयं प्रक्षिपते भक्ष्यं बहु भीमस्य पापकृत् ।

प्रतीक्षितं स्म भीमेन तं वै दोषमजानता ॥३३॥

अर्थ—वह पापकारी दुर्योधन जो वाणी में अमृत के समान किन्तु हृदय में छुरी के समान था, और मित्र की भांति हुआ २ आप उठकर अपनेहाथसे भीमसेन के मुख में अधिक २ भोजन देने लगा, पर दोष को न जानने वाले भीमसेन ने उसका आदर किया ॥

ततो दुर्योधनस्तत्र हृदयेन हसन्निव ।
कृतकृत्यमिवात्मानं मन्यते पुरुषाधमः ॥३४॥
ततस्ते सहिताः सर्वे जलक्रीडामकुर्वत ।
पाण्डवा धार्त्तराष्ट्राश्च तदा मुदितमानसाः ॥३५॥

अर्थ—तत्पश्चात् नीच पुरुष दुर्योधन अपने हृदय में हंसता हुआ अपने आपको कृतकृत्य मानने लगा, तब वह पाण्डव और धृतराष्ट्र के पुत्र मन में आनन्दित हुए २ एकट्ठे होकर जलक्रीडा करने लगे ॥

क्रीडावसाने ते सर्वे शुचिवस्त्राःस्वलंकृताः ।
दिवसान्ते परिश्रान्ता विहृत्य च कुरूद्वहाः ॥३६॥
विहारा वसथेस्वेव वीरा वासमरोचयन् ।
खिन्नस्तु बलवान् भीमो व्यायामाभ्यधिकं तदा ॥३७॥

अर्थ—क्रीडा के अन्त में सायंकाल के समय उन सब कौरवों ने सुन्दर वस्त्र तथा भूषण धारण कर व्यायाम और भ्रमण करके आरामगृहों में ही ठहरना पसंद किया परंतु बलवान् भीमसेन अधिक परिश्रान्त और व्याकुल होगया ॥

वाहयित्वा कुमारांस्तान् जलक्रीडागतांस्तदा ।

प्रमाणकोट्यां वासार्थी सुखापावास्य तत्स्थलम् ॥३८॥
शीतं वातं समासाद्य श्रान्तो मदविमोहितः ।
विषेण च परीतांगो निश्चेष्टः पाण्डुनन्दनः ॥३९॥

अर्थ–तब जलक्रीडा करने वाले बालकों को तीर पर पहुंचाकर और आप प्रमाणकोटी=गङ्गा के तट पर धर्मशाला में पहुं चकर आराम करने के लिये सो रहा, वह पाण्डुपुत्र भीमसेन थका हुआ तथा मद से बेसुध हुआ २ ठंडी वायु पाकर सारे शरीर में विष से व्याप्त और चेष्टारहित होगया ॥

ततो बद्ध्वा लतापाशैर्भीमं दुर्योधनः स्वयम् ।
मृतकल्पं तदा वीरं स्थलाज्जलमपातयत् ॥४०॥
स निःसंज्ञो जलस्यान्तमथ वै पाण्डवो विशत् ।
आक्रामन्नागभवने तदा नागकुमारकान् ॥४१॥

अर्थ–तब दुर्योधन ने मरे हुए के समान वीर भीमसेन को लताओं की रस्सिओं से स्वयं बांधकर स्थल से उठा जल में गिरा दिया, वह पाण्डव भीमसेन बेसुध हुआ २ पानी के नीचे तक चला गया और उसने सर्पों के स्थान में जाकर उनके बच्चों को अपने शरीर से दबा दिया ॥

ततः समेत्य बहुभिस्तदा नागैर्महाविषैः ।
अदश्यत भृशं भीमो महादंष्ट्रैर्विषोल्बणैः ॥४२॥
ततोऽस्य दश्यमानस्य तद्विषं कालकूटकम् ।
हतं सर्प विषेणैव स्थावरं जंगमेन तु ॥४३॥

अर्थ–इसके पश्चात् बड़े तीव्र विष वाले तथा बड़ी दाढ़ों वाले बहुत से सांपों ने इकट्ठे होकर भीमसेन को बलपूर्वक डस लिया, सांपों के डसे जाने से वह स्थावर कालकूट विष सांपों के जङ्गम विष द्वारा नाश को प्राप्त होगया॥

ततः प्रबुद्धः कौन्तयः सर्वं सञ्छिद्य बन्धनम् ।
पोथयामास तान् सर्वान् केचिद्भीताः प्रदुद्रुवुः ॥४४॥

अर्थ–तब कुन्तीपुत्र भीमसेन होश में आगया और अपने सब बन्धनों को तोड़कर उन सांपों को मारनेलगा जिनमें से कुछ सांप डर के मारे दूर से ही भाग गये ॥

इति त्रयोदशोऽध्यायः समाप्तः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते कौरवाः सर्वे विना भीमं च पण्डवाः ।
वृत्तक्रीडाविहारास्तु प्रतस्थुर्गजसाह्वयम् ॥१॥
रथैर्गजैस्तथा चाश्वैर्यानैश्चान्यैरनेकशः ।
ब्रुवन्तो भीमसेनस्तु यातो ह्यग्रत एव नः ॥ २ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे जनमेजय ! तब वह सब कौरव और विना भीमसेन के चारो पाण्डव जलक्रीडा तथा भ्रमण समाप्त करके अपने २ रथों, हाथियों घोड़ों तथा अनेक प्रकार की अन्य सवारियों पर चढ़कर यह कहते हुए कि भीमसेन हम लोगों से आगे ही चलागया हस्तिनापुर को चलने लगे ॥

ततो दुर्योधनः पापस्तत्रापश्यन् वृकोदरम् ।
भ्रातृभिः सहितो हृष्टो नगरं प्रविवेश ह ॥३॥
युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा ह्यविदन् पापमात्मनि ।
स्वेनानुमानेन परं साधुं समनुपश्यति ॥४॥

अर्थ—तब पापी दुर्योधन वहां भीमसेन को न देखकर प्रसन्न हुआ २ भाइयों समेत नगर में प्रविष्ट हुआ, धर्मात्मा युधिष्ठिर अपने आप में कोई पाप न देखकर अनुमान द्वारा अन्य सब को भी धर्मात्मा ही समझता था ॥

सोऽभ्युपेत्य तदा पार्थो मातरं भ्रातृवत्सलः ।
अभिवाद्याब्रवीत् कुन्तीमम्ब भीम इहागतः ॥५॥
क्व गतो भविता मातर्नेह पश्यामि तं शुभे ।
उद्यानानि वनं चैव विचितानि समन्ततः ॥६॥

अर्थ—तब भाई का स्नेही कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर माता के पास पहुंच और उन्हें अभिवादनकर पूछने लगा कि अम्मा! क्या भीमसेन यहां आगया? हे पूजनीय माता! मैं उसको यहां नहीं देखता न जाने कहां गया, मैंने उसको बाग बगीचों, वनों और अन्य सब स्थानों में ढूंढा है ॥

तदर्थं नच तं वीरं दृष्टवन्तो वृकोदरम् ।
मन्यमानास्ततः सर्वे यातो नः पूर्वमेव सः ॥७॥
आगताः स्म महाभाग व्याकुलेनान्तरात्मना ।
इहागम्य क्व नु गतस्त्वया वा प्रेषितः क्व नु ॥८॥

अर्थ—हे महाभागे ! उसके लिये हमने बहुत खोज की परन्तु उस वीर भीमसेन को न पाकर यह समझते हुए कि वह हम लोगों से पहले ही चलागया, हम चित्त में घबराये हुए यहां आये हैं, सो वह यहां आकर कहीं चलागया ? अथवा उसको तैने कहीं भेजा है ॥

कथयस्व महाबाहुं भीमसेनं यशस्विनि ।
न हि मे शुध्यते भावस्तंवीरं प्रति शोभने ॥९॥

यतः प्रसुप्तं मन्येहं भीमं नेति हतस्तु सः ।
इत्युक्त्वा च ततः कुन्ती धर्मराजेन धीमता ।
हाहेति कृत्वा संभ्रान्ता प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥१०॥

अर्थ—हे यशस्विनि माता ! महाबाहु भीमसेन को शीघ्र बता, क्योंकि मेरी भीतरी कल्पना उस वीर के विषय में शुद्ध नहीं, हे भद्रे ! मेरे विचार में वह कहीं सोया हुआ नहीं किन्तु मारा गया है, इस प्रकार बुद्धिमान युधिष्ठिर ने कुन्ती को समाचार दिया और वह उसी समय हाय २ करके दौड़ी और युधिष्ठिर से बोली कि:—

न पुत्र भीमं पश्यामि न मामभ्येत्यसाविति ।
शीघ्रमन्वेषणे यत्नं कुरु तस्यानुजैः सह ॥११॥
इत्युक्त्वा तनयं ज्येष्ठं हृदयेन विदूयता ।
क्षत्तारमानाय्य तदा कुन्ती वचनमब्रवीत् ॥१२॥

अर्थ—हे पुत्र ! मैंने भीमसेन को नहीं देखा और नाही वह मेरे पास आया, तू सब भाइयों समेत उसकी तत्काल खोजकर, इस

प्रकार कुन्ती संतप्त हुए हृदय से बड़े पुत्र को आज्ञा दे विदुरजी को बुलवाकर बोली कि :-

क्व गतो भगवन् क्षत्तर्भीमसेनो न दृश्यते ।
उद्यानान्निर्गताः सर्वे भ्रातरो भ्रातृभिः सह ।
तत्रैकस्तु महाबाहुर्भीमो नाभ्येति मामिह ॥ १३ ॥

अर्थ-हे भगवन् विदुर ! भीमसेन यहां दिखाई नहीं देता न जाने कहां चलागया, यह सब अपने भाइयों के साथ बाग से निकल आये परन्तु केवल महाबाहु भीमसेन मेरे पास नहीं पहुंचा ॥

न च प्रीणयते चक्षु सदा दुर्योधनस्य सः ।
क्रूरोऽसौ दुर्मतिः क्षुद्रो राज्यलुब्धोऽनपत्रपः ॥१४॥
निहन्यादपि तं वीरं जातमन्युः सुयोधनः ।
तेन मे व्याकुलं चित्तं हृदयं दह्यतीव च ॥१५॥

अर्थ-वह सदा दुर्योधन की आखों में खटकता था और दुर्योधन क्रूर, दुर्बुद्धि, नीच, राज्य का लोभी तथा निर्लज्ज है, क्रोध आने पर वह वीर भीमसेन को मार भी सक्ता है, इसलिये मेरा चित्त व्याकुल और हृदय जल रहा है ॥

विदुर उवाच

मैवं वदस्व कल्याणि शेष संरक्षणं कुरु ।
प्रत्यादिष्टो हि दुष्टात्मा शेषेऽपि प्रहरेत्तव ॥१६॥

अर्थ-विदुरजी बोले कि हे कल्याणी ! ऐसी बात न कहकर शेष रहे पुत्रों की रक्षा कर, यदि दुर्योधन के तिरस्कार की बात कहेगी तो वह दुष्टात्मा तुम्हारे शेष पुत्रों पर भी प्रहार करेगा ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ययौ विद्वान् विदुरः स्वं निवेशनम् ।
कुन्ती चिन्तापरा भूत्वा सहासीना सुतैर्गृहे ॥१७॥
ततोऽष्टमे तु दिवसे प्रत्यबुध्यत पाण्डवः ।
तस्मिंस्तदा रसे जीर्णे सोऽप्रमेय बलो बली ॥१८॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन ! नीतिज्ञ विदुरजी ऐसा कहकर अपने घर गये और कुन्ती चिन्ताग्रस्त हो पुत्रों समेत अपने घर बैठ रही, इसके पश्चात् आठवें दिन अनुपम बलशाली भीमसेन उस विष के पच जाने पर भलेप्रकार सचेत होगया ॥

तत उत्थाय कौन्तेयो भीमसेनो महाबलः ।
आजगाम महाबाहुर्मातुरन्तिकमंजसा ॥१९॥

अर्थ–तब कुन्तीपुत्र महाबाहु भीमसेन वहां से उठकर शीघ्र ही माता कुन्ती के समीप पहुंचा ॥

ततोभिवाद्य जननीं ज्येष्ठं भ्रातरमेव च ।
कनीयसः समाघ्राय शिरस्यरिविमर्द्दनः ॥२०॥
तैश्चापि संपरिष्वक्तः सह मात्रा नरर्षभैः ।
अन्योन्यगतसौहार्द्याद्दिष्ट्यादिष्ट्येति चाब्रुवन् ॥२१॥

अर्थ–तत्पश्चात् शत्रुमर्दक भीमसेन ने माता और बड़े भाई युधिष्ठिर को अभिवादन किया, और छोटे भाइयों का प्यारसे माथा चूमा, माता कुन्ती और उन सब सिंह पुरुषों ने भी भीमसेन को आलिङ्गन किया तथा परस्पर के स्नेह में भरे हुए सौभाग्य, सौभाग्य पुकारने लगे ॥

ततस्तत् सर्वमाचष्ट दुर्योधन विचेष्टितम् ।
भ्रातृणां भीमसेनश्च महाबलपराक्रमः ॥२२॥
ततो युधिष्ठिरो राजा भीममाह वचोऽर्थवत् ।
तूष्णीं भव न ते जल्प्यमिदं कार्यं कथंचन ॥२३॥

अर्थ–तब महाबलवान् पराक्रमी भीमसेन ने भाइयों से दुर्योधन की सब कार्य्यवाही कहदी, पश्चात् राजा युधिष्ठिर ने भीमसेन से यह नीतियुक्त वचन कहा कि तुम चुप रहना अन्य किसी से ऐसी बात कदापि न कहना ॥

इतः प्रभृति कौन्तेया रक्षतान्योन्यमाहृताः ।
एवमुक्त्वा महाबाहुर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥२४॥
भ्रातृभिः सहितः सर्वैरप्रमत्तोऽभवत्तदा ।
धर्मात्मा विदुरस्तेषां पार्थन्तं प्रददौ रतिम् ॥२५॥

अर्थ–हे भाइयो ! आज से तुम लोग आदरपूर्वक एक दूसरे की रक्षा करते रहो, ऐसा कहकर महाबाहु धर्मराज युधिष्ठिर भाइयों समेत तब से सावधान रहने लगा और धर्मात्मा विदुर जी भी उन पाण्डवों को धैर्य देते रहे ॥

ततो दुर्योधनस्तस्य पुनः प्राक्षेपयद्विषम् ।
कालकूटं नवं तीक्ष्णं संभूतं लोमहर्षणम् ॥२६॥
तत्रापि भुक्त्वाजरयदविकारं वृकोदरः ।
विकारं न ह्यजनयत् सुतीक्ष्णमपि तद्विषम् ॥२७॥

अर्थ–तत्पश्चात् दुर्योधन ने भीमसेन के लिये फिर विष भिजवाया, जो कालकूट=कातिल, नया, तीक्ष्ण तथा पूर्णरूप से

रोम कंपाने वाला था, भीमसेन ने उस विष को भी बिना किसी कष्ट के खाकर पचा लिया, उस महातीक्ष्ण विष ने भी कोई बिगाड़ न किया ॥

एवं दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
अनेकैरभ्युपायैस्तान् जिघांसन्तिस्म पाण्डवान्॥२८॥
पाण्डवा अपि तत्सर्वे प्रत्यजानन्नमर्षिताः ।
उद्भावनमकुर्वन्तो विदुरस्य मते स्थिताः॥२९॥

अर्थ—इस प्रकार दुर्योधन, कर्ण और सुबल का पुत्र शकुनि अनेक उपायों द्वारा पाण्डवों के मारने की चेष्टा करते रहे, परन्तु पाण्डव लोग भी विदुर के कहने में रहकर उन बातों को जानते हुए भी प्रकाशित न करके अपनी रक्षा में सावधान रहे ॥

इति चतुर्दशोऽध्यायः समाप्तः

अथ पंचदशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

महर्षेर्गौतमस्यासीच्छरद्वान्नाम गौतमः ।
पुत्रः किल महाराज जातः सह शरैर्विभो ॥१॥
न तस्य वेदाध्ययने तथा बुद्धिरजायत ।
यथास्य बुद्धिरभवद्धनुर्वेदे परन्तप ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! महर्षि गौतम का „शरद्वान्" नामक एक पुत्र था जिसका मानो शरों=बाणों के

साथ ही जन्म हुआ था अर्थात् उसकी जन्म से ही बाणविद्या में रुचि थी और इसीलिये उसका नाम "शरद्वान्" था, हे शत्रुसंतापक राजन् ! उस शरद्वान् की रुचि वेदों के पढ़ने में ऐसी न थी जैसी धनुर्वेद=शस्त्रविद्या में थी ॥

अधिजग्मुर्यथा वेदांस्तपसा ब्रह्मचारिणः ।
तथा स तपसोपेतः सर्वाण्यस्त्राण्यवाप ह ।
तस्याथ मिथुनं जज्ञे गौतमस्य शरद्वतः ॥३॥

अर्थ–जिसप्रकार ब्रह्मचर्य्यपूर्वक ब्रह्मचारी वेदों का अध्ययन करते हैं वैसे ही वह भी ब्रह्मचारी रहकर अध्ययन करता हुआ सब शस्त्र-अस्त्र विद्याओं को प्राप्त होगया, कुछ काल के अनन्तर उस गौतमपुत्र शरद्वान् के घर में मिथुन=जोड़ा=पुत्र तथा कन्या का जन्म हुआ ॥

मृगयां चरतो राज्ञः शान्तनोस्तु यदृच्छया ।
कश्चित्सेनाचरोऽरण्ये मिथुनं तदपश्यत ॥४॥

अर्थ–उस वन में राजा शान्तनु के एक सैनिक पुरुष ने शिकार खेलते हुए अकस्मात् वहां आकर उस जोड़े को देखा ॥

धनुश्च सशरं दृष्ट्वा तथा कृष्णाजिनानि च ।
ज्ञात्वा द्विजस्य चापत्ये धनुर्वेदान्तगस्य ह ।
स राज्ञे दर्शयामास मिथुनं सशरंधनुः ॥५॥

अर्थ–वहां उसने वाण सहित धनुष तथा काले मृगचर्म पड़े हुए देखकर उस जोड़े को किसी शस्त्रविद्या पारगामी ब्राह्मण की सन्तान समझा, और उसने वह जोड़ा तथा बाण सहित धनुष राजा शान्तनु को दिखलाये ॥

स तदादाय मिथुनं राजा च कृपयान्वितः ।
आजगाम गृहानेव मम पुत्राविति ब्रुवन् ॥६॥
ततः संवर्द्धयामास संस्कारैश्चाप्ययोजयत् ।
प्रातीपेयो नरश्रेष्ठो मिथुनं गौतमस्य तत् ॥७॥

अर्थ—वह राजा दयापूर्वक उस जोड़े को लेकर यह कहता हुआ कि यह मेरे पुत्र-कन्या हैं अपने घर आगया, तब वह श्रेष्ठ प्रतीपपुत्र शान्तनु शरद्वान् के उस जोड़े को पालने लगा और उसके संस्कार भी किये ॥

कृपया यन्मया बालाविमौ संवर्द्धिताविति ।
तस्मात्तयोर्नाम चक्रे तदेव स महीपतिः ॥८॥
गोपितौ गौतमस्तत्र तपसा समविन्दत ।
आगत्य तस्मै गोत्रादि सर्वमाख्यातवांस्तदा ॥९॥

उर्थ—उस राजा ने यह समझकर कि मैंने कृपा से इन बालकों को पाला है इसलिये उन दोनों के नाम "कृपा" और "कृपी" रखदिये, शरद्वान् ने तप के प्रभाव से यह जानकर कि मेरा पुत्र तथा कन्या वहां सुरक्षित हैं उसने वहीं आकर उनके गोत्र आदि सब बता दिये ॥

चतुर्विधं धनुर्वेदं शस्त्राणि विविधानि च ।
निखिलेनास्य तत्सर्वं गुह्यमाख्यातवांस्तदा ।
सोऽचिरेणैव कालेन परमाचार्य्यतां गतः ॥१०॥

अर्थ—तब उस शरद्वान् ने चार प्रकार का धनुर्वेद, अनेक प्रकार की शस्त्रविद्यायें तथा धनुर्वेद का अन्य सब रहस्य "कृपा"

को पूर्णतया सिखलाया और वह भी बहुत शीघ्र परम आचार्य बन गया ॥

ततोऽधिजग्मुः सर्वेते धनुर्वेदं महारथाः ।
धृतराष्ट्रात्मजाश्चैव पाण्डवाः सह यादवैः ।
वृष्णायश्च नृपाश्चान्ये नानादेश समागताः ॥११॥

अर्थ—तत्पश्चात् धृतराष्ट्र के पुत्रों, पाण्डवों, यादवों, वृष्णिवंशवालों तथा अन्य भिन्न २ देशों से आये हुए सब योद्धा राजाओं ने कृपाचार्य्य से शस्त्र विद्या सीखी ॥

वैशम्पायन उवाच

विशेषार्थी ततो भीष्मः पौत्राणां विनयेप्सया ।
इष्वस्त्रज्ञान् पर्यपृच्छदाचार्यान् वीर्यसंमतान् ॥ १२ ॥
नाल्पधीर्नामहाभागस्तथानानास्त्रकोविदः ।
नादेवसत्त्वो विनयेत्कुरूनस्त्रे महाबलान् ॥ १३ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तदनन्तर भीष्मजी अपने पौत्र कौरव-पांडवों को अधिक शस्त्रविद्या सिखलाने के लिये धनुर्विद्या के ज्ञाता तथा पराक्रम में माननीय आचार्य्यों की अन्वेषणा करने लगे, उन्होंने सोचा कि इन कुरुवंशियों को अल्पबुद्धि, अल्प भाग्य, नानाप्रकार की शस्त्रविद्याओं को न जानने वाला और देवों के समान पराक्रम न रखने वाला आचार्य शिक्षा नहीं देसक्ता ॥

इति संचिन्त्य गाङ्गेयस्तदा भरतसत्तमः ।
द्रोणाय वेदविदुषे भारद्वाजाय धीमते ।
पाण्डवान् कौरवाश्चैव ददौ शिष्यान्नरर्षभ ॥ १४ ॥

अर्थ–हे पुरुष श्रेष्ठ राजन् ! तब भरतकुल भूषण भीष्मजी ने ऐसा सोचकर वेद के ज्ञाता भरद्वाज पुत्र द्रोणाचार्य की सेवा में पाण्डव और कौरवों को शिष्यरूप से समर्पण करदिया ॥

गृहं च सुपरिच्छिन्नं धन्यधान्यसमाकुलम् ।
भारद्वाजाय सुप्रीतः प्रत्यपादयत प्रभुः ॥ १५ ॥
स ताञ्छिष्यान्महेष्वासः प्रतिजग्राह कौरवान् ।
पाण्डवान्धार्त्तराष्ट्रांश्च द्रोणो मुदितमानसः ॥ १६ ॥

अर्थ–प्रभु भीष्म ने प्रसन्न होकर भरद्वाजपुत्र द्रोणाचार्य्य को धनधान्य से पूर्ण एक गृह भी दान दिया, महान् धनुर्धारी द्रोणाचार्य्य ने भी मन में आनन्दित होकर धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव पाण्डवों को शिष्य रूप से ग्रहण किया ॥

प्रतिगृह्य च तान् सर्वान् द्रोणो वचनमब्रवीत् ।
रहस्येकं प्रतीतात्मा कृतोपसदनांस्तथा ॥ १७ ॥
कार्यं मे कांक्षितं किञ्चिद् हृदि संपरिवर्त्तते ।
कृतास्त्रैस्तत्प्रदेयं मे तदेतद्वदतानघाः ॥ १८ ॥

अर्थ–द्रोणाचार्य्य उन सब को ग्रहण करके मन में विश्वास किये हुए एक समय उन सन्मुख बैठे हुओं से एकान्त में बोले कि हे निष्पाप पुत्रो ! मेरे मन में एक अभिलाषा विद्यमान है सो तुम यह स्वीकार करो कि शस्त्रविद्या सीखने के पश्चात् उसको पूरी करोगे ?॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा कौरवेयास्ते तूष्णीमासन् विशाम्पते ।
अर्जुनस्तु ततः सर्वं प्रतिजज्ञे परन्तप ॥ १९ ॥

ततोऽर्जुनं तदा मूर्ध्नि समाघ्राय पुनः पुनः ।
प्रीतिपूर्वं परिष्वज्य प्ररुरोदमुदातदा ॥ २० ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे शत्रुतापक राजन् ! वह सब कौरव लोग यह सुनकर चुप होरहे, परन्तु अर्जुन ने उस बात के पूरा करने की प्रतिज्ञा की, तब द्रोणाचार्य्य प्यार से अर्जुन का माथा बार २ चूमकर तथा प्रीति से आलिङ्गन करके हर्ष के आंसू गिराने लगे ॥

ततो द्रोणः पाण्डुपुत्रानस्त्राणि विविधानि च ।
ग्राहयामास दिव्यानि मानुषाणि च वीर्य्यवान् ॥२१॥
राजपुत्रास्तथा चान्ये समेत्य भरतर्षभ ।
अभिजग्मुस्ततो द्रोणमस्त्रार्थे द्विजसत्तमम् ॥ २२ ॥

अर्थ—तब पराक्रमशाली द्रोणाचार्य ने पाण्डवों को नाना प्रकार की दिव्य और मानुषीय अस्त्र शस्त्र विद्यायें सिखलाईं, हे भरतकुल श्रेष्ठ राजन्! तभी से उत्तम ब्राह्मण द्रोणाचार्य्य के समीप शस्त्र विद्या सीखने के लिये और २ राजपुत्र भी इकट्ठे होकर आने लगे ॥

वृष्णयाश्च अन्धकाश्चैव नानादेश्याश्च पार्थिवाः ।
सूतपुत्रश्च राधेयो गुरुं द्रोणमियात्तदा ॥ २३ ॥

अर्थ—वृष्णिवंश, अन्धक वंश तथा अन्य देशों के राजा और राधा की सन्तान सूतपुत्र भी गुरु द्रोण के समीप शिक्षा के लिये आये ॥

स्पर्द्धमानस्तु पार्थेन सूतपुत्रोऽत्यमर्षणः ।
दुर्योधनं समाश्रित्य सोऽत्रमन्यत पाण्डवान् ।
अभ्ययात्स ततो द्रोणं धनुर्वेदचिकीर्षया ॥ २४ ॥

अर्थ-सूतपुत्र कर्ण जो पाण्डवों से जलता था वह अर्जुन के साथ ईर्षा करता हुआ दुर्योधन का आश्रय लेकर पांडवों का अपमान करने लगा, और तभी से वह भी शस्त्रविद्या सीखने के लिये द्रोणाचार्य के समीप आगया ॥

शिक्षाभुजबलोद्योगैस्तेषु सर्वेषु पाण्डवः ।
अस्त्रविद्यानुरागाच्च विशिष्टोऽभवदर्जुनः ।
तुल्येष्वस्त्रप्रयोगेषु लाघवे सौष्ठवेषु च ॥२५॥

अर्थ-शिक्षा तथा अपनी भुजाओं के बल प्रभाव और शस्त्र विद्या के अनुराग से पाण्डव पुत्र अर्जुन शस्त्रों के प्रयोग की शीघ्रता और निपुणता में उनके सब शिष्यों से बढ़गया ॥

आचार्यपुत्रात् तस्मात्तु विशेषोपचये पृथक् ।
न व्यहीयत मेधावी पार्थोऽप्यस्त्रविदांवरः ॥२६॥
अर्जुनः परमं यत्नमातिष्ठद्गुरुपूजने ।
अस्त्रे च परमं योगं प्रियो द्रोणस्य चाभवत् ॥२७॥

अर्थ-शस्त्रवेत्ताओं में श्रेष्ठ बुद्धिमान् अर्जुन द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा से भी किसी विशेष उन्नति में कम नहीं था, अर्जुन गुरु की सेवा करने तथा उनसे शस्त्रविद्या सीखने में बड़ा यत्न करता रहा, और इसी कारण वह द्रोणाचार्य का प्यारा शिष्य होगया ॥

द्रोण उवाच

प्रायतिष्ये तथा कर्त्तुं यथा नान्यो धनुर्धरः ।
त्वत्समो भविता लोके सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥२८॥

अर्थ—द्रोणाचार्य बोले कि हे अर्जुन ! मैं तुम्हें ऐसा धनुर्धारी बनाने का यत्न करूंगा कि तुम्हारे जैसा वीर इस लोक में कोई न होगा, मैं तुझसे यह सत्य कहता हूं ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणोऽर्जुनं भूयो हयेषु च गजेषु च ।
रथेषु भूमावपि च रणशिक्षामशिक्षयत् ॥२९॥
गदायुद्धेऽसि चर्यायां तोमरप्रासशक्तिषु ।
द्रोणः सङ्कीर्णयुद्धे च शिक्षयामास कौरवान् ॥३०॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तब द्रोणाचार्य ने अर्जुन को हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल सब प्रकार की विशेषतः युद्ध विद्या सिखलाई, इसके अतिरिक्त द्रोणाचार्य ने कौरव लोगों को भी गदायुद्ध, ढाल के प्रयोग, तोमर, प्रास और शक्ति नामक शस्त्रों के प्रयोग तथा संकीर्ण=विविध प्रकार के युद्धों की शिक्षा दी ॥

तस्य तत् कौशलं श्रुत्वा धनुर्वेद जिघृक्षवः ।
राजानो राजपुत्राश्च समाजग्मुः सहस्रशः ॥३१॥
द्रोणस्य तु तदा शिष्यौ गदायोग्यौ बभूवतुः ।
दुर्योधनश्चभीमश्च सदा संरब्धमानसौ ॥३२॥

अर्थ—द्रोणाचार्य की ऐसी युद्धविद्या में निपुणता सुनकर सहस्रों राजा और राजकुमार धनुर्वेद सीखने की अभिलाषा से वहां आ उपस्थित हुए, परन्तु द्रोणाचार्य्य के दो शिष्य दुर्योधन और भीमसेन जो सदा मन में अभिमान रखते थे गदा चलाने में बड़े योग्य हुए ॥

अश्वत्थामा रहस्येषु सर्वेष्वभ्यधिकोऽभवत् ।

तथातिपुरुषानन्यान्त्सारुकौ यमजावुभौ ॥३३॥
युधिष्ठिरो रथिश्रेष्ठः सर्वत्र तु धनञ्जयः ।
प्रथितः सागरान्तायां रथयूथपयूथपः ॥३४॥

अर्थ—अश्वत्थामा युद्ध विद्या के सब रहस्यों में बड़ा निपुण बनगया तथा दोनों यमज=जोड़ले भाई नकुल सहदेव तलवार चलाने में अन्य सब से बढ़गये, युधिष्ठिर रथ के युद्ध में श्रेष्ठ रहा, अर्जुन सब प्रकार के युद्धों में श्रेष्ठ, समुद्र पर्यन्त पृथ्वी पर विख्यात और रथों के सारथियों का स्वामी बन गया ॥

बुद्धियोगबलोत्साहैः सर्वास्त्रेषु च निष्ठितः ।
अस्त्रे गुर्वनुरागे च विशिष्टोऽभवदर्जुनः ॥३५॥
तुल्येष्वस्त्रोपदेशेषु सौष्ठवेन च वीर्यवान् ।
एकः सर्वकुमाराणां बभूवातिरथोऽर्जुनः ॥३६॥

अर्थ—अपनी बुद्धि के योग बल तथा उत्साह से सब शस्त्र विद्याओं में तत्पर रहता हुआ अर्जन शस्त्रविद्या और गुरुभक्ति में सब से बढ़कर रहा, समान रूप से शस्त्रविद्या की शिक्षा होते हुए भी पराक्रमी अर्जन ही अकेला अपने चातुर्य्य द्वारा सब बालकों से बढ़कर योद्धा बन गया ॥

प्राणाधिकं भीमसेनं कृतविद्यं धनञ्जयम् ।
धार्त्तराष्ट्रा दुरात्मानो नामृष्यन्न परस्परम् ॥३७॥

अर्थ—दुष्टात्मा धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादि बल में सबसे अधिक भीमसेन तथा पूर्ण युद्धविद्या सीखे हुए अर्जुन को देख नहीं सकते थे ॥

तांस्तु सर्वान् समानीय सर्वविद्यास्त्रशिक्षितान् ।
द्रोणः प्रहरणज्ञाने जिज्ञासुः पुरुषर्षभः ॥३८॥
कृत्रिमं भासमारोप्य वृक्षाग्रे शिल्पिभिःकृतम् ।
अविज्ञातं कुमाराणां लक्ष्यभूतमुपादिशत् ॥३९॥

अर्थ–पुरुषश्रेष्ठ द्रोणाचार्य ने सब धनुर्विद्या सीखे हुए अपने शिष्यों की शस्त्र प्रयोग करने में परीक्षा लेने के लिये उन सब को एक स्थान पर बुलाया और किसी वृक्ष के शिखर पर कारीगरों का बनाया हुआ एक कृत्रिम पक्षी जो उन शिष्यों का पहचाना हुआ था रखकर अपने शिष्यों को बताया कि यह तुम्हारा लक्ष्य=निशाना है ॥

द्रोण उवाच

शीघ्रं भवन्तः सर्वेऽपि धनूंष्यादाय सर्वशः ।
भासमेतं समुद्दिश्य तिष्ठध्वं सन्धितेषवः ॥४०॥
मद्वाक्य समकालं तु शिरोऽस्य विनिपात्यताम् ।
एकैकशो नियोक्ष्यामि तथा कुरुत पुत्रकाः ॥४१॥

अर्थ–द्रोणाचार्य बोले कि हे पुत्रो ! तुम सब अपने २ धनुष में शीघ्र ही बाण लगाकर इस पक्षी को लक्ष्य करके खड़े होजाओ, मैं एक २ को आज्ञा दूंगा सो मेरे बोलने के साथ ही इस कृत्रिम पक्षी का सिर गिरा देना ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरं पूर्वमुवाचाङ्गिरसांवरः ।
सन्धत्स्ववाणं दुर्धर्ष मद्वाक्यान्ते विमुञ्चतम् ॥४२॥

ततो युधिष्ठिरः पूर्वं धनुर्गृह्य परन्तपः ।
तस्थौ भासं समुद्दिश्य गुरुवाक्य प्रचोदितः ॥४३॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तब अङ्गिराओं के कुल में उत्तम द्रोणाचार्य सबसे पहले युधिष्ठिर से बोले कि हे दुर्जय ! तुम बाण धनुष में चढ़ालो और जब मैं कहूं तब छोड़ना. गुरु की आज्ञा से प्रेरित हुआ शत्रुतापक युधिष्ठिर धनुष लेकर उस पक्षी को लक्ष्य करके खड़ा होगया ॥

ततो विततधन्वानं द्रोणस्तं कुरुनन्दनम् ।
स मुहूर्त्तादुवाचेदं वचनं भरतर्षभ ॥४४॥
पश्यैनं त्वं द्रुमाग्रस्थं भासं नरवरात्मज ।
पश्यामीत्येवमाचार्यं प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ॥४५॥

अर्थ–हे भरतकुल में श्रेष्ठ राजन् ! तब धनुष चढ़ाये हुए कुरुवंश भूषण युधिष्ठिर से द्रोणाचार्य थोड़ी देर के पश्चात् यह बचन बोले कि हे राजपुत्र ! तू वृक्ष के शिखर पर रखे हुए पक्षी की ओर देख, युधिष्ठिर ने आचार्य को उत्तर दिया कि देख रहा हूं॥

स मुहूर्त्तादिव पुनर्द्रोणस्तं प्रत्यभाषत ।
अथ वृक्षमिमं मां वा भ्रातॄन् वापि प्रपश्यसि ॥४६॥
तमुवाच स कौन्तेयः पश्याम्येनं वनस्पतिम् ।
भवन्तं च तथा भ्रातॄन् भासं चेति पुनः पुनः॥४७॥

अर्थ–थोड़ी देर के पश्चात् द्रोणाचार्य फिर युधिष्ठिर से बोले कि क्या तुम इस वृक्ष को वा मुझको वा अपने इन भाइयों को भी देख रहे हो ! तब कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर ने उत्तर दिया कि हां

वृक्ष को, आपको, भाइयों को और इस पक्षी को भी बार २ देख रहा हूं ॥

तमुवाचापसर्पसर्पेति द्रोणोऽप्रीतमना इव ।
नैतच्छक्यं त्वया वेद्धुं लक्ष्यमित्येव कुत्सयन्॥४८॥

अर्थ–तब द्रोणाचार्य मन में अप्रसन्न से होकर उसकी निन्दा करते हुए बोले कि हट जाओ तुमसे यह लक्ष्य नहीं वेधा जायगा॥

ततो दुर्योधनादींस्तान्धार्त्तराष्ट्रान्महायशाः ।
तेनैव क्रमयोगेन जिज्ञासुः पर्यपृच्छत ॥ ४९ ॥
अन्यांश्च शिष्यान् भीमादीन् राज्ञश्चैवान्यदेशजान् ।
तथा च सर्वे तत्सर्वं पश्याम इति कुत्सिताः ॥५०॥

अर्थ–इसके पश्चात महाप्रभावशाली द्रोणाचार्य ने उसी प्रकार क्रमपूर्वक एक २ करके धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधनादिकों तथा भीमसेनादिकों और अन्य देशों के राजाओं से भी परीक्षा के निमित्त वही प्रश्न किया, और उन सबों ने यही उत्तर दिया कि "हम सब वस्तुओं को देख रहे हैं" यह सुनकर गुरु ने उन सबको धिक्कारा॥

इति पंचदशोऽध्यायः समाप्तः

अथ षोडशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततो धनञ्जयं द्रोणः स्मयमानोऽभ्यभाषत ।
त्वयेदानीं प्रहर्त्तव्यमेतल्लक्ष्यं विलोक्यताम् ॥ १ ॥
मद्वाक्य समकालं ते मोक्तव्योऽत्र भवेच्छरः ।
वितत्य कार्मुकं पुत्र तिष्ठ तावन्मुहूर्त्तकम् ॥ २ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! इसके पश्चात् मुसकराते हुए द्रोणाचार्य अर्जुन से बोले कि इस लक्ष्य को देखलो तुम्हें इस पर बाण चलाना है, हे पुत्र! तुम धनुष चढ़ाकर थोड़ी देर तक ठहर जाओ, जिस समय मैं बोलूं उसी क्षण इस पर बाण छोड़ना॥

एवमुक्तः सव्यसाची मण्डलीकृतकार्मुकः ।
तस्थौ भासं समुद्दिश्य गुरुवाक्य प्रचोदितः ॥३॥
मुहूर्त्तादिव तं द्रोणस्तथैव प्रत्यभाषत ।
पश्यस्येनं स्थितं भासं द्रुमं मामपि चार्जुन ॥४॥

अर्थ—गुरुजी की आज्ञा से प्रेरित हुआ २ अर्जुन उस पक्षी को लक्ष्य बनाकर खड़ा होगया, तब द्रोणाचार्य ने इससे भी उसी प्रकार पूछा कि हे अर्जुन ! क्या तुम वृक्ष पर रखे हुए पक्षी, वृक्ष और मुझको देख रहे हो ? ॥

पश्याम्येकं भासमिति द्रोणं पार्थोऽभ्यभाषत ।
न तु वृक्षं भवन्तं वा पश्यामीति च भारत ॥५॥

ततः प्रीतमना द्रोणो मुहूर्त्तादिव तं पुनः ।
प्रत्यभाषत दुर्धर्षः पाण्डवानां महारथम् ॥ ६ ॥

अर्थ—हे भरतवंशी राजन् ! अर्जुन ने द्रोणाचार्य को उत्तर दिया कि मैं केवल इस पक्षी को देख रहा हूं, वृक्ष तथा आपको नहीं देखता, तब दुर्जय द्रोणाचार्य मन में प्रसन्न हुए २ थोड़ी देर पश्चात् पाण्डवों के महायोद्धा अर्जुन से पुनः इस प्रकार पूछने लगे कि :—

भासं पश्यसि यद्येनं तथा ब्रूहि पुनर्वचः ।
शिरः पश्यामि भासस्य न गात्रमिति सोऽब्रवीत् ॥७॥

अर्थ—फिर बताओ, क्या तुम सचमुच इस पक्षी को देख रहे हो ? इस पर अर्जुन ने कहा कि मैं इस पक्षी का केवल सिर देख रहा हूं शरीर नहीं ॥

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु द्रोणो हृष्टतनूरुहः ।
मुञ्चस्वेत्यब्रवीत्पार्थं स मुमोचाविचारयन् ॥८॥
ततस्तस्य नगस्थस्य क्षुरेण निशितेन च ।
शिर उत्कृत्य तरसा पातयामास पाण्डवः ॥ ९ ॥

अर्थ—अर्जुन के ऐसा कहने पर द्रोणाचार्य्य हर्ष से पुलकित हो उससे बोले कि बाण छोड़दो, यह कहते ही अर्जुन ने तत्काल ही बाण छोड़दिया, और उस वृक्ष पर रखे हुए पक्षी का तीक्ष्ण बाण के वेग से सिर काटकर पृथ्वी पर गिरा दिया ॥

कस्य चित्त्वथ कालस्य सशिष्योऽङ्गिरसां वरः ।
जगाम गङ्गामभितो मज्जितुं भरतर्षभ ॥१०॥

अवगाढमथो द्रोणं सलिले सलिलेचरः ।
ग्राहो जग्राह बलवाञ्जङ्घान्ते कालचोदितः ॥११॥

अर्थ–हे भरतवंशी जनमेजय ! कालान्तर में एक समय द्रोणाचार्य्य शिष्यों समेत गङ्गा की ओर स्नान के लिये गये, उस समय दैवयोग से गहरे जल में घुसे हुए द्रोणाचार्य्य की एक बलवान् ग्राह ने टांग पकड़ली ॥

स समर्थोऽपि मोक्षाय शिष्यान् सर्वानचोदयत् ।
ग्राहं हत्वा मोक्षयध्वं मामिति त्वरयन्निव ॥ १२ ॥
तद्वाक्य समकालं तु बीभत्सुर्निशितैः शरैः ।
अवार्य्यैः पञ्चभिर्ग्राहं मग्नमम्भस्यताडयत् ।
इतरे त्वथ संमूढास्तत्र तत्र प्रपेदिरे ॥ १३ ॥

अर्थ–द्रोणाचार्य स्वयं उस ग्राह से छूटने में समर्थ होने पर भी परीक्षा के लिये अपने शिष्यों से शीघ्रतया बोले कि "इस ग्राह को मारकर मुझे छुड़ाओ" वीर अर्जुन ने उनकी बात सुनते ही अपने पांच तीक्ष्ण तीरों द्वारा पानी में छिपे हुए उस ग्राह को मार दिया, और अन्य शिष्य घबराये हुए इधर उधर भागते दौड़ते रहे ॥

तं तु दृष्ट्वा क्रियोपेतं द्रोणोऽमन्यत पाण्डवम् ।
विशिष्टं सर्वशिष्येभ्यः प्रीतिमांश्चाभवत्तदा ॥१४॥
स पार्थ बाणैर्बहुधा खण्डशः परिकल्पितः ।
ग्राहः पञ्चत्वमापेदे जङ्घांत्यक्त्वा महात्मनः ॥१५॥

अर्थ–द्रोणाचार्य अर्जुन को ऐसा कार्यनिपुण देखकर उसको

सब शिष्यों में उत्कृष्ट मानने लगे और तभी से अर्जुन पर प्रसन्न रहने लगे, वह ग्राह अर्जुन के बाणों से टुकड़े २ होकर महात्मा द्रोणाचार्य की टांग छोड़ मृत्यु को प्राप्त होगया ॥

अथाब्रवीन्महात्मानं भारद्वाजो महारथम् ।
गृहाणेदं महाबाहो विशिष्टमतिदुर्धरम् ॥१६॥
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम सप्रयोगनिवर्त्तनम् ।
आसामान्यमिदं तात लोकेष्वस्त्रं निगद्यते ॥१७॥

अर्थ–तब भरद्वाज पुत्र द्रोणाचार्य योद्धा अर्जुन से बोले कि हे महाबाहु ! तुम इस कार्य्य के पारितोषिक में यह "ब्रह्म" नामक उत्कृष्ट तथा अनिवार्य शस्त्र प्रयोग करने की विधि समेत मुझसे ग्रहण करो, हे पुत्र ! संसार में यह शस्त्र असाधारण बताया गया है ॥

तथेति संप्रतिश्रुत्य बीभत्सुः प्रकृताञ्जलिः ।
जग्राह परमास्त्रं तदाह चैनं पुनर्गुरुः ॥१८॥
भवितात्वत्समो नान्यः पुमांल्लोके धनुर्धरः ।
अजेयः सर्वशत्रूणां कीर्तिमांश्च भविष्यसि ॥१९॥

अर्थ–तब अर्जुन ने हाथ जोड़ "बहुत अच्छा" कहकर उस परम शस्त्र को ग्रहण किया, पश्चात् गुरुजी ने फिर उसको यह आशीर्वाद दिया कि संसार में तेरे समान कोई धनुर्धारी न होगा तूही सब शत्रुओं से अजेय और प्रतापी होगा ॥

इति षोडशोऽध्यायः समाप्तः

अथ सप्तदशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

कृतास्त्रान्धार्तराष्ट्रांश्च पाण्डुपुत्रांश्च भारत ।
दृष्ट्वा द्रोणोऽब्रवीद्राजन् धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥१॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! द्रोणाचार्यजी धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों को शस्त्रविद्या समाप्त किये हुए देख कर राजा धृतराष्ट्र से बोले किः—

कृपस्य सोमदत्तस्य बाह्लीकस्य च धीमतः ।
गाङ्गेयस्य च सान्निध्ये व्यासस्य विदुरस्य च ॥२॥
राजन् संप्राप्तविद्यास्ते कुमाराः कुरुसत्तम ।
ते दर्शयेयुः स्वां शिक्षां राजन्ननुमते तव ॥३॥

अर्थ–हे कुरुश्रेष्ठ राजन् ! तुम्हारे पुत्र शस्त्रविद्या समाप्त करचुके हैं सो यदि तुम्हारी अनुमति हो तो यह बालक कृपाचार्य, सोमदत्त, बुद्धिमान् बाह्लीक, भीष्म, व्यास और विदुरजी के सन्मुख अपनी शिक्षा का प्रयोग करके दिखलावें ॥

ततोऽब्रवीन्महाराजः प्रहृष्टेनान्तरात्मना ।
भारद्वाज महत्कर्म कृतं ते द्विजसत्तम ॥४॥
यदानुमन्यसे कालं यस्मिन्देशे यथा यथा ।
तथा तथा विधानाय स्वयमाज्ञापयस्वमाम् ॥५॥

अर्थ–तब महाराज धृतराष्ट्र मन में आनन्दित होकर बोले कि हे उत्तम ब्राह्मण द्रोणाचार्य ! आपने यह बड़ा भारी कर्म किया है,

सो जिस समय, जिस स्थान में और जिस २ प्रकार से इन शिष्यों का कार्य दिखलाने की तुम्हारी अनुमति हो वैसा करने के लिये मुझे स्वयं आज्ञा दें ॥

स्पृहयाम्यद्य निर्वेदात् पुरुषाणां सचक्षुषाम् ।
अस्त्रहेतोः पराक्रान्तान् ये मे द्रक्ष्यन्ति पुत्रकान्॥६॥
क्षत्तर्यद्गुरुराचार्यो ब्रवीति कुरु तत्तथा ।
नहीदृशं प्रियं मन्ये भविता धर्मवत्सल॥७॥

अर्थ—आज मैं खेद से उन आखों वाले पुरुषों के प्रति जो शस्त्रविद्या में बढ़े चढ़े मेरे पुत्रों को देखेंगे ईर्षा कर रहा हूं कि "हाय मेरे आखें नहीं" हैं, हे विदुर ! जैसा गुरुजी कहते हैं वैसा ही करो, हे धर्म के प्यारे ! मैं इससे बढ़कर कोई प्यारी बात नहीं समझता ॥

ततो राजानमामंत्र्य निर्गतो विदुरो बहिः ।
भारद्वाजो महाप्राज्ञो मापयामास मेदिनीम् ।
समानवृक्षां निर्गुल्मामुदक्प्रस्रवणान्विताम् ॥८॥

अर्थ—तब विदुरजी राजा की अनुमति से नगर के बाहर गये, पश्चात महाबुद्धिमान् द्रोणाचार्य ने रङ्गभूमी के लिये उस भूमी का माप कराया जो झाड़ों से विना समानरूप से वृक्षों वाली और जो पानी से सिंची हुई थी ॥

अवघुष्टे समाजे च तदर्थं वदतांवरः ।
रङ्गभूमौ सुविपुलं शास्त्रदृष्टं यथाविधि ॥९॥
प्रेक्षागारं सुविपुलं चक्रुस्ते तस्य शिल्पिनः ।
राज्ञः सर्वायुधोपेतं स्त्रीणां चैव नरर्षभ ॥१०॥

अर्थ—हे राजन ! राजसमाज को निमन्त्रण दिया गया और उसके लिये रङ्गभूमि में शास्त्र की रीति से विधिपूर्वक बड़ा भारी प्रेक्षागार=तमाशा देखने का भवन कारीगरों ने बनाया जिसमें राजाओं के सब शस्त्र भरे हुए थे और जिसमें स्त्रियों के बैठने के योग्य अलग स्थान बना हुआ था ॥

मञ्चांश्च कारयामासुस्तत्र जानपदा जनाः ।
विपुलानुच्छ्रयोपेताञ्छिबिकाश्च महाधनाः ॥११॥

अर्थ—उस प्रान्त के निवासियों ने वहां बैठने के लिये बड़े २ ऊंचे मंच बनवाये और महाधनियों ने पालकियें भी तैयार कराईं ॥

तस्मिंस्ततोऽहनि प्राप्ते राजा ससचिवस्तदा ।
भीष्मं प्रमुखतः कृत्वा कृपञ्चाचार्य्य सत्तमम् ॥१२॥
मुक्ताजालपरिक्षिप्तं वैदूर्यमणिशोभितम् ।
शात कुम्भमयं दिव्यं प्रेक्षागारमुपागमत् ॥१३॥

अर्थ—तत्पश्चात् जब वह दिन आया तब राजा धृतराष्ट्र मंत्रियों समेत भीष्मजी और कृपाचार्य को आगे करके सुवर्ण के बने हुए उस दिव्य प्रेक्षणभवन=तमाशा देखने के मंदिर में पहुंचे, जहां मोतियों के जाल लटकाये हुए थे और जिसमें वैदूर्य्य मणीं शोभा देरही थीं ॥

गान्धारी च महाभागा कुन्ती च जयतांवर ।
स्त्रियश्च राज्ञः सर्वास्ताः सप्रेष्याः सपरिच्छदाः॥१४॥
ब्राह्मणक्षत्रियाद्यं च चातुर्वर्ण्यं पुराद्द्रुतम् ।
दर्शनेप्सु समभ्यागात् कुमाराणां कृतास्त्रताम्॥१५॥

अर्थ—हे श्रेष्ठ विजयी राजन् ! सौभाग्यवती गान्धारी और कुन्ती तथा अन्य सब स्त्रियें भूषण वस्त्र पहरे हुए अपने दास दासियों सहित नगर से चलीं तथा ब्राह्मण क्षत्रियादि चारो वर्णों के पुरुष भी राजकुमारों की अस्त्रविद्या के दर्शन की अभिलाषा से शीघ्र ही वहां पहुंचे ॥

प्रवादितैश्च वादित्रैर्जुनकौतूहलेन च ।
महार्णव इव क्षुब्धः समाजः सोऽभवत्तदा ॥१६॥

अर्थ—उस समय बाजों के बजने तथा मनुष्यों के कोलाहल से वह जनसमाज चंचल हुआ २ महासागर सा प्रतीत होता था ॥

ततः शुक्लाम्बरधरः शुक्लयज्ञोपवीतवान् ।
शुक्लकेशः सितश्मश्रुःशुक्लमाल्यानुलेपनः ॥१७॥
रंगमध्यं तदाचार्यः सपुत्रः प्रविवेश ह ।
नभो जलधरैर्हीनं सांगारक इवांशुमान् ॥१८॥

अर्थ—तब रङ्गभूमी के मध्य में द्रोणाचार्य्य अपने पुत्र समेत प्रविष्ट हुए जो श्वेतवस्त्र और श्वेत यज्ञोपवीत धारण किये हुए तथा जिनके केश दाढ़ी भी श्वेत थे और जो श्वेत माला तथा श्वेत चन्दन का लेपन किये हुए मानो बादलों से रहित आकाश में मङ्गल ग्रह सहित सूर्य्य के समान प्रतीत होते थे ॥

ततो बद्धाङ्गुलित्राणा बद्धकक्षा महारथाः ।
बद्ध तूणाः सधनुषो विविशुर्भरतर्षभाः ॥१९॥
अनुज्येष्ठं तु ते तत्र युधिष्ठिर पुरोगमाः ।
चक्रुरस्त्रं महावीर्याः कुमाराः परमाद्भुतम् ॥२०॥

अर्थ–तत्पश्चात् भरतकुलभूषण महायोद्धा कौरव पाण्डव अंगुलियों में कवच पहने हुए, कमर कसे हुए, तरकस तथा धनुष् धारण किये हुए वहां पहुंचे और वहां वह महा पराक्रमी युधिष्ठिर से आरम्भ करके बड़े के पश्चात् छोटा, इस क्रम से परम आश्चर्यमय शस्त्र प्रयोग दिखलाने लगे॥

केचिच्छराक्षेपभयाच्छिरांस्यवननामिरे ।
मनुजा धृष्टमपरे वीक्षां चक्रुः सुविस्मिताः ॥२१॥
ते स्म लक्ष्याणि बिभिदुर्बाणैर्नामाङ्कशोभितैः ।
विविधैर्लाघवोत्सृष्टैरुह्यन्तो वाजिभिर्द्रुतम् ॥२२॥

अर्थ–वहां पर बहुत से दर्शक लोगों ने बाण लगने के भय से अपने सिर नीचे झुका लिये, परन्तु बहुत से मनुष्य धृष्टता से अचम्भित हुए २ उस दृश्य को देखते रहे, उन कुमारों ने घोड़ों पर चढ़ दौड़ते हुए अपने २ नामों से अंकित विविध प्रकार के बाणों द्वारा शीघ्रता से प्रहार करके लक्ष्यों=निशानों को बींध डाला॥

सहसा चुक्रुशुश्चान्ये नराः शतसहस्रशः ।
विस्मयोत्फुल्लनयनाः साधुसाध्विति भारत ॥२३॥

अर्थ–हे भरतवंशी राजन् ! तब वहां के सैंकड़ों हज़ारों दर्शक लोग अचम्भे से फूले हुए वाह वाह की ध्वनि करने लगे॥

कृत्वा धनुषि ते मार्गान् रथचर्य्यासु चासकृत् ।
गजपृष्ठेऽश्वपृष्ठे च नियुद्धे च महाबलाः ॥२४॥
गृहीतखड्गचर्माणस्ततो भूयः प्रहारिणः ।
त्सरुमार्गान् यथोद्दिष्टांश्चेरुः सर्वासु भूमिषु ॥२५॥

अर्थ–तब वह महाबली राजकुमार वहां की सब भूमी पर धनुष् चलाने के मार्ग बनाकर रथों, हाथियों तथा घोड़ों पर चढ़ कर और पैदल रहकर भी वार २ विचरने लगे तथा आज्ञानुसार तलवार चलाने के मार्ग बनाकर तलवार और ढाल लिये अधिकाधिक प्रहार करते हुए घूमने लगे ॥

लाघवं सौष्ठवं शोभां स्थिरत्वं दृढमुष्टिताम् ।
ददृशुस्तत्र सर्वेषां प्रयोगं खड्गचर्मणोः ॥२६॥

अर्थ–दर्शक लोगों ने वहां उन सब राजकुमारों की चपलता, उत्कृष्टता, सौन्दर्य, स्थिरता, तलवार पकड़ने की दृढ़ता और तलवार तथा ढाल के प्रयोग का अवलोकन किया ॥

अथ तौ नित्यसंहृष्टौ सुयोधनवृकोदरौ ।
अवतीर्णौ गदाहस्तावेक शृङ्गाविवाचलौ ॥२७॥
बद्धकक्षौ महाबाहू पौरुषे पर्यवस्थितौ ।
बृहन्तौ वासिताहेतोः समदाविव कुञ्जरौ ॥२८॥

अर्थ–तत्पश्चात् सदा हर्षित रहने वाले, पुरुषार्थ की सीमारूप महाबाहु दो वीर अर्थात् दुर्योधन और भीमसेन, गदायें हाथों में लिये और कमर कसे हुए रङ्गभूमी में आये, जो मानो एक २ शिखर वाले दो पहाड़ थे और वह वहां आकर ऐसे गर्जे जैसे दो मतवाले हाथी मदगन्ध की ईर्षा से चिंघाड़ते हैं ॥

तौ प्रदक्षिणसव्यानि मण्डलानि महाबलौ ।
चेरतुर्मण्डलगतौ समदाविव कुञ्जरौ ॥२९॥
विदुरो धार्त्तराष्ट्राय गान्धार्य्याः पाण्डवारणिः ।

न्यवेदयेतां तत्सर्वं कुमाराणां विचेष्टितम् ॥३०॥

अर्थ—वह दोनों महाबली निर्मल गदायें पकड़े हुए मतवाले हाथियों के समान कभी दहने और कभी बायें मण्डलाकार घूमने लगे, राजकुमारों का पूर्वोक्त सब कर्तव्य विदुरजी धृतराष्ट्र को बतलाते जाते थे तथा पाण्डवारणि=कुन्ती गान्धारी को भी बतलाती जाती थी ॥

वैशम्पायन उवाच

कुरुराजहि रङ्गस्थे भीमे च बलिनां वरे ।
पक्षपातकृतस्नेहः स द्विधे वाभवज्जनः ॥३१॥
ही वीर कुरुराजेति ही भीम इति जल्पताम् ।
पुरुषाणां सुविपुलाः प्रणादाः सहसोत्थिताः ॥३२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! रङ्गभूमी में कुरुराज दुर्योधन और महाबली भीमसेन की उपस्थिति में भिन्न २ पक्षपात के स्नेह से मानवसमाज के दो विभाग होगये, कई एक लोग कहते थे कि वाह २ कुरुराज दुर्योधन सर्वोपरि है, कई एक कहते थे कि वाह २ भीमसेन सबसे उत्तम है, इस प्रकार एकाएक मनुष्यों के असंख्य जयजयकार शब्द होने लगे ॥

ततः क्षुब्धार्णवनिभं रंगमालोक्य बुद्धिमान् ।
भारद्वाजः प्रियं पुत्रमश्वत्थामानमब्रवीत् ॥ ३३ ॥
वारयैतौ महावीर्यौ कृतयोग्यावुभावपि ।
माभूद्रंगप्रकोपोऽयं भीमदुर्योधनोद्भवः ॥ ३४ ॥

अर्थ—तब बुद्धिमान् द्रोणाचार्य्य उस रङ्गभूमी को चलायमान=समुद्र के समान उछलती देखकर अपने प्यारे पुत्र अश्वत्थामा से

बोले कि इन दोनों महापराक्रमियों को जो अपनी योग्यता दिखला चुके हैं अलग करदो, क्योंकि कदाचित् भीमसेन और दुर्योधन के पक्षपात से रङ्गभूमी में क्रोध न फैलजाय ॥

ततस्तावुद्यतगदौ गुरुपुत्रेण वारितौ ।
युगान्तानिलसंक्षुब्धौ महावेलाविवार्णवौ ॥ ३५ ॥
ततो रंगांगणगतो द्रोणो वचनमब्रवीत् ।
निवार्य्य वादित्र गणं महामेघ निभस्वनम् ॥३६॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तब गदायें उठाये हुए तथा प्रलयकाल की वायु से चलायमान हुए बड़े २ तट वाले दो समुद्रों के समान वह दोनों वीर गुरुपुत्र अश्वत्थामा ने अलग २ करदिये, पश्चात् रंगभूमि में खड़े हुए द्रोणाचार्य्य बड़े बादल के समान कोलाहल करते हुए उन बाजों का बजना रोककर, यह वचन बोले कि :–

यो मे पुत्रात् प्रियतरः सर्वशस्त्रविशारदः ।
ऐन्द्रिरिन्द्रानुजसमः स पार्थो दृश्यतामिति ॥३७॥
आचार्य्यवचनेनाथ कृतस्वस्त्ययनो युवा ।
वद्धगोधांगुलित्राणः पूर्णतूणः सकार्मुकः ॥ ३८ ॥
काञ्चनं कवचं विभ्रात् प्रत्यदृश्यत फाल्गुनः ।
सार्कः सेन्द्रायुध तडित् ससन्ध्य इव तोयदः ॥३९॥

अर्थ–जो मुझे अपने पुत्र से भी अधिक प्यारा है वह सब शस्त्रविद्याओं में निपुण, इन्द्र के छोटे भाई के समान इन्द्रपुत्र अर्जुन मेरे सामने आवे, आचार्य की आज्ञा पाते ही युवक अर्जुन स्वस्तिवाचन करके बाजू और अंगुलियों पर कवच बांध बाणों से भरा

हुआ तरकस और धनुष लिये तथा शरीर पर सुवर्ण का कवच पहने हुए इस प्रकार सामने आया जैसे वर्षाकाल के सन्ध्या समय का सूर्य इन्द्रधनुष और बिजली समेत दिखलाई देता है ॥

ततः सर्वस्य रंगस्य समुत्पिञ्जलकोऽभवत् ।
प्रावाद्यन्त च वाद्यानि सशङ्खानि समन्ततः ॥४०॥

अर्थ–तब सारे रङ्गभवन में बड़ा कौतूहल हुआ और चारो ओर बाजे तथा शंख बजने लगे ॥

एष कुन्तीसुतः श्रीमानेष मध्यमपाण्डवः ।
एष पुत्रो महेन्द्रस्य कुरूणामेष रक्षिता ॥४१॥
एषोऽस्त्र विदुषां श्रेष्ठ एष धर्मभृतांवरः ।
एष शीलवतां चापि शीलज्ञाननिधिः परः ॥४२॥
इत्येवं तुमुलावाचः शुश्रुवुः प्रेक्षकेरिताः ।
कुन्त्याः प्रस्नवसंयुक्तैरस्रैः क्लिन्नमुरोऽभवत् ॥४३॥

अर्थ–वहां दर्शक लोगों के मुख से निकली हुई इस प्रकार की जय २ वाणी सुनाई देती थी कि यह श्रीमान् कुन्ती का पुत्र मध्य का पाण्डव है, यह महेन्द्र का पुत्र तथा कौरवों का रक्षक है, यह शस्त्रविद्या के ज्ञाताओं में सबसे बढ़ा हुआ तथा धर्मात्माओं में सर्वोत्तम है और यही अर्जुन उत्तम शील वाले पुरुषों में शील और ज्ञान का महान् भण्डार है, यह बातें सुन २ कर पुत्र स्नेह के वेग से कुन्ती की छाती स्तनों के दूध और आंसुओं से भीगगई ॥

तेन शब्देन महता पूर्णश्रुतिरथाब्रवीत् ।
धृतराष्ट्रो नरश्रेष्ठो विदुरं हृष्टमानसः ॥४४॥

क्षत्तः क्षुब्धार्णवनिभः किमेष सुमहास्वनः ।
सहसैवोत्थितो रंगे भिन्दन्निव नभस्तलम् ॥४५॥

अर्थ–उस भारी जयजयकार शब्द का पूर्णतया श्रवणकर राजा धृतराष्ट्र मन में हर्षित हुए २ विदुरजी से बोले कि हे विदुर ! यह चञ्चल समुद्र के समान भारी कोलाहल कैसा हुआ जो रङ्गभूमी से एकाएक उठकर आकाशतल को फोड़ने लगा है॥

विदुर उवाच

एष पार्थो महाराज फाल्गुनः पाण्डुनन्दनः ।
अवतीर्णः सकवचस्तत्रैष सु महास्वनः ॥४६॥

अर्थ–विदुरजी बोले कि हे महाराज ! यह पण्डुपुत्र अर्जुन कवच धारण किये हुए रङ्गभूमी में आया है, इसीलिये यहां यह बड़ा कोलाहल होरहा है ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि रक्षितोऽस्मि महामते ।
पृथाराणि समुद्भवैस्त्रिभिः पाण्डव वह्निभिः ॥४७॥

अर्थ–धृतराष्ट्र बोले कि हे महाबुद्धिमान् विदुर ! कुन्ती रूपी अरणी से उत्पन्न हुए २ तीन अग्नियों के समान इन तीनों पाण्डवों से मैं अपने को धन्य, अनुगृहीत और सुरक्षित मानता हूं ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् प्रमुदिते रंगे कथञ्चित् प्रत्युपस्थिते ।
दर्शयामास बीभत्सुराचार्य्यायास्त्रलाघवम् ॥४८॥
आग्नेयेनासृजद्वह्निं वारुणेनासृजत्पयः ।
वायव्येनासृजद्वायुं पार्जन्येनासृजद्घनान् ॥४९॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! उस आनन्द में भरे हुए रङ्गभवन के किसी न किसी भांति शान्त=चुपचाप होने के अनन्तर अर्जुन आचार्य को अपनी अस्त्रविद्या की निपुणता दिखलाने लगा, उसने आग्नेय अस्त्र से अग्नि निकाली, वारुण अस्त्र से जल निकाला, वायव्य अस्त्र से वायु उत्पन्न करदी और पार्जन्य अस्त्र से मेघों की रचना की ॥

भौमेन प्राविशद्भूमिं पार्वतेनासृजद्गिरीन् ।
अन्तर्धानेन चास्त्रेण पुनरन्तर्हितोऽभवत् ॥५०॥

अर्थ—अर्जुन भौम अस्त्र से पृथ्वी में प्रविष्ट होगया तथा पार्वत अस्त्र से पहाड़ बनाये और पश्चात् अन्तर्धान अस्त्र से अदृश्य होगया ॥

क्षणात् प्रांशुः क्षणाद्ध्रस्वः क्षणाच्च रथधूर्गतः ।
क्षणेन रथ मध्यस्थः क्षणेनावतरन्महीम् ॥५१

अर्थ—वह एक क्षण में कभी ऊंचा कभी छोटा बनजाता था तथा क्षण २ में कभी रथ के धुरे पर, कभी रथ के बीच में और कभी पृथ्वी पर उतर आता था ॥

सुकुमारं च सूक्ष्मं च गुरुचापि गुरुप्रियः ।
सौष्ठवेनाभिसंक्षिप्तः सोऽविध्याद्विविधैः शरैः ॥५२॥
भ्रमतश्च वराहस्य लोहस्य प्रमुखे समम् ।
पञ्चबाणानसंसक्तान् संमुमोचैकबाणवत् ॥५३॥

अर्थ—गुरु के प्रिय शिष्य अर्जुन ने अत्यन्त शीघ्रता द्वारा कोमल से कोमल, छोटे से छोटे तथा वड़े से वड़े लक्ष्य को अपने

नाना बाणों से बींधा और लोहे के घूमते हुए सूअर के मुख में एक ही बाण के समान अलग २ पांच बाण एक ही बार छोड़ दिये॥

गव्ये विषाण कोषे च चले रज्ज्ववलम्बिनि ।
निचखान महावीर्यः सायकानेक विंशतिम् ॥५४॥
इत्येवमादि सुमहत् खड्गे धनुषि चानघ ।
गदायां शस्त्र कुशलो मण्डलानि प्रदर्शयन् ॥५५॥

अर्थ—उस महापराक्रमी ने गाय के सींग के भीतर जो रस्सी के सहारे घूम रहा था इक्कीस बाण भर दिये, हे निष्पाप राजन् ! अर्जुन ने इसी भांति तलवार और धनुष के बड़े २ दृश्य तथा गदायुद्ध के मण्डलाकार भ्रमण भी बहुत दिखलाये ॥

ततः समाप्तभूयिष्ठे तस्मिन् कर्मणि भारत ।
मन्दीभूते समाजे च वादित्रस्य च निःस्वने ॥५६॥
द्वारदेशात् समुद्भूतो माहात्म्यबलसूचकः ।
वज्रनिष्पेषसदृशः शुश्रुवेभुजानिःस्वनः ॥५६॥

अर्थ—हे भारतीय राजन् ! तब अर्जुन के उस अस्त्रदर्शनरूप कर्मकौशल के प्रायः समाप्त होजाने तथा जनसमाज और बाजों का कोलाहल मन्द पड़जाने पर रङ्गभवन के द्वार की ओर से उठा हुआ वज्र की गर्जना के समान भुजाओं का घोर शब्द सुनाई दिया जो किसी के महत्त्व बल को सूचित कर रहा था ॥

दीर्यन्ते किंनुगिरयः किंस्विद्भूमिर्विदीर्यते ।
किं स्विदापूर्यते व्योम जलधाराघनैर्घनैः ॥५७॥

रङ्गस्यैवंमतिरभूत् क्षणेन वसुधाधिप ।
द्वारं चाभिमुखाः सर्वे बभूवुः प्रेक्षकास्तदा ॥५८॥

अर्थ—हे राजन् ! रङ्गभवन में क्षणभर के लिये दर्शक लोगों को ऐसा भान हुआ कि मानो पहाड़ गिर रहे हैं वा भूमी फट रही है अथवा मूसलधार वरसाने वाले बादलों से आकाश भर रहा है ? उस समय सब दर्शक लोग रङ्गभवन के द्वार की ओर अभिमुख होगये ॥

पंचभिर्भ्रातृभिः पार्थैर्द्रोणः परिवृतोबभौ ।
पञ्चतारेण संयुक्तः सवित्रेणेव चन्द्रमाः ॥५९॥

अर्थ—उस समय पांचो भाई पाण्डवों से घिरे हुए द्रोणाचार्य ऐसे शोभायमान प्रतीत होते थे जैसे सूर्य सम्बन्धी पांच तारों से चन्द्रमा सुशोभित होता है ॥

अश्वत्थाम्ना च सहितं भ्रातॄणां शतमूर्जितम् ।
दुर्योधनममित्रघ्नमुत्थितं पर्यवारयत् ॥६०॥
स तैस्तदा भ्रातृभिरुद्यतायुधैर्गदाग्रपाणिः-
समवस्थितैर्वृतः । बभौ यथा दानवसंक्षये
पुरा पुरन्दरो देवगणैः समावृतः ॥६१॥

अर्थ—उस समय अश्वत्थामा के सहित अमित्रघ्न=शत्रुओं के हनन करने वाला दुर्योधन वहां खड़ा हुआ अपने बलवान् सौ भाईयों से घिरा हुआ था, उस समय गदा हाथ में लिये हुए दुर्योधन नियम से खड़े हुए तथा शस्त्र उठाये हुए सौ भाइयों के बीच ऐसा शोभायमान प्रतीत होता था जैसे

प्राचीन समय में दस्युओं के नाश होने पर देवताओं से घिरा हुआ राजा इन्द्र प्रतीत होता था ॥

इति सप्तदशोऽध्यायः समाप्तः

अथ अष्टादशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

दत्तेऽवकाशे पुरुषैर्विस्मयोत्फुल्ललोचनैः ।
विवेश रंग विस्तीर्णं कर्णः परपुरञ्जयः ॥१॥
सहजं कवचं बिभ्रत्कुण्डलोद्योतिताननः ।
सधनुर्बद्ध निस्त्रिंशः पादचारीव पर्वतः ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! अचम्भे से फैले हुए नेत्रों वाले पुरुषों से अवकाश दिये जाने पर उस भारी रङ्ग भवन में शत्रुओं के नगरों को विजय करने वाला "कर्ण" प्रविष्ट हुआ, वह अपना सदा का कवच पहने, कानों में कुण्डलों से शोभायमान, धनुष तथा तलवार बांधे हुए चलते पहाड़ के समान प्रतीत होता था ॥

सिंहर्षभगजेन्द्राणां बलवीर्य पराक्रमः ।
दीप्तिकान्तिद्युतिगुणैः सूर्येन्दुज्वलनोपमः ।
प्रांशुः कनकतालाभः सिंहसंहननो युवा ॥३॥

अर्थ—वह बल और पराक्रम में सिंह, वृषभ तथा हाथी के तुल्य, तेज में सूर्य्य, छवि में चन्द्रमा और प्रकाश में अग्नि के समान था, वह युवक सुवर्ण के तालवृक्ष के समान ऊंचा और सुन्दर रूप तथा उत्तम अङ्गों वाला था ॥

स निरीक्ष्य महाबाहुः सर्वतो रङ्गमण्डलम् ।
प्रणामं द्रोणकृपयोर्नात्यादृतमिवाकरोत् ॥४॥
स समाजजनः सर्वे निश्चलः स्थिरलोचनः ।
कोऽयमित्यागतक्षोभः कौतूहलपरोऽभवत् ॥५॥

अर्थ–महाबाहु कर्ण ने चारो ओर रङ्गमण्डल का अवलोकन कर द्रोणाचार्य्य तथा कृपाचार्य्य को विना आदर=बे पर्वाही से प्रणाम किया, उसकी यह धृष्टता देखकर वहां का सब जनसमाज क्रोध में भरा हुआ निश्चल और टकटकी बांधे हुए इस उत्कण्ठा में तत्पर हुआ कि यह कौन धृष्ट पुरुष आया है ॥

सोऽब्रवीन्मेघगम्भीरस्वरेण वदतांवरः ।
भ्राता भ्रातरमज्ञातं सावित्रः पाकशासनिम् ॥६॥
पार्थ यत्ते कृतं कर्म विशेष वदहं ततः ।
करिष्ये पश्यतां नृणां मात्मना विस्मयं गमः ॥७॥

अर्थ–तब बोलने वालों में श्रेष्ठ कर्ण अपने अज्ञात भाई इन्द्रपुत्र अर्जुन से मेघ समान ऊंचे शब्द द्वारा इस प्रकार बोला कि हे पृथा के पुत्र अर्जुन! तैंने जो २ कर्म इन दर्शक लोगों के सामने दिखलाये हैं मैं उन सबको और भी अच्छी रीति से दिखलाता हूं तू अभिमान न कर ॥

असमाप्ते ततस्तस्य वचने वदतांवर ।
यंत्रोत्क्षिप्त इवोत्तस्थौ क्षिप्रं वै सर्वतो जनः ॥८॥
प्रीतिश्चमनुजव्याघ्र दुर्योधनमुपाविशत् ।
ह्रीश्च क्रोधश्च बीभत्सुं क्षणेनान्वाविवेश ह ॥९॥

अर्थ—हे उत्तम वक्ता राजन् ! तब उसका वचन समाप्त भी न होपाया था कि वहां सब ओर के मनुष्य ऐसे शीघ्रता से उठ खड़े हुए कि मानो किसी यन्त्र ने उनको एकाएक ऊपर उठा दिया है, हे सिंहपुरुष राजन् ! दुर्योधन को उस समय बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ और अर्जुन को क्षणभर के लिये लज्जा तथा क्रोध का आवेश हो आया ॥

ततो द्रोणाभ्यनुज्ञातः कर्णः प्रियरणः सदा ।
यत्कृतं तत्र पार्थेन तच्चकार महाबलः ॥१०॥
अथ दुर्योधनस्तत्र भ्रातृभिः सह भारत ।
कर्णं परिष्वज्य मुदा ततो वचनमब्रवीत् ॥११॥

अर्थ—तत्पश्चात् द्रोणाचार्य की अनुमति से जो २ कुछ अर्जुन ने कार दिखलाया था वह सब महाबली सदा युद्धप्रिय कर्ण ने कर-दिखाया, हे भारतीय नरेश ! इसके अनन्तर अपने भाइयों समेत दुर्योधन आनन्दपूर्वक कर्ण को आलिङ्गन करके बोला कि :—

दुर्योधन उवाच

स्वागतं ते महाबाहो दिष्ट्या प्राप्तोऽसिमानद ।
अहं च कुरुराज्यं च यथेष्टमुपभुज्यताम् ॥१२॥

कर्ण उवाच

कृतं सर्वमहं मन्ये सखित्वं च त्वया वृणे ।
द्वन्द्व युद्ध च पार्थेन कर्त्तुमिच्छाम्यहं प्रभो ॥१३॥

अर्थ—दुर्योधनबोला कि हे दूसरों को मान देने वाले महाबाहु ! आपका स्वागत हो, आप हमें सौभाग्य से मिले हैं, मुझसे और कौरवों के राज्य से यथेष्ट सेवा लीजिये ॥

अर्थ–तब कर्ण बोला कि हे राजन् ! मैं आपका सब उपकार मानता हुआ आपसे मित्रता चाहता हूं और इस पृथा के पुत्र अर्जुन से मेरी द्वन्द्वयुद्ध करने की इच्छा है ॥

दुर्योधन उवाच

भुङ्क्ष्व भोगान्मया सार्द्धं बन्धूनां प्रियकृद्भव ।
दुर्हृदां कुरु सर्वेषां मूर्ध्नि पादमरिन्दम ॥१४॥

वैशम्पायन उवाच

ततः क्षिप्तमिवात्मानं मत्वा पार्थोऽभ्यभाषत ।
कर्णं भ्रातृसमूहस्य मध्येऽचलमिव स्थितम् ॥१५॥

अर्थ–दुर्योधन बोला कि हे शत्रुओं के दमन करने वाले कर्ण ! आप मेरे साथ रहकर भोगों को भोगें, बन्धुओं के हितकारी बनें तथा सम्पूर्ण शत्रुओं के सिर पर लात रखने वाले हों ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तब पृथा का पुत्र अर्जुन अपने ऊपर आक्षेप किया हुआ समझकर भाइयों के समूह में पर्वत के समान खड़े हुए कर्ण से बोला कि :–

अनाहूतोपदिष्टानामनाहूतोपजल्पिनाम् ।
ये लोकास्तान् हतः कर्ण मयात्वं प्रतिपत्स्यसे ॥१६॥

अर्थ–हे कर्ण ! विना आज्ञा उपदेश सुनने को आया हुआ वा विना पूछे उपदेश करने वाला जिस गति को प्राप्त होता है उसी गति को मुझसे मारा हुआ तू प्राप्त होगा ॥

कर्ण उवाच

रंगोऽयं सर्वसामान्यः किमत्र तव फाल्गुन ।
वीर्यश्रेष्ठाश्च राजानो बलं धर्मोऽनुवर्त्तते ॥१७॥

किं क्षेपैर्दुर्बलायासैः शरैः कथय भारत ।
गुरोः समक्षं यावत्ते हराम्य शिरः शनैः ॥ १८ ॥

अर्थ—तब कर्ण बोला कि हे अर्जुन ! यह रङ्गभवन सर्वसाधारण का है तुम्हारा यहां क्या है ? यहां बड़े २ वीर राजा बैठे हुए हैं, और धर्म सदा बल के साथ रहता है, हे भरतवंशी अर्जुन ! बता दुर्बल पर प्रहार करने वाले इन बाणों से क्या ? मैं अभी गुरुजी के सन्मुख अपने बाणों से सहज में ही तुम्हारा सिर काट सकता हूं ॥

ततो द्रोणाभ्यनुज्ञातः पार्थः परपुरञ्जयः ।
भ्रातृभिस्त्वरयाश्लिष्टो रणायोपजगामतम् ॥ १९ ॥
ततो दुर्योधनेनापि सभ्रात्रा समरोद्यतः ।
परिष्वक्तः स्थितः कर्णः प्रगृह्य सशरं धनुः ॥२०॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तब शत्रुविजयी अर्जुन द्रोणाचार्य से अनुमति ले तथा शीघ्रता से भाइयों को आलिङ्गन करके युद्ध के लिये कर्ण के समीप पहुंचा, तत्पश्चात् धनुष बाण उठाये युद्ध के लिये तैयार खड़े हुए कर्ण को दुर्योधन और उसके भाइयों ने भी आलिङ्गन किया ॥

धार्त्तराष्ट्रा यतः कर्णस्तस्मिन्देशे व्यवस्थिताः ।
भारद्वाजः कृपो भीष्मो यतः पार्थस्ततोऽभवन् ॥२१॥
द्विधा रंगः समभवत् स्त्रीणां द्वैधमजायत ।
कुन्तिभोजसुतामोहं विज्ञातार्थाजगाम ह ॥ २२ ॥

अर्थ—धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन आदि जिस ओर कर्ण था उस ओर खड़े रहे और अर्जुन की ओर द्रोणाचार्य, कृपाचार्य

तथा भीष्मजी खड़े हुए, तब रङ्गसमाज के दो विभाग होगये और स्त्रियों के भी दो भाग बनगये, कुन्ती अपने दोनो पुत्रों के युद्ध की बात समझकर मूर्छित होगई ॥

तां तथा मोहमापन्नां विदुरः सर्वधर्मवित् ।
कुन्तीमाश्वासयामास प्रेष्याभिश्चन्दनोदकैः ॥ २३ ॥
ततः प्रत्यागतप्राणा तावुभौ परिदंशितौ ।
पुत्रौ दृष्ट्वा सुसंभ्रान्तानान्वपद्यत किंचन ॥२४॥

अर्थ–सब धर्मों के ज्ञाता विदुरजी ने कुन्ती को मूर्छित हुई देखकर दासियों द्वारा चन्दन के शीतल जलों से चैतन्य किया, तब सुध संभालकर कुन्ती उन दोनो पुत्रों को परिदंशित=युद्ध के लिये तैयार देखकर भ्रम में पड़गई और उसे कुछ नहीं सूझा ॥

तावुद्यतमहाचापौ कृपः शारद्वतोऽब्रवीत् ।
द्वन्द्वयुद्ध समाचारे कुशलः सर्वधर्मवित् ॥२५॥
अयं पृथायास्तानयः कनीयान् पाण्डुनन्दनः ।
कौरवो भवता सार्धं द्वन्द्वयुद्ध करिष्यति ॥२६॥

अर्थ–द्वन्द्वयुद्ध के व्यवहार में निपुण सर्वधर्मज्ञाता शरद्वत् के पुत्र कृपाचार्य्य बड़े २ धनुष उठाये हुए उन दोनों=कर्ण, अर्जुन के प्रति बोले कि हे कर्ण ! यह अर्जुन कुन्ती और पाण्डु का छोटा पुत्र तथा कुरुवंशी होते हुए तुम्हारे साथ द्वन्द्वयुद्ध करेगा, परन्तु :–

त्वमप्येवं महाबाहो मातरं पितरं कुलम् ।
कथयस्व नरेन्द्राणां येषां त्वं कुलभूषणं ॥ २७ ॥
ततो विदित्वा पार्थस्त्वां प्रतियोत्स्यति वा नवा ।

वृथाकुलसमाचारैर्नयुध्यन्ते नृपात्मजाः ॥ २८ ॥

अर्थ—हे महाबाहु ! तुम भी अपने माता पिता तथा कुल का वर्णन करो जिन राजाओं के तुम कुलभूषण हो ? इसके पश्चात् अर्जुन तुम्हारा समाचार जानकर तुम्हें यदि अपने समान कुलीन समझेगा तो युद्ध करेगा अन्यथा नहीं, क्योंकि राजकुमार अकुलीन पुरुषों के साथ युद्ध नहीं करते ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्य कर्णस्य व्रीडावनतमाननम् ।
बभौ वर्षाम्बुविक्लिन्नं पद्ममागलितं यथा ॥ २९ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! ऐसा कहा जाने पर कर्ण का मुख लज्जा के मारे नीचा हुआ २ ऐसा प्रतीत होने लगा जैसा वर्षाऋतु के पानी से गलकर झुका हुआ कमल होजाता है ॥

दुर्योधन उवाच

आचार्य त्रिविधा योनी राज्ञां शास्त्रविनिश्चये ।
सत्कुलीनश्च शूरश्च यश्च सेनां प्रकर्षति ॥ ३० ॥
यद्ययं फाल्गुनो युद्धे नाराज्ञा योद्धुमिच्छति ।
तस्मादेषोऽङ्गविषये मया राज्येऽभिषिच्यते ॥३१॥

अर्थ—दुर्योधन बोला कि हे आचार्य्य ! शास्त्रसिद्धान्त में राजा होने के तीन कारण बताये हैं, (१) सत्कुलीन=ख़ान्दानी होना (२) शूरवीर (३) जो सेना का आकर्षण करसके, यदि अर्जुन राजा के अतिरिक्त किसी के साथ युद्ध करना नहीं चाहता तो कर्ण को मैं इसी समय अङ्गदेश=चम्पारन प्रान्त का राज्यतिलक देता हूं ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तस्मिन् क्षणे कर्णः सलाजकुसुमैर्घटैः ।
कांचनैः कांचने पीठे मन्त्रविद्भिर्महारथः ॥३२॥
अभिषिक्तोंगराज्यस्य श्रिया युक्तो महाबलः ।
सच्छत्रवालव्यजनो जयशब्दोत्तरेण च ॥३३॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तब उसी क्षण में महा योद्धा कर्ण सोने के सिंहासन पर बिठाया गया और वेदमन्त्रों के ज्ञाता पुरुषों ने लाजा तथा फूलों सहित सोने के घटों द्वारा अङ्गदेश का राजा बनाने के लिये अभिषेक=स्नान कराया जिसमें छत्र, चवर और जयशब्द का प्रयोग भी किया गया था ॥

उवाच कौरवं राजा वचनं स वृषस्तदा ।
अस्य राज्यप्रदानस्य सदृशं किं ददानि ते ॥३४॥
प्रब्रूहि राजशार्दूल कर्त्ता ह्यस्मि तथा नृप ।
अत्यन्तं सख्यमिच्छामीत्याह तं स सुयोधनः ॥३५॥

अर्थ–तब वह श्रेष्ठ राजा कर्ण कुरुवंशी दुर्योधन से बोला कि इस राज्यदान के बदले में कौन वस्तु इसके सदृश्य तुम्हें दूं ? हे राजाओं में सिंह समान ! जैसी आप आज्ञा करें वैसा ही करूं, इस पर दुर्योधन ने कहा कि मैं इसके बदले में आपसे घनिष्ट मित्रता चाहता हूं ॥

एवमुक्तस्ततः कर्णस्तथेति प्रत्युवाचतम् ।
हर्षाच्चोभौ समाश्लिष्य परांमुदमवापतुः ॥३६॥

अर्थ–दुर्योधन के ऐसा कहने पर कर्ण ने उत्तर दिया कि "ऐसा ही होगा" तब हर्ष से दोनों आपस में आलिङ्गन कर परम प्रसन्न हुए ॥

इति अष्टादशोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकोनविंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततः स्रस्तोत्तरपटः सप्रस्वेदः सवेपथुः ।
विवेशाधिरथो रंगं यष्टिप्राणो ह्वयन्निव ॥१॥
समालोक्य धनुस्त्यक्त्वा पितृगौरवमन्त्रितः ।
कर्णोऽभिषेकार्द्रशिराः शिरसा समवन्दत ॥२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तब यष्टिप्रमाण=लाठी के सहारे चलने वाला "अधिरथ" नामक सूत=कर्ण का पिता बुलाता हुआ सा रङ्गभवन में प्रविष्ट हुआ जिसका प्रेम के वेग से ऊपरी वस्त्र नीचे खिसका हुआ तथा शरीर में पसीना और कम्प होरहा था, राज्याभिषेक से भीगे हुए सिर वाले कर्ण ने उनको देखते ही पितृसत्कार के लिये विवश हो धनुष छोड़कर सिर से बन्दना की ॥

ततः पादाववच्छाद्य पटान्तेन ससंभ्रमः ।
पुत्रेति परिपूर्णार्थमब्रवीद्रथ सारथिः ॥ ३ ॥

परिष्वज्य च तस्याथ मूर्द्धानं स्नेहविक्लवः ।
अंगराज्याभिषेकार्द्रमश्रुभिः सिषिचे पुनः ॥ ४ ॥

अर्थ–तब उस रथ के सारथि ने कपड़े के अंचल से पैरों को ढांपकर आदर के साथ उसको पूर्णरूप से "पुत्र" ऐसा कहा, पश्चात् स्नेह के वशीभूत हुए २ सारथि ने उसको आलिङ्गन करके उसके मस्तक पर जो अङ्गदेश के राज्याभिषेक का जल सिंचन किया हुआ था, फिर उसको आसुओं के जल से सिञ्चन किया ॥

तं दृष्ट्वा सूतपुत्रोऽयमिति संचिन्त्य पाण्डवः ।
भीमसेनस्तदावाक्यमब्रवीत्प्रहसन्निव ॥ ५ ॥
न त्वमर्हसि पार्थेन सूतपुत्ररणे वधम् ।
कुलस्य सदृशस्तूर्णं प्रतोदो गृह्यतां त्वया ॥ ६ ॥

अर्थ–यह घटना देखकर पाण्डवों ने समझा कि यह तो सूत जाति का पुत्र है, तब भीमसेन मुसकराकर उससे बोला कि हे सूतपुत्र कर्ण ! तू राजपुत्र अर्जुन से युद्ध द्वारा बध किये जाने योग्य नहीं, सो अब तू अपने कुल के अनुसार ही शीघ्र दण्ड ग्रहण कर ॥

अङ्गराज्यं च नार्हस्त्वमुपभोक्तुं नराधम ।
श्वा हुताशसमीपस्थं पुरोडाशमिवाध्वरे ॥७॥

अर्थ–हे अधम नर ! तू अङ्गदेश के राज्य का भी अधिकारी नहीं, जैसे यज्ञ में अग्नि के समीप रखे हुए पुरोडाश का अधिकारी कुत्ता नहीं होसकता ॥

ततो दुर्योधनः कोपादुत्पपात महाबलः ।
भ्रातृपद्मवनात्तस्मान्मदोत्कट इव द्विपः॥८॥

सोऽब्रवीद्भीमकर्माणं भीमसेनमवस्थितम् ।
वृकोदर न युक्तं ते वचनं वक्तुमीदृशम् ॥९॥

अर्थ–तब महाबली दुर्योधन क्रोध में भरकर अपने सौ भाइयों रूप कमल बन से मतवाले हाथी के समान कूदकर सामने आ खड़ा हुआ और समीप खड़े हुए कठिनकर्म करने वाले भीमसेन से बोला कि हे भीमसेन ! तुम्हें ऐसी बात कहना उचित नहीं ॥

क्षत्रियाणां बलं ज्येष्ठं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना ।
शूराणां च नदीनां च दुर्विदाः प्रभवाः किल ॥१०॥
क्षत्रियेभ्यश्च ये जाता ब्राह्मणास्ते च ते श्रुताः ।
विश्वामित्रप्रभृतयः प्राप्ता ब्रह्मत्वमव्ययम् ॥११॥

अर्थ–क्षत्रियों में बल ही प्रधान होता है, सो इस प्रकार के क्षत्रिय भाई से युद्ध करना उचित ही है, क्योंकि वीरों तथा नदियों की उत्पत्ति जानना बड़ा कठिन है, आपने सुना है कि जो क्षत्रियों से उत्पन्न हुए थे वह ब्राह्मण बन गये, जैसे विश्वामित्र आदि अखण्ड ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए ॥

पृथिवीराज्यमर्होऽयं नांगराज्यं नरेश्वरः ।
अनेन बाहुवीर्येण मया चाज्ञानुवर्त्तिना ॥१२॥
यस्य वा मनुजस्येदं न क्षान्तं मद्विचेष्टितम् ।
रथमारुह्य पद्भ्यां स विनामयतु कार्मुकम् ॥१३॥

अर्थ–यह राजा अपने भुजबल तथा मुझ आज्ञाकारी सेवक की सहायता से अङ्गदेश तो क्या पृथ्वीभर के राज्य का अधिकारी है, सो जिस मनुष्य को मेरा यह कथन असह्य प्रतीत

हो वह रथ पर चढ़ पैरों से इस धनुष को झुकाकर दिखलावे ॥

ततः सर्वस्य रंगस्य हाहाकारो महानभूत ।
साधुवादानुसंबद्धः सूर्यश्चास्तमुपागमत् ॥१४॥
ततो दुर्योधनः कर्णमालम्ब्याग्रकरे नृपः ।
दीपिकाग्निकृतालोकस्तस्माद्रंगाद्विनिर्ययौ ॥१५॥

अर्थ—दुर्योधन के कथनानन्तर सारे रङ्गभवन में हाहाकार मच गया और लोगों की वाह वाह के साथ ही सूर्य भी अस्त हो चला, तब राजा दुर्योधन कर्ण का हाथ पकड़कर दीपकों के प्रकाश में रङ्गभवन से चला गया ॥

पाण्डवाश्च सहद्रोणाः सकृपाश्च विशाम्पते ।
भीष्मेण सहिताः सर्वे ययुः स्वं स्वं निवेशनम् ॥१६॥
अर्जुनेति जनः कश्चित्कश्चित्कर्णेति भारत ।
कश्चिद्दुर्योधनेत्येवं ब्रुवन्तः प्रस्थितास्तदा ॥१७॥

अर्थ—हे भारतीय राजन् ! तब पाण्डव द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और भीष्मजी यह सब अपने २ घर गये और अन्य लोग भी कई एक अर्जुन को तथा कई एक दुर्योधन को धन्यवाद देते हुए वहां से चल दिये ॥

कुन्त्याश्च प्रत्यभिज्ञाय दिव्यलक्षणसूचितम् ।
पुत्रमंगेश्वरं स्नेहाच्छन्ना प्रीतिरजायत ॥१८॥
दुर्योधनस्यापि तदा कर्णमासाद्य पार्थिव ।
भयमर्जुनसंजातं क्षिप्रमन्तरधीयत ॥१९॥

अर्थ—अद्भुत शुभ लक्षणों से युक्त पुत्र अङ्गराज कर्ण को पहचानकर कुन्ती की भी स्नेह से छिपी हुई प्रीति उत्पन्न होगई, हे राजन् ! तब दुर्योधन को जो अर्जुन का भय उत्पन्न हुआ था सो कर्ण को पाकर शीघ्र ही लुप्त होगया ॥

स चापि वीरः कृतशस्त्रनिःश्रमः परेण साम्नाभ्य वदत्सुयोधनम् । युधिष्ठिरस्याप्यभवत्तदा मतिर्न कर्णतुल्योऽस्ति धनुर्धरः क्षितौ ॥ २० ॥

अर्थ—शस्त्रविद्या में परिश्रम किये हुए वीर कर्ण ने भी परम सान्त्वना=धैर्य देते हुए दुर्योधन से सम्भाषण किया और उस दिन से युधिष्ठिर के चित्त में भी यह बात बैठ गई कि कर्ण के समान धनुर्धारी पृथ्वीभर में अन्य कोई नहीं ॥

इति एकोनविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ विंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततः संवत्सरस्यान्ते यौवराज्याय पार्थिव ।
स्थापितो धृतराष्ट्रेण पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ॥१॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तब एकवर्ष पश्चात् धृतराष्ट्र ने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर को युवराज्य पद पर स्थापित करादिया ॥

धृतिस्थैर्यसहिष्णुत्वादानृशंस्यात्तथार्जवात् ।
भृत्यानामनुकम्पार्थं तथैव स्थिरसौ हृदात् ॥२॥

ततोऽदीर्घेण कालेन कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
पितुरन्तर्दधे कीर्त्तिं शीलवृत्तसमाधिभिः ॥३॥

अर्थ–तब कुन्ती के पुत्र युधिष्ठिर ने धैर्य, गम्भीरता, सहिष्णुता, दयालुता, सेवकों पर कृपा, स्थिर मित्रता, उत्तम शील, आचरण तथा नियमों द्वारा अधिक काल में अपने पिता की कीर्त्ति को लोगों के चित्त से भुला दिया ॥

असियुद्धे गदायुद्धे रथयुद्धे च पाण्डवः ।
संकर्षणादशिक्षद्धै शश्वच्छिक्षां वृकोदरः ॥४॥

अर्थ–पाण्डुपुत्र भीमसेन भी खड्गयुद्ध, गदायुद्ध तथा रथयुद्ध की शिक्षा बलराम से सदा ग्रहण करता था ॥

प्रगाढदृढमुष्टित्वे लाघवे वेधने तथा ।
क्षुरनाराचभल्लानां विपाठानां च तत्त्ववित् ॥५॥
ऋजुवक्रविशालानां प्रयोक्ता फाल्गुनोऽभवत् ।
लाघवे सौष्ठवे चैव नान्यः कश्चन विद्यते ।
बीभत्सुसदृशो लोके इति द्रोणो व्यवस्थितः ॥६॥

अर्थ–अर्जुन भी तलवार आदि की मूठ पकड़ने में अत्यन्त दृढ़ता, प्रयोग करने में शीघ्रता, वेधन तथा सीधे, टेढ़े वा बड़े २ छुरे, बाण, भाले और विपाठाओं के प्रयोग करने में निपुण होगया और द्रोणाचार्य को यह विश्वास होगया कि शस्त्रों के प्रयोग की शीघ्रता और उत्तमता में अर्जुन के समान कोई भी पुरुष पृथ्वी पर नहीं ॥

ततोऽब्रवीद्गुडाकेशं द्रोणः कौरवसंसदि ।

अगस्त्यस्य धनुर्वेदे शिष्यो ममगुरुः पुरा ।
अग्निवेश इति ख्यातस्तस्य शिष्योऽस्ति भारत ॥७॥

अर्थ–तब द्रोणाचार्य कौरवों की सभा में अर्जुन से बोले कि हे भारतीय ! पहले समय में मेरा गुरु "अग्निवेश" नाम से प्रसिद्ध धनुर्वेद में अगस्त्य मुनि का शिष्य था, सो मैं उस "अग्निवेश" का शिष्य हूं ॥

तपसा यन्मया प्राप्तममोघमशानिप्रभम् ।
अस्त्रं ब्रह्मशिरो नाम यद्दहेत्पृथिवीमपि ॥८॥
ददता गुरुणा चोक्तं न मनुष्येष्विदं त्वया ।
भारद्वाज विमोक्तव्यमल्पवीर्येष्वपि प्रभो ॥९॥

अर्थ–हे राजन्! मैंने तप के आचरण द्वारा अपने गुरु से "ब्रह्मशिर" नामक अस्त्र पाया है, जो कभी खाली नहीं जाता और वज्र के समान तीव्र तथा पृथ्वी को भी जला सकता है, गुरु ने इस अस्त्र को देते हुए मुझसे कहा था कि हे द्रोण ! इस अस्त्र का प्रयोग तुम थोड़े पराक्रम वाले पुरुषों पर न करना ॥

त्वया प्राप्तमिदं वीर दिव्यं नान्योऽर्हतित्विदम् ।
समयस्तु त्वया रक्ष्यो मुनिसृष्टो विशांपते ॥१०॥

अर्थ–हे वीर अर्जुन ! यह मेरा अद्भुत अस्त्र तुझे प्राप्त हो गया है, क्योंकि और कोई इसका अधिकारी नहीं, परन्तु मुनि=मेरे गुरु के बताये नियम का तुम सदा पालन करना ॥

आचार्यदक्षिणां देहि ज्ञातिग्रामस्य पश्यतः ।
ददानीति प्रतिज्ञाते फाल्गुनेनाब्रवीद् गुरुः ।

युद्धेऽहं प्रतियोद्धव्यो युद्ध्यमानस्त्वयोऽनघ ॥११॥

अर्थ–तब बन्धु लोगों के समक्ष द्रोणाचार्य ने कहा कि अच्छा अब तुम मुझे "गुरु दक्षिणा दो" इस पर अर्जुन ने कहा कि "देता हूं" तब गुरु बोले कि हे निष्पाप ! "मैं यही दक्षिणा चाहता हूं" कि जब कभी युद्ध का समय आवे तो मेरे साथ तुम्हीं युद्ध करना॥

तथेति च प्रतिज्ञाय द्रोणाय कुरुपुङ्गवः ।
उपसंगृह्य चरणौ स प्रायादुत्तरां दिशम् ॥ १२ ॥

अर्थ–इस पर कुरुवंश में श्रेष्ठ अर्जुन ने प्रतिज्ञा की कि "ऐसा ही करूंगा" पश्चात् वह गुरु के चरणों में प्रणाम कर उत्तर दिशा की ओर चला गया ॥

स्वभावादगमच्छब्दो महीं सागरमेखलाम् ।
अर्जुनस्य समो लोके नास्ति कश्चिद्धनुर्धरः ॥ १३ ॥
गदायुद्धेऽसियुद्धे च रथयुद्धे च पाण्डवः ।
पारगश्च धनुर्युद्धे बभूवाथ धनञ्जयः ॥ १४ ॥

अर्थ–समुद्ररूपी मेखला धारण किये हुए सारी भारतभूमी पर यह बात स्वभाव से फैलगई कि अर्जुन के समान धनुर्धारी लोक=देश में कोई नहीं है, क्योंकि पाण्डव अर्जुन गदायुद्ध, असि युद्ध, रथयुद्ध तथा धनुष के युद्ध में भी पारगामी होगया था॥

न शशाक वशीकर्त्तुं यं पाण्डुरपि वीर्यवान् ।
सोऽर्जुनेन वशंनीतो राजासीद्यवनाधिपः ।
अतीव बलसंपन्नः सदा मानी कुरून् प्रति ॥ १५ ॥

अर्थ–यवनों का राजा जिसको पराक्रमी पाण्डु भी वश में न

कर सके थे उस अत्यन्त बलवान् तथा कुरुवंशियों के प्रति सदा घमण्ड रखने वाले राजा को अर्जुन ने अपने वश में करलिया ॥

वितुलो नाम सौवीरः शस्तः पार्थेन धीमता ।
दत्तामित्र इति ख्यातं संग्रामे कृतनिश्चयम् ।
सुमित्रं नामसौवीरमर्जुनोऽदमयच्छरैः ॥ १६ ॥

अर्थ–सुवीर के पुत्र "वितुल" नामक वीर का बुद्धिमान् अर्जुन ने युद्ध में हनन किया तथा सुवीर के पुत्र "दत्तामित्र" नाम से प्रसिद्ध युद्ध के लिये निश्चय किये हुए "सुमित्र" वीर को भी अर्जुन ने अपने बाणों द्वारा वश में करलिया ॥

भीमसेनसहायश्च रथानामयुतं च सः ।
अर्जुनः समरे प्राच्यान् सर्वानेकरथोऽजयत् ॥१७॥
तथैवैकरथो गत्वा दक्षिणामजयद्दिशम् ।
धनौघं प्रापयामास कुरुराष्ट्रं धनञ्जयः ॥ १८ ॥

अर्थ–पश्चात् अर्जुन ने भीमसेन के साथ एक रथ लिये हुए पूर्वदिशा की ओर जाकर युद्ध में दशहज़ार रथ जीते तथा पूर्व के सब राजाओं को विजय करलिया, इसी प्रकार अर्जुन ने एक रथ से दक्षिण दिशा की ओर जाकर वहां के सब राजाओं को विजय किया और वहां जो धन मिला उसे वह कुरुदेश को पहुंचाता रहा ॥

एवं सर्वे महात्मानः पाण्डवा मनुजोत्तमाः ।
परराष्ट्राणि निर्जित्य स्वराष्ट्रं ववृधुः पुरा ॥ १९ ॥
ततो बलमतिख्यातं विज्ञाय दृढधन्विनाम् ।

दूषितः सहसा भावो धृतराष्ट्रस्य पाण्डुषु ।
स चिन्तापरमो राजा न निद्रामलभन्निशि ॥ २० ॥

अर्थ—इस प्रकार प्राचीन काल में महात्मा पाण्डवों ने अन्य देशों को विजय करके अपने देश की वृद्धि की, तब दृढ़ धनुर्धारी पाण्डवों के बल की अत्यन्त ख्याति सुनकर राजा धृतराष्ट्र का भाव पाण्डवों के प्रति एकाएक बदल गया और उसको परम चिन्ता में पड़े हुए रात को नींद भी नहीं आई ॥

वैशम्पायन उवाच

तत आहूय मन्त्रज्ञं राजशास्त्रार्थवित्तमम् ।
कणिकं मन्त्रिणा श्रेष्ठं धृतराष्ट्रोऽब्रवीद्वचः ॥ २१ ॥
उत्सिक्ताः पाण्डवाः नित्यं तेभ्योऽसूये द्विजोत्तम ।
तत्र मे निश्चिततमं सन्धिविग्रहकारणम् ।
कणिकत्वं ममाचक्ष्व करिष्ये वचनं तव ॥२२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हेराजन् ! तब धृतराष्ट्र अपने सलाह-बुलाकर हकार नीतिशास्त्र के तत्ववेत्ता श्रेष्ठमन्त्री "कणिक" को कहने लगे कि हे द्विजोत्तम कणिक! पाण्डव दिन पर दिन बढ़ते जाते हैं और मुझे उनसे ईर्षा है सो तुम सन्धि वा विग्रह का कोई ऐसा उपाय बताओ जो अत्यन्त निश्चित हो, मैं तुम्हारा कहना करूंगा ॥

वैशम्पायन उवाच

स प्रसन्नमनास्तेन परिपृष्टो द्विजोत्तमः ।
उवाच वचनं तीक्ष्णं राजशास्त्रार्थदर्शनम् ॥२३॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! धृतराष्ट्र के ऐसा पूछने पर नीतिशास्त्र के तत्व का ज्ञाता द्विजोत्तम कणिक मन में प्रसन्न

हुआ २ इस प्रकार तीव्र बचन बोला कि :—

भृणुराजन्निदंतत्र प्रोच्यमानं मयानघ ।
न मेऽभ्यसूया कर्त्तव्या श्रुत्वैतत् कुरुसत्तम ॥२४॥
नित्यमुद्यतदण्डः स्यान्नित्यं विवृतपौरुषः ।
अच्छिद्रश्छिद्रदर्शी स्यात्परेषां विवरानुगः ॥२५॥

अर्थ–हे निष्पाप कुरुश्रेष्ठ राजन्! मेरा यह कथन सुनें परन्तु सुनकर मुझे दोष न दें, मनुष्य को चाहिये कि ओरों को दण्ड देता हुआ अपने प्रताप को सदा प्रकाशित करता रहे, दूसरों को अपनी हानि करने का अवकाश न दे, किन्तु शत्रुओं का छिद्रान्वेषी रहकर सदा अवकाश ढूंढता रहे ॥

नित्यमुद्यतदण्डाद्धि भृशमुद्विजते जनः ।
तस्मात्सर्वाणि कार्याणि दण्डेनैव विधारयेत् ॥२६॥
नास्य छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेण परमन्वियात् ।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥२७॥

अर्थ–सदा दण्ड देने वाले पुरुष से सब कोई अत्यन्त भय करता है, इसलिये सब कार्यों को दण्ड से ही सुरक्षित रखे, अपना दोष दूसरे को न देखने दे, किन्तु दूसरे के दोष को ढूंढता रहे तथा अपने दोषों को ऐसे गुप्त रखे जैसे कछुवा अपने अङ्गों को छिपाये रखता है ॥

नासम्यक्कृतकारीस्यादुपक्रम्य कदाचन ।
कंटको ह्यपि दुश्छिन्न आस्रावं जनयेच्चिरम् ॥२८॥
वधमेव प्रशंसंति शत्रूणामपकारिणाम् ।

सुविदीर्णं सुविक्रान्तं सुयुद्धं सुपलायतम् ।
आपद्यापदि काले च कुर्वीत न विचारयेत् ॥२९॥

अर्थ—कभी अनुचित रूप से किसी पर आक्रमण करके कार्य न करे, क्योंकि उलटी रीति से आक्रमण किया हुआ कांटा भी चिरकाल तक रक्त बहाता है, हानिकारक शत्रुओं का मार डालना ही प्रशंसनीय है, जब २ आपत्ति का समय आवे तब २ समय के अनुसार युद्ध, पराक्रम, दूसरे का विनाश करना अथवा देशकाल देखकर पीछे हटजाना, इन बातों को बिना विचारे करे ॥

नावज्ञेयो रिपुस्तात दुर्बलोऽपि कथंचन ।
अल्पोऽप्यग्निर्वनं कृत्स्नं दहत्याश्रयसंश्रयात् ॥३०॥
अन्धःस्यादन्धवेलायां वाधिर्यमपि चाश्रयेत् ।
कुर्यात्तृणमयंचापं शयीत मृगशायिकाम् ॥३१॥

अर्थ—हे तात ! दुर्बल शत्रु को भी बेपर्वाही से कभी न छोड़े, क्योंकि थोड़ा अग्नि भी आश्रय पाकर सारे बन को जला देता है, कभी अन्धा बनने की आवश्यकता समझे तो देखता हुआ भी अन्धा बनजाय तथा समय पड़ने पर बहरेपन को भी धारण करले, ऐसे ही भयभीत करने के लिये तिनकों का ही धनुष समय पड़ने पर बना लेवे तथा उचित समझे तो मृग की भांति सो जावे ॥

सान्त्वादिभिरुपायैस्तु हन्याच्छत्रुं वशे स्थितम् ।
दया न तस्मिन् कर्त्तव्या शरणागत इत्युत ॥३२॥
निरुद्विग्नो हि भवति न हताज्जायते भयम् ।
हन्यादमित्रं दानेन तथा पूर्वापकारिणम् ॥३३॥

अर्थ-शत्रु को साम आदि उपायों से वश में करके हनन करे, उस पर दया कदापि न करे चाहे वह अपने को शरण में आया भी कहे, क्योंकि मारे हुए शत्रु से मनुष्य अभय होकर निश्चिन्त हो जाता है, जिसने पहले अपनी हानि की हो उस शत्रु को दान से वश करके मार डाले ॥

हन्यात्त्रीन् पञ्चसप्तेति परपक्षस्य सर्वशः ।
मूलमेवादितश्छिन्द्यात्परपक्षस्य नित्यशः ॥३४॥
ततः सहायांस्तत्पक्षान् सर्वांश्च तदनन्तरम् ।
छिन्नमूले ह्यधिष्ठाने सर्वे तज्जीविनो हताः ।
कथं नु शाखास्तिष्ठेरंश्छिन्नमूले वनस्पतौ ॥३५॥

अर्थ-शत्रुपक्ष के तीन, पांच, सात वा जितने मनुष्य हों उन सब का हनन करे, परन्तु सबसे पहले शत्रुपक्ष के जो मूल पुरुष हों उनका ही सदा छेदन करता रहे, मूलपुरुषों के नाश होने पर शत्रुपक्ष के जो सहायक हों उनको वश में करे, पश्चात् जो कोई भी उनसे संबन्ध रखने वाला हो उन सब को भी नष्ट करदे, क्योंकि मूल के नष्ट होजाने पर उसके आश्रय में रहने वाले सब मारे जासकते हैं, जैसे वृक्ष की मूल काट जाने पर फिर उसकी शाखायें नहीं रहसकतीं ॥

एकाग्रः स्यादविवृतो नित्यं विवरदर्शकः ।
राजन्नित्यं सपत्नेषु नित्योद्विग्नः समाचरेत् ॥३६॥
अग्न्याधानेन यज्ञेन काषायेण जटाजिनैः ।
लोकान् विश्वासयित्वैव ततो लुम्पेद्यथा वृकः ।
अंकुशं शौचमित्याहुरर्थानामुपधारणे ॥३७॥

अर्थ—हे राजन् धृतराष्ट्र! एकाग्र तथा गुप्तरूप से रहकर सदा दूसरों का छिद्रान्वेषी तथा नित्य चौकन्ना हुआ २ शत्रुओं पर राज्य करे, लोक दिखलावे के लिये हवन तथा यज्ञ भी करता रहे और उचित समझे तो भगवा वस्त्र, जटा और मृगचर्म को भी धारण करले, पश्चात् लोगों को विश्वास दिलाकर भेड़िये के समान उन सब शत्रुओं को भक्षण करजावे, क्योंकि अपने प्रयोजनसिद्धि के लिये पाखण्ड ही अंकुशरूप है ॥

अनाम्य फलितां शाखां पक्वं पक्वं प्रशातयेत् ।
फलार्थोऽयं समारम्भो लोके पुंसां विपश्चिताम्॥३८॥
वहेदमित्रं स्कन्धेन यावत्कालस्य पर्ययः ।
ततः प्रत्यागते काले भिंद्यात्घटमिवाश्मनि ॥३९॥

अर्थ—फलवाली शाखा को झुकाकर पके २ फल तोड़लेवे, क्योंकि विद्वान् पुरुषों का यह सब पुरुषार्थ फल के लिये ही है, जब तक समय अनुकूल न हो शत्रु को कन्धे पर उठाकर भी ले चले, किंतु समय बदलने पर उसको ऐसे पटक मारे जैसे मिट्टी का घट चट्टान पर पटका हुआ चूर २ होजाता है ॥

अमित्रो न विमोक्तव्यः कृपणं बह्वपि ब्रुवन् ।
कृपा न तस्मिन् कर्त्तव्या हन्यादेवापकारिणम्॥४०॥
हन्यादमित्रं सान्त्वेन तथा दानेन वा पुनः ।
तथैव भेददण्डाभ्यां सर्वोपायैः प्रशातयेत् ॥४१॥

अर्थ—शत्रु चाहे कितने ही दीन बचन कहे उसको कभी न छोड़े, उस पर कदापि कृपा न करे किंतु शत्रु को मार देना ही

उचित है, शत्रु को साम = सन्धि, दान = लालच, भेद = फूट और दण्ड, इन सब उपायों से वश में करके पश्चात् हनन करे ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कथं सान्त्वेन दानेन भेदैर्दण्डेन वा पुनः ।
अमित्रः शक्यते हन्तुं तन्मे ब्रूहि यथातथम् ॥४२॥

अर्थ–धृतराष्ट्र बोले कि हे मंत्रिन् ! मुझे यह यथार्थरूप से स्पष्टतया बतलावें कि शत्रु साम, दान, भेद वा दण्ड द्वारा कैसे मारा जासकता है ? ॥

कणिक उवाच

भयेन भेदयेद्भीरुं शूरमञ्जलिकर्मणा ।
लुब्धमर्थप्रदानेन समं न्यूनं तथौजसा ॥४३॥
पुत्रः सखा वा भ्राता वा पिता वा यदि वा गुरुः ।
रिपुस्थानेषु वर्त्तन्तः कर्त्तव्या भूतिमिच्छता ॥४४॥

अर्थ–तब मन्त्री बोला कि हे राजन् ! डरपोक शत्रु को भय दिखाकर फोड़ लेना "भेद" बहादुर को हाथ बांधकर अर्थात् विनयद्वारा अपनी ओर मिला लेना "साम" लालची शत्रु को कुछ धन देकर अपने वश में कर लेना "दान" और बराबर वाले वा अपने से निर्बल शत्रु को पराक्रम द्वारा विजय करना "दण्ड" कहाता है अर्थात् इन चारो उपायों से शत्रु को वशीभूत करे, अपना कल्याण चाहने वाले पुरुष को उचित है कि अपना पुत्र, मित्र, भाई, पिता वा गुरु भी यदि शत्रुपक्ष में मिल जायं तो उनका भी सिर काट लेवे ॥

शपथेनाप्यरिं हन्यादर्थदानेन वा पुनः ।
विषेण मायया वापि नोपेक्षेत कथंचन ॥ ४५ ॥
गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य न्याय्यं भवति शासनम् ॥४६॥

अर्थ—झूठी शपथ खाकर वा धन देकर अथवा अन्य किसी प्रकार के छल द्वारा शत्रु का हनन करना ही श्रेय है, यदि अपना कोई बड़ा मान्य पुरुष भी घमंड में आकर कार्य अकार्य का विचार न करता हुआ कुमार्ग में चले तो उसको भी दण्ड देना न्याय युक्त है ॥

क्रुद्धोऽप्यक्रुद्धरूपः स्यात् स्मितपूर्वाभिभाषिता ।
नचाप्यन्यमपध्वंसेत् कदाचित्कोपसंयुतः ॥ ४७ ॥

अर्थ—भीतर में क्रुद्ध हुआ भी बाहर से क्रोध प्रकाशित न होने दे, किंतु सदा मुसकराहट से बातचीत करे और क्रोध में आकर भी अपने शत्रु के अतिरिक्त और किसी को हानि न पहुंचावे॥

आश्वासयेच्चापि परंसान्त्वधर्मार्थवृत्तिभिः ।
अथास्यप्रहरेत्काले यदा विचलिते पथि ॥४८॥
अपि घोरापराधस्य धर्ममाश्रित्यतिष्ठतः ।
स हि प्रच्छाद्यतेदोषः शैलो मेघैरिवासितैः ॥४९॥

अर्थ—शत्रु को शान्ति, धर्म और अर्थ की बातों से परम आश्वासन = धैर्य देता रहे, और जब वह विचलित मार्ग में आजाय तब उस पर वार करे, चाहे मनुष्य भयानक अपराधी भी हो तब

भी धर्म की आड़ में रहने वाले का दोष ऐसे छिप जाता है जैसे काले बादलों से पहाड़ छिप जाता है ॥

अशंकितेभ्यः शंकेत शंकितेभ्यश्च सर्वशः ।
अशंक्याद्भयमुत्पन्नमपि मूलं निकृन्तति ॥५०॥
न विश्वसेदविश्वस्ते विश्वस्ते नातिविश्वसेत् ।
विश्वासाद्भयमुत्पन्नं मूलान्यपि निकृन्तति ॥५१॥

अर्थ–जो शत्रु अपने से शंका न रखते हों उनसे तथा जो शंका रखते हों उनसे भी सदा सावधान होकर रहे, क्योंकि शंका न करने योग्य पुरुष से यदि कोई भय उत्पन्न होजाय तो वह जड़ों को भी काट डालता है, अविश्वसनीय पुरुष पर कभी विश्वास न करे, और विश्वसनीय पुरुष पर भी अत्यन्त विश्वास न करे, क्योंकि विश्वास होने पर भी यदि भय उत्पन्न होजाय तो वह भी जड़ों तक को उखाड़ देता है ॥

चारं सुविहितः कार्य आत्मनश्च परस्य च ।
पाषण्डास्तपसादींश्च परराष्ट्रेषु योजयेत् ॥५२॥
उद्यानेषु विहारेषु देवतायतनेषु च ।
पानागारेषु रथ्यासु सर्वतीर्थेषु चाप्यथा ॥५३॥
चत्वरेषु च कूपेषु पर्वतेषु वनेषु च ।
समवायेषु सर्वेषु सरित्सु च विचारयेत् ॥५४॥

अर्थ–अपने देश तथा विदेश के लिये गुप्तचर नियत करे, दूसरे देशों में पाखण्डी तथा साधुओं के वेश में गुप्तचर

भेजे, और उन लोगों को बग़ीचों, मठों, देवमन्दिर, शराब की दुकानों, गलियों, सब तीर्थों, घरों के आंगनों, कूओं, पहाड़ों, जंगलों, सब मेलों तथा नदियों पर विचरने की आज्ञा देवे ॥

वाचाभृशंविनीतःस्याद्धृदयेन तथाक्षुरः ।
स्मितपूर्वाभिभाषी स्यात् सृष्टो रौद्रेण कर्मणा ॥५५॥
अञ्जलिः शपथः सान्त्वं शिरसा पादवन्दनम् ।
आशाकरणमित्येवं कर्त्तव्यं भूतिमिच्छता ॥५६॥

अर्थ—वाणी से बड़ा मीठा और हृदय में छुरे के समान क्रूर रहे, यदि कोई भयानक कर्म करने वाला भी हो तो भी शत्रु के साथ मुसकराहट द्वारा प्रसन्नता से बात चीत करे, कल्याण चाहने वाले पुरुष को चाहिये कि समय २ पर हाथ जोड़ना, शपथ खाना, सान्त्वना देना, चरणों में सिर रखकर वन्दना करना तथा आशा दिलाना, इत्यादि कार्य करता रहे ॥

सुपुष्पितः स्यादफलः फलवान्स्याद्दुरारुहः ।
आमः स्यात्पक्कसंकाशो नच जीर्येत कर्हिचित् ॥५७॥
त्रिवर्गे त्रिविधा पीडा ह्यनुबन्धास्तथैव च ।
अनुबन्धाः शुभा ज्ञेयाः पीडास्तु परिवर्जयेत् ॥५८॥

अर्थ—यदि स्वयं फलरहित हो तो पहले फूलों वाला बने, और जब फल वाला होजाय तो किसी को अपने पर आक्रमण न करने दे, कच्चा हो तो भी पके हुए के समान होकर रहे और कभी अपने को गिरने न दे, धर्म अर्थ तथा काम इन तीनों में तीन

प्रकार के दुःख और सुख भी हैं सो सुखों को शुभ=ग्रहण करने योग्य समझे और दुःखों से बचकर रहे ॥

धर्मं विचरतः पीडा सापि द्वाभ्यां नियच्छति ।
अर्थंचाप्यर्थलुब्धस्य कामंचातिप्रवर्त्तिनः ॥५९॥
अगर्वितात्मा युक्तश्च सान्त्वयुक्तोऽनसूयिता ।
अवेक्षितार्थः शुद्धात्मा मन्त्रयीत द्विजैःसह ॥६०॥

अर्थ—"धर्म" का आचरण करने वाले को यदि दुःख होतो वह काम तथा अर्थ के प्रभाव से रुक सक्ता है, इसी प्रकार "अर्थ"=धन के लोभी को यदि धनोपार्जन में पीडा हो तो वह भी धर्म और काम के सामर्थ्य से रुकसक्ती है, ऐसे ही यदि "काम" में आसक्त पुरुष को पीडा हो तो वह भी शेष दोनों धर्म और अर्थ के द्वारा रुक सकती है, पुरुष को उचित है कि अपने आत्मा में गर्व न रखता हुआ कार्य में तत्पर, शान्ति से युक्त, दूसरों पर दोष न लगाकर शुद्ध आत्मा से विषय को भले प्रकार विचारकर द्विज=विद्वान् ब्राह्मणों से सम्मति किया करे ॥

कर्मणा येन केनैव मृदुना दारुणेन च ।
उद्धरेद्दीनमात्मानं समर्थो धर्ममाचरेत् ॥६१॥
न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति ।
संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति पश्यति॥६२॥

अर्थ—यदि स्वयं दीनदशा में हो तो चाहे जैसे कोमल वा क्रूर कर्म करके अपना उद्धार करे, और जब समर्थ होजाय तब धर्म का आचरण करे, मनुष्य संशय=विपत्ति में विना पड़े कल्याण

नहीं देखता और संशय में पड़कर भी यदि जीवित रहे तो कल्याण देखता है अन्यथा नहीं ॥

यस्य बुद्धि परिभवेत्तमतीतेन सान्त्वयेत् ।
अनागतेन दुर्बुद्धिं प्रत्युत्पन्नेन पण्डितम् ॥६३॥
योऽरिणा सहसन्धाय शयीत कृतकृत्यवत् ।
स वृक्षाग्रे यथा सुप्तः पतितः प्रतिबुध्यते ॥६४॥

अर्थ–जिसकी बुद्धि तिरस्कृत=हटकर कुछ काम न करसके उसको भूतकाल की कथायें सुनाकर दृढ़ करे, अल्पबुद्धि को भविष्य की कथा सुनाकर और पण्डित को वर्त्तमान की कथायें सुनाकर उद्यत करे, जो शत्रु के साथ सन्धि करके अपने आपको कृतकृत्य मानकर सोता है वह वृक्ष की शाखाओं पर सोये हुए पुरुष के समान गिरकर ही जागता है, इसलिये उचित है कि शत्रु के साथ सन्धि करके भी सदा सावधान रहे ॥

मन्त्रसंवरणे यत्नः सदा कार्योऽनसूयता ।
आकारमभिरक्षेत चारेणाप्यनुपालितः ॥६५॥
नाच्छित्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्मदारुणम् ।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥६६॥

अर्थ–मनुष्य को चाहिये कि दूसरे की वृथा निन्दा से दूर रहता हुआ अपने गुप्त मन्त्र की रक्षा में सदा यत्न करे तथा गुप्त दूतों से आत्मरक्षा करता हुआ अपने आकार द्वारा कोई भाव प्रकट न होने दे, दूसरों के मर्मस्थानों को विना छेदे वा कोई

भयंकर कर्म बिना किये तथा मछुए के समान औरों के बिना मारे मनुष्य को ऐश्वर्य्य की प्राप्ति नहीं होती ॥

कर्षितं व्याधितं क्लिन्नमपानीयमघासकम् ।
परिविश्वस्तमन्दं च प्रहर्त्तव्यमरेर्बलम्॥६७॥
नार्थिकोऽर्थिनमभ्येति कृतार्थे नास्ति संगतम् ।
तस्मात्सर्वाणि साध्यानि सावशेषाणि कारयेत् ॥६८॥

अर्थ—दुर्बल, बीमार, क्षीण, भूख प्यास से पीड़ित और विश्वस्त दशा को प्राप्त शत्रु पर वार न करे, बिना अर्थ से कोई किसी का अर्थी नहीं बनता, क्योंकि कृतार्थ हुआ पुरुष कभी किसी की सेवा में रुद्धत नहीं होता,इसलिये सब पुरुषों को अर्थी बनाकर अपना कार्य्य सिद्ध करे ॥

संग्रहे विग्रहे चैव यत्नः कार्योऽनसूयता ।
उत्साहश्चापि यत्नेन कर्त्तव्यो भूतिमिच्छता ॥६९॥
नास्य कृत्यानि बुध्येरन्मित्राणि रिपवस्तथा ।
आरब्धान्येव पश्येरन् सुपर्यवसितान्यपि ॥७०॥

अर्थ—कल्याण चाहने वाले पुरुष को उचित है कि दूसरों को दोष न देकर अपने अनुकूल सहायकों का संग्रह और प्रतिकूल लोगों के साथ विग्रह=युद्ध करने में यत्नवान हो और अपने आत्मा में सदा उत्साह की वृद्धि करे, जो कुछ कार्य भविष्यत् में करने हों उनको अपने मित्रों वा शत्रुओं पर पहले ही प्रकाशित न होने दे किन्तु इस रीति से करे कि जब वह कार्य समाप्त होने पर आवें तब लोग उनको आरम्भ किया हुआ जानें ॥

भीतवत् संविधातव्यं यावद्भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्त्तव्यमभीतवत् ॥७१॥
दण्डेनोपनतं शत्रुमनुगृह्णाति यो नरः ।
स मृत्युमुपगृह्णीयाद्गर्भमश्वत्तरी यथा ॥७२॥

अर्थ—जब तक भय की बात अपने तक न पहुंचे तब तक डरा हुआ सा रहे और यदि भय को अपने समीप आया हुआ देखे तो निर्भय होकर वीरता से प्रहार करे, जो दण्ड से चरणों में पड़े हुए शत्रु पर अनुग्रह करके छोड़देता है वह अपनी मौत को बुलाता है, जैसे गर्भ धारण कर खिच्चरी मृत्यु को प्राप्त होती है वैसे ही वह पुरुष भी उस शत्रु के हाथ से मारा जाता है ॥

अनागतं हि बुध्येत यच्च कार्यं पुरः स्थितम् ।
न तु बुद्धिक्षयात् किंचिदतिक्रामेत्प्रयोजनम् ॥७३॥
विभज्य देशकालौ च दैवंधर्मादयस्त्रयः ।
नैःश्रेयसौ तु तौ ज्ञेयौ देशकालाविति स्थितिः॥७४॥

अर्थ—जो कार्य भविष्यत् में होने वाला हो वा अपने सामने वर्त्तमान हो उस पर विचार करे और अपनी बुद्धि को नष्ट करके किसी प्रयोजन को उल्लङ्घन न करे, देश काल का विभाग करके दैव=प्रारब्ध तथा धर्म-अर्थ-काम इन तीनों का भी देश काल के अनुसार ही विभाग करे, क्योंकि यह निश्चय है कि देश काल ही निःश्रेयस=कल्याण का साधन है ॥

तालवत् कुरुते मूलं बालः शत्रुरुपेक्षितः ।
गहनेऽग्निरिवोत्सृष्टः क्षिप्रं संजायते महान् ॥७५॥

अग्निस्तोकमिवात्मानं संधुक्षयति यो नरः ।
स वर्द्धमानो ग्रसते महान्तमपि सञ्चयम् ॥७६॥

अर्थ–यदि छोटा शत्रु भी छोड़ दियाजाय तो वह ताड़ वृक्ष के समान अपनी जड़ जमा लेता है, जैसे जंगल में त्यागी हुई थोड़ी अग्नि भी वड़ी होजाती है, जो मनुष्य अङ्गारों के ढेर समान अपने आपको धौंकता रहता है वह उन्नत होकर वड़े शत्रु समुदाय को भी ग्रस लेता है ॥

आशां कालवतीं दद्यात् कालं विघ्नेन योजयेत् ।
विघ्नं निमित्ततो ब्रूयान्निमित्तं वापि हेतुतः ॥७७॥

अर्थ–जिस शत्रु को सान्त्वना=धैर्य्य देना हो उसको दीर्घ-काल में होने वाली आशा दिलावे, जव आशा पूर्ण करने का काल आवे तव उसको विघ्न डालकर टाल दे, विघ्न का कोई कारण वतलादे और उस कारण का भी कोई हेतु जतला देवे ॥

पाण्डवेषु यथान्यायमन्येषु च कुरूद्वह
वर्त्तमानो न मज्जेस्त्वं तथा कृत्यं समाचर ॥७८॥
सर्वकल्याणसम्पन्नो विशिष्ट इति निश्चयः ।
तस्मात्त्वं पाण्डुपुत्रेभ्यो रक्षात्मानं नराधिप ॥७९॥

अर्थ–हे कुरुओं में श्रेष्ठ राजन् ! जिस उपाय से तुम पाण्डवों तथा अन्य शत्रुओं से वर्तते हुए दुःख में न पड़ो वैसा उपाय नीति के अनुसार करो, और यह निश्चय है कि आप सव कल्याणों से सम्पन्न होंगे, इसलिये आप पाण्डु के पुत्रों से अपनी रक्षा करें ॥

भ्रातृव्या बलिनो यस्मात् पाण्डुपुत्रा नराधिप ।
ब्रवीमि तस्माद् विस्पष्टं यत्कर्तव्यमरिन्दम ॥८०॥
सपुत्रः शृणु तद्राजन् श्रुत्वा च भव यत्नवान् ।
यथा भयं न पाण्डुभ्यस्तथा कुरु नराधिप ।
पश्चात्तापो यथा न स्यात्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥८१॥

अर्थ—हे राजन्! पाण्डुपुत्र अपने भाई दुर्योधनादिकों से बलवान् हैं, इसलिये मैंने तुम्हारा सब कर्त्तव्य स्पष्टरूप से कहदिया है, हे शत्रुनाशक! आप पुत्रों समेत मेरी यह बात सुनकर यत्नवान् होकर जिस उपाय द्वारा पाण्डवों से निर्भय हो जायं वैसा हीकरें, और ऐसी नीति ग्रहण करें जिससे तुम्हें पश्चात्ताप न करना पड़े ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा संप्रतस्थे कणिकः स्वगृहं ततः ।
धृतराष्ट्रोऽपि कौरव्यःशोकार्त्तः समपद्यत ॥८२॥

अर्थ—वैशम्पयान बोले कि हे राजन्! मंत्री कणिक ऐसा कहकर अपने घर चलागया और कुरुवंशी धृतराष्ट्र भी चिन्तातुर रहने लगा ॥

इति विंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकविंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततः सुबलपुत्रस्तु राजा दुर्योधनश्च ह ।
दुःशासनश्च कर्णश्च दुष्टं मन्त्रममन्त्रयन् ॥१॥
ते कौरव्यमनुज्ञाप्य धृतराष्ट्रं नराधिपम् ।
दहने तु सपुत्रायाः कुन्त्या बुद्धिमकारयन् ॥२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! तब राजा सुबल का पुत्र शकुनि, राजा दुर्योधन, दुःशासन और कर्ण, इन्होंने एक दुष्ट मन्त्रणा=सलाह की, उक्त चारों ने राजा धृतराष्ट्र से अनुमति करके पुत्रों समेत कुन्ती को जला देने का संकल्प किया ॥

तेषामिङ्गितभावज्ञो विदुरस्तत्त्वदर्शिवान् ।
आकारेण च तं मन्त्रं बुबुधे दुष्टचेतसाम् ॥३॥
ततो विदुरवाक्येन नावं विक्षिप्य पाण्डवाः ।
वनं चादाय तैर्दत्तमरिष्टं प्राविशन् वनम् ॥४॥

अर्थ–तत्वदर्शी विदुर जो उनकी चेष्टा और भावको पहचानते थे उन्होंने उन दुष्ट संकल्प वालों के आकार से ही सब जान लिया, तब पाण्डव लोग विदुर के कथन से नाव चलाकर और उनके दिये हुए जंगल को ग्रहण करके उत्तम वन में प्रविष्ट होगये ॥

जनमेजय उवाच

पुनर्विस्तरशः श्रोतुमिच्छामि द्विजसत्तम ।
दाहं जतुगृहस्यैव पाण्डवानां च मोक्षणम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु विस्तरशो राजन् वदतो मे परन्तप ।
दाहं जतुगृहस्यैतत् पाण्डवानां च मोक्षणम् ॥६॥

अर्थ—जनमेजय बोला कि हे द्विजश्रेष्ठ ! मैं लाक्षाभवन का जलना और पाण्डवों का उससे निकलना आदि फिर विस्तार से सुनना चाहता हूं ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे शत्रुसंतापकारी राजन ! मैं लाक्षाभवन के जलने तथा पाण्डवों के उससे निकलने का वृत्तान्त विस्तारपूर्वक कहता हूं आप सुनें :—

प्राणाधिकं भीमसेनं कृतविद्यं धनञ्जयम् ।
दुर्योधनो लक्षयित्वा पर्यतप्यत दुर्मनाः ॥७॥
ततो वैकर्तनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
अनेकैरभ्युपायैस्ते जिघांसन्ति स्म पाण्डवान् ॥८॥

अर्थ—बल में अधिक भीमसेन और युद्धविद्या में शिक्षित अर्जुन को देखकर दुष्ट दुर्योधन मन में जलता था, तब विकर्त्तन का पुत्र कर्ण, सुबल का पुत्र शकुनि और दुर्योधन यह सब मिलकर अनेक उपायों द्वारा पाण्डवों के मारने की चेष्टा करने लगे ॥

पाण्डवा अपि तत् सर्वं प्रतिचक्रुर्यथागतम् ।
उद्भावनमकुर्वन्तो विदुरस्य मते स्थिताः ॥९॥

अर्थ—पाण्डव लोग भी विदुर की सलाह में रहकर उन बातों को प्रकाशित न करते हुए अर्थात् अनजान के तुल्य बने हुए उन सबका यथोचित उपाय करते रहे ॥

गुणैः समुदितान् दृष्ट्वा पौराः पाण्डुसुतांस्तदा ।
कथयांचक्रिरे तेषां गुणान् संसत्सु भारत ॥१०॥
राज्यप्राप्तिं च संप्राप्तं ज्येष्ठं पाण्डुसुतं तदा ।
कथयन्तिस्म सम्भूय चत्वरेषु सभासु च ॥११॥

अर्थ–हे भारतीय राजन् ! तब पुरवासी लोग पाण्डु के पुत्रों को सर्वगुणनिधान देखकर सभाओं में उनके गुणों का वर्णन करने लगे, वह लोग अपने घरों तथा सभाओं में इकट्ठे होकर कहने लगे कि राज्यप्राप्ति का अधिकार पाण्डु के बड़े पुत्र युधिष्ठिर को ही है॥

प्रज्ञाचक्षुरचक्षुष्ट्वाद्धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
राज्यं न प्राप्तवान् पूर्वं स कथं नृपतिर्भवेत्॥१२॥
तथा शान्तनवो भीष्मः सत्यसन्धो महाव्रतः ।
प्रत्याख्याय पुरा राज्यं न स जातु ग्रहीष्यति॥१३॥

अर्थ–राजा धृतराष्ट्र प्रज्ञाचक्षु है और इसी कारण वह पहले राज्य प्राप्त नहीं करसका, सो अब वह कैसे राजा बन सक्ता है, ऐसे ही महाव्रतधारी, सत्यप्रतिज्ञ शन्तनुपुत्र भीष्मजी जो पहले ही राज्य ग्रहण करने से निषेध कर चुके हैं वह भी कदापि राज्य को ग्रहण नहीं करेंगे ॥

ते वयं पाण्डवज्येष्ठं तरुणं युद्धशालिनम् ।
आभषिञ्चाम साध्वाद्य सत्यकारुण्यवेदिनम्॥१४॥
स हि भीष्मं शान्तनवं धृतराष्ट्रं च धर्मवित ।
स पुत्रं विविधैर्भोगैर्योजयिष्याति पूजयन् ॥१५॥

अर्थ—सो अब हम पाण्डु के बड़े पुत्र युधिष्ठिर को जो युवा, युद्धशाली और जो सत्य तथा करुणा का तत्त्ववेत्ता है उसको राज्याभिषेक देना चाहते हैं, क्योंकि वह धर्मज्ञ शन्तनुपुत्र भीष्म तथा पुत्रों समेत धृतराष्ट्र को आदरपूर्वक अनेक सुख भुगायेगा ॥

तेषां दुर्योधनः श्रुत्वा तानि वाक्यानि जल्पताम् ।
युधिष्ठिरानुरक्तानां पर्यतप्यत दुर्मतिः ॥१६॥
स तप्यमानो दुष्टात्मा तेषां वाचो न चक्षमे ।
ईर्ष्यया चापि सन्तप्तो धृतराष्ट्रमुपागमत् ॥१७॥

अर्थ—इस प्रकार उन युधिष्ठिर के पक्षपाती पुरवासियों की बातें सुनकर दुर्बुद्धि दुर्योधन मन ही मन जलने लगा, वह दुष्टात्मा इस प्रकार जलता हुआ उनकी बातें न सह सका, और ईर्षा से तपा हुआ धृतराष्ट्र के समीप आया ॥

ततो विरहितं दृष्ट्वा पितरं परिपूज्य सः ।
पौरानुरागसन्तप्तः पश्चादिदमभाषत ॥१८॥
श्रुता मे जल्पतां तात पौराणामशिवा गिरः ।
त्वामनादृत्य भीष्मं च पतिमिच्छन्ति पाण्डवम् ॥१९॥

अर्थ—तब वह पिता को एकान्त में देखकर सत्कार करके पश्चात् पुरनिवासियों की उस भक्ति से जला हुआ बोला कि हे पिता! मैंने पुरवासियों की यह अशुभ बातें सुनी हैं कि वह तुम्हारा और भीष्म का निरादर करके युधिष्ठिर को राजा बनाना चाहते हैं, और :—

मतमेतच्च भीष्मस्य न स राज्यं बुभुक्षति ।
अस्माकं तु परां पीडां चिकीर्षन्ति पुरे जनाः ॥२०॥
पितृतः प्राप्तवान् राज्यं पाण्डुरात्मगुणैः पुरा ।
त्वमन्धगुणसंयोगात्प्राप्तं राज्यं न लब्धवान् ॥२१॥

अर्थ—भीष्मजी का यह संकल्प है कि वह राज्य ग्रहण नहीं करेंगे, इसलिये नगरनिवासी हम लोगों को परम क्लेश देना चाहते हैं, पूर्वकाल में पाण्डु ने अपने गुणों द्वारा पिता से राज्य पालिया था परन्तु आप केवल अन्धे होने के कारण प्राप्त हुए राज्य को भी नहीं पासके ॥

स एष पाण्डोर्दायाद्यं यदि प्राप्नोति पाण्डवः ।
तस्य पुत्रो ध्रुवं प्राप्तस्तस्य तस्यापि चापरः ॥२२॥
ते वयं राजवंशेन हीनाः सह सुतैरपि ।
अवज्ञाता भविष्यामो लोकस्य जगतीपते ॥२३॥

अर्थ—सो अब यदि पाण्डु के दायभाग=राज्य को पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर पावेगा तो यह निश्चय है कि उसके ही पुत्र पौत्र प्रपौत्रादि इसको पाते रहेंगे, हे राजन् ! इससे हम लोग अपने पुत्रादि सहित राजवंश से रहित हुए २ संसार की दृष्टि में अपमानित रहेंगे ॥

सततं निरयं प्राप्ताः परपिण्डोपजीविनः ।
न भवेम यथा राजंस्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥२४॥
यदि त्वं हि पुरा राजन्निदं राज्यमवाप्तवान् ।
ध्रुवं प्राप्स्याम च वयं राज्यमप्यवशे जने ॥२५॥

अर्थ—हे राजन् ! अब आप इस प्रकार की नीति का प्रयोग करें जिससे हमलोग सदा दुःखग्रस्त और दूसरों का टुकड़ा खाने वाले न बनें, हे महाराज ! यदि आपने बड़े होने के कारण पहले इस राज्य को पालिया था तो हम भी लोगों को विवश करके अवश्य राज्य को पावेंगे ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं श्रुत्वा तु पुत्रस्य प्रज्ञाचक्षुर्नराधिपः ।
कणिकस्य च वाक्यानि तानि श्रुत्वा स सर्वशः ।
धृतराष्ट्रो द्विधाचित्तः शोकार्त्तः समपद्यत ॥२६॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्र इस प्रकार पुत्र की बातें सुनकर तथा कणिक मन्त्री के वचनों को पूर्णतया स्मरण करके चित्त में दुविधा होने से शोक में पड़गया ॥

दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिः सौबलस्तथा ।
दुःशासनचतुर्थस्ते मन्त्रयामासुरेकतः ॥२७॥
ततो दुर्योधनो राजा धृतराष्ट्रमभाषत ।
पाण्डवेभ्यो भयं न स्यात्तान् विवासयतां भवान् ।
निपुणेनाभ्युपायेन नगरं वारणावतम् ॥२८॥

अर्थ—तत्पश्चात् दुर्योधन, कर्ण, सुबल का पुत्र शकुनि और चौथा दुःशासन, यह चारो एकान्त में सलाह करने लगे, तब राजा दुर्योधन ने धृतराष्ट्र से कहा कि आप किसी उत्तम उपाय से पाण्डवों को "वारणावत" नगर में निर्वासन करदें जिससे हमें पाण्डवों से कोई भय न रहे ॥

धृतराष्ट्रस्तु पुत्रेण श्रुत्वा वचनमीरितम् ।
मुहूर्त्तमिव संचिन्त्य दुर्योधनमथाब्रवीत् ॥२९॥

अर्थ—धृतराष्ट्र अपने पुत्र की उक्त बात सुन और थोड़ी देर सोचकर दुर्योधन से बोला कि :—

धर्मनित्यः सदा पाण्डुस्तथा धर्मपरायणः ।
सर्वेषु ज्ञातिषु तथा मयि त्वासीद्विशेषतः ॥३०॥
नासौ किंचिद्विजानाति भोजनादि चिकीर्षितम्।
निवेदयति नित्यं हि मम राज्यं धृतव्रतः ॥३१॥

अर्थ—पाण्डु सदा धर्म में तत्पर तथा सब बन्धुओं और विशेषतः मुझ पर धर्म परायण था, वह भोजनादि साधारण प्रयोजनीय वस्तुओं का भी विज्ञान नहीं रखता था और दृढ़ प्रतिज्ञा वाला होकर सदा मुझे राज्य अर्पण किये हुए था ॥

तस्य पुत्रो यथा पाण्डुस्तथा धर्मपरायणः ।
गुणवान् लोकविख्यातः पौरवाणां सुसम्मतः ॥३२॥
स कथं शक्यतेऽस्माभिरपाकर्तुं बलादितः ।
पितृपैतामहाद्राज्यात्स सहायो विशेषतः ॥३३

अर्थ—जैसा पाण्डु धर्मपरायण था वैसा ही उसका पुत्र युधिष्ठिर भी गुणवान्, लोक प्रसिद्ध और पुरवासियों का माननीय है, हे पुत्र ! उसको पिता पितामह से पाये हुए इस राज्य से कैसे बल पूर्वक हटा सकते हैं, जब कि वह इस समय विशेष सहायकों को भी साथ में लिये हुए है ॥

भृता हि पाण्डुनामात्या बलं च सततं भृतम् ।
भृताःपुत्राश्च पौत्राश्च तेषामपि विशेषतः ॥३४॥
ते पुरा सत्कृतास्तात पाण्डुना नागरा जनाः ।
कथं युधिष्ठिरस्यार्थे न नो हन्युः सबान्धवान् ॥३५॥

अर्थ—पाण्डु ने अपने हृदय में मंत्रियों और सेना का पूर्णरूप से भरणपोषण किया तथा उन लोगों के पुत्र पौत्रों को भी विशेष प्रकार से तृप्त किया था, हे पुत्र ! वह पूर्वकाल में पाण्डु से सत्कार पाये हुए नगर निवासी इस समय युधिष्ठिर के लिये हम लोगों को बन्धुओं समेत क्यों नहीं मार डालेंगे अर्थात् अवश्य मार देंगे ॥

दुर्योधन उवाच

एवमेव यथा तात भावितं दोषमात्मनः ।
दृष्ट्वा प्रकृतयः सर्वा अर्थमानेन पूजिताः ॥३६॥
ध्रुवमस्मत्सहायास्ते भविष्यन्ति प्रधानतः ।
अर्थवर्गः सहामात्यो मत्संस्थोऽद्य महीपते ॥३७॥

अर्थ—दुर्योधन बोला कि हे पिता ! जैसा आप कहते हैं सो ठीक है, अपने संभावित दोषों पर विचार करके यदि हम लोग धन और मान से प्रजा का सत्कार करेंगे तो निश्चयपूर्वक वह प्रधानरूप से हमारी सहायक होजायगी और हे राजन् ! धनकोष तथा मन्त्री लोग तो आज दिन मेरे ही अधीन हैं ॥

स भवान् पाण्डवानाशु विवासयितुमर्हति ।
मृदुनैवाभ्युपायेन नगरं वारणावतम् ॥३८॥

यदा प्रतिष्ठितं राज्यं मयि राजन् भविष्यति ।
तदा कुन्ती सहापत्या पुनरेष्यति भारत ॥३९॥

अर्थ–सो आपको उचित है कि किसी उत्तम उपाय द्वारा शीघ्र ही पाण्डवों को वारणावत नगर में निर्वासन करदें, हे भारतीय राजन्! जब मुझ में यह राज्य दृढ़रूप से स्थिर होजायगा तब कुन्ती पुत्रों समेत यहां लौट आयेगी ॥

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन ममाप्येतद्धृदि संपरिवर्त्तते ।
अभिप्रायस्य पापत्वान्नैवं तु विवृणोम्यहम् ॥४०॥
नच भीष्मो नच द्रोणो नच क्षत्ता न गौतमः ।
विवास्यमानान् कौन्तेयाननुमंस्यंति कर्हिचित् ॥४१॥

अर्थ–धृतराष्ट्र बोले कि हे दुर्योधन! मेरे हृदय में भी यह बात बसी हुई है परन्तु पाप के भय से मैं इस अभिप्राय को प्रकाशित नहीं करता, भीष्म, द्रोण, विदुर और कृप, यह कभी नहीं चाहेंगे कि कुन्ती के पुत्रों को निर्वासन कर दिया जाय ॥

समा हि कौरवेयाणां वयं ते चैव पुत्रक ।
नैते विषममिच्छेयुर्धर्मयुक्ता मनस्विनः ॥४२॥
ते वयं कौरवेयाणामेतेषां च महात्मनाम् ।
कथं न बध्यतां तात गच्छाम जगतस्तथा ॥४३॥

अर्थ–हे पुत्र! इन लोगों की दृष्टि में हम लोग और पाण्डव समान ही हैं, इसलिये यह धर्मपरायण ज्ञानी पुरुष विषमभाव

करना नहीं चाहेंगे, हे पुत्र ! फिर बताओ ऐसा करने पर हम लोग अन्य कुरुवंशियों, इन महात्माओं तथा सारे जगत् की दृष्टि में क्या मारे जाने योग्य नहीं होजावेंगे अर्थात् अवश्य होजावेंगे ॥

दुर्योधन उवाच

मध्यस्थः सततं भीष्मो द्रोणपुत्रो मयि स्थितः ।
यतः पुत्रस्ततो द्रोणो भविता नात्र संशयः ॥४४॥
कृपः शारद्वतश्चैव यत एतौ ततो भवेत् ।
द्रोणं च भागिनेयं च न स त्यक्ष्यति कर्हिचित्॥४५॥

अर्थ–दुर्योधन बोला कि हे पिता ! भीष्मजी तो सदा उदासीन रहते हैं तथा द्रोणाचार्य्य का पुत्र अश्वत्थामा मेरी ओर मिला हुआ है, और इसमें भी संदेह नहीं कि जिस ओर पुत्र रहेगा उसी ओर द्रोणाचार्य्य भी होंगे, शरद्वत् का पुत्र कृपाचार्य भी जिधर यह दोनों होंगे उधर ही रहेगा, क्योंकि वह अपने बहनोई द्रोणाचार्य्य तथा भानजे अश्वत्थामा को कभी नहीं त्यागेगा ॥

क्षत्तार्थबद्धस्त्वस्माकं प्रच्छन्नं संयतः परैः ।
न चैकः समर्थोऽस्मान् पाण्डवार्थेऽभिबाधितुम् ॥४६॥
सुविश्रब्धः पाण्डुपुत्रान् सहमात्रा प्रवासय ।
वारणावतमद्यैव यथा यान्ति तथा कुरु ॥४७॥

अर्थ–विदुर हमारे धनदान से बंधा हुआ और गुप्त रूप से पाण्डवों के साथ भी मिला हुआ है, परन्तु वह अकेला हम लोगों को पाण्डवों के हितार्थ कुछ बाधा नहीं पहुंचा सकता, सो तुम पूर्णतया निश्चिन्त होकर पाण्डवों को माता समेत निर्वासन करदो,

और ऐसा उपाय करो कि वह आज ही यहां से वारणावत नगर को चले जायं ॥

विनिद्रकरणं घोरं हृदि शल्यमिवार्पितम् ।
शोक पावकमुद्भूतं कर्मणैतेन नाशय ॥४८॥

अर्थ–सो आप इस जलती हुई शोकाग्नि को जो हृदय में चुभे हुए तीरों के समान भयानक तथा नींद को भी नाश करने वाली है उसको इस पूर्वोक्त कर्म द्वारा निर्मूल करें ॥

इति एकविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ द्वाविंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनो राजा सर्वाः प्रकृतयः शनैः ।
अर्थमानप्रदानाभ्यां संजहार सहानुजः ॥१॥
धृतराष्ट्रप्रयुक्तास्ते केचित्कुशलमन्त्रिणः ।
कथयांचक्रिरे रम्यं नगरं वारणावतम् ॥२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तब अपने छोटे भाई दुःशासन समेत राजा दुर्योधन ने सारी प्रजा को धनदान तथा मानदान द्वारा धीरे २ अपनी ओर करलिया, पुनः धृतराष्ट्र से प्रेरित हुए कुछ चतुर मंत्रियों ने पाण्डवों के प्रति "वारणावत" नगर की रमणीयता का कथन किया ॥

कथ्यमाने तथा रम्ये नगरे वारणावते ।
गमने पाण्डुपुत्राणां जज्ञे तत्र मतिर्नृप ॥३॥
यदा त्वमन्यत नृपो जातकौतूहला इति ।
उवाच चैतानथ तान् पाण्डवानम्बिकासुतः ॥४॥

अर्थ—हे राजन् ! इस प्रकार कई वार वारणावत नगर की रमणीयता का वर्णन सुनकर पाण्डवों का विचार वहां जाने का होगया, अम्बिका के पुत्र राजा धृतराष्ट्र ने जब देखा कि पाण्डव अब जाने के लिये उत्काण्ठित हुए २ हैं तब उनसे इस प्रकार कहा कि :—

ममैते पुरुषा नित्यं कथयन्ति पुनः पुनः ।
रमणीयतमं लोके नगरं वारणावतम् ॥५॥
ते ताता यदि मन्यध्वमुत्सवं वारणावते ।
सगणाः सान्वयाश्चैव विहरध्वं यथाऽमराः ॥६॥

अर्थ—हे पुत्रो ! यह लोग मेरे सन्मुख वार २ यह कहते हैं कि लोक में वारणावत नगर अत्यन्त रमणीय है सो यदि तुम लोग वारणावत नगर जाने में कुछ आनन्द समझो तो अपने साथियों तथा कुल के लोगों सहित वहां जाकर देवताओं के समान विहार करो ॥

कंचित् कालं विहृत्यैवमनुभूय परां मुदम् ।
इदं वै हास्तिनपुरं सुखिनः पुनरेष्यथ ॥७॥

अर्थ—कुछ काल तक इस प्रकार विहार करके तथा परमानन्द भोगकर फिर सुखपूर्वक हस्तिनापुर में लौट आना ॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रस्य तं काममनुबुध्य युधिष्ठिरः ।
आत्मनश्चासहायत्वं तथेति प्रत्युवाच तम् ॥८॥

अर्थ—युधिष्ठिर धृतराष्ट्र की ऐसी इच्छा समझ और अपने आपको असहाय जानकर बोले कि अच्छा ऐसा ही करेंगे ॥

ततो भीष्मं शान्तनवं विदुरं च महामतिम् ।
द्रोणं च बाह्लीकं चैव सोमदत्तं च कौरवम् ॥९॥
कृपमाचार्यपुत्रं च भूरिश्रवसमेव च ।
मान्यानन्यानमात्यांश्च ब्राह्मणांश्च तपोधनान् ॥१०॥
पुरोहितांश्च पौरांश्च गान्धारीं च यशस्विनीम् ।
युधिष्ठिरः शनैर्दीन उवाचेदं वचस्तदा ॥११॥

अर्थ—उस समय युधिष्ठिर दीन होकर शन्तनुपुत्र भीष्मजी, महाबुद्धि विदुर, द्रोणाचार्य, बाह्लीक, कुरुवंशी सोमदत्त, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा, भूरिश्रवा तथा अन्य माननीय मन्त्रियों, तपस्वी ब्राह्मणों, पुरोहितों, पुरवासियों और यशस्विनी गान्धारी से बोले कि :—

रमणीये जनाकीर्णे नगरे वारणावते ।
सगणास्तत्र यास्यामो धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥१२॥
प्रसन्नमनसः सर्वे पुण्या वाचो विमुञ्चत ।
आशीर्भिर्बृंहितानस्मान्न पापं प्रसहिष्यते ॥१३॥

अर्थ—हम लोग राजा धृतराष्ट्र की आज्ञा से अपने साथियों समेत रमणीय तथा मनुष्यों से परिपूर्ण वारणावत नगर को जायंगे सो

आप लोग प्रसन्न चित्त हुए २ हम लोगों को पवित्र आशीर्वाद दें, क्योंकि आपके आशीर्वादों से सुरक्षित हुए २ हम लोगों को कोई क्लेश न सतावेगा ॥

एवमुक्तास्तु ते सर्वे पाण्डुपुत्रेण कौरवाः ।
प्रसन्नवदना भूत्वा तेऽन्ववर्त्तन्त पाण्डवान् ॥१४॥
स्वस्त्यस्तु वः पथि सदा भूतेभ्यश्चैव सर्वशः ।
मा च वोऽस्त्वशुभं किंचित्सर्वशः पाण्डुनन्दनाः॥१५॥

अर्थ—युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर वह सब कुरुवंशी प्रसन्न चित्त हुए २ पाण्डवों को आशीर्वाद देने लगे कि हे पाण्डवो ! मार्ग में तुम्हारा कल्याण हो, तुम सदा सब प्राणियों से सुरक्षित रहो और तुम्हारा किसी प्रकार भी कुछ अनिष्ट न हो ॥

ततः कृतस्वस्त्ययना राज्यलम्भाय पार्थिवाः ।
कृत्वा सर्वाणि कार्याणि प्रययुर्वारणावतम् ॥१६॥

अर्थ—तब राज्यप्राप्ति के उपयोगी मङ्गलाचार तथा अन्य सब कार्य समाप्त करके पाण्डव "वारणावत" नगर में जाने के लिये तैयार होगये ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तेषु राज्ञा तु पाण्डुपुत्रेषु भारत ।
दुर्योधनः परं हर्षमगच्छत्स दुरात्मवान् ॥१७॥
स पुरोचनमेकान्तमानीय भरतर्षभ ।
गृहीत्वा दाक्षिणे पाणौ सचिवं वाक्यमब्रवीत् ॥१८॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे भारतीय राजन् ! राजा धृत-राष्ट्र की पाण्डवों के प्रति ऐसी आज्ञा होने पर दुष्टात्मा दुर्योधन परम हर्ष को प्राप्त हुआ, हे भरतकुल श्रेष्ठ राजन् ! वह अपने मन्त्री पुरोचन को एकान्त में लेजाकर और उसका दहना हाथ पकड़ इस प्रकार बोला कि :—

ममेयं वसुसंपूर्णा पुरोचन वसुन्धरा ।
यथेयं मम तद्वत् ते स तां रक्षितुमर्हसि ॥१९॥
नहि मे कश्चिदन्योऽस्ति विश्वासिकतरस्त्वया ।
सहायो येन सन्धाय मन्त्रयेयं यथा त्वया ॥२०॥

अर्थ—हे पुरोचन ! यह धनपूर्ण पृथ्वी जैसे मेरी है वैसे ही तुम्हारी भी है, सो तुम्हें उचित है कि इसकी रक्षा करो, तुम से अधिक विश्वासपात्र मेरा अन्य कोई नहीं जिसके साथ मिल कर तुम्हारे समान सलाह कर सकूं ॥

संरक्ष तात मंत्रं च सपत्नांश्च ममोद्धर ।
निपुणेनाभ्युपायेन यद्ब्रवीमि तथा कुरु ॥२१॥
पाण्डवा धृतराष्ट्रेण प्रेषिता वारणावतम् ।
उत्सवे विहरिष्यन्ति धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥२२॥

अर्थ—हे तात ! तुम इस मन्त्र को गुप्त रखकर मेरे शत्रुओं को निर्मूल करो और जैसा मैं कहूं वैसा ही चतुराई के साथ उपाय करो, राजा धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को "वारणावत" नगर में जाने की आज्ञा देदी है और वह धृतराष्ट्र की आज्ञा से वहां आनन्दपूर्वक निवास करेंगे ॥

स त्वं रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना ।
वारणावतमद्यैव यथा यासि तथा कुरु ॥२३॥
तत्र गत्वा चतुःशालं गृहं परमसंवृतम् ।
नगरोपान्तमाश्रित्य कारयेथा महाधनम् ॥२४॥

अर्थ—सो तुम ऐसा उपाय करो कि शीघ्रगामी रथ में तेज़ घोड़े जोतकर आज ही "वारणावत" नगर में पहुंच जाओ, और वहां पहुंच नगर के समीप रहकर महान् धनपूर्ण एक परम गुप्त चतुःशाल=चार शालाओं वाला भवन तैयार कराओ ॥

शणसर्जरसादीनि यानि द्रव्याणि कानिचित् ।
आग्नेयान्युत सन्तीह तानि तत्र प्रदापय ॥२५॥
सर्पिस्तैलवसाभिश्च लाक्षया चाप्यनल्पया ।
मृत्तिकां मिश्रयित्वा त्वं लेपं कुड्येषु दापय ॥२६॥

अर्थ—सण, राल आदि अग्नि से शीघ्र जलने वाली वस्तुयें जितनी यहां मिलसकें वह सब वहां भिजवादो, उन सब वस्तुओं तथा घी, तैल और चर्बी के साथ बहुतसी लाख मिट्टी में मिलाकर उस भवन की दीवारों पर लेपन कराओ, और :–

शणं तैलं घृतं चैव जतुदारूणि चैव हि ।
तस्मिन् वेश्मनि सर्वाणि निक्षिपेथाः समन्ततः॥२७॥
यथा च तन्न पश्येरन् परीक्षन्तोऽपि पाण्डवाः ।
आग्नेयमिति तत्कार्यमपि चान्येऽपि मानवाः ॥२८॥

अर्थ—उस घर में सब ओर सण, तैल, घी, लाख और लक-

ड़ियें डालदो, जिससे पाण्डव तथा और लोग परीक्षा करने पर भी उसको आग्नेय=अग्नि से शीघ्र जलने वाला न समझसकें वैसा उपाय करना ॥

वेश्मन्येवं कृते तत्र गत्वा तान्परमार्चितान् ।
वासयेथाः पाण्डवेयान् कुन्तीं च ससुहृज्जनान्॥२९॥
आसनानि च दिव्यानि यानानि शयनानि च ।
विधातव्यानि पाण्डूनां यथा तुष्येत वै पिता ॥३०॥

अर्थ–ऐसा भवन तैयार होजाने पर उसमें परम सत्कारपूर्वक पाण्डवों और कुन्ती को बन्धुवर्ग सहित वहां बसा देवें, और तुम पाण्डवों के लिये अद्भुत आसन, गाड़ियें और सेज तैयार करा देना जिससे पिता धृतराष्ट्र सन्तुष्ट रहें ॥

यथा च तन्न जानन्ति नगरे वारणावते ।
तथा सर्वं विधातव्यं यावत् कालस्य पर्ययः ॥३१॥
ज्ञात्वा च तान् सुविश्वस्तान् शयानानकुतोभयान् ।
अग्निस्त्वया ततो देयो द्वारतस्तस्य वेश्मनः ॥३२॥

अर्थ–जिसप्रकार वारणावत नगर में इस बात को कोई न जान सके उसी प्रकार सब कार्य करो, जबतक ठीक अवसर न आवे तबतक कुछ न करना और जब तुम उनको देखो कि यह पूर्ण विश्वास के साथ बेखटके सोरहे हैं तब उस भवन के द्वार पर आग लगा देना ॥

दह्यमाने स्वके गेहे दग्धा इति ततो जनाः ।
न गर्हयेयुरस्मान् वै पाण्डवार्थाय कर्हिचित् ॥३३॥

स तथेति प्रतिज्ञाय कौरवाय पुरोचनः ।
प्रायाद्रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना ॥३४॥

अर्थ—तब सब लोग यही समझेंगे कि पाण्डवों का अपना घर जल जाने से वह जल गये, कोई हम पर उनकी मृत्यु का दोष न लगावेगा, तब पुरोचन दुर्योधन के आगे वैसा करने की प्रतिज्ञा करके तेज़ घोड़ों से जुते हुए शीघ्रगामी रथ पर चढ़कर वारणावत नगर की ओर चल दिया ॥

स गत्वा त्वरितं राजन् दुर्योधनमते स्थितः ।
यथोक्तं राजपुत्रेण सर्वं चक्रे पुरोचनः॥३५॥

अर्थ—हे राजा जनमेजय ! तब पुरोचन ने दुर्योधन की सम्मति में स्थिर होकर वहां शीघ्रतया पहुंच जैसी राजकुमार दुर्योधन ने आज्ञा दी थी वैसा ही किया ॥

इति द्वाविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ त्रिविंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवास्तु रथान्युक्त्वा सदश्वैरनिलोपमैः ।
आरोहमाणा भीष्मस्य पादौ जगृहुरार्त्तवत् ॥१॥
राज्ञश्च धृतराष्ट्रस्य द्रोणस्य च महात्मनः ।
अन्येषां चैव वृद्धानां कृपस्य विदुरस्य च ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! पाण्डवों ने वायु के समान शीघ्रगामी उत्तम घोड़ों को रथों में जुतवाया और उन पर चढ़ने से पहले भीष्मजी, राजा धृतराष्ट्र, महात्मा द्रोणाचार्य्य, कृपाचार्य्य, विदुर तथा अन्य वृद्ध पुरुषों के चरणों में दीनतापूर्वक प्रणाम किया॥

एवं सर्वान् कुरून् बृद्धानभिवाद्य धृतव्रताः ।
समालिङ्ग्य समानान्वै बालैश्चाप्यभिवादिताः ॥३॥
सर्वा मातॄस्तथापृच्छ्य कृत्वा चैव प्रदक्षिणम् ।
सर्वाः प्रकृतयश्चैव प्रययुर्वारणावतम् ॥४॥

अर्थ—इस प्रकार व्रतधारी पाण्डव सब वृद्ध कुरुवंशियों को अभिवादन तथा बराबर वालों को आलिङ्गन करके बालकों से अभिवादन किये हुए वह सब माताओं से आज्ञा लेकर और उनकी तथा प्रजा के प्रधान पुरुषों की प्रदक्षिणा करके वारणावत नगर को चल दिये ॥

विदुरश्च महाप्राज्ञस्तथाऽन्ये कुरुपुङ्गवाः ।
पौराश्च पुरुषव्याघ्रानन्वीयुः शोककर्षिताः ॥५॥
तत्र केचिद्ब्रुवन्तिस्म पौरजानपदा नराः ।
दीनान् दृष्ट्वा पाण्डुसुतानतीव भृशदुःखिताः ॥६॥

अर्थ—उन सिंह पुरुष पाण्डवों के साथ शोक से पीड़ित हुए २ महाबुद्धिमान विदुर तथा कुरुओं में अन्य श्रेष्ठ पुरुष और नगरवासी भी चले, और कितने ही नगरवासी तथा प्रान्त में रहने वाले लोग पाण्डवों को दीन देखकर अत्यन्त दुःख से इस प्रकार बोले कि :—

विषमं पश्यते राजा सर्वथा स सुमन्दधीः ।
कौरव्यो धृतराष्ट्रस्तु नच धर्मं प्रपश्यति ॥७॥
भीमो वा बलिनां श्रेष्ठः कौन्तेयो वा धनञ्जयः ।
कुत एव महात्मानौ माद्रीपुत्रौ करिष्यतः ॥८॥
न हि पापमपापात्मा रोचयिष्यति पाण्डवः ।
तान् राज्यं पितृतः प्राप्तान् धृतराष्ट्रो न मृष्यते ॥९॥

अर्थ—कुरुवंशी राजा धृतराष्ट्र सर्वथा मन्दबुद्धि है जो दुभांत से पाण्डवों को देखता है अर्थात् समानता से नहीं देखता और न धर्म का विचार करता है, इस पापमय बर्ताव को पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर, बलवानों में श्रेष्ठ भीमसेन और कुन्ती पुत्र अर्जुन कभी पसंद न करेंगे और न इसको माद्री के पुत्र महात्मा नकुल, सहदेव पसंद करेंगे, परन्तु धृतराष्ट्र पिता से प्राप्त हुए पाण्डवों के राज्य को देखकर सह नहीं सक्ता ॥

अधर्म्यमिदमत्यन्तं कथं भीष्मोऽनुमन्यते ।
विवास्यमानानस्थाने नगरे योऽभिमन्यते ॥१०॥
पितेव हि नृपोऽस्माकमभूच्छान्तनवः पुरा ।
विचित्रवीर्यो राजर्षिः पाण्डुश्च कुरुनन्दनः॥११॥

अर्थ—इस अत्यन्त अधर्मयुक्तकार्य में भीष्मजी कैसे अनुमति देते होंगे जो विना अवसर पाण्डवों को वारणावत नगर में निर्वासन किया जाता है, पूर्वकाल में शन्तनुपुत्र राजर्षि राजा विचित्रवीर्य और उनके पुत्र कुरुवंश के आनन्दकारी पाण्ड हम लोगों के पिता समान रक्षक थे ॥

स तस्मिन् पुरुषव्याघ्रे देवभावं गते सति ।
राजपुत्रानिमान् बालान् धृतराष्ट्रो न मृष्यते ॥१२॥
वयमेतदनिच्छन्तः सर्व एव पुरोत्तमात् ।
गृहान् विहाय गच्छामो यत्र गन्ता युधिष्ठिरः॥१३॥

अर्थ—अब उस सिंहपुरुष पाण्डु के स्वर्गवास होजाने पर राजा धृतराष्ट्र इन बालक राजपुत्रों को देख नहीं सकता और हम सब लोग इस बात को अनुचित समझते हैं, जहां युधिष्ठिर जायंगे वहीं पर हम सब लोग अपने घरों को त्यागकर इस उत्तम नगर हस्तिनापुर से चल देंगे ॥

तांस्तथा वादिनः पौरान् दुःखितान् दुःखकर्षितः ।
उवाच मनसा ध्यात्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥१४॥
पिता मान्यो गुरुः श्रेष्ठो यदाह पृथिवीपतिः ।
अशङ्कमानैस्तत्कार्यमस्माभिरिति नो व्रतम् ॥१५॥

अर्थ—उन दुःखित पुरवासियों को इस प्रकार बातें करते हुए देख उनके दुःख से दुःखी हुए २ धर्मराज युधिष्ठिर मन में सोचकर बोले कि हम लोगों का यह धर्म है कि राजा धृतराष्ट्र जो हमारे पिता, माननीय, बड़े और श्रेष्ठ हैं वह जो कुछ आज्ञा दें हम लोग निःशंक होकर उसी का पालन करेंगे ॥

भवन्तः सुहृदोऽस्माकमस्मान् कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
प्रतिनन्द्य तथाशीर्भिर्निवर्त्तध्वं यथा गृहम् ॥१६॥
यदा तु कार्यमस्माकं भवद्भिरुपपत्स्यते ।
तदा करिष्यथ ... प्रियाणि च हितानि च ॥१७॥

अर्थ—आप लोग हमारे मित्र हैं, अब आप हमारी प्रदक्षिणा तथा आशीर्वादों से हमें आनन्दित करके अपने २ घर लौट जायं, जब हमारा आप लोगों से कुछ काम पड़ेगा तब हमारे लिये प्रिय और हित के कार्य करना ॥

एवमुक्तास्तदा पौराः कृत्वा चापि प्रदक्षिणम् ।
आशीर्भिश्चाभिनन्द्यैतान् जग्मुर्नगरमेव हि ॥१८॥
पौरेषु विनिवृत्तेषु विदुरः सर्वधर्मवित् ।
बोधयन् पाण्डवश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ।
प्राज्ञः प्राज्ञं प्रलापज्ञः प्रलापज्ञमिदं वचः ॥१९॥

अर्थ—युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर पुरवासी लोग पाण्डवों की प्रदक्षिणा तथा उनको आशीर्वादों से प्रसन्न करके नगर को ही लौट चले, पुरवासियों के लौट जाने पर संपूर्ण धर्मों के ज्ञाता, कूट भाषा के जानने वाले बुद्धिमान् विदुरजी पाण्डु के बड़े पुत्र युधिष्ठिर को संबोधन करके बोले कि :—

यो जानाति परप्रज्ञां नीतिशास्त्रानुसारिणीम् ।
विज्ञायेह तथा कुर्यादापदं निस्तरेद् यथा ॥२०॥
अलोहं निशितं शस्त्रं शरीरपरिकर्त्तनम् ।
यो वेत्ति न तु तं घ्नन्ति प्रतिघातविदं द्विषः ॥२१॥

अर्थ—जो मनुष्य नीतिशास्त्र के अनुसार चलने वाली दूसरों की बुद्धि को समझ लेता है उसको उचित है कि समझकर ऐसा उपाय करे जिससे इस संसार में आपत्तियों से तर जावे, जो मनुष्य ऐसे शस्त्र को जानता है जो लोहे से नहीं बनता किंतु

बड़ा तेज़ और शरीर का नाश करने वाला है उसको शत्रु लोग नहीं मारसकते, क्योंकि वह शत्रु का प्रतिकार जानता है ॥

कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः ।
न दहेदिति चात्मानं यो रक्षति स जीवति ॥२२॥
नाचक्षुर्वेत्ति पन्थानं नाचक्षुर्विन्दते दिशः ।
नाधृतिर्भूतिमाप्नोति बुध्यस्वैवं प्रबोधितः ॥२३॥

अर्थ-जो महावन में बिल बनाकर रहता हुआ यह समझता है कि बन तथा शीत का नाशक अग्नि अपने को न जला सके वही अपनी रक्षा करता हुआ जीवित रह सकता है अन्य नहीं. नेत्रहीन पुरुष मार्गों को नहीं पहचानता और नाही नेत्रहीन को दिशाओं का पता लग सकता है, और न धैर्यहीन पुरुष कल्याण को प्राप्त होता है, ऐसा समझकर तुम सावधान रहो ॥

अनाप्तैर्दत्तमादत्ते नरः शस्त्रमलोहजम् ।
श्वाविच्छरणमासाद्य प्रमुच्येत हुताशनात् ॥२४॥
चरन् मार्गान् विजानाति नक्षत्रैर्विन्दते दिशः ।
आत्मना चात्मनः पञ्चपीडयन्नानुपीड्यते ॥२५॥

अर्थ-यदि मनुष्य दुष्ट पुरुषों द्वारा प्रयुक्त हुए अलोहज=लोहे से न बने हुए अग्नि आदि शस्त्रों को प्राप्त हो तो उसको चाहिये कि सेह के बिल समान दोनों ओर द्वार वाला बिल बनाकर अपनी रक्षा करे, घूमता हुआ मार्गों तथा नक्षत्रों को देखकर दिशाओं को जाने, अपने आप अपने पांच=काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद=अहंकार इनको पीड़ा देता हुआ अर्थात् इनके पीछे न चलता हुआ स्वयं दुःख में नहीं पड़ता ॥

एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
विदुरं विदुषां श्रेष्ठं विज्ञातमिति पाण्डवः ॥२६॥
अनुशिक्ष्यानुगम्यैतान् कृत्वा चैव प्रदक्षिणम् ।
पाण्डवानभ्यनुज्ञाय विदुरः प्रययौ गृहान् ॥२७॥

अर्थ-विदुरजी के ऐसा कहने पर पाण्डुपुत्र धर्मराज युधिष्ठिर विद्वानों में श्रेष्ठ विदुरजी से बोले कि मैं आपका आशय समझ गया, तब विदुरजी इनको शिक्षा देकर तथा कुछ दूर तक इनके साथ २ चलकर पश्चात् प्रदक्षिणा करके पाण्डवों की अनुज्ञा से घर आये॥

निवृत्ते विदुरे चापि भीष्मे पौरजने तथा ।
अजातशत्रुमासाद्य कुन्ती वचनमब्रवीत् ॥२८॥
क्षत्ता यदब्रवीद् वाक्यं जनमध्येऽब्रुवन्निव ।
त्वया च स तथेत्युक्तो जानीमो नच तद्वयम् ॥२९॥

अर्थ-विदुर, भीष्म तथा पुरवासियों के लौट जाने पर कुन्ती अजातशत्रु=युधिष्ठिर के समीप जाकर उनसे एकान्त में बोली कि विदुर ने और लोगों के बीच न कहकर तुमसे एकान्त में जो बातें कहीं तथा तुमने "बहुत अच्छा" कहकर उनको स्वीकार किया वह क्या थीं ? हम लोग उनको नहीं समझे ॥

यदिदं शक्यमस्माभि ज्ञातुं नच सदोषवत् ।
श्रोतुमिच्छामि तत्सर्वं संवादं तव तस्य च ॥३०॥

अर्थ-यदि हमलोग उस बात को जान सकते हों और इस में कोई हानि न हो तो मैं तुम्हारी और उनकी सब बातचीत सुनना चाहती हूं ॥

युधिष्ठिर उवाच

गृहादग्निश्च बोद्धव्य इति मां विदुरोऽब्रवीत् ।
पन्थाश्च वो नाविदितः कश्चित् स्यादिति धर्मधीः ॥३१॥
जितेन्द्रियश्च वसुधां प्राप्स्यतीति च मेऽब्रवीत् ।
विज्ञातमिति तत्सर्वं प्रयुक्तो विदुरो मया ॥३२॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले कि धर्मबुद्धि विदुरजी ने मुझसे यह कहा है कि तुम उस घर को अग्निरूप समझना और तुम्हें वन का कोई मार्ग भी अज्ञात नहीं रहना चाहिये, और यह भी कहा है कि जितेन्द्रिय पुरुष पृथ्वी के राज्य को पासकता है, तब मैंने विदुरजी से कहा कि मैंने यह सब कुछ समझ लिया ॥

वैशम्पायन उवाच

अष्टमेऽहनि रोहिण्यां प्रयाताः फाल्गुनस्य ते ।
वारणावतमासाद्य ददृशुर्नागरं जनम् ॥३३॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! पाण्डव लोगों ने फाल्गुन मासकी अष्टमी को रोहिणी नक्षत्र में वारणावत पहुंचकर पुरवासी लोगों को देखा ॥

इति त्रिविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ चतुर्विंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततः सर्वा प्रकृतयो नगराद्वारणावतात् ।
सर्वमङ्गलसंयुक्ता यथाशास्त्रमतन्द्रिताः ॥१॥
श्रुत्वागतान् पाण्डुपुत्रान् नानायानैः सहस्रशः ।
अभिजग्मुर्नरश्रेष्ठान् श्रुत्वैव परया मुदा ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! तब सब प्रजा के लोग श्रेष्ठ पाण्डवों को वहां आया सुनकर शास्त्र के अनुसार सम्पूर्ण मङ्गल चिह्नों समेत निरालस हो अनेक सवारियों पर चढ़कर आनन्दपूर्वक उनके स्वागत के लिये वारणावत नगर से चले ॥

ते समासाद्य कौन्तेयान् वारणावतका जनाः ।
कृत्वा जयाशिषः सर्वे परिवार्यावतस्थिरे ॥३॥
सत्कृताश्चैव पौरैस्ते पौरान् सत्कृत्य चानघ ।
अलंकृतं जनाकीर्णं विविशुर्वारणावतम् ॥४॥

अर्थ—वह वारणावत के रहनेवाले लोग पाण्डवों के समीप पहुंच उनको जय २ के आशीर्वाद देते हुए चारो ओर घेरकर खड़े होगये, हे निष्पाप राजन् ! इस प्रकार पुरवासियों से सत्कार पाकर तथा स्वयं उनका सत्कार करके सुसज्जित लोगों से भरपूर वारणावत नगर में प्रविष्ट हुए ॥

ते प्रविश्य पुरीं वीरास्तूर्णं जग्मुरथो गृहान् ।
ब्राह्मणानां महीपाल रतानां स्वेषु कर्मसु ॥५॥

नगराधिकृतानां च गृहाणि रथिनां तदा ।
उपतस्थुर्नरश्रेष्ठा वैश्यशूद्रगृहाण्यपि ॥६॥

अर्थ—हे राजन् ! वह वीर पाण्डव उस नगरी में प्रविष्ट होकर शीघ्र ही ब्राह्मणों के घरों पर गये जो अपने कर्मानुष्ठान में तत्पर थे, पश्चात् नगर के अधिकारियों तथा सैनिक लोगों और वैश्य-शूद्रों के घरों में भी वह श्रेष्ठ पुरुष उनके सन्मानार्थ उपस्थित हुए ॥

अर्चिताश्च नरैः पौरैः पाण्डवा भरतर्षभ ।
जग्मुरावसथं पश्चात् पुरोचनपुरःसराः ॥७॥
तेभ्यो भक्ष्याणि पानानि शयनानि शुभानि च ।
आसनानि च मुख्यानि प्रददौ स पुरोचनः ॥८॥

अर्थ—हे भरतकुलभूषण ! इस प्रकार पाण्डव पुरवासी लोगों से सत्कार पाकर पश्चात् पुरोचन को आगे करके गृह में प्रविष्ट हुए, वहां पुरोचन ने उनको उत्तमोत्तम भक्ष्य, पान, सेज तथा मुख्य आसनादि प्रदान किये ॥

तत्र ते सत्कृतास्तेन सुमहार्हपरिच्छदाः ।
उपास्यमानाः पुरुषैरूषुः पुरनिवासिभिः ॥९॥

अर्थ—तदनन्तर पाण्डव लोग पुरोचन से सत्कार पाकर तथा उत्तम सामान के साथ पुरवासी लोगों से सेवा किये जाते हुए वहां रहने लगे ॥

दशरात्रोषितानां तु तत्र तेषां पुरोचनः ।
निवेदयामास गृहं शिवाख्यमशिवं तदा ॥१०॥

तत्र ते पुरुषव्याघ्राः विविशुः सपरिच्छदाः ।
तच्चागारमभिप्रेक्ष्य सर्वधर्मभृतांवरः ॥११॥
उवाचाग्नेयमित्येवं भीमसेनं युधिष्ठिरः ।
जिघ्राणोऽस्य वसा गन्धं सर्पिर्जतुविमिश्रितम् ॥१२॥

अर्थ—जब उनको वहां ठहरे हुए दश दिन होचुके तब पुरोचन ने उनको अपने बनवाये हुए भवन में रहने के लिये निवेदन किया जो भवन बाहर से शुभ किन्तु वास्तव में अशुभ था, तब वह सिंहपुरुष अपने सामान सहित उस भवन में प्रविष्ट हुए, सम्पूर्ण धर्मात्माओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ने उस लाक्षागृह को निरीक्षण किया जिसमें घी और लाख से मिली हुई चर्बी की गन्ध आती थी, उस गन्ध को सूंघकर युधिष्ठिर भीमसेन से बोले कि यह मकान आग्नेय=अग्नि से जलाये जाने वाला है ॥

कृतं हि व्यक्तमाग्नेयमिदं वेश्म परन्तप ।
शणसर्जरसंव्यक्तमानीय गृहकर्मणि ॥१३॥
मुञ्जवल्वजवंशादि द्रव्यं सर्वं घृतोक्षितम् ।
शिल्पिभिः सुकृतं ह्याप्तैर्विनीतैर्वेश्मकर्मणि ॥१४॥

अर्थ—हे शत्रुसंतापक ! यह स्पष्ट है कि यह भवन आग्नेय बनाया गया है, गृहनिर्माण विद्या में शिक्षित विश्वासी कारीगरों ने सण, राल, मूंज, छाल, बांस आदि सब वस्तुयें घी में भीगी हुई एकत्रित करके इसको ऐसा रमणीय बनाया है ॥

विश्वस्तं मामयं पापो दग्धुकामः पुरोचनः ।
तथा हि वर्त्तते मन्दः सुयोधनवशे स्थितः ॥१५॥

इमां तु तां महाबुद्धिर्विदुरो दृष्टवांस्तथा ।
आपदं तेन मां पार्थ स सम्बोधितवान् पुरा ॥१६॥

अर्थ—यह पापी पुरोचन मुझको विश्वासी बनाकर जलाना चाहता है, क्योंकि यह दुर्योधन के वश में हुआ २ नीच होगया है, हे पृथा के पुत्र भीमसेन ! महाबुद्धि विदुरजी ने इस आपत्ति को पहले ही जानकर मुझे सब समझा दिया था ॥

ते वयं बोधितास्तेन नित्यमस्मद्धितैषिणा ।
पित्रा कनीयसा स्नेहाद्बुद्धिमन्तोऽशिवं गृहम् ।
अनार्यैः सुकृतं गूढैर्दुर्योधनवशानुगैः ॥१७॥

अर्थ—सो हमारे नित्य हितैषी पिता के छोटे भाई विदुरजी ने स्नेह से इस अशुभ घर की बात समझा कर हमें सावधान कर दिया है जिसको दुर्योधन के वश में रहने वाले दुष्ट दुर्बुद्धि पुरुषों ने तय्यार किया है ॥

भीमसेन उवाच

यदीदं गृहमाग्नेयं विहितं मन्यते भवान् ।
तत्रैव साधु गच्छामो यत्र पूर्वोषिता वयम् ॥१८॥

अर्थ—भीमसेन बोला कि हे भ्राता युधिष्ठिर ! यदि आप समझते हैं कि यह मकान आग्नेय बनाया गया है तो जहां हम पहले रहते थे वहीं चलना अच्छा है ॥

युधिष्ठिर उवाच

इह यत्तैर्निराकारैर्वस्तव्यमिति रोचये ।
अप्रमत्तैर्विचिन्वद्भिर्गतिमिष्टां ध्रुवामितः ॥१९॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोले कि हे भाई भीमसेन ! मैं यह अच्छा समझता हूं कि हम यत्नपूर्वक अपने आकार=वेश को गुप्त रखकर सावधानतापूर्वक अपने निकलने का कोई उत्तम दृढ़ उपाय सोचते हुए यहीं रहें, क्योंकि :—

यदि विन्देत चाकारमस्माकं स पुरोचनः ।
क्षिप्रकारी ततो भूत्वा प्रसह्यापि दहेत नः ॥२०॥
नायं बिभेत्युपक्रोशादधर्माद्वा पुरोचनः ।
तथा हि वर्त्तते मन्दः सुयोधनवशे स्थितः ॥२१॥

अर्थ–यदि पुरोचन हमारे आकार को पहचान लेगा तो शीघ्रता से बलपूर्वक भी हमें जला देगा, यह पुरोचन दुर्योधन के वश में हुआ २ ऐसा नीच होगया है कि यह न लोकनिन्दा से डरता और नाही अधर्म से भयभीत होता है ॥

अपि चायं प्रदग्धेषु भीष्मोऽस्मासु पितामहः ।
कोपं कुर्यात् किमर्थं वा कौरवान् कोपयीत सः॥२२॥
अथवापीह दग्धेषु भीष्मोऽस्माकं पितामहः ।
धर्म इत्येव कुप्येरन् ये चान्ये कुरुपुङ्गवाः ॥२३॥

अर्थ–भीष्मपितामह भी हम लोगों के जल जाने पश्चात् उन पर किस निमित्त से क्रोध करेंगे ? या किस प्रयोजन से अन्य कौरवों को क्रोधित करेंगे अर्थात् उस समय उनका क्रोध करना निष्फल है, क्योंकि हम लोग तो मर ही जायंगे, हमारे पितामह भीष्म तथा अन्य कुरुवंशी यदि क्रोध भी करें तो केवल धर्म के विचार से करेंगे, और :–

वयं तु यदि दाहस्य बिभ्यतः प्रद्रवेमहि ।

स्पशैर्निर्घातयेत्सर्वान् राज्यलुब्धः सुयोधनः ॥२४॥
अपदस्थान् पदे तिष्ठन्नपक्षान् पक्षसंस्थितः ।
हीनकोशान्महाकोशः प्रयोगैर्घातयेद् ध्रुवम् ॥२५॥

अर्थ–यदि हम जलने से डरते हुए यहां से भाग जावें तो राज्य का लोभी दुर्योधन हम लोगों को गुप्तचरों से मरवादेगा यह निश्चय है, क्योंकि उत्तम पद पर स्थित पुरुष पदहीन मनुष्यों को, सहायकों वाला असहायकों और धनवान निर्धनों को नीति के उपायों से मरवा सकता है, इसलिये :–

तदस्माभिरिमं पापं तं च पापं सुयोधनम् ।
वञ्चयद्भिर्निवस्तव्यं छन्नवासं क्वचित् क्वचित् ॥२६॥
ते वयं मृगयाशीलाश्चराम वसुधामिमाम् ।
तथा नो विदिता मार्गा भविष्यन्ति पलायताम्॥२७॥

अर्थ–हमें आवश्यक है कि हम इस पापी पुरोचन तथा उस पापात्मा दुर्योधन को वञ्चन करते हुए छिपकर इधर उधर रहें अथवा हम नित्य शिकार खेलते हुए इस पृथ्वी पर विचरें, क्योंकि इस प्रकार से हमें भागने के लिये सब मार्ग ज्ञात होजावेंगे, और :–

भौमं च विलमद्यैव करवाम सुसंवृतम् ।
गूढ़श्वासान्न नस्तत्र हुताशः संप्रधक्ष्यति ॥२८॥
वसतोऽत्र यथा चास्मान्न बुध्येत पुरोचनः ।
पौरो वापि जनः कश्चित्तथा कार्यमतन्द्रितैः ॥२९॥

अर्थ–आज ही हमें पृथ्वी में एक गुप्त बिल = सुरंग बना लेना

चाहिये जिसमें गुप्तरूप से रहते हुए हमको अग्नि भी नहीं जला सकेगी, हम लोगों को यहां रहते हुए सब कार्य सावधान होकर इस प्रकार करने चाहियें जिससे पुरोचन वा अन्य पुरवासी लोगों को यह बात विदित न हो ॥

इति चतुर्विंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ पंचविंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य सुहृत् कश्चित् खनकः कुशलो नरः ।
विविक्ते पाण्डवान् राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥१॥
प्रहितो विदुरेणास्मि खनकः कुशलो ह्यहम् ।
पाण्डवानां प्रियं कार्यमिति किं करवाणि वः ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! विदुरजी का एक खनक=खोदने वाला मित्र जो बड़ा चतुर था, एकान्त में पाण्डवों के समीप आकर बोला कि मैं खनक=सुरंग खोदने का काम करने वाला हूं, और मुझे विदुरजी ने आपकी सेवा में इसलिये भेजा है कि तुम पाण्डवों की सहायता करो, सो आप बतलावें कि मैं आपकी क्या सेवा करूं ॥

प्रच्छन्नं विदुरेणोक्तः श्रेयस्त्वमिह पाण्डवान् ।
प्रतिपादय विश्वासादिति किं करवाणि वः ॥३॥
कृष्णपक्षे चतुर्दश्यां रात्रावस्यां पुरोचनः ।

भवनस्य तव द्वारि प्रदास्यति हुताशनम् ॥४॥

अर्थ—मुझे विदुरजी ने गुप्तरूप से कहा है कि तुम विश्वास के साथ पाण्डवों का कल्याण करो, सो आप बतावें अब मैं तुम्हारा क्या काम करूं ? क्योंकि कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन अंधेरी रात्रि के समय पुरोचन तुम्हारे इस भवन के द्वार में आग लगावेगा ॥

मात्रा सह प्रदग्धव्याः पाण्डवाः पुरुषर्षभाः ।
इति व्यवसितं तस्य धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्मतेः॥५॥
किंचिच्च विदुरेणोक्तो म्लेच्छवाचासि पाण्डव ।
त्वया च तत् तथेत्युक्तमेतद्विश्वासकारणम् ॥६॥

अर्थ—हे पुरुषश्रेष्ठ ! धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधन ने यह संकल्प किया है कि पाण्डवों को माता कुन्ती समेत जला दिया जाय, सो मुझ पर आप विश्वास करें और विश्वास का कारण यह है कि विदुरजी ने आपसे कुछ कूट भाषा में कहा और आपने वैसा करना स्वीकार किया था, इसलिये तुम मुझे विदुरजी का ही समझो ॥

अभिजानामि सौम्य त्वां सुहृदं विदुरस्य वै ।
शुचिमाप्तं प्रियं चैव सदा च दृढभक्तिकम् ।
न विद्यते कवेः किंचिदविज्ञातं प्रयोजनम् ॥७॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले कि हे सौम्य ! मैं तुम्हें पहचानता हूं कि तुम विदुरजी के मित्र तथा धर्मात्मा, हितकारी और सदा दृढ़ भक्ति रखने वाले प्रिय हो, इसलिये हे विद्वन् ! मुझे विश्वास दिलाने के लिये किसी बात का स्मरण कराने की कोई आवश्यकता नहीं ॥

यथा तस्य तथा नस्त्वं निर्विशेषा वयं त्वयि ।
भवतश्च यथा तस्य पालयास्मान्यथा कविः ॥८॥
इदं शरणमाग्नेयं मदर्थमिति मे मतिः ।
पुरोचनेन विहितं धार्त्तराष्ट्रस्य शासनात् ॥९॥

अर्थ—जैसे तुम विदुरजी के प्यारे हो वैसे ही हमारे हो, हमें तुम्हारे प्रति कोई अविश्वास नहीं, जैसे हम विदुरजी के अनुग्रह पात्र हैं वैसे ही आपके भी हैं, इसलिये विदुरजी के समान ही आप भी हमारी रक्षा करें,मैं भले प्रकार जानता हूं कि पुरोचन ने धृतराष्ट्र के पुत्र की आज्ञा से हमारे जलाने के लिये यह आग्नेय-भवन तैयार कराया है ॥

स पापः कोषवांश्चैव ससहायश्च दुर्मतिः ।
अस्मानपि च पापात्मा नित्यकालं प्रबाधते ॥१०॥
स भवान् मोक्षयत्वस्मान् यत्नेनास्माद्धुताशनात् ।
अस्मास्विह हि दग्धेषु सकामः स्यात्सुयोधनः॥११॥

अर्थ—वह दुर्बुद्धि धनवान् तथा सहायकों वाला होने से हमें सदा क्लेश देता रहता है, सो आप यत्न करके हमको इस अग्नि से छुड़ायें, क्योंकि यदि हम जल गये तो दुर्योधन कृतार्थ होजायगा॥

इदं तदशुभं नूनं तस्य कर्म चिकीर्षितम् ।
प्रागेव विदुरो वेद तेनास्मानवबोधयत् ॥१२॥
सेयमापदनुप्राप्ता क्षत्ता यां दृष्टवान् पुरा ।
पुरोचनस्याविदितानस्मांस्त्वं प्रतिमोचय ॥ १३ ॥

अर्थ–उसका यह संकल्पित निश्चित अशुभ कर्म विदुरजी ने पहले ही जानकर हम लोगों को सचेत करदिया था, सो वही आपत्ति अब प्राप्त हुई है जिसको विदुरजी पहले ही जानते थे, अब आप हम लोगों को इस आपत्ति से इस प्रकार छुड़ावें जिससे पुरोचन को कुछ ज्ञान न हो ॥

स तथेति प्रतिश्रुत्य खनको यत्नमास्थितः ।
परिखामुत्किरन्नाम चकार च महाबिलम् ॥१४॥
चक्रे च वेश्मनस्तस्य मध्ये नातिमहाबिलम् ।
कपाटयुक्तमज्ञातं समं भूम्याश्च भारत ॥१५॥

अर्थ–तब वह खनक वैसा ही करने की प्रतिज्ञा करके यत्न पूर्वक पृथ्वी में खाई खोदता हुआ एक बड़ा बिल=सुरंग बनाने लगा, हे भारतीय राजन् ! उस भवन के बीच में उसने एक छोटा द्वार बनाया, जिसमें अज्ञात किवाड़ लगाये तथा उसको भवन की भूमी के साथ समधरातल करदिया ॥

पुरोचनभयादेव व्यादधात् संवृतं मुखम् ।
स तस्य तु गृहद्वारि वसत्यशुभधीः सदा ॥१६॥
तत्र ते सायुधाः सर्वे वसन्तिस्म क्षपां नृप ।
दिवा चरन्ति मृगयां पाण्डवेया वनाद्वनम् ॥१७॥

अर्थ–पुरोचन के भय से ही उस बिल का मुख छोटा बनाया, वह दुर्बुद्धि पुरोचन सदा उस भवन के द्वार पर रहने लगा, हे राजन्! तब वह सब पाण्डव रात्रि में शस्त्रों समेत उस बिल में रहने लगे और दिनभर एक वन से दूसरे वन में शिकार खेलते फिरते थे ॥

विश्वस्तवदविश्वस्ता वञ्चयन्तः पुरोचनम् ।
अतुष्टास्तुष्टवद्राजन्नूषुः परमविस्मिताः ॥१८॥
न चैनानन्वबुध्यन्त नरा नगरवासिनः ।
अन्यत्र विदुरामात्यात्तस्मात्खनकसत्तमात् ॥१९॥

अर्थ—हे राजन्! वह पाण्डव अविश्वस्त हुए २ भी पुरोचन को विश्वस्त प्रतीत होते तथा भीतर अप्रसन्न होते हुए भी प्रसन्न से ही ज्ञात होते थे, इस प्रकार परम आश्चर्य के साथ पुरोचन को वंचन करते हुए वहां रहने लगे, मन्त्री-विदुर तथा उस चतुर खनक के अतिरिक्त अन्य कोई इस चरित्र को नहीं जानता था और नाही नगरवासी इनके इस चरित्र को समझते थे॥

वैशम्पायन उवाच

तांस्तु दृष्ट्वा सुमनसः परिसंवत्सरोषितान् ।
विश्वस्तानिव संलक्ष्य हर्षं चक्रे पुरोचनः ॥२०॥
पुरोचने तथा हृष्टे कौन्तेयोऽथ युधिष्ठिरः ।
भीमसेनार्जुनौ चोभौ यमौ प्रोवाच धर्मवित् ॥२१॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन! जब एक साल से अधिक वहां रहते हुए होगया तब पुरोचन उनको प्रसन्नचित्त तथा विश्वासी देखकर हर्ष मनाने लगा, पुरोचन के हर्षित होने पर कुन्तीपुत्र धर्मज्ञ युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन तथा दोनों जोड़ले भाई नकुल, सहदेव को संबोधन करके बोले कि :—

अस्मानयं सुविश्वस्तान् वेत्ति पापः पुरोचनः ।
वञ्चितोऽयं नृशंसात्मा कालं मन्ये पलायने ॥२२॥

आयुधागारमादीप्य दग्ध्वा चैव पुरोचनम् ।
षट् प्राणिनो निधायेह द्रवामोऽनभिलक्षिता ॥२३॥

अर्थ–यह पापी पुरोचन हम लोगों को अत्यन्त विश्वासी समझता है पर यह हमसे ठगा गया है, अब मैं यह अवसर भागने का अच्छा समझता हूं, इस शस्त्रगृह=लाक्षाभवन को जलाकर और साथ ही इस पुरोचन को भी भस्म करके तथा यहीं इन छओं प्राणियों को छोड़ छिपकर हमारा भाग जाना ही अच्छा है ॥

अथ दानापदेशेन कुन्ती ब्राह्मणभोजनम् ।
चक्रे निशि महाराज आजग्मुस्तत्र योषितः ॥२४॥
ता विहृत्य यथाकामं भुक्त्वा पीत्वा च भारत ।
जग्मुर्निशि गृहानेव समनुज्ञाप्य माधवीम् ॥२५॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे महाराज ! इसके पश्चात् कुन्ती ने दान के बहाने से ब्रह्मभोज किया और वहां रात्रि में निमंत्रित हुई बहुत सी स्त्रियें आईं, हे भारतीय राजन् ! वह स्त्रियें इच्छापूर्वक उत्सव मनाकर तथा भोजन-पान करके रात्रि में ही कुन्ती से आज्ञा लेकर अपने २ घर को चली गईं ॥

निषादी पञ्चपुत्रा तु तस्मिन् भोज्ये यदृच्छया ।
अन्नार्थिनी समभ्यागात् सपुत्रा कालचोदिता ॥२६॥
सा पीत्वा मदिरां मत्ता सपुत्रा मदविह्वला ।
सह सर्वैः सुतैराजंस्तस्मिन्नेव निवेशने ।
सुष्वाप विगतज्ञाना मृतकल्पा नराधिप ॥ २७ ॥

अर्थ–परन्तु उस भोज में दैवयोग से एक चाण्डाली अपने

पांच पुत्रों समेत भोजन की इच्छा से मौत की भेजी हुई वहां आपहुंची, हे राजन् ! वह स्त्री अपने पुत्रों सहित बहुत सी मदिरा पीकर नशे से बेहोश हुई २ उसी घर में सब पुत्रों समेत सो रही, और नशे की प्रबलता से बेसुध तथा मृतप्राय होगई ॥

अथ प्रवाते तुमुले निशि सुप्ते जने तदा ।
तदुपादीपयद्भीमः शेते यत्र पुरोचनः ॥२८॥
ततो जतुगृहद्वारं दीपयामास पाण्डवः ।
समन्ततो ददौ पश्चादग्निं तत्र निवेशने ॥२९॥

अर्थ—इसके पश्चात् जब बड़े वेग से वायु चल रही थी और सब लोग सोये हुए थे तब भीमसेन ने पहले वहां आग लगाई जहां पुरोचन सोया हुआ था, पश्चात् उस लाक्षाभवन के द्वार में और फिर उसके चारो ओर अग्नि लगादी ॥

ज्ञात्वा तु तद्गृहं सर्वमादीप्तं पाण्डुनन्दनाः ।
सुरङ्गां विविशुस्तूर्णं मात्रा सार्द्धमरिन्दमाः ॥३०॥
ततः प्रतापः सुमहाञ्छब्दश्चैव विभावसोः ।
प्रादुरासीत्तदा तेन बुबुधे सजनव्रजः ॥३१॥

अर्थ—तब शत्रुओं को दमन करने वाले पाण्डुपुत्र उस सारे भवन को जलता देखकर शीघ्र ही माता समेत सुरंग में घुस गये, पुनः तत्काल ही अग्नि का बड़ा भारी तेज़ और बड़ा शब्द होने लगा जिससे सब पुरवासी लोगों का समूह जाग उठा, और :—

दुर्योधनप्रयुक्तेन पापेनाकृतबुद्धिना ।
गृहमात्मविनाशाय कारितं दाहितं च तत् ॥३२॥

अहो धिग् धृतराष्ट्रस्य बुद्धिर्नातिसमञ्जसा ।
यःशुचीन् पाण्डुदायादान् दाहयामास शत्रुवत् ॥३३॥

अर्थ—वह सब पुरवासी लोग आपसमें कहनेलगे कि दुर्योधन से प्रेरित हुए इस दुर्बुद्धि पुरोचन ने यह भवन अपने नाश के लिये ही बनवाकर उसे जला दिया, हाय धृतराष्ट्र की दुष्टबुद्धि को धिक्कार है जिसने धर्मात्मा पाण्डु के दायभागी पुत्रों को शत्रुओं के समान जलवा दिया है ॥

दिष्ट्यात्विदानीं पापात्मा दग्धोऽयमतिदुर्मतिः ।
अनागसः सुविश्वस्तान् यो ददाह नरोत्तमान् ॥३४॥
एवं ते विलपन्तिस्म वारणावतका जनाः ।
परिवार्य गृहं तच्च तस्थूरात्रौ समन्ततः ॥३५॥

अर्थ—अच्छा हुआ कि अब यह महा दुर्बुद्धि पुरोचन स्वयं भी जलगया जिसने विश्वासी निरपराध श्रेष्ठ पाण्डवों को जलाया, इस प्रकार वारणावत के रहने वाले रातभर विलाप करते हुए उस लाक्षागृह को चारो ओर घेरकर खड़े रहे ॥

पाण्डवाश्चापि ते सर्वे सह मात्रा सुदुःखिताः ।
विलेन तेन निर्गत्य जग्मुर्द्रुतमलक्षिताः ॥३६॥

अर्थ—तब वह सब पाण्डव माता समेत दुःखी हुए २ उस सुरंग के मार्ग से निकलकर छिपे हुए शीघ्र भाग गये ॥

तेन निद्रोपरोधेन साध्वसेन च पाण्डवाः ।
न शेकुः सहसा गन्तुं सहमात्रा परन्तपाः ॥३७॥
भीमसेनस्तु राजेन्द्र भीमवेगपराक्रमः ।

जगाम भ्रातॄनादाय सर्वान् मातरमेव च ॥३८॥

अर्थ—हे राजन् ! रात की निद्रा के श्रम तथा भय से वह शत्रुनाशक पाण्डव माता समेत एकाएक चल नहीं सकते थे परन्तु बड़े वेग तथा पराक्रम वाला भीमसेन उन सब भाइयों और माता को साथ लेकर चल दिया ॥

स्कन्धमारोप्य जननीं यमावङ्केन वीर्यवान् ।
पार्थौ गृहीत्वा पाणिभ्यां भ्रातरौ सुमहाबलः ॥३९॥
उरसा पादपान् भञ्जन् महीं पद्भ्यां विदारयन् ।
स जगामाशु तेजस्वी वातरंहो वृकोदरः ॥४०॥

अर्थ—वह महाबली भीमसेन कन्धे पर माता को चढ़ाकर तथा नकुल, सहदेव को गोद में उठाकर और युधिष्ठिर तथा अर्जुन को हाथों से पकड़कर छाती से वृक्षों को तोड़ता फोड़ता तथा पैरों से पृथ्वी को विदीर्ण करता हुआ वायु के वेग समान बन में दौड़ गया ॥

इति पंचविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ षड्विंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु यथा संप्रत्ययं कविः ।
विदुरः प्रेषयामास तद्वनं पुरुषं शुचिम् ॥१॥
स गत्वा तु यथोद्देशं पाण्डवान स ददृशे वने ।

जनन्या सह कौरव्यमापयानान्नदीजलम् ॥२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! उसी समय विद्वान् विदुरजी ने संकेत के अनुसार उस बन में एक विश्वासी पुरुष भेजा, उसने उस बन में जाकर नदी के जल को मापते हुए माता कुन्ती सहित पाण्डवों को देखा ॥

विदितं तन्महाबुद्धेर्विदुरस्य महात्मनः ।
ततस्तस्यापि चारेण चेष्टितं पापचेतसः ॥३॥
ततः स प्रेषितो विद्वान् विदुरेण नरस्तदा ।
पार्थानां दर्शयामास मनोमारुतगामिनीम् ॥४॥
सर्ववातसहां नावं यन्त्रयुक्तां पताकिनीम् ।
शिवे भागीरथी तीरे नरैर्विस्रम्भिभिः कृताम् ॥५॥

अर्थ–उस पापात्मा पुरोचन के लिये जो कुछ उस रात्रि में किया गया था वह बुद्धिमान् विदुरजी ने गुप्त पुरुष द्वारा सब जान लिया, इसके पश्चात् विदुरजी ने उस चतुर पुरुष को पाण्डवों के पास भेजदिया और तब उसने गङ्गा के सुन्दर तटपर विश्वासी लोगों की बनाई हुई नाव दिखलादी जो मन तथा वायु के समान वेगवाली, बड़ी वायु को सहारने वाली, यन्त्र से युक्त और ध्वजा वाली थी ॥

ततः पुनरथोवाच ज्ञापकं पूर्वचोदितम् ।
युधिष्ठिर निबोधेदं संज्ञार्थं वचनं कवेः ॥६॥
कक्षघ्नः शिशिरघ्नश्च महाकक्षे बिलौकसः ।
न हन्तीत्येवमात्मानं यो रक्षति स जीवति ॥७॥

अर्थ–तब वह पुरुष विश्वास दिलाने के लिये विदुरजी की पहली कही हुई शिक्षा बतलाने लगा कि हे युधिष्ठिर ! मुझ पर विश्वास करने के लिये विद्वान् विदुरजी का वह वचन स्मरण करें कि जो पुरुष महावन तथा सुरंग में रहता हुआ यह ध्यान रखता है कि वन तथा शीत नाशक अग्नि हमें न मारसके वही अपनी रक्षा करता हुआ जीवित रहता है ॥

तेन मां प्रेषितं विद्धि विश्वस्तं संज्ञयानया ।
भूयश्चैवाह मां क्षत्ता विदुरः सर्वतोऽर्थवित् ॥८॥
कर्णं दुर्योधनं चैव भ्रातृभिः सहितं रणे ।
शकुनिं चैव कौन्तेय विजेतासि न संशयः ॥९॥

अर्थ–विदुरजी के इस संकेत से मुझको तुम उनका भेजा हुआ विश्वासी पुरुष समझो और सब प्रकार तत्वज्ञानी विदुरजी ने मुझसे यह भी कहा है कि हे युधिष्ठिर ! तुम कर्ण, भाइयों समेत दुर्योधन तथा शकुनि को युद्ध में जीत लोगे, इसमें संशय नहीं ॥

इयं वारिपथे युक्ता नौरप्सु सुखगामिनी ।
मोचयिष्यति वः सर्वानस्माद्देशान्न संशयः ॥१०॥
अथ तान् व्यथितान् दृष्ट्वा सह मात्रा नरोत्तमान् ।
नावमारोप्य गङ्गायां प्रस्थितानब्रवीत्पुनः ॥११॥

अर्थ–यह जलमार्ग में नियुक्त कीहुई सुखपूर्वक चलने वाली नौका तुम सबको इस देश से अन्य देश में लेजायगी. तत्पश्चात् वह उन श्रेष्ठ पुरुषों को माता समेत नाव पर चढ़ाकर गङ्गा में चलते हुए उन्हें दुःखित देखकर बोला कि :—

विदुरो मूर्ध्न्युपाघ्राय परिस्वज्य वचोमुहुः ।
अरिष्टं गच्छताव्यग्राः पन्थानमिति चाब्रवीत् ॥१२॥
इत्युक्त्वा स तु तान् वीरान् पुमान् विदुरचोदितः।
तारयामास राजेन्द्र गङ्गां नावा नरर्षभान् ॥१३॥

अर्थ–विदुरजी ने यह भी कहा है कि मेरी ओर से पाण्डवों का मस्तक चूमकर तथा बार २ आलिङ्गन करके यह आशीर्वाद देना कि तुम निश्चिन्त होकर कल्याणयुक्त मार्ग से चलो, हे राजेन्द्र! विदुरजी के भेजे हुए उस पुरुष ने ऐसा कहकर उन श्रेष्ठ वीर पाण्डवों को नाव द्वारा गङ्गा से पार करदिया ॥

तारयित्वा ततो गङ्गां पारं प्राप्तांश्च सर्वशः ।
जयाशिषः प्रयुज्याथ यथागतमगाद्धि सः ॥१४॥
पाण्डवाश्च महात्मानः प्रतिसन्दिश्य वै कवेः ।
गङ्गामुत्तीर्य वेगेन जग्मुर्गूढमलक्षिताः ॥१५॥

अर्थ–उनके कुशल पूर्वक पार पहुंच जाने पर पश्चात् जय की आशीर्वाद देकर अपने स्थान को चला गया, महात्मा पाण्डव भी अपना संदेश विदुरजी को दे गङ्गा से पार होकर शीघ्रतया गुप्तरूप से भाग निकले ॥

वैशम्पायन उवाच

अथ रात्र्यां व्यतीतायामशेषो नागरो जनः ।
तत्राजगाम त्वरितो दिदृक्षुः पाण्डुनन्दनान् ॥१६॥
निर्वापयन्तो ज्वलनं ते जना ददृशुस्ततः ।
जातुषं तद्गृहं दग्धममात्यं च पुरोचनम् ॥१७॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! इसके पश्चात् रात बीत जाने पर नगर के सब लोग पाण्डवों को देखने के लिये शीघ्र वहां आ पहुंचे, उन मनुष्यों ने अग्नि को बुझाते हुए यह देखा कि वह लाक्षाभवन और साथ में मन्त्री पुरोचन भी जलगया ॥

नूनं दुर्योधनेनेदं विहितं पापकर्मणा ।
पाण्डवानां विनाशायेत्येवं ते चुक्रुशुर्जनाः ॥१८॥
विदिते धृतराष्ट्रस्य धार्त्तराष्ट्रो न संशयः ।
दग्धवान् पाण्डुदायादान्न ह्येनं प्रतिषिद्धवान्॥१९॥

अर्थ-वहां के मनुष्य यह कहते हुए "कि अवश्य ही यह कुकर्म पाण्डवों के नाशार्थ पापकर्मा दुर्योधन ने किया है" विलाप करने लगे, वह यह भी कहने लगे कि धृतराष्ट्र को इस षड्यन्त्र का ज्ञान होते हुए भी उसने अपने पुत्र दुर्योधन को निषेध न किया किन्तु दुर्योधन ने पाण्डु के दायभागी पुत्रों को जला ही दिया, इसमें संशय नहीं ॥

नूनं शान्तनवोऽपीह न धर्ममनुवर्त्तते ।
द्रोणश्च विदुरश्चैव कृपश्चान्ये च कौरवाः ॥ २० ॥
ते वयं धृतराष्ट्रस्य प्रेषयामो दुरात्मनः ।
संवृत्तस्ते परः कामः पाण्डवान्दग्धवानसि ॥ २१ ॥

अर्थ-हमारे विचार में शन्तनुपुत्र भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर, कृपाचार्य और अन्य कुरुवंशी लोग भी इस विषय में धर्म का अनुसरण नहीं कर रहे, सो हम दुष्टात्मा धृतराष्ट्र के समीप संदेश भिजवाये देते हैं कि तुम्हारा महान् मनोरथ सफल हुआ, क्योंकि तुमने पाण्डवों को जला दिया है ॥

ततो व्यपोह्यमानास्ते पाण्डवार्थे हुताशनम् ।
निषादीं ददृशुर्दग्धां पञ्चपुत्रामनागसम् ॥ २२ ॥
खनकेन तु तेनैव वेश्म शोधयता बिलम् ।
पांसुभिः पिहितं तच्च पुरुषैस्तैर्न लक्षितम् ॥ २३ ॥

अर्थ–वह लोग पाण्डवों को देखने के लिये अग्नि इधर उधर हटाने लगे तो निरपराध चाण्डाली को पांच पुत्रों समेत जली हुई देखा, उसी खनक ने उस मकान को ठीक करते हुए मिट्टी से उस सुरंग को भरदिया, परंतु उन मनुष्यों ने इस बात को नहीं देखा ॥

ततस्ते ज्ञापयामासुर्धृतराष्ट्रस्य नागराः ।
पाण्डवानग्निना दग्धानमात्यं च पुरोचनम् ॥२४॥
श्रुत्वा तु धृतराष्ट्रस्तद्राजा सुमहदप्रियम् ।
विनाशं पाण्डुपुत्राणां विललाप सुःदुखितः ॥२५॥

अर्थ–तब उन नगर के लोगों ने धृतराष्ट्र को सूचना दी कि पाण्डव लोग तथा मन्त्री पुरोचन अग्नि से जल गये, राजा धृतराष्ट्र पाण्डवों के मृत्युरूपी इस बड़े अशुभ समाचार को सुनकर दुःखी हो रोने लगे ॥

अद्य पाण्डुर्मृतो राजा मम भ्राता महायशाः ।
तेषु वीरेषु दग्धेषु मात्रा सह विशेषतः ॥ २६ ॥
गच्छन्तु पुरुषाः शीघ्रं नगरं वारणावतम् ।
संस्कारयन्तु तान्वीरान् कुन्तिभोजसुतां च ताम् ॥२७॥

अर्थ–धृतराष्ट्र ने कहा कि माता समेत वीर पाण्डवों के जल जाने से आज मेरा प्रतापी भाई राजा पाण्डु निश्चय ही मर

चुका, हे मनुष्यो ! तुम शीघ्र ही वारणावत नगर को जाओ और उन वीर पाण्डवों तथा कुन्तिभोज की पुत्री कुन्ती का संस्कार करो ॥

रुरुदुः सहिताः सर्वे भृशं शोकपरायणाः ।
हा युधिष्ठिर कौरव्य हा भीम इति चापरे ।
हा फाल्गुनेति चाप्यन्ये हा यमाविति चापरे ॥२८॥

अर्थ—तब सब लोग शोकग्रस्त हुए २ इकट्ठे होकर अत्यन्त विलाप करने लगे, कोई हाय कुरुवंशी युधिष्ठिर ! हाय भीमसेन ! पुकारने लगे, कोई हाय अर्जुन ! हाय नकुल-सहदेव ! कह कह कर चिल्लाने लगे ॥

अन्ये पौरजनाश्चैवमन्वशोचन्त पाण्डवान् ।
विदुरस्त्वल्पशश्चक्रे शोकं वेद परं हि सः ॥ २९ ॥
पाण्डवाश्चापि निर्गत्य नगराद्वारणावतात् ।
नदीं गङ्गामनुप्राप्ता मातृषष्ठा महाबलाः ॥ ३० ॥
दाशानां भुजवेगेन नद्याः स्रोतोजवेन च ।
वायुना चानुकूलेन तूर्णं पारमवाप्नुवन् ॥ ३१ ॥

अर्थ—नगर के अन्य लोग भी पाण्डवों का शोक करने लगे, परन्तु विदुरजी ने बहुत थोड़ा शोक किया, क्योंकि वह तत्व को जानते थे, इधर महाबली पांचो पाण्डव, छटी माता समेत वारणावत नगर से निकलकर गङ्गा नदी पर पहुंचे, मल्लाहों के बाहुबल तथा नदी के प्रवाह की शीघ्रता और अनुकूल वायु के कारण शीघ्र ही पार पहुंच गये ॥

ततो नावं परित्यज्य प्रययुर्दक्षिणां दिशम् ।
विज्ञाय निशि पन्थानं नक्षत्रगणसूचितम् ।

यतमाना वनं राजन् गहनं प्रतिपेदिरे ॥ ३२ ॥

अर्थ–तत्पश्चात् नाव से उतर कर दक्षिण दिशा की ओर चलदिये, हे राजन् ! वह लोग नक्षत्रों की गति से रात में मार्ग पहचानकर यत्नपूर्वक सघन वन में घुस गये ॥

ततः श्रान्ताः पिपासार्त्ता निद्रान्धा पाण्डुनन्दनाः ।
पुनरूचुर्महावीर्यं भीमसेनमिदं वचः ॥ ३३ ॥
इतः कष्टतरं किं नु यद्धयं गहने वने ।
दिशश्च न विजानीमो गन्तुं चैव न शक्नुमः ॥३४॥

अर्थ–तब नींद से अन्ध हुए २ थके मांदे तथा भूख प्यास से व्याकुल हुए पाण्डव महापराक्रमी भीमसेन से बोले कि इससे अधिक कष्ट क्या होगा कि हम इस गंभीर वन में न दिशाओं को पहचान सकते और नाहीं कहीं जासकते हैं ॥

तं च पापं न जानीमो यदि दग्धः पुरोचनः ।
कथं तु विप्रमुच्येम भयादस्मादलक्षिताः ॥३५॥
पुनरस्मानुपादाय तथैव व्रज भारत ।
त्वं हि नो बलवानेको यथा सततगस्तथा ॥३६॥

अर्थ–हम यह भी नहीं जानते कि वह पापी पुरोचन जला वा नहीं ? हम लोग गुप्त रहकर इस भय से कैसे छूटेंगे, हे भरतवंशी भीमसेन ! तुम पहले के समान ही हम लोगों को लेकर चलो, क्योंकि तुम्हीं अकेले हम लोगों में वायु के तुल्य महाबलवान् हो ॥

इत्युक्तो धर्मराजेन भीमसेनो महाबलः ।

आदाय कुन्तीं भ्रातृंश्च जगामाशु महाबलः ॥३७॥

अर्थ—धर्मराज युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर महाबली भीमसेन कुन्ती तथा भाइयों को लेकर शीघ्रता से चल दिया ॥

इति षड्विंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ सप्तविंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

तेन विक्रममाणेन ऊरुवेगसमीरितम् ।
वनं सवृक्षविटपं व्याघूर्णितमिवाभवत् ॥१॥
स मृद्नन् पुष्पितांश्चैव फलितांश्च वनस्पतीन् ।
अवरुज्य ययौ गुल्मान् पथस्तस्य समीपजान् ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! भीमसेन के दौड़ते समय उसकी टांगों के वेग से आघात किया हुआ वन वृक्षों तथा शाखाओं समेत चलायमानसा होगया, उस मार्ग के समीप उग हुए फूले-फले तथा ठूंठ वृक्षों को पकड़ २ कर उखाड़ता हुआ चलने लगा ॥

कृच्छ्रेण मातरं चैव सुकुमारीं यशस्विनीम् ।
अवहत् स तु पृष्ठेन रोधः सुविषमेषु च ॥३॥
अगमच्च वनोद्देशमल्पमूलफलोदकम् ।
क्रूरपक्षिमृगंघोरं सायाह्ने भरतर्षभ ॥४॥

अर्थ—वह नदी के प्रवाहों तथा विषम स्थानों में अपनी सुकुमार यशस्विनी माता को पीठ पर चढ़ाकर क्लेश के साथ ले चला, हे भरतवंशी ! वह सायंकाल के समय ऐसे वनस्थान में जा निकला जहां मूल-फल तथा जल बहुत कम मिलता और जहां भयानक तथा क्रूर पशु-पक्षी विद्यमान थे ॥

घोरा समभवत् सन्ध्या दारुणा मृगपक्षिणः ।
अप्रकाशा दिशः सर्वा वातैरासन्ननार्त्तवैः ॥५॥
ते श्रमेण च कौरव्यास्तृष्णया च प्रपीडिताः ।
नाशक्नुवंस्तदा गन्तुं निद्रया च प्रवृद्धया ॥६॥

अर्थ—तब वहां भयानक रात्रि के समय अनेक हिंसक पशु-पक्षी विचरने लगे, सब दिशायें प्रकाशशून्य और ऋतुविरुद्ध वायुओं से पूर्ण होगईं, वह कुरुवंशी थकावट और भूख प्यास से व्याकुल तथा भारी निन्द्राग्रस्त हुए २ उस समय चल न सके ॥

न्यविशन्त हि ते सर्वे निरास्वादे महावने ।
ततस्तृषापरिक्लान्ता कुन्ती पुत्रानथाब्रवीत् ॥७॥
माता सती पाण्डवानां पञ्चानां मध्यतः स्थिता ।
तृष्णया हि परीताऽस्मि पुत्रान् भृशमथाब्रवीत् ॥८॥

अर्थ—वह सब उस आनन्दशून्य महावन में बैठ गये, तब प्यास से घबराई हुई कुन्ती पुत्रों से बोली कि मैं पांचो पाण्डवों की माता होती हुई तथा उनके बीच में बैठी हुई भी प्यास से व्याकुल होरही हूं, इस प्रकार उसने पुत्रों से बार २ कहा ॥

तच्छ्रुत्वा भीमसेनस्य मातृस्नेहात् प्रजल्पितम् ।
कारुण्येन मनस्तप्तं गमनायोपचक्रमे ॥९॥
ततो भीमो वनं घोरं प्रविश्य विजनं महत् ।
न्यग्रोधं विपुलच्छायं रमणीयं ददर्श ह ॥१०॥

अर्थ—माता का उक्त वचन सुनकर उनके स्नेह तथा करुणा से भीमसेन का मन दुःखी हुआ और वह चलने के लिये तैयार हो गया, तब वह वहां से चलकर एक बड़े भारी भयंकर सूने वन में प्रविष्ट हुआ और उसने वहां एक रमणीय बड़ी छाया वाला बरगद का वृक्ष देखा ॥

तत्र निक्षिप्य तान् सर्वानुवाच भरतर्षभः ।
पानीयं मृगयामीह विश्रमध्वमिति प्रभो ॥११॥
एते रुवन्ति मधुरं सारसा जलचारिणः ।
ध्रुवमत्र जलस्थानं महच्चेति मतिर्मम ॥१२॥

अर्थ—हे राजन् ! वह भरतकुलश्रेष्ठ भीमसेन उन सब को वहां छोड़कर बोला कि मैं यहां पानी ढूंढता हूं, तुम सब विश्राम करो, यह जल के जीव सारस मधुर शब्द कर रहे हैं, आशा है यहां अवश्य कोई भारी तालाब होगा ॥

अनुज्ञातः स गच्छेति भ्रात्रा ज्येष्ठेन भारत ।
जगाम तत्र यत्र स्म सारसा जलचारिणः ॥१३॥
स तत्र पीत्वा पानीयं स्नात्वा च भरतर्षभ ।
तेषामर्थे च जग्राह भ्रातृणां भ्रातृवत्सलः ॥१४॥

अर्थ—हे भारतीय राजन्! वह बड़े भाई से आज्ञा पाकर वहां गया जहां जल में विचरने वाले सारस शब्द कर रहे थे, हे भरतकुलश्रेष्ठ! उस भाइयों के प्रेमी भीमसेन ने जल पीकर तथा स्नान करके उन सबके लिये भी जल ग्रहण किया ॥

गव्यूतिमात्रादागत्य त्वरितो मातरं प्रति ।
शोक दुःखपरीतात्मा निशश्वासोरगो यथा ॥१५॥
स सुप्तां मातरं दृष्ट्वा भ्रातृंश्च वसुधातले ।
भृशं शोकपरीतात्मा विललाप वृकोदरः ॥१६॥

अर्थ—वह दो कोस से शीघ्र ही माता के समीप पहुंचकर शोक और दुःख से व्याकुल हुआ २ सांप की भांति वेग से सांस लेने लगा, वह भीमसेन अपनी माता तथा भाइयों को भूमी पर सोये हुए देखकर शोकग्रस्त हुआ २ अत्यन्त विलाप करने लगा किः—

अतः कष्टतरं किंनु द्रष्टव्यं हि भविष्यति ।
यत् पश्यामि महीसुप्तान् भ्रातॄनद्य सुमन्दभाक् ॥१७॥
शयनेषु परार्द्ध्येषु ये पुरा वारणावते ।
नाधिजग्मुस्तदा निद्रां तेऽद्यसुप्ता महीतले ॥१८॥

अर्थ—इससे अधिक कष्ट और क्या होगा जो आज मैं दुर्भागी अपने भाइयों को भूमी में सोये हुए देख रहा हूं, जिनको पहले वारणावत नगर में परमोत्तम सेजों पर भी नींद नहीं आती थी वह आज भूमी पर सोये हुए हैं ॥

स्वसारं वसुदेवस्य शत्रुसङ्घावमर्दिनः ।
कुन्तिराजसुतां कुन्तीं सर्वलक्षणपूजिताम् ॥१९॥

स्नुषां विचित्रवीर्यस्य भार्यां पाण्डोर्महात्मनः ।
तथैव चास्मज्जननीं पुण्डरीकोदरप्रभाम् ॥२०॥
सुकुमारतरामेनां महार्हशयनोचिताम् ।
शयानां पश्यताद्येह पृथिव्यामतथोचिताम् ॥२१॥

अर्थ—शत्रुसमूह के हननकर्त्ता वसुदेव की बहिन, कुन्ती-राज की पुत्री, सर्वगुणालङ्कृत विचित्रवीर्य की पुत्रवधू, महात्मा पाण्डु की स्त्री तथा हमारी माता कुन्ती जो परम कोमल शरीर वाली, कमल के मध्यभाग जैसी रूपवती और परमोत्तम सेज पर सोनेवाली को आज हम दुर्दशा में ग्रस्त भूमी पर सोई हुई देख रहे हैं॥

ज्ञातयो यस्य नैव स्युर्विषमाः कुलपांशनाः ।
स जीवेत सुखं लोके ग्रामद्रुम इवैकजः ॥२२॥
येषां च बहवः शूरा ज्ञातयो धर्ममाश्रिताः ।
ते जीवन्ति सुखं लोके भवन्ति च निरामयाः॥२३॥

अर्थ—जिस मनुष्य के बहुत से भाई बन्धु कुल को दूषित करने वाले तथा दुष्टात्मा नहीं होते वही पुरुष सुख से जीते हैं, जैसे गांव में उत्पन्न हुआ केवल एक ही वृक्ष सुखदायक होता है, और जिन पुरुषों के बहुत से ज्ञाति होने पर भी यदि वह धर्मात्मा तथा शूरवीर हों तो लोग सुख से जीते और निर्विघ्न रहते हैं ॥

वयं तु धृतराष्ट्रेण सपुत्रेण दुरात्मना ।
विवासिता न दग्धाश्च कथंचिद्दैवसंश्रयात् ॥२४॥
तस्मान्मुक्ता वयं दाहादिमं वृक्षमुपाश्रिताः ।
कां दिशं प्रतिपत्स्यामः प्राप्ताः क्लेशमनुत्तमम् ॥२५॥

अर्थ–परन्तु हम लोगों को तो दुष्टात्मा धृतराष्ट्र और उसके पुत्र ने निर्वासन करके जलाने का भी यत्न किया पर किसी कारण से हम न जलसके, उस जलने से बचे हुए हम इस वृक्ष के नीचे आये और परम क्लेश को प्राप्त हुए २ हम अब न जाने किस दिशा को जावेंगे ॥

नन्वद्य ससुतामात्यं सकर्णानुजसौबलम् ।
गत्वा क्रोधसमाविष्टः प्रेषयिष्ये यमक्षयम् ।
किंतु शक्यं मयाकर्त्तुं यत्ते न क्रुध्यते नृपः ॥२६॥

अर्थ–मैं क्रोध में भरा हुआ आज ही जाकर धृतराष्ट्र, उसके मंत्री, पुत्र, भाई तथा कर्ण और शकुनी समेत सबको मृत्यु लोक में पहुंचा सकता हूं परन्तु क्या करूं धृतराष्ट्र पर युधिष्ठिर को क्रोध ही नहीं आता ॥

धर्मात्मा पाण्डवश्रेष्ठः पापाचारी युधिष्ठिरः ।
एवमुक्त्वा महाबाहुः क्रोधसन्दीप्तमानसः ॥२७॥
करं करेण निष्पिष्य निःश्वसन्दीनमानसः ।
भ्रातॄन् महीतले सुप्तानवैक्षत वृकोदरः ॥२८॥

अर्थ–महाबाहु भीमसेन क्रोध से मन में जलता हुआ कहने लगा कि पाण्डवों का बड़ा भाई युधिष्ठिर इस समय धर्मात्मा नहीं किन्तु पापकारी है, ऐसा कहकर तथा दुःखी चित्त से मन में दीन हुआ २ हाथ मलकर फिर भूमी पर सोये हुए भाइओं की ओर देखने लगा ॥

नातिदूरेण नगरं वनादस्माद्धि लक्षये ।
जागर्तव्ये स्वपन्तीमे हन्त जागर्म्यहं स्वयम् ॥२९॥

प्राश्यन्तीमे जलं पश्चात् प्रतिबुद्धा जितक्लमाः ।
इति भीमो व्यवस्यैव जजागार स्वयं तदा ॥३०॥

अर्थ—भीमसेन मन में बोला कि मुझे प्रतीत होता है कि इस वन से नगर अधिक दूर नहीं परन्तु जागने के अवसर पर भी यह लोग सोरहे हैं, अच्छा अब मैं ही जागता रहूंगा, यह लोग थकावट उतर जाने पर जागकर पीछे स्वयं जल पीलेंगे, यह सोचकर भीमसेन स्वयं जागता रहा ॥

इति सप्तविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ अष्टविंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

अथ तेषु शयानेषु हिडिम्बो नाम राक्षसः ।
अविदूरे वनात्तस्माच्छालवृक्षं समाश्रितः ॥ १ ॥
क्रूरो मानुषमांसादो महावीर्यपराक्रमः ।
प्रावृड् जलधरश्यामः पिङ्गाक्षो दारुणाकृतिः ॥ २ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय! तत्पश्चात् उनके शयन करते समय एक हिडिम्ब नामक राक्षस उस वन के समीप आकर साल के वृक्ष पर चढ़गया, वह बड़ा कठोर, मनुष्य का मांस खाने वाला, महाबली, पराक्रमी, बरसात के बादल जैसा काले रंग वाला, पीले नेत्र तथा डरावनी सूरत का था ॥

दंष्ट्रा करालवदनः पिशितेप्सुः क्षुधार्दितः ।
लम्बस्फिग्लम्बजठरो रक्तश्मश्रुशिरोरुहः ॥ ३ ॥
महावृक्षगलस्कन्धः शङ्कुकर्णो विभीषणः ।
यदृच्छया तानपश्यत् पाण्डुपुत्रान्महारथान् ॥ ४ ॥

अर्थ—तीक्ष्ण दाढ़ों से भयानक मुख वाला, भूखा होने पर मांस का ही खाने वाला, लंबे नितम्ब तथा लंबे पेट वाला, लाल दाढ़ी और बड़े बालों वाला, बड़े वृक्ष के समान गले तथा कंधों वाला और खूंटों के समान लंबे कानों वाला बड़ा भयप्रद था, उसको अचानक ही महावीर पाण्डव दिखलाई दिये ॥

आघ्राय मानुषं गन्धं भगिनीमिदमब्रवीत् ।
उपपन्नश्चिरस्माद्य भक्ष्योऽयं मम सुप्रियः ॥ ५ ॥
मानुषो बलवान् गन्धो घ्राणं तर्पयतीव मे ।
हत्वैतान्मानुषान्सर्वानानयस्व ममान्तिकम् ॥६॥

अर्थ—मनुष्य के शरीर का गन्ध सूंघते ही अपनी बहिन "हिडिम्बा" से बोला कि आज बहुत दिनों में मुझे प्रिय भोजन प्राप्त हुआ है, यह मनुष्य के शरीर का तीव्र गन्ध मेरी नासिका को बड़ा तृप्त कर रहा है, सो हे बहिन ! तू इन सब मनुष्यों को मारकर मेरे पास ले आ ॥

भक्षयित्वा च मांसानि मानुषाणां प्रकामतः ।
नृत्यावसहितावावां दत्ततालावनेकशः ॥ ७ ॥

एवमुक्त्वा हिडिम्बातु हिडिम्बेन तदा वने ।
जगाम तत्र यत्र स्म पाण्डवा भरतर्षभ ॥ ८ ॥

अर्थ-इन मनुष्यों का यथेष्ट मांस खाकर हम दोनों अनेक प्रकार से ताल दे २ कर नाच करेंगे. हे भरतकुल श्रेष्ठ राजन् ! उस समय हिडिम्ब के ऐसा कहने पर हिडिम्बा वहां पहुंची जहां पाण्डव विराजमान थे ॥

ददर्श तत्र सा गत्वा पाण्डवान् पृथया सह ।
शयानान् भीमसेनं च जाग्रतं त्वपराजितम् ॥ ९ ॥
दृष्ट्वैव भीमसेनं सा शालपोतमिवोद्गतम् ।
राक्षसी कामयामास रूपेणाप्रतिमं भुवि ॥ १० ॥

अर्थ-उस "हिडिम्बा" ने वहां जाकर कुन्ती समेत पाण्डवों को सोते हुए देखा, केवल अजेय भीमसेन को जागता हुआ पाया, वह राक्षसी भीमसेन को देखते ही "जो छोटे साल वृक्ष के समान महाकाय तथा पृथ्वी पर सौन्दर्य्य में अनुपम था" उससे विवाह करने की कामना करने लगी ॥

अयं श्यामो महाबाहुः सिंहस्कन्धो महाद्युतिः ।
कम्बुग्रीवः पुष्कराक्षो भर्त्ता युक्तो भवेन्मम ॥ ११ ॥
नाहं भ्रातृवचो जातु कुर्यां क्रूरोपसंहितम् ।
पतिस्नेहोतिबलवान्न तथा भ्रातृसौहृदम् ॥ १२ ॥

अर्थ-हिडिम्बा कहने लगी कि यह पुरुष तरुण, महाबाहु, सिंह के समान कन्धों वाला, महातेजस्वी, शंख जैसी सुन्दर गर्दन

वाला तथा कमल के समान सुन्दर नेत्रों वाला होने से यह मेरा पति बनने योग्य है, मैं अपने भाई का क्रूरता से भरा हुआ कथन कभी न करुंगी, क्योंकि जैसा पति का प्रेम अधिक बलवान् होता है वैसा भाई का नहीं होता ॥

मुहूर्त्तमेव तृप्तिश्च भवेद् भ्रातुर्ममैव च ।
हतैरेतैरहत्वा तु मोदिष्ये शाश्वतीः समाः ॥ १३ ॥
सा कामरूपिणी रूपं कृत्वा मानुषमुत्तमम् ।
उपतस्थे महाबाहुं भीमसेनं शनैः शनैः ॥ १४ ॥

अर्थ–यदि इन लोगों को मारकर खालिया जाय तो मेरी और मेरे भाइ की थोड़ी देर के लिये तृप्ति होसकती है परन्तु इनको बिना मारे मैं सदा इनके साथ आनन्द भोगुंगी, बहुरूपिणी हिडिम्बा एक सुन्दर स्त्री का वेश बनाकर धीरे २ महाबाहु भीमसेन के समीप गई ॥

लज्जमानेव ललना दिव्याभरणभूषिता ।
स्मितपूर्वमिदं वाक्यं भीमसेनमथाब्रवीत् ॥ १५ ॥
कुतस्त्वमसि संप्राप्तः कश्चासि पुरुषर्षभ ।
क इमे शेरते चेह पुरुषा देवरूपिणः ॥ १६ ॥

अर्थ–तब अद्भुत भूषण वस्त्र पहने हुए तरुणी हिडिम्बा लजाती हुई सी भीमसेन से कहने लगी कि हे पुरुषोत्तम ! तुम कौन हो, कहां से आये हो और यह दिव्यरूप वाले पुरुष यहां कौन सोये हुए हैं ? ॥

नेदं जानाति गहनं वनं राक्षससेवितम् ।
वसाति ह्यत्र पापत्मा हिडिम्बो नाम राक्षसः ॥१७॥
तेनाहं प्रेषिता भ्रात्रा दुष्टभावेन रक्षसा ।
बिभक्षयिषता मांसं युष्माकममरोपमाः ॥१८॥

अर्थ—आप नहीं जानते यह गंभीर वन राक्षसों से घिरा हुआ है और यहां महापापी "हिडिम्ब" नामक राक्षस मेरा भाई रहता है, हे देवताओं के तुल्य अद्भुतगुण वालो! मेरे दुष्ट भाई हिडिम्ब ने तुम लोगों का मांस खाने की दुष्ट इच्छा से मुझे यहां भेजा है ॥

साहं त्वामभिसंप्रेक्ष्य देवगर्भसमप्रभम् ।
नान्यं भर्त्तारमिच्छामि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥१९॥
त्रास्यामि त्वां महाबाहो राक्षसात् पुरुषादकात् ।
वत्स्यावो गिरिदुर्गेषु भर्त्ता भव ममाऽनघ ॥२०॥

अर्थ—सो मैं दिव्य कुमार के समान तेजस्वी आपका दर्शन करके अन्य पुरुष को अपना पति बनाना नहीं चाहती यह तुम से सत्य कहती हूं, हे महाबाहु! मैं इस मनुष्यभक्षक राक्षस से तुम्हें बचा दूंगी और हम दोनों पहाड़ की कन्दराओं में सुखपूर्वक रहेंगे, आप मेरे पति बनजायं ॥

भीमसेन उवाच

मातरं भ्रातरं ज्येष्ठं सुखसुप्तान् कथंत्विमान् ।
परित्यजेत कोन्वद्य प्रभवन्निह राक्षसि ॥२१॥
को हि सुप्तानिमान् भ्रातॄन् दत्त्वा राक्षसभोजनम् ।
मातरं च नरो गच्छेत् कामार्त्त इव मद्विधः ॥२२॥

अर्थ–भीमसेन बोले कि हे राक्षसि! ऐसा कौन पापी होगा जो सामर्थ्यवान् होकर भी सुखपूर्वक सोये हुए अपनी माता, बड़े भाई तथा छोटे भाइयों को त्याग दे, यदि मैं ऐसा करूं तो मेरे जैसा कामातुर पापी पुरुष कौन होगा जो सोये हुए भाइयों तथा माता को राक्षसों के भोजन के लिये देकर यहां से चला जाय ॥

राक्षसी उवाच

यत्र प्रियं तत् करिष्ये सर्वानेतान् प्रबोधय ।
मोक्षयिष्याम्यहं कामं राक्षसात् पुरुषादकात् ॥२३॥

अर्थ–राक्षसी हिडिम्बा बोली कि जो कुछ तुम चाहोगे वैसा करूंगी तुम इन सबको जगादो तो मैं उस मनुष्यभक्षक राक्षस से भले प्रकार छुड़ादूंगी ॥

भीमसेन उवाच

सुखसुप्तान् वने भ्रातॄन् मातरं चैव राक्षसि ।
न भयाद्बोधयिष्यामि भ्रातुस्तव दुरात्मनः ॥२४॥
गच्छ वा तिष्ठ वा भद्रे यद्वापीच्छसि तत् कुरु ।
तं वा प्रेषय तन्वङ्गि भ्रातरं पुरुषादकम् ॥२५॥

अर्थ–भीमसेन ने कहा कि हे राक्षसि ! मैं सुख से सोये हुए अपने भाइयों तथा माता को तेरे दुष्ट भाई के भय से नहीं जगाउंगा, इसलिये हे सुन्दरि ! चाहे तू जा चाहे ठहर वा जो कुछ तू चाहे सो कर और यदि तू चाहे तो अपने भाई मनुष्यभक्षक को भेजदे पर मैं ऐसा कदापि न करूंगा ॥

इति अष्टविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकोनत्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

तां विदित्वा चिरगतां हिडिम्बो राक्षसेश्वरः ।
अवतीर्य द्रुमात् तस्मादाजगामाशु पाण्डवान् ॥१॥
तमापतन्तं दृष्ट्वैव तथा विकृतदर्शनम् ।
हिडिम्बोवाच वित्रस्ता भीमसेनमिदं वचः ।
आपतत्येष दुष्टात्मा संक्रुद्धः पुरुषादकः ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! वह राक्षस हिडिम्ब अपनी बहिन को देर से गई देखकर उस वृक्ष से उतर शीघ्र ही पाण्डवों की ओर आया, हिडिम्बा उसको भयानक रूप बनाये आता देखकर घबराई हुई भीमसेन से बोली कि यह दुष्टात्मा मनुष्यभक्षक राक्षस क्रोध में भरा हुआ यहां आरहा है ॥

भीमसेन उवाच

मा भैस्त्वं पृथुसुश्रोणि नैष कश्चिन् मयि स्थिते ।
हिंसितुं शक्नुयात् रक्ष इति मे निश्चिता मतिः ।
अहमेनं हनिष्यामि पश्यन्त्यास्ते सुमध्यमे ॥३॥

अर्थ—भीमसेन बोले कि हे सुन्दर विशाल नितम्बों तथा सुन्दर मध्यभाग वाली सुन्दरि ! तू डर मत मुझे यह निश्चय है कि मेरे जीते जी कोई राक्षस किसी को नहीं मार सकता प्रत्युत मैं ही तेरे देखते देखते इसका अभी हनन करता हूं ॥

नायं प्रतिबलो भीरु राक्षसापसदो मम ।
सोऽहं युधि परिस्पन्दमथवा सर्वराक्षसाः ॥४॥
पश्य बाहू सुवृत्तौ मे हस्तिहस्तनिभाविमौ ।
ऊरूपरिघसङ्काशौ संहतं चाप्युरो महत् ॥५॥

अर्थ–हे भीरु ! यह नीच राक्षस वा अन्य सब राक्षस भी मेरे समान योद्धा नहीं हैं और नाही युद्ध में मेरे वेग को सहार सकते हैं,तू मेरे सुडौल तथा हाथी की सूंड के समानइन भुजाओं, परिघ=लोह से मढ़े दण्ड समान जंघों तथा मेरी इस कठोर और विशाल छाती को देख ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा सञ्जल्पतस्तस्य भीमसेनस्य भारत ।
वाचः शुश्राव ताः क्रुद्धो राक्षसः पुरुषादकः ॥६॥
तां तथा मानुषं रूपं बिभ्रतीं सुमनोहरम् ।
पुंस्कामां शङ्कमानश्च चुक्रोध पुरुषादकः ॥७॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे भारतीय राजन् ! उस क्रोध में भरे हुए राक्षस ने भीमसेन की कही हुई सब बातें सुनीं,वह राक्षस अपनी बहिन को सुन्दर वेश बनाये देखकर तथा पुरुष की कामना करने वाली समझकर क्रोध में भर गया ॥

संक्रुद्धो राक्षसस्तस्या भगिन्याः कुरुसत्तम ।
उत्फाल्य विपुले नेत्रे ततस्तामिदमब्रवीत् ॥८॥
यानिमान/श्रिताकार्षीर्विप्रियं सुमहन्मम ।
एष तानद्य वै सर्वान् हनिष्यामि त्वया सह॥९॥

अर्थ—हे कुरुवंशियों में श्रेष्ठ राजन्! तब वह राक्षस अपनी बहिन पर क्रुद्ध हुआ २ दोनों बड़ी २ आंखें फाड़कर बोला कि जिनका आश्रय लेकर तैने मेरे अत्यन्त विरुद्ध काम किया है अब मैं तुझ समेत इन सब को मारता हूं ॥

एवमुक्त्वा हिडिम्बां स हिडिम्बो लोहितेक्षणः ।
वधायाभिपपातैनान् दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन् ॥१०॥
तमापतन्तं संप्रेक्ष्य भीमः प्रहरतां वरः ।
भर्त्सयामास तेजस्वी तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥११॥

अर्थ—वह हिडिम्ब नामक राक्षस अपनी बहिन हिडिम्बा से इस प्रकार कहकर लाल आंखें किये हुए तथा दांत से दांत पीसता हुआ मारने के लिये दौड़ा, तब युद्ध करने में कुशल तेजस्वी भीमसेन उसको आता देखकर धमकाता हुआ "खड़ा रह" "खड़ा रह" इस प्रकार कहकर बोला कि:—

किं ते हिडिम्ब एतैर्वा सुखसुप्तैः प्रबोधितैः ॥
मामासादय दुर्बुद्धे तरसा त्वं नराशन ॥१२॥
मयि तिष्ठति दुष्टात्मन्न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।
सङ्गच्छस्व मया सार्द्धमेकेनैको नराशन ॥१३॥

अर्थ—हे हिडिम्ब! तुझे इन सुख से सोये हुओं को जगाने से क्या लाभ! हे मनुष्यभक्षक दुष्टबुद्धि राक्षस! तू मुझ पर अपना बल दिखला, हे दुष्टात्मा! तू मेरे होते हुए स्त्री को नहीं मार सकता, तू अकेला मुझ अकेले के साथ युद्ध कर ॥

अहमेको नयिष्यामि त्वामद्य यमसादनम् ।
अद्य मद्बलनिष्पिष्टं शिरो राक्षसदीर्यताम् ॥१४॥
निराबाधास्त्वयि हते मया राक्षसपांसनः ।
वनमेतच्चरिष्यन्ति पुरुषा वनचारिणः ॥१५॥

अर्थ—हे राक्षस ! मैं अकेला ही आज तुझे मृत्युलोक में पहुंचा दूंगा, आज तेरा शिर मेरे बल से आघात किया हुआ फट जायगा, हे दुष्ट राक्षस ! मेरे हाथ से तेरी आज मृत्यु होजाने पर वन में विचरने वाले पुरुष निर्विघ्नता से यहां भ्रमण किया करेंगे ॥

हिडिम्ब उवाच

न तावदेतान् हिंसिष्ये स्वपन्त्वेते यथासुखम् ।
एष त्वामेव दुर्बुद्धे निहन्म्यद्याप्रियम्वदम् ॥१६॥
पीत्वा तवासृग्गात्रेभ्यस्ततः पश्चादिमानपि ।
हनिष्यामि ततः पश्चादिमां विप्रियकारिणीम्॥१७॥

अर्थ—हिडिम्ब बोला कि हे दुष्टबुद्धि ! अब मैं पहले इनको नहीं मारूंगा यह तब तक सुख से सोते रहें, अब तुझ कटुभाषी को ही पहले मारता हूं, तेरे अंगों का रुधिर पीकर पीछे इनको मारूंगा और इनके मारने के पश्चात् इस विरुद्ध आचरण करने वाली का भी बध करूंगा ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततो बाहुं प्रगृह्य पुरुषादकः ।
अभ्यद्रवत संक्रुद्धो भीमसेनमरिन्दमम् ॥ १८ ॥

तस्याभिद्रवतस्तूर्णं भीमो भीमपराक्रमः ।
वेगेन प्रहितं बाहुं निजग्राह हसन्निव ॥ १९ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! तब वह मनुष्यभक्षक राक्षस ऐसा कहकर क्रोध में भरा हुआ बाहें फैलाकर शत्रुदमन-कारी भीमसेन की ओर दौड़ा, परन्तु महापराक्रमी भीमसेन ने उस दौड़ते हुए की सामने आई बांह को तुरंत ही हंसते २ पकड़ लिया ॥

निगृह्य तं बलाद्भीमो विस्फुरन्तं चकर्ष ह ।
तस्माद्देशाद्धनूंष्यष्टौ सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ २० ॥
ततः स राक्षसः क्रुद्धः पाण्डवेन बलार्दितः ।
भीमसेनं समालिङ्ग्य व्यनदद्भैरवं रवम् ॥ २१ ॥

अर्थ—भीमसेन ने उसकी फड़कती हुई बांह को पकड़कर उस स्थान से आठ धनुष के प्रमाण तक इस प्रकार घसीटा जैसे छोटे पशु को पकड़कर सिंह घसीटता है, तब भीमसेन के बल से मर्दित हुआ २ वह राक्षस क्रोध में भरकर उससे लिपट गया और भयानक शब्द करता हुआ चिल्लाने लगा ॥

पुनर्भीमो बलादेनं विचकर्ष महाबलः ।
मा शब्दः सुखसुप्तानां भ्रातॄणां मे भवेदिति ॥२२॥
अन्योऽन्यं तौ समासाद्य विचकर्षतु रोजसा ।
हिडिम्बो भीमसेनश्च विक्रमं चक्रतुः परम् ॥ २३ ॥

अर्थ—तब महाबली भीमसेन ने फिर उस राक्षस को बलपूर्वक घसीटा कि सुख से सोये हुए मेरे भाइयों को यह शब्द करके न जगावे, इस प्रकार हिडिम्ब तथा भीमसेन बलपूर्वक एक दूसरे

को पकड़ २ कर खेंचने लगे और उन दोनों ने बड़ा पराक्रम दिखलाया ॥

बभञ्जतुस्तदा वृक्षांल्लताश्चाकर्षतुस्तदा ।
मत्ताविव च संरब्धौ वारणौ षष्टिहायनौ ॥ २४ ॥
तयोः शब्देन महता विबुद्धास्ते नरर्षभाः ।
सहमात्रा च ददृशुर्हिडिम्बामग्रतः स्थिताम् ॥२५॥

अर्थ–उस समय उन दोनों ने लड़ते हुए वृक्षों को तोड़ डाला तथा लताओं को खेंचडाला और उस समय वह दोनों साठ२ वर्ष के मतवाले दो हाथियों के समान क्रोध में भरगये, उनके भयानक शब्द से वह सब श्रेष्ठ पुरुष युधिष्ठिर आदिक माता समेत जाग उठे और उन्होंने अपने सामने खड़ी हुई हिडिम्बा को देखा ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्ती समीक्ष्यैनां विस्मिता रूपसम्पदा ।
उवाच मधुरं वाक्यं सान्त्वपूर्वमिदं शनैः ॥ २६ ॥
कस्य त्वं सुरगर्भाभे का वासि वरवर्णिनि ।
केन कार्येण संप्राप्ता कुतश्चागमनं तव ॥ २७ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय! तब कुन्ती हिडिम्बा को देखकर उसके सौन्दर्य से अचम्भित हुई २ शान्तिपूर्वक धीरे२ मधुरवाणी द्वारा बोली कि हे देवपुत्री के समान शोभा वाली सुन्दरि! तू कौन, किसकी स्त्री, किस प्रयोजन से यहां आई और कहां से तेरा आना हुआ है? ॥

हिडिम्बा उवाच

यदेतत् पश्यसि वनं नीलमेघनिभं महत् ।
निवासो राक्षसस्यैष हिडिम्बस्य ममैव च ॥ २८ ॥
तस्य मां राक्षसेन्द्रस्य भगिनीं विद्धि भाविनि ।
भ्रात्रा संप्रेषितामार्ये त्वां सपुत्रां जिघांसितुम् ॥२९॥

अर्थ-हिडिम्बा बोली कि हे कुन्ती! यह जो तुम नीले बादल के समान भारी वन देख रही हो यहां पर हिडिम्ब राक्षस और मेरा निवास है, हे माननीय सुन्दरी! मुझे तुम उस राक्षस की बहिन जानो और तुमको पुत्र समेत मारने के लिये मेरे भाई ने यहां भेजा था ॥

क्रूरबुद्धे रहं तस्य वचनादागता त्विह ।
अद्राक्षं नव हेमाङ्गं तव पुत्रं महाबलम् ॥३०॥
ततो वृतो मया भर्त्ता तव पुत्रो महाबलः ।
अपनेतुं च यतितो न चैव शकितो मया ॥३१॥

अर्थ-उस निर्दयबुद्धि के कहने से मैं यहां आई और यहां मैंने नवीन सुवर्ण के समान गोरे रंग वाले महाबली तुम्हारे पुत्र भीमसेन को देखा, और देखते ही मैंने उस महावीर को अपना पति वर लिया है, मैंने यहां से उसको हटाने का यत्न भी किया परन्तु मैं न हटा सकी ॥

चिरायमाणां मां ज्ञात्वा ततः स पुरुषादकः ।
स्वयमेवागतो हन्तुमिमान् सर्वांस्तवात्मजान् ॥३२॥
स तेन मम कान्तेन तव पुत्रेण धीमता ।

बलादितो विनिष्क्षिप्य व्यपनीतो महात्मना ॥३३॥

अर्थ—तब वह मनुष्यभक्षक मुझको बहुत देर से गई जानकर स्वयं ही तुम्हारे इन सब पुत्रों को मारने के लिये यहां आगया, पुनः तुम्हारे बुद्धिमान् महात्मा पुत्र अर्थात् मेरे पति ने बलपूर्वक उस राक्षस को इस स्थान से घसीट कर दूर हटा दिया है ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्याः श्रुत्वैव वचनमुत्पपात युधिष्ठिरः ।
अर्जुनो नकुलश्चैव सहदेवश्च वीर्यवान् ॥३४॥
तौ ते ददृशुरासक्तौ विकर्षन्तौ परस्परम् ।
कांक्षमाणौ जयं चैव सिंहाविव मदोत्कटौ ॥३५॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! उसकी उक्त बात सुनते ही पराक्रमी युधिष्ठिर, अर्जुन, नकुल और सहदेव भी वहां से दौड़कर उन दोनों के समीप पहुंचे और वहां उन्होंने उन दोनों को युद्ध में आसक्त तथा एक दूसरे को खेंचते हुए देखा, मानो दो मतवाले सिंह अपनी २ जीत चाहते हुए युद्ध कर रहे हैं ॥

राक्षसेन तदा भीमं क्लिश्यमानं निरीक्ष्य च ।
उवाचेदं वचः पार्थः प्रहसञ्छनकैरिव ॥३६॥
भीम मा भैर्महाबाहो न त्वां बुध्यामहे वयम् ।
समेतं भीमरूपेण रक्षसा श्रमकर्षितम् ॥३७॥

अर्थ—तब भीमसेन को उस राक्षस से पीड़ित हुआ देखकर अर्जुन हंसते हुए धीरे २ भीमसेन से बोला कि हे महाबाहु भीमसेन ! तुम डरो मत हम तुम्हारा भयानकरूप देख रहे हैं और तुम राक्षस से सताये हुए प्रतीत होते हो ॥

साहाय्येऽस्मि स्थितः पार्थ पातयिष्यामि राक्षसम् ।
नकुलः सहदेवश्च मातरं गोपयिष्यतः ॥३८॥

अर्थ-मैं और युधिष्ठिर तुम्हारी सहायता के लिये खड़े हुए हैं, मैं इस राक्षस का अभी तत्काल हनन करूंगा और नकुल तथा सहदेव माता की रक्षा करेंगे ॥

भीमसेन उवाच

उदासीनो निरीक्षस्व न कार्यः संभ्रमस्त्वया ।
न जात्वयं पुनर्जीवेन्मद्बाह्वन्तरमागतः ॥३९॥

अर्थ-भीमसेन बोला कि हे अर्जुन ! तुम चुप चाप खड़े हुए देखो उतावली मत करो, मेरी भुजाओं के बीच आया हुआ यह राक्षस कदापि जीवित नहीं रहसक्ता ॥

अर्जुन उवाच

किमनेन चिरं भीम जीवता पापरक्षसा ।
गन्तव्ये न चिरं स्थातुमिह शक्यमरिन्दम ॥४०॥
रौद्रे मुहूर्त्ते रक्षांसि प्रवलानि भवन्त्युत ।
त्वरस्व भीम मा क्रीड जहि रक्षो विभीषणम् ॥४१॥

अर्थ-अर्जुन बोला कि हे शत्रु संतापकारी भीमसेन ! इस पापी राक्षस को अधिक देर तक जीता रखने से क्या लाभ ? गमन समय में यहां चिरकाल तक ठहरना उचित नहीं, क्योंकि रात्रि के समय राक्षसों की प्रबलता होजाती है, इसलिये हे भीमसेन! तुम खेल न करते हुए इस भयानक राक्षस का शीघ्र ही बध करो ॥

वैशम्पायन उवाच

अर्जुनेनैवमुक्तस्तु भीमो रोषाज्ज्वलन्निव ।
बलमाहारयामास यद्वायोर्जगतः क्षये ॥४२॥
ततस्तस्याम्बुदाभस्य भीमो रोषात्तु रक्षसः ।
उत्क्षिप्याभ्रामयद्देहं तूर्णं शतगुणं तदा॥४३॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! अर्जुन के ऐसा कहने पर क्रोध से जलते हुए भीमसेन ने ऐसा बल दिखलाया जैसे प्रलयकाल में वायु का बल होता है, तब भीमसेन ने क्रोध से शीघ्र ही उस काले मेघ समान राक्षस के शरीर को उठाकर बहुत बार घुमाया ॥

भीमसेन उवाच

वृथा मांसैर्वृथा पुष्टो वृथा वृद्धो वृथामतिः ।
वृथा मरणमर्हस्त्वं वृथाद्य न भविष्यति ॥४४॥
क्षेममद्य करिष्यामि यथा वनमकण्टकम् ।
न पुनर्मानुषान् हत्वा भक्षयिष्यसि राक्षस ॥४५॥

अर्थ–तब भीमसेन ने कहा कि हे राक्षस ! तू मनुष्यों का वृथा मांस खाकर व्यर्थ ही इतना मोटा तथा बड़ा हुआ और तेरी बुद्धि भी वृथा ही है, इसलिये तू विना प्रयोजन ही मारे जाने योग्य है, सो आज मेरा परिश्रम व्यर्थ न होगा, आज मैं सब मनुष्यों के लिये क्षेम-कुशल करदूंगा जिससे यह वन अकण्टक होजायगा और अब फिर तू मनुष्यों को मारकर नहीं खायगा ॥

अर्जुन उवाच

यदि वा मन्यसे भारं त्वमिमं राक्षसं युधि ।
करोमि तव साहाय्यं शीघ्रमेष निपात्यताम् ॥४६॥
अथवाप्यहमेवैनं हनिष्यामि वृकोदर ।
कृतकर्मा परिश्रान्तः साधु तावदुपारम ॥४७॥

अर्थ–तब अर्जुन ने कहा कि हे भीमसेन ! यदि तुम इस राक्षस को युद्ध में मारना कुछ भार=कठिन समझते हो तो मैं तुम्हारी सहायता करूं जिससे इसका शीघ्र बध होजाय अथवा मैं ही इसको मारडालूं तुम बहुत काम करके थक गये हो, इसलिये आप भलेप्रकार आराम करें ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः ।
निष्पिष्यैनं बलाद्भूमौ पशुमारममारयत् ॥४८॥
स मार्यमाणो भीमेन ननाद विपुलं स्वनम् ।
पूरयंस्तद्वनं सर्वं जलार्द्र इव दुन्दुभिः ॥ ४९ ॥

अर्थ–अर्जुन का उक्त वचन सुनते ही क्रोध में भरे हुए भीमसेन ने बलपूर्वक राक्षस को पृथ्वी में दे मारा और रगड़कर पशु के समान मारडाला, भीमसेन के हाथ से मरते समय उस राक्षस ने बड़े ऊंचे शब्द से उस सारे वन को गुंजार दिया,जैसे जल से भीगे हुए नगारे की ध्वनि होती है ॥

बाहुभ्यां योक्त्रयित्वा तं बलवान्पाण्डुनन्दनः ।
मध्ये भङ्क्त्वा महाबाहुर्हर्षयामास पाण्डवान् ॥५०॥
हिडिम्बं निहतं दृष्ट्वा संहृष्टास्ते तपस्विनः ।

अपूजयन्नरव्याघ्रं भीमसेनमरिन्दमम् ॥ ५१ ॥

अर्थ-बलवान् महाबाहु पाण्डुपुत्र भीमसेन ने उस राक्षस की बाहों में मुश्क लगाकर तथा शरीर के बीच में से उसके दो टुकड़े करके अपने भाई पाण्डवों को हर्षित कर दिया, तब वह प्रतापी पाण्डव हिडिम्ब को मरा हुआ देखकर परम प्रसन्न हुए और उन्होंने श्रेष्ठ पुरुष शत्रुसंतापक भीमसेन का पूजन=सत्कार किया ॥

अभिपूज्य महात्मानं भीमं भीमपराक्रमम् ।
पुनरेवार्जुनो वाक्यमुवाचेदं वृकोदरम् ॥ ५२ ॥
न दूरं नगरं मन्ये वनादस्मादहं विभो ।
शीघ्रं गच्छाम भद्रं ते न नो विद्यात्सुयोधनः ॥५३॥

अर्थ-भयंकर पराक्रम वाले महात्मा भीमसेन का सत्कार करके अर्जुन पुनः उनसे बोला कि हे सामर्थ्यवान् ! मैं समझता हूं कि नगर इस वन से दूर नहीं है, सो हमें शीघ्र ही यहां से चलना चाहिये जिससे दुर्योधन हमको न जान ले, तुम्हारा कल्याण हो ॥

ततः सर्वे तथेत्युक्त्वा मात्रा सह परन्तपाः ।
प्रययुः पुरुषव्याघ्राः हिडिम्बा चैव राक्षसी ॥ ५४ ॥

अर्थ-इसके पश्चात् वह सब शत्रुसंतापकारी श्रेष्ठपुरुष माता समेत वहां से चलदिये और हिडिम्बा राक्षसी भी साथ ही गई ॥

इति एकोनत्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ त्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

भीमसेन उवाच

स्मरन्ति वैरं रक्षांसि मायामाश्रित्य मोहिनीम् ।
हिडिम्बे व्रज पन्थानं त्वमिमं भ्रातृसेवितम् ॥ १ ॥

अर्थ—भीमसेन ! बोले कि हे हिडिम्बा ! राक्षस लोग भ्रम में डालने वाले होते तथा छल कपट करके अपने वैर का पलटा लेते हैं सो तू भी उसी मार्ग से जा जिस मार्ग से तेरा भाई गया है ॥

युधिष्ठिर उवाच

क्रुद्धोऽपि पुरुषव्याघ्र भीम मास्म स्त्रियं वधीः ।
शरीरगुप्त्यभ्यधिकं धर्मं गोपाय पाण्डव ॥ २ ॥
वधाभिप्रायमायान्तमवधीस्त्वं महाबलम् ।
रक्षसस्तस्य भगिनी किं नः क्रुद्धा करिष्यति ॥३॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले कि हे पाण्डुपुत्र भीमसेन ! तुम क्रुद्ध हुए२ भी स्त्री को मत मारो किंतु शरीर की रक्षा से भी अधिक रक्षणीय जो धर्म है उसकी तुम रक्षा करो, तुमने मारने के लिये आते हुए महाबली राक्षस को तो मार ही दिया है अब उसकी बहिन क्रुद्ध हुई २ भी हमारा क्या करेगी ॥

वैशम्पायन उवाच

हिडिम्बा तु ततः कुन्तीमभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
युधिष्ठिरं तु कौन्तेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥

आर्ये जानासि यद्दुःखमिह स्त्रीणामनङ्गजम् ।
तदिदं मामनुप्राप्तं भीमसेनकृतं शुभे ॥ ५ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तब हिडिम्बा कुन्ती तथा कुन्ती के बड़े पुत्र युधिष्ठिर को अभिवादन करके हाथ जोड़ कर बोली कि हे आर्ये ! स्त्रियों को जो काम से उत्पन्न होने वाला दुःख है उसको तुम जानती हो, हे माननीये ! वही दुःख भीमसेन की ओर से मुझे तपा रहा है ॥

सोढं तत् परमं दुःखं मया कालप्रतीक्षया ।
सोऽयमभ्यागतः कालो भविता मे सुखोदयः ॥६॥
मया ह्युत्सृज्य सुहृदः स्वधर्मं स्वजनं तथा ।
वृतोऽयं पुरुषव्याघ्रस्तवपुत्रः पतिः शुभे ॥७॥

अर्थ—वह परम दुःख मैंने समय की प्रतीक्षा करते २ अब तक सहा अब मेरे लिये सुख का उदय करनेवाला समय आवेगा, हे माननीये ! मैंने अपने बन्धुओं, अपना धर्म तथा अपने लोगों को त्यागकर तुम्हारे इस सिंह पुरुष पुत्र को अपना पति वर लिया है ॥

वीरेणाहं तथा तेन त्वया वापि यशस्विनि ।
प्रत्याख्याता न जीवामि सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥८॥
तदर्हसि कृपां कर्त्तुं मयि त्वं वरवर्णिनि ।
मत्वा मूढेति तन्मां त्वं भक्ता वाऽनुगतेति वा ॥९॥

अर्थ—हे कीर्त्तिमती ! मैं तुमसे सत्य कहती हूं कि यदि उस वीर भीमसेन ने या तुमने मुझे त्याग दिया तो मैं जीती न रहुंगी

सो हे सुन्दरि ! मुझको मूढ़ अथवा अपनी भक्त वा दासी समझकर तुम्हें मुझपर कृपा करनी उचित है ॥

भर्त्रानेन महाभागे संयोजय सुतेन ते ।
तमुपादाय गच्छेयं यथेष्टं देवरूपिणम् ।
पुनश्चैवानयिष्यामि विस्रम्भं कुरु मे शुभे ॥१०॥

अर्थ–हे पूजनीय भाग्यवती ! तुम अपने इस पुत्र से मेरा सम्बन्ध करादो जिससे मैं इस दिव्यरूपवाले को साथ लेकर यथेष्ट स्थान में पहुंच आनन्द पूर्वक रहूं और तुम मुझपर विश्वास करो कि मैं फिर इनको ले आऊंगी ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतद्यथात्थ त्वं हिडिम्बे नात्र संशयः ।
स्थातव्यं तु त्वया सत्ये यथा ब्रूयाः सुमध्यमे ॥११॥
स्नातं कृताह्निकं भद्रे कृतकौतुकमङ्गलम् ।
भीमसेनं भजेथास्त्वं प्रागस्तगमनाद्रवेः ॥१२॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोले कि हे सुन्दरि हिडिम्बा ! तैने जो कुछ कहा वह सब ठीक है इसमें संदेह नहीं, परंतु तुझे उचित है कि जैसा तैने कहा है तू अपने उसी कथन पर दृढ़ रहना, हे भद्रे ! तुम स्नान तथा प्रातः कृत्य=सन्ध्योपासनादिकर्म और आनन्दोत्सव मनाते हुए दिन में भीमसेन के साथ रहसकती हो जब तक सूर्य्य अस्त न हो ॥

अहःसु विहरानेन यथाकामं मनोजवा ।
अयं त्वानयितव्यस्ते भीमसेनः सदा निशि ॥१३॥

अर्थ–तू दिनभर भीमसेन के साथ चाहे जहां विचर परन्तु रात होते ही सदा इसको यहां लाना होगा ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेति तत् प्रतिज्ञाय भीमसेनोऽब्रवीदिदम् ।
शृणु राक्षसि सत्येन समयं ते वदाम्यहम् ॥१४॥
यावत्कालेन भवति पुत्रस्योत्पादनं शुभे ।
तावत् कालं गमिष्यामि त्वया सह सुमध्यमे ॥१५॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन! उस राक्षसी ने वैसा करना स्वीकार किया तब भीमसेन बोले कि हे राक्षसि! मैं सत्यभाव से यह नियम तुझे बतलाता हूं जिसे तू सुन, हे सुन्दरि! जब तक तेरे पुत्र उत्पन्न न होगा तबतक ही मैं तेरे साथ भ्रमण करूंगा फिर नहीं॥

तथेति तत् प्रतिज्ञाय हिडिम्बा राक्षसी तदा ।
संजल्पन्ती सुमधुरं रमयामास पाण्डवम् ॥१६॥
तथैव वनदुर्गेषु पुष्पितद्रुमसानुषु ।
सरःसु रमणीयेषु पद्मोत्पलयुतेषु च ॥१७॥

अर्थ–तब हिडिम्बा राक्षसी भीमसेन का कथन स्वीकार करके मधुर भाषण करती हुई उनके साथ रमण करने लगी, वह भीमसेन को साथ लेकर बन, उपवन, पहाड़ों की गुफाओं तथा फूले हुए वृक्षों वाले खण्ड पर्वतों में रमणीय कमल और कुमुद से पूर्ण तालावों पर भ्रमण करती रही ॥

काननेषु विचित्रेषु पुष्पितद्रुमवाल्लिषु ।
हिमवद्गिरिकुञ्जेषु गुहासु विविधासु च ॥१८॥
पत्तनेषु च रम्येषु महाशालवनेषु च ।
बिभ्रती परमं रूपं रमयामास पाण्डवम् ॥१९॥

अर्थ–विचित्र वन जिनमें वृक्ष तथा लतायें फूली हुई थीं तथा हिमालय पहाड़ के कुंजभवनों, विविध गुफाओं और सुन्दर नगरों तथा बड़े २ साल वृक्ष के जंगलों में रहकर परम सौन्दर्य धारण किये हुए हिडिम्बा पाण्डुपुत्र भीमसेन के साथ रमण करती रही ॥

प्रजज्ञे राक्षसी पुत्रं भीमसेनान्महाबलम् ।
विरूपाक्षं महावक्त्रं शंकुकर्णं विभीषणम् ॥२०॥
बालोऽपि यौवनं प्राप्तो मानुषेषु विशाम्पते ।
सर्वास्त्रेषु परं वीरः प्रकर्षमगमद्बली ॥२१॥

अर्थ–पुनः कालान्तर में भीमसेन से उस राक्षसी ने एक महाबली पुत्र उत्पन्न किया, जो भयानक नेत्र, बड़ा मुख तथा बड़े २ कान और भयानक आकार वाला था, हे राजन्! वह बलवान् बालक बाल्यावस्था में ही औरों से युवा प्रतीत होता था और वह धीरे २ संपूर्ण शस्त्रविद्या में परमनिपुण होगया ॥

घटो हास्योत्कच इति माता तं प्रत्यभाषत ।
अब्रवीत् तेन नामास्य घटोत्कच इति स्म ह ॥२२॥
अनुरक्तश्च तानासीत् पाण्डवान् स घटोत्कचः ।
तेषां च दयितो नित्यमात्मानित्यो बभूव ह ॥२३॥

अर्थ–उसका घट के समान शिर उत्कच=केशों से रहित होने के कारण माता बोली कि इसका नाम "घटोत्कच" होगा, वह पाण्डवों से प्रीति करने वाला, उनका प्यारा और स्वतन्त्र विचरने वाला घटोत्कच नाम से प्रसिद्ध हुआ ॥

संवाससमयो जीर्ण इत्याभाष्य ततस्तु तान् ।
हिडिम्बा समयं कृत्वा स्वां गतिं प्रत्यपद्यत ॥ २४ ॥
कृत्यकाल उपस्थास्ये पितृनिति घटोत्कचः ।
आमन्त्र्य रक्षसां श्रेष्ठः प्रतस्थे चोत्तरां दिशम् ॥२५॥

अर्थ—इसके पश्चात् हिडिम्बा अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करके अर्थात भीमसेन के साथ रहने का समय पूरा होचुका, इस प्रकार उन पाण्डवों से कहकर अपने अभीष्ट स्थान को चली गई, राक्षसों में श्रेष्ठ घटोत्कच भी अपने पिता आदिकों से यह कहकर कि मैं समय पड़ने पर उपस्थित होउंगा, उनसे अनुमति लेकर उत्तर दिशा की ओर चला गया ॥

इति त्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकत्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ते वनेन वनं गत्वा घ्नन्तो मृगगणान् बहून् ।
अपक्रम्य ययूराजंस्त्वरमाणा महारथाः ॥ १ ॥
मत्स्यांस्त्रिगर्त्तान् पञ्चालान् कीचकानन्तरेण च ।
रमणीयान् वनोद्देशान् प्रेक्षमाणाः सरांसि च ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! तदनन्तर महायोद्धा पाण्डव बन बन में घूमते, अनेक जंगली पशुओं का आखेट करते तथा मत्स्यदेश, त्रिगर्त्तदेश, पाञ्चालदेश, कीचकदेश और रमणीय

वनस्थान तथा तालाबों को देखते हुए शीघ्रता से विचरने लगे ॥

जटाः कृत्वात्मनः सर्वे वल्कलाजिनवाससः ।
सहकुन्त्या महात्मानो विभ्रतस्तापसं वपुः ॥३॥
क्वचिद् वहन्तो जननीं त्वरमाणा महारथाः ।
क्वचिच्छन्देन गच्छन्तस्ते जग्मुः प्रसभं पुनः ॥४॥

अर्थ—वह सब महायोद्धा पाण्डव कुन्ती समेत अपनी जटायें बनाये, तपस्वियों का वेश और वल्कल तथा मृगचर्म के वस्त्र धारण किये हुए कहीं २ माता को पीठ पर चढ़ाकर तथा कहीं स्वच्छन्दता से चलते और फिर शीघ्रता से चलने लगते थे ॥

ब्राह्मं वेदमधीयाना वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
नीतिशास्त्रं च सर्वज्ञा ददृशुस्ते पितामहम् ॥५॥
तेऽभिवाद्य महात्मानं कृष्णद्वैपायनं तदा ।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे सह मात्रा परन्तपाः ॥६॥

अर्थ—एक समय उन सर्वज्ञानी पाण्डवों ने ईश्वरीय वेद तथा वेदों के अङ्गों और नीतिशास्त्र का अध्ययन करते समय पितामह व्यासजी का दर्शन=समागम किया, तब वह शत्रुसंतापकारी पाण्डव माता समेत महात्मा व्यासजी को प्रणाम करके हाथ जोड़कर खड़े होगये ॥

व्यास उवाच

मयेदं व्यसनं पूर्वं विदितं भरतर्षभाः ।
यथा तु तैरधर्मेण धार्त्तराष्ट्रैर्विवासिताः ॥ ७ ॥

तद्विदित्वास्मि संप्राप्तश्चिकीर्षुः परमं हितम् ।
न विषादोऽत्र कर्तव्यः सर्वमेतत्सुखाय वः ॥ ८ ॥

अर्थ–तब व्यासजी बोले कि हे भरतकुल के श्रेष्ठ पुरुषो ! यह तुम्हारी आपत्ति मुझे पहले विदित होचुकी है कि धृतराष्ट्र के पुत्रों ने अधर्म से तुम्हें निर्वासन किया है, यह समाचार पाकर मैं तुम्हारा परम हित करने के लिये यहां आया हूं, तुम शोक मत करो यह सब तुम्हारे सुख के लिये ही हुआ है ॥

समास्ते चैव मे सर्वे यूयं चैव न संशयः ।
दीनतो बालतश्चैव स्नेहं कुर्वन्ति मानवाः ॥ ९ ॥
तस्मादभ्यधिकः स्नेहो युष्मासु मम सांप्रतम् ॥
स्नेहपूर्वं चिकीर्षामि हितं वस्तन्निबोधत ॥ १० ॥

अर्थ–इसमें संदेह नहीं कि मेरे लिये तुम और सब कौरव लोग समान हैं परंतु बुद्धिमान् पुरुष दीन और बालकों पर अधिक स्नेह किया करते हैं, इसलिये अब मेरा प्रेम आप लोगों में अधिक है, सो मैं स्नेह के कारण तुम्हारा हित करना चाहता हूं, तुम मेरा कथन सुनो, और :–

इदं नगरमभ्यासे रमणीयं निरामयम् ।
वसतेह प्रतिच्छन्ना ममागमनकाङ्क्षिणः ॥ ११ ॥

अर्थ–इस समीपस्थ रमणीय तथा क्लेशरहित नगर में मेरे आने की प्रतीक्षा करते हुए यहां छिपकर रहो ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स तान् समाश्वास्य व्यासः सत्यवतीसुतः ।
एकचक्रामभिगतः कुन्तीमाश्वासयत्प्रभुः ॥ १२ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! सत्यवती के पुत्र व्यासजी इस प्रकार उनको धैर्य्य दे "एकचक्रा" नगरी में लेजाकर कुन्ती को इस प्रकार सान्त्वना देने लगे कि:—

जीवत्पुत्रि सुतास्तेऽयं धर्मनित्यो युधिष्ठिरः ।
धर्मेण पृथिवीं जित्वा महात्मा पुरुषर्षभः ।
पृथिव्यां पार्थिवान् सर्वान् प्रशासिष्यति धर्मराट् ॥१३॥

अर्थ—हे चिरंजीव पुत्रों वाली कुन्ती ! तुम्हारा यह धर्म में स्थित पुत्र महात्मा युधिष्ठिर धर्मपूर्वक पृथिवी को विजय करके धर्मात्मा राजा बनकर पृथ्वीभर के सब राजाओं पर शासन करेगा॥

पृथिवीमखिलां जित्वा सर्वां सागरमेखलाम् ।
भीमसेनार्जुनबलाद् भोक्ष्यते नात्र संशयः ॥१४॥
पुत्रास्तव च माद्र्याश्च सर्व एव महारथाः ।
स्वराष्ट्रे विहरिष्यन्ति सुखं सुमनसः सदा ॥१५॥

अर्थ—यह युधिष्ठिर समुद्र रूपी मेखला वाली सम्पूर्ण पृथ्वी को भीमसेन और अर्जुन के बल से जीतकर राज्य भोगेगा, इस में सन्देह नहीं, तुम्हारे और माद्री के यह सब महावीर पुत्र प्रसन्न चित्त हुए २ सदा अपने देश में सुखपूर्वक रहेंगे, और :—

यक्ष्यन्ति च नरव्याघ्रा निर्जित्य पृथिवीमिमाम् ।
राजसूयाश्वमेधाद्यैः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥१६॥
अनुगृह्य सुहृद्वर्गं भोगैश्वर्यसुखेन च ।
पितृपैतामहं राज्यमिमे भोक्ष्यन्ति ते सुताः ॥१७॥

अर्थ–यह सिंह पुरुष इस पृथ्वी को विजय करके "राजसूय" तथा "अश्वमेध" आदि बड़ी २ दक्षिणाओं वाले यज्ञ करेंगे और अपने बन्धुवर्ग को ऐश्वर्यरूप सुख भुगाते हुए तेरे पुत्र अपने पिता पितामह के राज्य को पावेंगे ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा निवेश्यैतान् ब्राह्मणस्य निवेशने ।
अब्रवीत् पाण्डवश्रेष्ठमृषिर्द्वैपायनस्तदा ॥१८॥
इह मासं प्रतीक्षध्वमागमिष्याम्यहं पुनः ।
देशकालौ विदित्वैव लप्स्यध्वं परमां मुदम् ॥१९॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तब ऋषि व्यास ऐसा कह और इन लोगों को एक ब्राह्मण के घर ठहराकर पाण्डवों में बड़े युधिष्ठिर से बोले कि तुम लोग एक मास तक मेरी प्रतीक्षा करो, मैं फिर यहां आउंगा और तुम देशकाल को भलेप्रकार समझकर ही परमानन्द को प्राप्त होंगे ॥

स तैः प्राञ्जलिभिः सर्वैस्तथेत्युक्तो नराधिप ।
जगाम भगवान् व्यासो यथागतमृषिः प्रभुः ॥२०॥

अर्थ–हे राजन् ! उन सब पाण्डवों ने हाथ जोड़कर वैसा करने की प्रतिज्ञा की, तब भगवान् व्यासजी यथेष्ट स्थान को चले गये ॥

इति एकत्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

जनमेजय उवाच

एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
अत ऊर्ध्वं द्विजश्रेष्ठ किमकुर्वत पाण्डवाः ॥१॥

अर्थ—राजा जनमेजय बोले कि हे द्विजश्रेष्ठ ! महापराक्रमी कुन्तीपुत्र पाण्डवों ने एकचक्रा नगरी में पहुंचकर वहां वास करते हुए क्या २ किया ? ॥

वैशम्पायन उवाच

एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
ऊषुर्नातिचिरं कालं ब्राह्मणस्य निवेशने ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! महाबली कुन्तीपुत्र एकचक्रा नगरी में ब्राह्मण के घर चिरकाल तक नहीं रहे ॥

चेरुर्भैक्षं तदा ते तु सर्व एव विशाम्पते ।
बभूवुर्नागराणां च स्वैर्गुणैःप्रियदर्शनाः ॥ ३ ॥
निवेदयन्ति स्म तदा कुन्त्या भैक्षं सदा निशि ।
तया विभक्तान् भागांस्ते भुञ्जते स्म पृथक् पृथक् ॥४॥

अर्थ—हे राजन् ! वह सब पाण्डव भिक्षा मांगकर खाने लगे और अपने गुणों से नगरवासियों के प्यारे बनगये, वह भिक्षा लेकर रात्रि में आते और कुन्ती के सामने रखदेते, तदनन्तर कुन्ती जब उसके अलग २ भाग करदेती तब वह अपने २ भाग का भोजन करते थे ॥

अर्द्धं ते भुञ्जते वीराः सहमात्रा परन्तपाः ।
अर्द्धं सर्वस्य भैक्षस्य भीमो भुंक्ते महाबलः ॥५॥
तथा तु तेषां वसतां तस्मिन् राष्ट्रे महात्मनाम् ।
अतिचक्राम सुमहान् कालोऽथ भरतर्षभ ॥६॥

अर्थ—सम्पूर्ण भिक्षा का आधा भाग माता समेत चारो पाण्डव खाते और महाबली भीमसेन अकेला आधा भाग खाता था, हे भरतकुलश्रेष्ठ राजन् ! इस प्रकार उन महात्मा पाण्डवों को उस देश में रहते हुए बहुत काल व्यतीत होगया ॥

ततः कदाचिद्भैक्ष्याय गतास्ते पुरुषर्षभाः ।
संगत्या भीमसेनस्तु तत्रास्ते पृथया सह ॥७॥
अथार्त्तिजं महाशब्दं ब्राह्मणस्य निवेशने ।
भृशमुत्पतितं घोरं कुन्ती शुश्राव भारत ॥८॥

अर्थ—तत्पश्चात् एक समय वह महात्मा पाण्डव मिलकर भिक्षा के लिये गये हुए थे और भीमसेन कुन्ती के पास विद्यमान था, हे भारतीय राजन् ! इसी बीच में कुन्ती को उस ब्राह्मण के घर भयानक दुःख का घोर विलाप होता हुआ सुनाई दिया ॥

रोरूयमाणांस्तान् दृष्ट्वा परिदेवयतश्च सा ।
कारुण्यात् साधुभावाच्च कुन्ती राजन्न चक्षमे ॥९॥
मथ्यमानेव दुःखेन हृदयेन पृथा तदा ।
उवाच भीमं कल्याणी कृपान्वितमिदं वचः ॥१०॥

अर्थ—हे राजन् ! कुन्ती उन लोगों को हाहाकार करते और रोते हुए देखकर दयालुता तथा सज्जनता के कारण सह न सकी

तब धर्मात्मा कुन्ती दुःख से हृदय में व्याकुल हुई २ भीमसेन के प्रति इस प्रकार कृपापूर्ण वचन बोली कि :-

वसाम सुसुखं पुत्र ब्राह्मणस्य निवेशने ।
अज्ञाता धार्त्तराष्ट्रस्य सत्कृता वीतमन्यवः ॥११॥
सा चिन्तये सदा पुत्र ब्राह्मणस्यास्य किंन्वहम् ।
प्रियं कुर्यामिति गृहे यत् कुर्युरुषिताः सुखम् ॥१२॥

अर्थ—हे पुत्र ! हम लोग इस ब्राह्मण के घर सुखपूर्वक निश्चिन्त हुए २ दुर्योधन से छिपकर बसते हैं, हे पुत्र ! हमने जो इस घर में रहकर सुख पाया है इससे मैं रात्रि दिवस इसी चिन्ता में रहती हूं कि इस ब्राह्मण का क्या प्रत्युपकार करूं ॥

एतावान् पुरुषस्तात् कृतं यस्मिन्न नश्यति ।
यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्यादभ्यधिकं ततः ॥१३॥
तदिदं ब्राह्मणस्यास्य दुःखमापतितं ध्रुवम् ।
तत्रास्य यदि साहाय्यं कुर्यामुपकृतं भवेत् ॥१४॥

अर्थ—हे तात ! इसका कोई ऐसा प्रत्युपकार करना चाहिये जो अन्य पुरुषों के उपकार से अधिक और नाश होने वाला न हो, यही पुरुष का पुरुषत्व है, निश्चयकरके यह ब्राह्मण एक दुःख में ग्रस्त है, यदि हम इसको उस दुःख से मुक्त करदें तो बड़ा उपकार होगा ॥

भीमसेन उवाच

ज्ञायतामस्य यद्दुःखं यतश्चैव समुत्थितम् ।
विदित्वा व्यवसिष्यामि यद्यपि स्यात्सुदुष्करम् ॥१५॥

अर्थ–भीमसेन बोला कि हे मात ! यह जानना चाहिये कि इसके यहां क्या दुःख है और वह किस कारण से हुआ है ? यह ज्ञात होने पर मैं उसको अवश्य निवारण करूंगा चाहे वह महा कठिन ही क्यों न हो ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं तौ कथयन्तौ च भूयः शुश्रुवतुः स्वनम् ।
आर्त्तिजं तस्य विप्रस्य सभार्यस्य निवेशने ॥१६॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! वह दोनों इस प्रकार बात चीत कर ही रहे थे कि उन्होंने उस घर में ब्राह्मण और उस की स्त्री का फिर दुःख से भरा हुआ विलाप सुना ॥

अन्तःपुरं ततस्तस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः ।
विवेश त्वरिता कुन्ती बद्धवत्सेव सौरभी ॥१७॥
ततस्तं ब्राह्मणं तत्र भार्यया च सुतेन च ।
दुहित्रा चैव सहितं ददर्शावनताननम् ॥१८॥

अर्थ–तब शीघ्रता से कुन्ती उस महात्मा ब्राह्मण के घर में भीतर चली गई, जैसे बंधे हुए बछड़े को देखकर गाय जाती है, वहां उसने ब्राह्मण, उसकी स्त्री, पुत्र और कन्या इन शिर झुकाये बैठे हुओं को अत्यन्त दुःख से विलाप करते हुए देखा ॥

ब्राह्मण उवाच

धिगिदं जीवितं लोके गतसारमनर्थकम् ।
दुःखमूलं पराधीनं भृशमप्रियभागि च ॥१९॥
जीविते परमं दुःखं जीविते परमोज्वरः ।
जीविते वर्त्तमानस्य दुःखानामागमो ध्रुवः ॥२०॥

अर्थ–ब्राह्मण बोला कि इस संसार में यह जीवन असार, व्यर्थ, दुःख का मूल, पराधीन और अत्यन्त अहितकारी होने से ऐसे जीवन को धिक्कार है, इस जीवन में परमदुःख, परमसन्ताप और इसमें वर्त्तमान पुरुष को दुःखों का मिलना अटल है ॥

आत्मा ह्येको हि धर्मार्थौ कामं चैव निषेवते ।
एतैश्च विप्रयोगोऽपि दुःखं परमनन्तकम् ॥२१॥
आहुः केचित् परंमोक्षं स च नास्ति कथंचन ।
अर्थप्राप्तौ तु नरकः कृत्स्न एवोपपद्यते ॥२२॥

अर्थ–आत्मा अकेला ही धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति करता और इनसे वियोग होना भी अनन्त महादुःख है, कोई मनुष्य कहते हैं कि परममोक्ष होसक्ता है परन्तु वह किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होता, यदि अर्थ=धन की प्राप्ति ही करली जाय तो वह भी संपूर्ण नरक की प्राप्ति होजाती है ॥

अर्थेप्सुता परं दुःखमर्थप्राप्तौ ततोऽधिकम् ।
जातस्नेहस्य चार्थेषु विप्रयोगे महत्तरम् ॥२३॥
न हि योगं प्रपश्यामि येन मुच्येयमापदः ।
पुत्रदारेण वा सार्द्धं प्राद्रवेयमनामयम् ॥२४॥

अर्थ–प्रथम तो धन कमाने में परम दुःख, यदि धन की प्राप्ति होजाय तो उससे भी अधिक दुःख रहता है किंतु प्राप्त हुए धन में जिसका प्रेम होजाता है उसको उसके वियोग में बहुत ही दुःख होता है, मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देखता कि इस आपत्ति से छूटकर पुत्र स्त्री सहित निर्विघ्न भाग सकूं ॥

यंतितं वै मया पूर्वं वेत्थ ब्रह्मणि तत्तथा ।
क्षेमं यतस्ततो गन्तुं त्वया तु मम न श्रुतम् ॥२५॥
पित्रा मात्रा च विहितां सदा गार्हस्थ्यभागिनीम् ।
वरयित्वा यथान्यायं मन्त्रवत् परिणीय च ॥२६॥

अर्थ—हे ब्राह्मणी ! मैंने पहिले जो यत्न किया था कि जहां कुशल से रहसकें उस स्थान में चलें, सो तू जानती है परन्तु तैंने मेरी बात नहीं मानी, तेरे माता पिता ने तुझे सदा के लिये मेरी घरवाली बनाया और मैंने न्यायपूर्वक वेदमन्त्रों के अनुसार तुझे वर कर विवाह किया है ॥

कुलीनां शीलसम्पन्नामपत्यजननीं तथा ।
त्वामहं जीवितस्यार्थे साध्वीमनपकारिणीम् ।
परित्यक्तुं न शक्ष्यामि भार्यां नित्यमनुव्रताम् ॥२७॥

अर्थ—तू कुलीन, शीलवती, सन्तानों की माता, पतिव्रता, निरपराध और सदा मेरे अनुकूल रहने वाली भार्या है, अब मैं अपने जीवन के लिये तुझे त्याग नहीं सकता ॥

कुत एव परित्यक्तुं सुतं शक्ष्याम्यहं स्वयम् ।
बालमप्राप्तवयसमजातव्यञ्जनाकृतिम् ॥२८॥
भर्त्तुरर्थाय निक्षिप्तां न्यासं धात्रा महात्मना ।
स्वयमुत्पाद्यतां बालां कथमुत्स्रष्टुमुत्सहे ॥२९॥

अर्थ—इस बालक पुत्र को तो मैं स्वयं त्याग ही कैसे सकता हूं जो अभी योग्य आयु तक नहीं पहुंचा और न जिसमें युवावस्था

के अभी कोई चिह्न उत्पन्न हुए हैं, और जिस कन्या को परमात्मा ने हमारे पास पति के लिये धरोहर के समान रखा हुआ है उस बालक कन्या को आपही उत्पन्न करके कैसे त्याग सकता हूं ॥

मन्यन्ते केचिदधिकं स्नेहं पुत्रे पितुर्नराः ।
कन्यायां केचिदपरे ममतुल्याबुभौ स्मृतौ ॥३०॥
एषां चान्यतमत्यागो नृशंसो गर्हितो बुधैः ।
आत्मत्यागे कृते चेमे मरिष्यन्ति मया विना ॥३१॥

अर्थ–कई एक मनुष्य पिता का पुत्र में अधिक प्रेम मानते तथा दूसरे कन्या में अधिक प्रेम समझते हैं, परन्तु मेरे लिये तो दोनों एक समान हैं, इन तीनों में से एक का त्याग भी विद्वानों ने निन्दित कहा है, और यदि मैं अपने शरीर को त्याग दूं तो मेरे बिना यह सब मरजायंगे ॥

स कृच्छ्रामहमापन्नो न शक्तस्तर्तुमापदम् ।
अहो धिक् कां गतिं त्वद्य गमिष्यामि सबान्धवः ।
सर्वैः सह मृतं श्रेयो नच मे जीवितं क्षमम् ॥३२॥

अर्थ–सो मैं बड़ी आपत्ति में पड़गया हूं, अब इससे पार नहीं होसकता, हा धिक्कार है, मैं अब बन्धुओं समेत किस दशा में पहुंचुंगा, मेरा अब सबके साथ मर जाना ही अच्छा है जीना उचित नहीं ॥

इति द्वात्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

ब्राह्मणी उवाच

न सन्तापस्त्वया कार्यः प्राकृतेनेव कर्हिचित् ।
न हि सन्तापकालोऽयं वैद्यस्य तव विद्यते ॥१॥
अवश्यं निधनं सर्वैर्गन्तव्यमिह मानवैः ।
अवश्यं भाविन्यर्थे वै सन्तापो नेह विद्यते ॥२॥

अर्थ–ब्राह्मणी बोली कि हे देव! तुम्हें नीच पुरुषों के समान शोक करना कदापि उचित नहीं, आप इस समय वैद्य=उपाय बताने वाले हैं, तुम्हारे लिये यह शोक करने का अवसर नहीं, सब ने इस संसार में मरना अवश्य है सो अवश्य होने वाली बात में यहां शोक करना व्यर्थ है ॥

भार्या पुत्रोऽथ दुहिता सर्वमात्मार्थमिष्यते ।
व्यथां जहि सुबुद्ध्या त्वं स्वयं यास्यामि तत्र च ॥३॥
एतद्धि परमं नार्य्याकार्यं लोके सनातनम् ।
प्राणानपि परित्यज्य यद्भर्त्तुर्हितमाचरेत् ॥४॥

अर्थ–स्त्री, पुत्र तथा पुत्री, इन सबकी मनुष्य अपने सुख के लिये ही इच्छा करता है सो आप उत्तम बुद्धि से इस चिन्ता को छोड़दें और मैं वहां स्वयं राक्षस को भोजन देने के लिये चली जाउंगी, क्योंकि संसार में स्त्री का यही सनातन परमधर्म है कि वह प्राणों को त्यागकर भी अपने स्वामी का हित करे ॥

तच्च तत्र कृतं कर्म तवापीदं सुखावहम् ।
भवत्यमुत्र चाक्षय्यं लोकेऽस्मिंश्च यशस्करम् ॥५॥
यदर्थमिष्यते भार्या प्राप्तः सोऽर्थस्त्वया मयि ।
कन्या चैका कुमारश्च कृताहमनृणा त्वया ॥६॥

अर्थ-सो मेरा किया हुआ यह पुण्य कर्म तुम्हारे लिये भी सुखकारी और इसलोक तथा परलोक में मेरे यश का बढ़ाने वाला है, और जिस प्रयोजन से स्त्री की इच्छा कीजाती है वह तुम्हारा प्रयोजन भी मुझसे सिद्ध हो चुका है, क्योंकि एक कन्या और एक पुत्र तुम्हें प्राप्त होगया, और इससे आपने मुझे भी उऋण कर दिया है ॥

समर्थः पोषणे चासि सुतयो रक्षणे तथा ।
न त्वहं सुतयो शक्ता तथा रक्षणपोषणे ॥७॥
मम हि त्वद्विहीनायाः सर्वे प्राणधनेश्वर ।
कथं स्यातां सुतौ बालौ भवेयं च कथं त्वहम् ॥८॥

अर्थ-पुत्र और कन्या के पालन तथा रक्षण करने में आप समर्थ हैं किन्तु मैं इन सन्तानों की रक्षा तथा पालन नहीं कर सकती, हे संपूर्ण प्राण और धन के स्वामी ! तुम्हारे विना मेरे यह दोनों बालक और मैं भी कैसे जीवेंगे ॥

कथं हि विधवानाथा बालपुत्रा विना त्वया ।
मिथुनं जीवयिष्यामि स्थिता साधुगते पथि ॥९॥
अहंकृता वालिप्तैश्च प्रार्थ्यमानामिमां सुताम् ।
अयुक्तैस्तव संवन्धे कथं शक्ष्यामि रक्षितुम् ॥१०॥

अर्थ–मैं बालक=पुत्र, पुत्री वाली, तुम्हारे विना विधवा और अनाथ होकर सज्जनों के मार्ग पर स्थित हुई इस जोड़े को कैसे जीवित रख सकुंगी, यदि अभिमानी दुष्ट पुरुष इस कन्या से विवाह करना चाहेंगे तो मैं उनके साथ तुम्हारे संबन्ध की कैसे रक्षा कर सकुंगी अर्थात् ऐसों के साथ संबन्ध रखना मुझे इष्ट नहीं है ॥

उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः ।
प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे पतिहीनां तथा स्त्रियम् ॥११॥
कथं तव कुलस्यैकामिमां बालामनागसम् ।
पितृपैतामहे मार्गे नियोक्तुमहमुत्सहे ॥१२॥

अर्थ–जैसे भूमी पर फैंके हुए मांस को सब पक्षी चाहते हैं वैसे ही पतिहीना स्त्री को सब लोग दुष्टभाव से पाने की इच्छा करते हैं, तुम्हारे कुल की एकमात्र इस बालक निरपराध कन्या को पिता-पितमह के मार्ग में कैसे रखसकूंगी अर्थात् तुम्हारे पिता-पितामह के समान कैसे इसका योग्य संबन्ध करुंगी ॥

कथं शक्ष्यामि बालेऽस्मिन् गुणानाधातुमीप्सितान् ।
अनाथे सर्वतो लुप्ते यथा त्वं धर्मदर्शिवान् ॥१३॥
इमामपि च ते बालामनाथां परिभूय माम् ।
अनर्हाः प्रार्थयिष्यन्ति शूद्रा वेदश्रुतिं यथा ॥१४॥

अर्थ–तुम्हारे विना इस पुत्र के अनाथ तथा सर्वस्वहीन हो जाने से इस बालक पुत्र में कैसे उत्तम गुण उत्पन्न कर सकुंगी, जैसे आप धर्म के पारदर्शी हैं, तुम्हारी इस बालक तथा अनाथ कन्या को भी अयोग्य पुरुष मुझे दबाकर लेलेंगे, जैसे वेद की श्रुति को शूद्र=अयोग्य पुरुष अन्यथा ग्रहण करते हैं ॥

तां चेदहं न दित्सेयं त्वद्गुणैरुपबृंहिताम् ।
प्रमथ्यैनां हरेयुस्ते हविर्ध्वांक्षा इवाध्वरात् ॥१५॥
अवज्ञाता च लोकेषु तथात्मानमजानती ।
अवलिप्तैर्नरैर्ब्रह्मन् मरिष्यामि न संशयः ॥१६॥

अर्थ–तुम्हारे जैसे उत्तम गुणों वाली इस कन्या का यदि मैं उन अयोग्य पुरुषों के साथ विवाह न करूंगी तो वह बलपूर्वक मुझसे छीनकर लेजावेंगे, जैसे कौवे यज्ञ में हवि को ग्रहण करते हैं, हे ब्रह्मन्! मैं संसार में अपने आपको भूली हुई तथा दुष्ट पुरुषों से निन्दित कीहुई मरजाउंगी, इसमें सन्देह नहीं ॥

तौ च हीनौ मया बालौ त्वया चैव तथात्मजौ ।
विनश्येतां न सन्देहो मत्स्याविव जलक्षये ॥१७॥
त्रितयं सर्वथाप्येवं विनशिष्यत्यसंशयम् ।
त्वया विहीनं तस्मात्त्वं मां परित्यक्तुमर्हसि ॥१८॥

अर्थ–इस प्रकार यह दोनों बालक मेरे और तुम्हारे बिना निःसन्देह मरजायेंगे, जैसे पानी के बिना मछलियें मरजाती हैं. सब प्रकार से तुम्हारे बिना तीन प्राणी नष्ट होंगे इसमें संशय नहीं, सो तुम्हें मुझ अकेली को ही त्याग देना उचित है ॥

परित्यक्तः सुतश्चायं दुहितेयं तथा मया ।
बान्धवाश्च परित्यक्तास्त्वदर्थं जीवितं च मे ॥१९॥
स कुरुष्व मया कार्यं तारयात्मानमात्मना ।
अनुजानीहि मामार्य सुतौ मे परिपालय ॥२०॥

अर्थ–मैंने अब इस पुत्र कन्या तथा सब बन्धुओं को त्याग दिया है और तुम्हारे लिये तो मेरा जीवन ही है, सो तुम मेरे द्वारा यह कार्य्य को सिद्ध करो और अपने पुरुषार्थ से अपने को दुःख से बचाओ, हे आर्य स्वामिन् ! मुझे वहां जाने की अनुमति दें और आप मेरे बालकों की रक्षा करें ॥

अवध्यां स्त्रियमित्याहुर्धर्मज्ञा धर्मनिश्चये ।
धर्मज्ञान् राक्षसानाहुर्न हन्यात्स च मामपि ॥ २१ ॥
निःसंशयं वधः पुंसां स्त्रीणां संशयितो वधः ।
अतो मामेव धर्मज्ञ प्रस्थापयितुमर्हसि ॥ २२ ॥

अर्थ–हे धर्म के ज्ञाता ! धर्मशास्त्र में निपुण ऋषिलोग स्त्री को अवध्य=न मारने योग्य बतलाते हैं और यह भी कहते हैं कि राक्षस लोग कुछ न कुछ धर्मशास्त्र के ज्ञाता होते हैं सो संभव है कि वह मुझे न भी मारे, पुरुषों का मारा जाना संदेहरहित और स्त्रियों का मारा जाना संशययुक्त है, इसलिये तुम्हें उचित है कि मुझे ही वहां भेजो ॥

भुक्तं प्रियाण्यवाप्तानि धर्मश्च चरितो महान् ।
त्वत्प्रसूतिः प्रिया प्राप्ता न मां तप्स्यत्यजीवितम्॥२३॥
जातपुत्रा च वृद्धा च प्रियकामा च ते सदा ।
समीक्ष्यैतदहं सर्वं व्यवसायं करोम्यतः ॥ २४ ॥

अर्थ–मैं पूर्णतया सब कुछ भोग चुकी, सुखों को पाचुकी, महान्‌धर्म का अनुष्ठान किया और तुम्हारे लिये प्यारी सन्तान भी उत्पन्न की, इसलिये मुझे मरना दुःखदायी नहीं होगा, मैं सन्तान

उत्पन्न करके अब वृद्धा होचली हूं और तुम्हारी सदा भलाई करना मेरा कर्तव्य है, यह सब देखकर ही मैं ऐसा उद्यम करने को उद्यत हुई हूं ॥

एतत् सर्वं समीक्ष्यत्वमात्मत्यागं च गर्हितम् ।
आत्मानं तारयाद्याशु कुलं चेमौ च दारकौ ॥२५॥

अर्थ–सो आप यह सब सोच विचार कर अपने प्राण त्याग को निन्दनीय समझ आज अपने आपको, अपने वंश को तथा इन दोनों बालकों को शीघ्र ही आपत्ति से पार करें ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तया भर्त्ता तां समालिङ्ग्य भारत ।
मुमोच वाष्पं शनकैः सभार्यो भृशदुःखितः ॥ २६ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे भारतीय राजन् ! उस ब्राह्मणी के ऐसा कहने पर उसका पति अत्यन्त दुःखी हुआ २ उसको आलिङ्गन करके भार्या सहित धीरे २ आंसू बहाने लगा ॥

इति त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

तयो दुःखितयोर्वाक्यमतिमात्रं निशम्य तु ।
ततो दुःखपरीताङ्गी कन्या तावभ्यभाषत ॥ १ ॥

किमेवं भृशदुःखार्त्तौ रोरूयेतामनाथवत् ।
ममापि श्रूयतां वाक्यं श्रुत्वा च क्रियतां क्षमम् ॥२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! उन दुखिया मा बाप के अत्यन्त दुःख भरे उक्त वचन सुन कन्या दुखी होकर उनसे बोली कि तुम दोनों अत्यन्त दुखी हुए २ अनाथों की भांति क्यों रो रहे हो ? मेरी बात भी सुनें और सुनकर यथोचित कार्य करें ॥

धर्मतोऽहं परित्याज्या युवयोर्नात्र संशयः ।
त्यक्तव्यां मां परित्यज्य त्रातं सर्वं ममैकया ॥ ३ ॥
इत्यर्थमिष्यतेऽपत्यं तारयिष्यति मामिति ।
अस्मिन्नुपस्थिते काले तरध्वं प्लववन्मया ॥ ४ ॥

अर्थ–इसमें सन्देह नहीं कि धर्मपूर्वक विवाह के पश्चात् मैं आपसे अवश्य त्यागी जाउंगी, सो त्यागने योग्य मुझ एक को इसी समय त्याग देने से तुम सबकी रक्षा होजायगी, और सन्तान की इच्छा इसीलिये कीजाती है कि यह हमें आपत्ति से पार करेगी, अतएव अब ऐसा अवसर पड़ने पर नाव के समान मेरे द्वारा इस आपत्ति से पार होजाओ, और :–

भ्राता च मम बालोऽयं गते लोकममुं त्वयि ।
अचिरेणैव कालेन विनश्येत न संशयः ॥ ५ ॥
पित्रा त्यक्ता तथा मात्रा भ्रात्रा चाहमसंशयम् ।
दुःखाद्दुःखतरं प्राप्य म्रियेयमतथोचिता ॥६॥

अर्थ–मेरा यह भाई अभी बालक होने से निःसन्देह तुम्हारे परलोकगामी होजाने पर शीघ्र ही मरजायगा, और

यदि मैं पिता, माता तथा भाई से त्यागी जाउंगी तो दुःख पर दुःख पाकर बड़ी दुर्दशा से मरूंगी ॥

अनाथा कृपणा बाला यत्र क्वचन गामिनी ।
भविष्यामि त्वया तात विहीना कृपणा सदा ॥७॥
अथवाहं करिष्यामि कुलस्यास्य विमोचनम् ।
फलसंस्था भविष्यामि कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥८॥
अथवा यास्यसे तत्र त्यक्त्वा मां द्विजसत्तम ।
पीडिताहं भविष्यामि तदवेक्षस्व मामपि ॥९॥

अर्थ—हे पिता ! मैं बालक तुम्हारे बिना अनाथ और दीन होकर नजाने किसके यहां व्याही जाउंगी और सदा दुःखी रहुंगी, हे श्रेष्ठ द्विज ! एकपक्ष में मैं इस महाकठिन कार्य को करके तुम्हारे वंश को दुःख से मुक्त कर फलभागिनी बनुंगी, दूसरे पक्ष में यदि आप मुझको त्याग कर परलोक जायंगे तो मैं दुःखी रहुंगी, सो मेरी ओर भी ध्यान करें ॥

तदस्मदर्थं धर्मार्थं प्रसवार्थं च सत्तम ।
आत्मानं परिरक्षस्व त्यक्तव्यां मां च सन्त्यज ॥१०॥
किं त्वतः परमं दुःखं यद्वयं स्वर्गते त्वयि ।
याचमानाः परादन्नं परिधावेमहि श्ववत् ॥११॥

अर्थ—हे श्रेष्ठ पिता ! मेरे लिये, धर्म के लिये तथा सन्तान के लिये अपने आपकी रक्षा करें और मुझ त्यागने योग्य को त्याग दें, तुम्हारे स्वर्गवास होजाने पर इससे बढ़कर और क्या दुःख होगा कि हम लोग कुत्तों के समान दूसरों से भीख मांगते फिरेंगे ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं बहुविधं तस्या निशम्य परिदेवितम् ।
पिता माता च सा चैव कन्या प्ररुरुदुस्त्रयः ॥१२॥
ततः प्ररुदितान् सर्वान् निशम्याथ सुतस्तदा ।
उत्फुल्लनयनो बालः कलमव्यक्तमब्रवीत् ॥ १३ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! इस प्रकार उस कन्या का अनेक रीति से विलाप सुनकर माता, पिता और वह कन्या तीनों रोने लगे, तब उन सब का रोना सुनकर वह बालक पुत्र हर्ष से प्रसन्न नेत्रों वाला हुआ २ इस प्रकार अस्पष्ट वचन बोला कि:—

मा पितः क्रन्द मा मातर्मा स्वसस्त्विति चाब्रवीत् ।
प्रहसन्निव सर्वांस्तानेकैकमुपसर्पति ॥ १४ ॥
ततः स तृणमादाय प्रहृष्टः पुनरब्रवीत् ।
अनेनाहं हनिष्यामि राक्षसं पुरुषादकम् ॥ १५ ॥

अर्थ—हे पिता, हे माता, हे बहिन ! तुम रोओ मत, ऐसा कह कर मुसकराता हुआ वह एक २ के पास गया, इसके पश्चात् वह हर्ष में भरा हुआ एक तिनका उठाकर फिर बोला कि उस मनुष्य-भक्षक राक्षस को मैं इससे मार डालुंगा ॥

तथापि तेषां दुःखेन परीतानां निशम्य तत् ।
बालस्य वाक्यमव्यक्तं हर्षः समभवन्महान् ॥१६॥
अयं काल इति ज्ञात्वा कुन्ती समुपसृत्यतान् ।
गतासूनमृतेनेव जीवयन्तीदमब्रवीत् ॥१७॥

अर्थ—वह ऐसे दुःखग्रस्त होने पर भी उस बालक की अस्पष्ट=तोतली वाणी मे उक्त बात सुनकर उनको महान् हर्ष हुआ, तब कुन्ती उस हर्ष के समय में उनसे बात चीत करने का उचित अवसर समझ उनके पास जाकर इस प्रकार मधुर बचन बोली कि मानो मरे हुओं को अमृत से जीवित कर रही है ॥

कुन्ती उवाच

कुतोमूलमिदं दुःखं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः ।
विदित्वाप्यपकर्षेयं शक्यं चेदपकर्षितुम् ॥ १८ ॥

अर्थ—कुन्ती बोली कि हे ब्राह्मण ! मैं यह जानना चाहती हूं कि वास्तव में इस दुःख का मूल क्या है ? यह जानकर यदि वह हटाने योग्य हुआ तो मैं उसके हटाने का अवश्य उपाय करूंगी ॥

ब्राह्मण उवाच

उपपन्नं सतामेतद् यद् ब्रवीषि तपोधने ।
न तु दुःखमिदं शक्यं मानुषेण व्यपोहितम् ॥ १९ ॥

अर्थ—ब्राह्मण बोला कि हे तपस्विनी! जो तुम कहती हो सो सज्जनों के लिये उचित ही है परन्तु इस दुःख को कोई मनुष्य हटा नहीं सकता ॥

समीपे नगरस्यास्य बको वसति राक्षसः ।
ईशो जनपदस्यास्य पुरस्य च महाबलः ॥ २० ॥
पुष्टो मानुषमांसेन दुर्बुद्धिः पुरुषादकः ।
रक्षत्यसुरराट् नित्यमिमं जनपदं बली ॥ २१ ॥

अर्थ—इस नगर के समीप "बक" नामक एक महाबली राक्षस रहता है जो इस प्रान्त तथा नगर का राजा है, वह दुष्टबुद्धि

बलवान् मनुष्याहारी राक्षसराज मनुष्य के मांस से ही पुष्ट हुआ और सदा इस प्रान्त की रखवाली किया करता है ॥

वेतनं तस्य विहितं शालिवाहस्य भोजनम् ।
महिषौ पुरुषश्चैको यस्तदादाय गच्छति ॥ २२ ॥
एकैकश्चापि पुरुषस्तत्प्रयच्छति भोजनम् ।
स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुकरो नरैः ॥ २३ ॥

अर्थ–उस राक्षस का वेतन यह नियत हुआ २ है कि उसको प्रतिदिन दो भैंसे और एक मनुष्य जो उन भैंसों को लेकर जाता है भोजन के लिये मिला करे, सो प्रतिदिन एक २ मनुष्य उसको भोजन देने जाता है, इस प्रकार बारी २ से जाना बहुत वर्षों से मनुष्यों को अत्यन्त असह्य होगया है ॥

तद्विमोक्षाय ये केचिद् यतन्ति पुरुषाः क्वचित् ।
सोऽयमस्माननुप्राप्तो वारः कुलविनाशनः ॥ २४ ॥
सपुत्रदारांस्तान् हत्वा तद्रक्षो भक्षयत्युत ।
भोजनं पुरुषश्चैकः प्रदेयं वेतनं मया ॥ २५ ॥

अर्थ–और जो कोई मनुष्य उससे छुड़ाने का यत्न कहीं पर करते हैं तो वह राक्षस उनको स्त्री, पुत्र समेत मारकर खा लेता है सो आज कुल का नाश करने के लिये यह हमारी बारी आगई है, मुझे भी उस राक्षस के लिये पूर्वोक्त भोजन और एक मनुष्य वेतन की भांति देना पड़ेगा ॥

गतिं चैव न पश्यामि तस्मान्मोक्षाय रक्षसः ।
सोऽहं दुःखार्णवे मग्नो महत्यसुकरे भृशम् ॥ २६ ॥

सहैवैतैर्गमिष्यामि बान्धवैरद्य राक्षसम् ।
ततो न सहितान् क्षुद्रः सर्वानेवोपभोक्ष्यति ॥ २७ ॥

अर्थ—मैं उस राक्षस से छूटने का अब कोई उपाय नहीं देखता, इसलिये मैं महाघोर दुःखसागर में पूर्णतया डूबा हुआ हूं, सो आज मैं अपने बन्धुओं = कुटुम्ब के सहित ही उस राक्षस के पास जाऊंगा तब वह नीच हम सबको ही भक्षण करजायगा ॥

इति चतुस्त्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ पंचत्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

कुन्ती उवाच

न विषादस्त्वया कार्यो भयादस्मात् कथंचन ।
उपायः परिदृष्टोऽत्र तस्मान्मोक्षाय रक्षसः ॥ १ ॥
एकस्तव सुतो बालः कन्या चैका तपस्विनी ।
न चैतयोस्तथा पत्न्या गमनं तव रोचये ॥ २ ॥

अर्थ—कुन्ती बोली कि हे ब्राह्मण ! तुम्हें इस भय से किसी प्रकार भी विषाद नहीं करना चाहिये, क्योंकि मैंने उस राक्षस से छुड़ाने का उपाय सोच लिया है, देखो तुम्हारा एक ही बालक पुत्र तथा एक ही विचारी कन्या है सो इन दोनों का वा तुम्हारी स्त्री का अथवा तुम्हारा वहां जाना मैं उचित नहीं समझती ॥

मम पञ्च सुता ब्रह्मंस्तेषामेको गमिष्यति ।
त्वदर्थं बलिमादाय तस्य पापस्य रक्षसः ॥३॥

अर्थ–हे ब्राह्मण ! मेरे पांच पुत्र हैं, उनमें से एक पुत्र तुम्हारे हित के लिये उस पापी राक्षस के पास उसका भोजन लेकर चला जायगा ॥

ब्राह्मण उवाच

नाहमेतत् करिष्यामि जीवितार्थे कथंचन ॥
ब्राह्मणस्यातिथेश्चैव स्वार्थे प्राणान् वियोजयन् ॥४॥
नत्वेतदकुलीनासु नाधर्मिष्ठासु विद्यते ।
यद् ब्राह्मणार्थं विसृजेदात्मानमपि चात्मजम् ॥५॥

अर्थ–ब्राह्मण बोला कि हे धर्मपरायण ! मैं ऐसा कदापि न करूंगा कि अपने लाभ के लिये ब्राह्मण वा अतिथि का प्राण नाश करके अपना जीवन बचाऊं, और किसी ब्राह्मण के लिये अपने आत्मारूप पुत्र को त्याग देना अकुलीन स्त्रियों का काम है तुम्हारे समान धार्मिक स्त्रियों का नहीं ॥

आत्मनस्तु मयाश्रेयो बोद्धव्यमिति रोचते ।
ब्रह्मबध्यात्म बध्या वा श्रेयानात्मवधो मम ॥६॥
न त्वहं बधमाकांक्षे स्वयमेवात्मनःशुभे ।
परैः कृते बधे पापं न किंचिन्मयि विद्यते ॥७॥

अर्थ–और यह भी ज्ञात रहे कि मैं अपना मरना अधिक अच्छा मानता हूं, क्योंकि किसी ब्राह्मण=तुम्हारे पुत्र की हत्या और एक ओर मेरी आत्महत्या, इन दोनों में मेरे लिये आत्म-हत्या अधिक फलदायक है, हे भद्रे ! मैं स्वयं तो अपनी हत्या की

इच्छा ही नहीं करता और दूसरों के हाथ से मेरी हत्या होजाने से मुझे कुछ "आत्महत्या" का पाप भी नहीं है ॥

अभिसन्धे कृते तस्मिन् ब्राह्मणस्य बधे मया ।
निष्कृतिं न प्रपश्यामि नृशंसं क्षुद्रमेव च ॥८॥
आगतस्य गृहं त्यागस्तथैव शरणार्थिनः ।
याचमानस्य च बधो नृशंसो गर्हितो बुधैः ॥९॥

अर्थ—और यदि मैं जान बूझकर ब्राह्मण का बध कराऊं तो यह बड़ा क्रूर और निर्दय कर्म है जिसका मैं कोई प्रायश्चित्त नहीं देखता, क्योंकि अपने घर आये हुए को, शरणागत को तथा विनति करते हुए मनुष्य को मरवा देना विद्वानों ने निन्दित कर्म कहा है॥

कुर्यान्न निन्दितं कर्म न नृशंसं कथंचन ।
इति पूर्वे महात्मानः आपद्धर्मविदो विदुः ॥१०॥
श्रेयांस्तु सहदारस्य विनाशोद्य मम स्वयम् ।
ब्राह्मणस्य बधं नाहमनुमंस्ये कदाचन ॥११॥

अर्थ—आपद्धर्म के जानने वाले प्राचीन महात्मा कहते हैं कि निन्दित और क्रूर कर्म किसी प्रकार भी न करे, सो आज मेरा स्त्री सहित स्वयं नाश होना अच्छा है किन्तु किसी ब्राह्मण का बध करने के लिये मैं कभी अनुमति न दूंगा ॥

कुन्ती उवाच

ममाप्येषा मतिर्ब्रह्मन् विप्रा रक्ष्या इति स्थिरा ।
न चाप्यनिष्टः पुत्रो मे यदि पुत्रशतं भवेत् ॥१२॥

न चासौ राक्षसः शक्तो मम पुत्रविनाशने ।
वीर्यवान् मन्त्रसिद्धश्च तेजस्वी च सुतो मम ॥१३॥

अर्थ–कुन्ती बोली की हे ब्राह्मण ! मेरी भी यही सम्मति है कि ब्राह्मणों की रक्षा करनी चाहिये और यह भी बात नहीं कि मुझे अपना पुत्र प्यारा न हो, चाहे मेरे सौ पुत्र भी हों वह सभी प्रिय हैं, परन्तु बात यह है कि वह राक्षस मेरे पुत्र को मार नहीं सकता, क्योंकि मेरा पुत्र पराक्रमी, युद्धविद्या के मन्त्रों से सिद्ध तथा तेजस्वी है ॥

राक्षसाय च तत्सर्वं प्रापयिष्यति भोजनम् ।
मोक्षयिष्यति चात्मानमिति मे निश्चिता मतिः॥१४॥
न त्विदं केषुचिद्ब्रह्मन् व्याहर्त्तव्यं कथंचन ।
विद्यार्थिनो हि मे पुत्रान् विप्रकुर्युः कुतूहलात्॥१५॥

अर्थ–मेरा यह दृढ निश्चय है कि मेरा पुत्र राक्षस के पास वह सब भोजन पहुंचा देगा और अपने आपको छुड़ा भी लेगा, हे ब्राह्मण ! यह बात तुम अन्य किन्हीं लोगों में किसी प्रकार भी न कहना, क्योंकि विद्यार्थी लोग हंसी में मेरे पुत्रों का भेद प्रकट करदेंगे ॥

एवमुक्तस्तु पृथया सविप्रो भार्यया सह ।
हृष्टः सम्पूजयामास तद्वाक्यममृतोपमम् ॥१६॥

अर्थ–कुन्ती के ऐसा कहने पर उस ब्राह्मण ने भार्या समेत हर्षित होकर कुन्ती के अमृत समान बचनों का परम आदर किया॥

इति पंचत्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ षटत्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

करिष्य इति भीमेन प्रतिज्ञातेऽथ भारत ।
आजग्मुस्ते ततः सर्वे भैक्षमादाय पाण्डवाः ॥१॥
आकारेणैव तं ज्ञात्वा पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
रहः समुपविश्यैकस्ततः पप्रच्छ मातरम् ॥२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तब भीमसेन के वैसा करने की प्रतिज्ञा करने पश्चात् वह सब पाण्डव भिक्षायें लेकर वहां आगये, तब पाण्डु का बड़ा पुत्र युधिष्ठिर भीमसेन की आकृति से ही उसका भाव जान एकान्त में बिठाकर माता से पूछने लगा कि :—

किं चिकीर्षत्ययं कर्म भीमो भीमपराक्रमः ।
भवत्यनुमते कच्चित् स्वयं वा कर्तुमिच्छसि ॥३॥

अर्थ–यह बड़े पराक्रम वाला भीमसेन क्या कार्य्य करना चाहता है और इसमें आपकी अनुमति है वा स्वयं अपनी इच्छा से ही ऐसा करने लगा है ॥

कुन्ती उवाच

ममैव वचनादेष करिष्यति परन्तपः ।
ब्राह्मणार्थे महत् कृत्यं मोक्षाय नगरस्य च ॥४॥

अर्थ–कुन्ती बोली कि हे युधिष्ठिर ! यह शत्रुसन्तापकारी भीम मेरी ही आज्ञा से इस ब्राह्मण के हितार्थ तथा नगर को राक्षस से छुड़ाने के लिये बड़ा कार्य करेगा ॥

युधिष्ठिर उवाच

किमिदं साहसं तीक्ष्णं भवत्या दुष्करं कृतम् ।
परित्यागं हि पुत्रस्य न प्रशंसन्ति साधवः ॥ ५ ॥
कथं परसुतस्यार्थे स्वसुतं त्यक्तुमिच्छसि ।
लोकवेदविरुद्धं हि पुत्रत्यागात् कृतं त्वया ॥ ६ ॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोले कि हे माता ! आपने यह क्या दुष्कर तथा कठोर साहस किया है, क्योंकि सज्जन लोग पुत्र के त्याग की प्रशंसा नहीं करते, तुम दूसरे के पुत्र के लिये अपने पुत्र को क्यों त्यागना चाहती हो ? पुत्र को त्यागकर तुम लोक तथा वेद विरुद्ध कर्म करोगी ॥

यस्य बाहू समाश्रित्य सुखं सर्वे शयामहे ।
राज्यं चापहृतं क्षुद्रैराजिहीर्षामहे पुनः ॥ ७ ॥
यस्य दुर्योधनो वीर्यं चिन्तयन्नमितौजसः ।
न शेते रजनीः सर्वाः दुःखाच्छकुनिना सह ॥ ८ ॥

अर्थ–जिस भीमसेन की भुजाओं के भरोसे पर हम लोग सुख से सोते और नीच पुरुषों से छीने हुए राज्य के फिर पाने की आशा करते हैं, और जिस महापराक्रमी के पराक्रम की चिन्ता करता हुआ शकुनि समेत दुर्योधन दुःख के मारे रात भर नहीं सोता ॥

यस्य वीरस्य वीर्येण मुक्ता जतुगृहाद्वयम् ।
अन्येभ्यश्चैव पापेभ्यो निहतश्च पुरोचनः ॥९॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य वसुपूर्णां वसुन्धराम् ।
इमां मन्यामहे प्राप्तां निहत्य धृतराष्ट्रजान् ॥१०॥

अर्थ–जिस वीर के पराक्रम से हम लोग लाक्षागृह से छूटकर अन्य क्लेशों से बचे, जिसने पुरोचन को मारा, जिसके पराक्रम के भरोसे हम लोग धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर इस धनपूर्ण पृथ्वी को पाने की इच्छा करते हैं ॥

तस्य व्यवसितस्त्यागो बुद्धिमास्थाय कां त्वया ।
कच्चिन्नु दुःखैर्बुद्धिस्ते विलुप्ता गतचेतसः ॥११॥

अर्थ–उस भीमसेन के त्याग का संकल्प तुमने क्या समझ कर किया है ? क्या दुःखों के मारे विवेकहीन होने से तुम्हारी बुद्धि लुप्त तो नहीं होगई ॥

कुन्ती उवाच

युधिष्ठिर न सन्तापस्त्वया कार्यो वृकोदरे ।
न चायं बुद्धिदौर्बल्याद् व्यवसायः कृतो मया ॥१२॥

अर्थ–कुन्ती बोली कि हे युधिष्ठिर ! तुम भीमसेन के लिये कुछ पश्चात्ताप मत करो और नाही मैंने यह संकल्प बुद्धि की दुर्बलता से किया है ॥

इह विप्रस्य भवने वयं पुत्र सुखोषिताः ।
अज्ञाता धार्त्तराष्ट्राणां सत्कृता वीतमन्यवः ।
तस्या प्रातिक्रिया पार्थ मयेयं प्रसमीक्षिता ॥१३॥

अर्थ—हे पुत्र युधिष्ठिर ! हम लोग इस ब्राह्मण के घर में सत्कार पाये हुए निश्चिन्त रहकर धृतराष्ट्र के पुत्रों से छिपे हुए सुखपूर्वक रहे हैं सो उस उपकार का बदला मैंने यह सोचा है ॥

एतावानेव पुरुषः कृतं यस्मिन्न नश्यति ।
यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्याद्बहुगुणं ततः ॥१४॥
दृष्ट्वा भीमस्य विक्रान्तं तदा जतुगृहे महत् ।
हिडिम्बस्य बधाच्चैवं विश्वासो मे वृकोदरे ॥१५॥

अर्थ—"पुरुष" तभी तक है अर्थात् पुरुष का पुरुषत्व इतना ही है कि जिसमें किया हुआ उपकार वृथा न जाय, प्रत्युत जितना कोई इसका उपकार करे इसको उससे कई गुणा अधिक करना चाहिये, और भीमसेन का लाक्षाभवन में बड़ा भारी पराक्रम देखकर तथा "हिडिम्ब" राक्षस के बध से मुझे इसके बल पर पूर्ण विश्वास है ॥

येन यूयं गजप्रख्यानिर्व्यूढा वारणावतात् ।
वृकोदरेण सदृशो बलेनान्यो न विद्यते ॥१६॥
तदहं प्रज्ञया ज्ञात्वा बलं भीमस्य पाण्डव ।
प्रतिकार्ये च विप्रस्य ततः कृतवती मतिम् ॥१७॥

अर्थ—जिसने हाथी जैसे महाकाय तुम लोगों को वारणावत से यहां तक उठा २ कर पहुंचाया उस भीमसेन के समान बल में दूसरा कोई नहीं है, हे पाण्डवो ! सो मैंने अपनी बुद्धि से भीमसेन का बल जानकर ब्राह्मण के प्रत्युपकार के लिये संकल्प करलिया है ॥

नेदं लोभान्नचाज्ञानान्नच मोहाद्विनिश्चितम् ।
बुद्धिपूर्वं तु धर्मस्य व्यवसायः कृतो मया ॥१८॥
अर्थौ द्वावपि निष्पन्नौ युधिष्ठिर भविष्यतः ।
प्रतीकारश्च वासस्य धर्मश्च चरितो महान् ॥१९॥

अर्थ–मैंने यह संकल्प न तो लोभ से किया, न अज्ञान से और नाही मोह से किया है किन्तु सोच समझकर धर्मपूर्वक यह उद्योग करने को उद्यत हुई हूं, हे युधिष्ठिर ! इससे दो प्रयोजन सिद्ध होंगे, एक तो ब्राह्मण के घर में निवास का बदला, दूसरे महान् धर्म का आचरण अर्थात् नगरवासियों की रक्षा होगी ॥

यो ब्राह्मणस्य साहाय्यं कुर्यादर्थेषु कर्हिचित् ।
क्षत्रियः स शुभांल्लोकान् प्राप्नुयादिति मे मतिः ॥२०॥
क्षत्रियस्यैव कुर्वाणः क्षत्रियो वधमोक्षणम् ।
विपुलां कीर्त्तिमाप्नोति लोकेऽस्मिंश्च परत्र च ॥२१॥

अर्थ–मेरा यह निश्चय है कि जो क्षत्रिय कदाचित् ब्राह्मण की सहायता किसी बात में करे तो वह उत्तम जन्मों को प्राप्त होता है तथा क्षत्रिय ही यदि अन्य क्षत्रिय को मरने से बचा देवे तो वह भी इस जन्म और परजन्म में भी भारी यश का लाभ करता है ॥

वैश्यस्यार्थे च साहाय्यं कुर्वाणः क्षत्रियो भुवि ।
स सर्वेष्वपि लोकेषु प्रजा रञ्जयते ध्रुवम् ॥ २२ ॥
शूद्रं तु मोचयेद्राजा शरणार्थिनमागतम् ।
प्राप्नोतीह कुले जन्म सद्द्रव्ये राजपूजिते ॥ २३ ॥

अर्थ–इसी प्रकार यदि क्षत्रिय इस भूमि पर वैश्य की सहायता करे तो वह सब अवस्थाओं में अपनी प्रजाओं को प्रसन्न कर सकता है, और यदि राजा शरणमें आये हुए शूद्र को भी आपत्ति से छुड़ादे तो वह इस संसार में धनपूर्ण तथा राजा से सत्कार किये हुए कुल में जन्म पाता है ॥

एवं मां भगवान् व्यासः पुरा पौरवनन्दन ।
प्रोवाचासुकरप्रज्ञस्तस्मादेवं चिकीर्षितम् ॥ २४ ॥

अर्थ–हे पुरुवंशियों को आनन्द देने वाले पुत्र ! महाबुद्धिमान् भगवान् व्यास ने इस प्रकार मुझे पहले उपदेश किया था, इसलिये मैंने ऐसा करने का संकल्प किया है ॥

इति षट्त्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

युधिष्ठिर उवाच

उपपन्नमिदं मातस्त्वया यद् बुद्धिपूर्वकम् ।
आर्त्तस्य ब्राह्मणस्यैतदनुक्रोशादिदं कृतम् ॥ १ ॥
ध्रुवमेष्यति भीमोऽयं निहत्य पुरुषादकम् ।
सर्वथा ब्राह्मणस्यार्थे तदनुक्रोशवत्यसि ॥ २ ॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोले कि हे माता ! तुमने जो सोच समझकर दयाभाव से इस दुःखी ब्राह्मणके लिये किया है सो ठीक है, यह भीमसेन उस मनुष्यभक्षक राक्षस को मारकर अवश्य ही लौट आयेगा, सो तुमने इस ब्राह्मण के ऊपर सर्वथा ही कृपा की है ॥

यथा त्विदं न विन्देयुर्नरा नगरवासिनः ।
तथायं ब्राह्मणो वाच्यः परिग्राह्यश्च यत्नतः ॥ ३ ॥

अर्थ–परन्तु जिसप्रकार नगरवासी इस समाचार को न जानने पावें ऐसा इस ब्राह्मण को समझाकर यत्नपूर्वक इस पर अनुग्रह करें॥

वैशम्पायन उवाच

ततो रात्र्यां व्यतीतायामन्नमादाय पाण्डवः ।
भीमसेनो ययौ तत्र यत्रासौ पुरुषादकः ॥ ४ ॥
आसाद्य तु वनं तस्य रक्षसः पाण्डवो बली ।
आजुहाव ततो नाम्ना तदन्नमुपपादयन् ॥ ५ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन ! तब रात बीत जाने पर पाण्डुपुत्र भीमसेन अन्न लेकर वहां गया जहां वह मनुष्य-भक्षक राक्षस था, बलवान् पाण्डव ने उस राक्षस के वन में पहुंचकर उसको उसके नाम से पुकारा और उस अन्न को वहां रखदिया ॥

ततः स राक्षसः क्रुद्धो भीमस्य वचनात्तदा ।
आजगाम सुसंक्रुद्धो यत्र भीमो व्यवस्थितः ॥६॥
भुञ्जानमन्नं तं दृष्ट्वा भीमसेनं स राक्षसः ।
निवृत्य नयने क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ ७ ॥

अर्थ–तब भीमसेन के वचन से क्रोध में भरा हुआ वह राक्षस वहां आया जहां क्रोधयुक्त भीमसेन बैठा हुआ था, वह राक्षस भीमसेन को अन्न खाता हुआ देख क्रोधसे आंखें फाड़कर बोला कि:–

कोऽयमन्नमिदं भुङ्क्ते मदर्थमुपकल्पितम् ।
पश्यतो मम दुर्बुद्धिर्यियासुर्यमसादनम् ॥ ८ ॥

भीमसेनस्ततः श्रुत्वा प्रहसन्निव भारत ।
राक्षसं तमनादृत्य भुङ्क्त एव पराङ्मुखः ॥ ९ ॥

अर्थ–यह कौन दुर्बुद्धि है जो मेरे देखते २ मेरे निमित्त आये हुए अन्न को खाकर मृत्युलोक में जाना चाहता है. हे भरतवंशी राजन् ! भीमसेन मुसकराता हुआ उसकी बात सुनकर भी उस राक्षस का आदर न करके मुख फेरकर खाता ही रहा ॥

एवं स भैरवं कृत्वा समुद्यम्य करावुभौ ।
अभ्यद्रवद् भीमसेनं जिघांसुः पुरुषादकः ॥ १० ॥
तथापि परिभूयैनं प्रेक्षमाणो वृकोदरः ।
राक्षसं भुङ्क्त एवान्नं पाण्डवः परवीरहा ॥ ११ ॥

अर्थ–वह मनुष्यभक्षक राक्षस मारने की इच्छा से भयंकर कोलाहल करता हुआ दोनों हाथ उठाकर भीमसेन की ओर दौड़ा परन्तु वीर शत्रुओं का नाशक पाण्डव भीमसेन राक्षस की ओर देखता हुआ भी उसका तिरस्कार करके अन्न खाता ही रहा ॥

अमर्षेण तु संपूर्णः कुन्तीपुत्रं वृकोदरम् ।
जघान पृष्ठे पाणिभ्यामुभाभ्यां पृष्ठतः स्थितः ॥१२॥
तथा बलवताभीमः पाणिभ्यां भृशमाहतः ।
नैवावलोकयामास राक्षसं भुंक्त एव सः ॥१३॥

अर्थ–तब क्रोध में भरे हुए राक्षस ने पीछे की ओर खड़े रहकर कुन्तीपुत्र भीमसेन की पीठ पर दोनों हाथ पटक कर मारे, ऐसे बलवान् राक्षस के हाथों की बार २ चोट लगने पर भी भीमसेन उसकी ओर न देखकर उस अन्न को खाता ही रहा ॥

ततः स भूयः संक्रुद्धो वृक्षमादाय राक्षसः ।
ताडयिष्यंस्तदा भीमं पुनरभ्यद्रवद्बली ॥ १४ ॥
ततो भीमः शनैर्भुक्त्वा तदन्नं पुरुषर्षभः ।
वार्युपस्पृश्य संहृष्टस्तस्थौ युधि महाबलः ॥ १५ ॥

अर्थ—इस पर वह बलवान् राक्षस फिर क्रोध में भरा हुआ भीमसेन को मारने के लिये वृक्ष उठाकर उसकी ओर दौड़ा तब महाबली भीमसेन धीरे २ उस अन्न को खाकर जल से आचमन करके प्रसन्न होकर युद्ध के लिये खड़ा होगया ॥

ततः स पुनरुद्यम्य वृक्षान् बहुविधान् बली ।
प्राहिणोद्भीमसेनाय तस्मै भीमश्च पाण्डवः ॥१६॥
तद्वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम् ।
घोररूपं महाराज नरराक्षसराजयोः ॥ १७ ॥

अर्थ—तब उस बलवान् राक्षस ने अनेक वृक्ष उठा २ कर भीमसेन पर फेंके तथा इधर पाण्डुपुत्र भीमसेन ने भी उस पर फेंके, हे महाराज ! राजा भीमसेन तथा राक्षसराज "बक" का वह घोर वृक्षयुद्ध हुआ जो वृक्षों का नाश करने वाला था ॥

नाम विश्राव्य तु बकः समभिद्रुत्य पाण्डवम् ।
भुजाभ्यां परिजग्राह भीमसेनं महाबलम् ॥१८॥
भीमसेनोऽपि तद्रक्षः परिरभ्य महाभुजः ।
विस्फुरन्तं महाबाहुं विचकर्ष बलाद्बली ॥१९॥

अर्थ—तदनन्तर वह "बक" राक्षस अपना नाम सुनाकर पाण्डुपुत्र भीमसेन की ओर दौड़ा और उसने महाबली भीमसेन को दोनों

भुजाओं के बीच लेकर पकड़लिया, बड़ी भुजाओं वाले बलवान् भीमसेन ने भी उस फड़कते हुए महाबाहु राक्षस को बलपूर्वक आलिङ्गन करके भुजाओं में दबा लिया ॥

स कृष्यमाणो भीमेन कर्षमाणश्च पाण्डवम् ।
समयुज्यत तीव्रेण क्रमेण पुरुषादकः ॥२०॥
तयोर्वेगेन महता पृथिवी समकम्पत ।
पादपांश्च महाकायांश्चूर्णयामासतुस्तदा ॥२१॥

अर्थ—वह मनुष्यभक्षक राक्षस कभी भीमसेन से खेंचा जाता और कभी भीमसेन को अपनी ओर खेंच लेता था, इस प्रकार उसने तीव्र चाल धारण की, उन दोनों के बड़े वेग से वहां की पृथ्वी कांपने लगी और उन्होंने बड़े२ वृक्षों को चूर२ कर डाला॥

हीयमानं तु तद्रक्षः समीक्ष्य पुरुषादकम् ।
निक्षिपष्य भूमौ जानुभ्यां समाजघ्ने वृकोदरः ॥२२॥
ततोऽस्य जानुना पृष्ठमवपीड्य बलादिव ।
बाहुना परिजग्राह दक्षिणेन शिरोधराम् ॥२३॥

अर्थ—भीमसेन ने जब देखा कि वह मनुष्याहारी राक्षस हारने लगा तब उसको पृथ्वी पर दबाकर दोनों गोड़ों से आघात किया तथा बलपूर्वक एक गोड़े से उसकी पीठ दबाकर दहनी भुजा से उसकी गर्दन पकड़ली, और :—

सव्येन च कटीदेशे गृह्य वाससि पाण्डवः ।
तद्रक्षो द्विगुणं चक्रे रुवन्तं भैरवं रवम् ॥२४॥

ततोऽस्य रुधिरं वक्त्रात्प्रादुरासीद्दिशाम्पते ।
भज्यमानस्य भीमेन तस्य घोरस्य रक्षसः ॥२५॥

अर्थ—बायें हाथ से उस चिल्लाते हुए राक्षस को वस्त्र समेत कटि स्थान से पकड़कर उसके शरीर को दुहरा करदिया, हे राजन् ! तब भीमसेन के हाथ से भग्न हुए २ उस भयानक राक्षस के मुख से रुधिर बहने लगा ॥

इति सप्तत्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ अष्टत्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततः स भग्नपार्श्वाङ्गो नदित्वा भैरवं रवम् ।
शैलराजप्रतीकाशो गतासुरभवद् बकः ॥१॥
तेन शब्देन वित्रस्तो जनस्तस्याथ रक्षसः ।
निष्पपात गृहाद्राजन् सहैव परिचारिभिः ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तब वह पर्वत के समान महाकाय "बक" राक्षस पसलियें और अङ्गों के टूट जाने से भयानक शब्द करके प्राणहीन होगया, हे राजन् ! तब उस महान् कोलाहल से डरे हुए उस राक्षस के बन्धु लोग भी अपने सेवकों समेत घर से भागने लगे ॥

तान् भीतान् विगतज्ञानान् भीमः प्रहरतांवरः ।
सान्त्वयामास बलवान् समये च न्यवेशयत् ॥३॥

न हिंस्या मानुषा भूयो युष्माभिरिति कर्हिचित् ।
हिंसतां हि बधः शीघ्रमेवमेव भवेदिति ॥४॥

अर्थ–तत्पश्चात् पराक्रमी भीमसेन ने उनको डरे हुए तथा बेसुध हुए २ देखकर धैर्य दिया और उनसे यह नियम करालिया कि अब तुम्हें फिर कभी मनुष्यों को नहीं मारना होगा, यदि मारोगे तो शीघ्र इसी प्रकार तुम्हारा भी बध कियाजायगा ॥

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा तानि रक्षांसि भारत ।
एवमस्त्विति तं प्राहुर्जगृहुः समयं च तम् ॥५॥
ततः प्रभृति रक्षांसि तत्र सौम्यानि भारत ।
नगरे प्रत्यदृश्यन्त नरैर्नगरवासिभिः ॥६॥

अर्थ–हे भरतवंशी राजन् ! भीमसेन की उक्त बात सुनकर उन राक्षसों ने कहा कि ऐसा ही होगा, तभी से उन्होंने उस नियम को भी स्वीकार करलिया, और तब से उस नगर के वासियों ने उन राक्षसों को सभ्यतापूर्ण अपने नगर में देखा ॥

ततो भीमस्तमादाय गतासुं पुरुषादकम् ।
द्वारदेशे विनिक्षिप्य जगामानुपलक्षितः ॥ ७ ॥
ततः स भीमस्तं हत्वा गत्वा ब्राह्मणवेश्म तत् ।
आचचक्षे यथावृत्तं राज्ञः सर्वमशेषतः ॥ ८ ॥

अर्थ–तब भीमसेन उस मरे हुए मनुष्याहारी राक्षस को उठा नगर के द्वार पर फेंककर गुप्तरूप से चला गया, उस राक्षस को मारने के पश्चात् भीमसेन ने उस ब्राह्मण के घर पहुंचकर जो २

वृत्तान्त उस नगर के राजा राक्षस के साथ हुआ था सब पूर्णतया कह सुनाया ॥

ततो नरा विनिष्क्रान्ता नगरात् कल्यमेव तु ।
ददृशुर्निहतं भूमौ राक्षसं रुधिरोक्षितम् ।
एकचक्रां ततो गत्वा प्रवृत्तिं प्रददुः पुरे ॥ ९ ॥

अर्थ—इसके पश्चात् प्रातःकाल होते ही ज्योंही मनुष्य नगर के बाहर जाने को निकले त्योंही उन्होंने रुधिर से सने हुए मृतक राक्षस को भूमी पर पड़ा हुआ देखा, तब उन्होंने "एकचक्रा" नगरी में जाकर यह सब समाचार फैला दिया ॥

ततः सहस्रशो राजन्नरा नगरवासिनः ।
तत्राजग्मुर्बकं द्रष्टुं सस्त्रीवृद्धकुमारकाः ॥ १० ॥
ततः प्रगणयामासुः कस्य वारोऽद्य भोजने ।
ज्ञात्वा चागम्य तं विप्रं पप्रच्छुः सर्व एव ते ॥११॥

अर्थ—हे राजन् ! तब नगर के रहने वाले सहस्रों पुरुष स्त्रियां और बालक उस "बक" राक्षस को देखने के लिये वहां आगये, तदनन्तर उन सब ने गिन्ती की कि आज राक्षस को भोजन खिलाने की किसकी बारी है, पश्चात् उस ब्राह्मण की बारी जानकर उसके समीप आकर सब पूछने लगे ॥

एवं पृष्टः स बहुशो रक्षमाणश्च पाण्डवान् ।
उवाच नागरान् सर्वानिदं विप्रर्षभस्तदा ॥ १२ ॥
आज्ञापितं मामशने रुदन्तं सह बन्धुभिः ।
ददर्श ब्राह्मणः कश्चिन्मन्त्रसिद्धो महामनाः ॥१३॥

अर्थ—इस प्रकार बहुतवार पूछने पर वह श्रेष्ठ ब्राह्मण पाण्डवों की रक्षा करता हुआ उन सब नगरवासियों से इस प्रकार बोला कि राक्षस को भोजन खिलाने की जब मुझे आज्ञा मिली तो एक मन्त्रसिद्ध महातेजस्वी ब्राह्मण ने मुझे अपने बन्धुओं समेत रोते देखा॥

परिपृच्छ्य स मां पूर्वं परिक्लेशपुरस्य च ।
अब्रवीद् ब्राह्मणश्रेष्ठो विश्वास्य प्रहसन्निव ॥१४॥
प्रापयिष्याम्यहं तस्मा अन्नमेतद् दुरात्मने ।
मन्निमित्तं भयं चापि न कार्यमिति चाब्रवीत् ॥१५॥

अर्थ—उस श्रेष्ठ ब्राह्मण ने पहले मुझसे मेरा और इस नगर का कष्ट पूछा और तब उसने मुझे धैर्य देकर मुसकराते हुए कहा कि उस दुष्ट राक्षस के पास मैं उसका अन्न पहुंचादूंगा, और मेरे लिये तुम्हें कुछ भय नहीं करना चाहिये ॥

स तदन्नमुपादाय गतो बकवनं प्रति ।
तेन नूनं भवेदेतत् कर्म लोकहितं कृतम् ॥१६॥
ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे क्षत्रियाश्च सुविस्मिताः ।
वैश्याः शूद्राश्च मुदिताश्चक्रुर्ब्रह्ममहं तदा ॥१७॥

अर्थ—वह ब्राह्मण अन्न लेकर "बक" राक्षस के वन की ओर गया था, सो उसीने यह लोकहितकारी काम किया होगा, तब अचम्भित हुए २ उन सब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों ने आनन्दित होकर उस ब्राह्मण का सत्कार किया ॥

ततो जानपदाः सर्वे आजग्मुर्नगरं प्रति ।
तदद्भुततमं दृष्ट्वा पार्थास्तत्रैव चावसन् ॥१८॥

अर्थ—इसके पश्चात् वह सब लोग नगर में लौट आये और पाण्डव लोग इस आश्चर्ययुक्त घटना को देखते हुए वहीं पर रहे ॥

इति अष्टत्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

जनमेजय उवाच

ते तथा पुरुषव्याघ्रा निहत्य बकराक्षसम् ।
अत ऊर्ध्वं ततो ब्रह्मन् किमकुर्वत पाण्डवाः ॥१॥

अर्थ—जनमेजय बोले कि हे ब्रह्मन् ! उन सिंहपुरुष पाण्डवों ने इस प्रकार "बक" राक्षस को मारने के पश्चात् क्या २ किया ? ॥

वैशम्पायन उवाच

तथैव न्यवसन् राजन् निहत्य बकराक्षसम् ।
अधीयाना परंब्रह्म ब्राह्मणस्य निवेशने ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! वह लोग "बक" राक्षस को मारने के पश्चात् भी इसी प्रकार वेदपाठ करते हुए उस ब्राह्मण के घर निवास करते रहे ॥

ततः कतिपयाहस्य ब्राह्मणः शंसितव्रतः ।
प्रतिश्रयार्थी तद्वेश्म ब्राह्मणस्याजगाम ह ॥३॥
स सम्यक् पूजयित्वा तं विप्रं विप्रर्षभस्तदा ।
ददौ प्रतिश्रयं तस्मै सदा सर्वातिथिव्रतः ॥४॥

अर्थ—तदनन्तर कुछ दिनों पश्चात् एक प्रशंसनीय व्रतधारी ब्राह्मण उस ब्राह्मण के घर रहने के लिये आया, तब संपूर्ण अतिथियों के भक्त उस श्रेष्ठ द्विज ने उक्त अतिथि ब्राह्मण का भलीभांति सत्कार करके उसको अपने घर में आश्रय दिया ॥

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सहकुन्त्या नरर्षभाः ।
उपासांचक्रिरे विप्रं कथयन्तं कथाः शुभाः ॥५॥
कथयामास देशांश्च तीर्थानि सरितस्तथा ।
राज्ञश्च विविधाश्चर्यान् देशांश्चैव पुराणि च ॥६॥

अर्थ—तब वह उत्तम पुरुष पाण्डव कुन्ती समेत उस उत्तमोत्तम कथायें कहने वाले ब्राह्मण के समीप बैठ गये, उसब्राह्मण ने विविध देशों, तीर्थों, नदियों, राजाओं, भांति २ के आश्चर्ययुक्त स्थानों और नगरों का वर्णन किया ॥

स तत्राकथयद्विप्रः कथान्ते जनमेजय ।
पञ्चालेष्वद्भुताकारं याज्ञसेन्याः स्वयंवरम् ॥७॥

अर्थ—हे जनमेजय ! उस ब्राह्मण ने कथा के अन्त में पाञ्चाल देश के राजा यज्ञसेनकी पुत्री द्रौपदी के भावी आश्चर्यमयस्वयंवर का भी वर्णन किया ॥

ततस्ते नरशार्दूला भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः ।
प्रययुर्द्रौपदीं द्रष्टुं तं च देशं महोत्सवम् ॥ ८ ॥
ते प्रयाता नरव्याघ्राः सहमात्रा परन्तपाः ।
ब्राह्मणान् ददृशुर्मार्गे गच्छतः सङ्गतान्बहून् ॥ ९ ॥

अर्थ—तदनन्तर वह पांचो भाई पाण्डव द्रौपदी तथा उस महान् आनन्दपूर्ण देश को देखने के लिये चले, माता समेत जाते हुए उन शत्रुसंतापकारी पाण्डवों ने मार्ग में इकट्ठे जाते हुए बहुत से ब्राह्मणों को देखा।

त ऊचुर्ब्राह्मणा राजन् पाण्डवान् ब्रह्मचारिणः ।
क्व भवन्तो गमिष्यन्ति कुतो वाऽभ्यागता इह॥१०॥

अर्थ—हे राजन् ! उन ब्राह्मणों ने ब्रह्मचारियों का वेश धारण किये हुए पाण्डवों से पूछा कि आप लोग कहां जायंगे और कहां से आये हैं ? ॥

युधिष्ठिर उवाच

आगतानेकचक्रायाः सोदर्यानेकचारिणः ।
भवन्तो वै विजानन्तु सहमात्रा द्विजर्षभाः ॥ ११ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले कि हे द्विजश्रेष्ठो ! हम लोग एक साथ विचरने वाले माता समेत सब भाई "एकचक्रा" नगरी से आये हैं, ऐसा आप लोग जानें ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

गच्छताद्यैव पाञ्चालान् द्रुपदस्य निवेशने ।
स्वयंवरो महांस्तत्र भविता सुमहाधनः ॥ १२ ॥
एकसार्थप्रयाताः स्म वयं तत्रैव गामिनः ।
तत्र ह्यद्भुतसंकाशो भविता सुमहोत्सवः ॥ १३ ॥

अर्थ—वह ब्राह्मण बोले कि तुम लोग आज ही पाञ्चालदेश में राजा द्रुपद के घर चलो, क्योंकि वहां भारी धनपूर्ण एक स्वयंवर

होगा, हम लोग भी इकट्ठे होकर वहीं जारहे हैं, वहां परम आश्चर्य्य-युक्त महान् उत्सव होने वाला है ॥

यज्ञसेनस्य दुहिता द्रुपदस्य महात्मनः ।
दर्शनीयानवद्याङ्गी सुकुमारी मनस्विनी ॥१४॥
यज्ञसेनस्य च सुतां स्वयंवरकृतक्षणाम् ।
गच्छामो वै वयं द्रष्टुं तं च दिव्यं महोत्सवम् ॥१५॥

अर्थ—यज्ञसेन जिसको महात्मा द्रुपद भी कहते हैं उस राजा की पुत्री दर्शनीय, निर्दोष अङ्गों वाली, कोमल शरीर वाली तथा विदुषी है, उस यज्ञसेन की पुत्री के लिये यह स्वयंवर उत्सव किया गया है सो हम लोग उस कन्या तथा उस अद्भुत उत्सव को देखने के लिये जारहे हैं ॥

राजानो राजपुत्राश्च यज्वानो भूरिदक्षिणाः ।
स्वाध्यायवन्तः शुचयो महात्मानो यतव्रताः ॥१६॥
तरुणा दर्शनीयाश्च नानादेशसमागताः ।
महारथाः कृतास्त्राश्च समुपैष्यन्ति भूमिपाः ॥१७॥

अर्थ—वहां पर यज्ञ करने वाले तथा बड़ी २ दक्षिणायें देने वाले, स्वाध्यायशील, सदाचारी व्रतधारी, युवा और सुन्दर रूप वाले, बड़े २ योद्धा तथा अस्त्रविद्या के ज्ञाता महात्मा राजा लोग और राजकुमार भिन्न २ देशों से आयेंगे, और:—

नटा वैतालिकास्तत्र नर्त्तकाः सूतमागधाः ।
नियोधकाश्च देशेभ्यः समेष्यन्ति महाबलाः ॥१८॥

एवं कौतूहलं कृत्वा दृष्ट्वा च प्रतिगृह्य च ।
सहास्माभिर्महात्मानः पुनः प्रतिनिवर्त्स्यथ ॥१९॥

अर्थ—वहां पर नट, स्तुतिपाठक, नृत्य करने वाले, सूत, मागध तथा महाबली योद्धा लोग भी देश देशान्तरों से आयेंगे, हे महात्माओ ! इस प्रकार वहां मनोरञ्जक उत्सव देखकर और भिक्षा ग्रहण करके तुम लोग हमारे ही साथ लौट आना ॥

दर्शनीयांश्च वः सर्वान् देवरूपानवस्थितान् ।
समीक्ष्य कृष्णा वरयेत्सङ्गत्यैकतमं वरम् ॥२०॥
अयं भ्राता तव श्रीमान् दर्शनीयो महाभुजः ।
नियुज्यमानो विजयेत् संगत्या द्रविणं बहु ॥२१॥

अर्थ—कदाचित् दैवयोग से तुम सबको दिव्यरूप तथा दर्शनीय देखकर तुम में से किसी एक को द्रौपदी वर लेवे, यह तुम्हारा भाई "अर्जुन" शोभायुक्त, दर्शनीय तथा बड़ी भुजाओं वाला है, यदि दैवयोग से इसके साथ संयोग होजाय तो यह बहुत धन को विजय करेगा ॥

युधिष्ठिर उवाच

परमं भो गमिष्यामो द्रष्टुं चैव महोत्सवम् ।
भवद्भिः सहिताः सर्वे कन्यायास्तं स्वयंवरम् ॥२२॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले कि हे ब्राह्मणो ! हम लोग आप लोगों के साथ उस परम महोत्सव तथा उस कन्या के स्वयंवर को देखने के लिये अवश्य चलेंगे ॥

इति एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ताः प्रयातास्ते पाण्डवा जनमेजय ।
राज्ञा दक्षिणपाञ्चालान्द्रुपदेनाभिरक्षितान् ॥१॥
ततस्तेषु महात्मानं शुद्धात्मानमकल्मषम् ।
ददृशुः पाण्डवा वीरा मुनिं द्वैपायनं तदा ॥ २ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! वह पाण्डव ऐसा कहकर दक्षिणी पाञ्चालदेश में गये जहां राजा द्रुपद राज्य करता था, वहां पर उन वीर पाण्डवों ने निष्पाप महात्मा व्यास मुनि के दर्शन किये ॥

तस्मै यथावत् सत्कारं कृत्वा तेन च सत्कृताः ।
कथान्ते चाभ्यनुज्ञाताः प्रययुर्द्रुपदक्षयम् ॥३॥
पश्यन्तो रमणीयानि वनानि च सरांसि च ।
तत्र तत्र वसन्तश्च शनैर्जग्मुर्महारथाः ॥४॥

अर्थ–उन लोगों ने वहां व्यासजी का सत्कार किया और उन्होंने व्यासजी से सत्कार पाया, पश्चात् कथा के समाप्त होने पर वह व्यासजी से आज्ञा लेकर राजाद्रुपद के घर की ओर चलदिये, वह महायोद्धा रमणीय वन तथा तालाब देखते और जहां तहां ठहरते हुए धीरे २ चले ॥

स्वाध्यायवन्तः शुचयो मधुराः प्रियवादिनः ।

आनुपूर्व्येण संप्राप्ताः पञ्चालान्पाण्डुनन्दनाः ॥५॥
ते तु दृष्ट्वा पुरं तच्च स्कन्धावारं च पाण्डवाः ।
कुम्भकारस्य शालायां निवासं चक्रिरे तदा ॥६॥

अर्थ–वह स्वाध्यायशील, सदाचारी, सुन्दर तथा मधुरभाषी पाण्डव यथाक्रम पाञ्चाल देश में प्रविष्ट हुए और उन्होंने उस नगर तथा स्कन्धावार=सैनिकस्थान को देखने के पश्चात् किसी कुम्हार के घर डेरा किया ॥

तत्र भैक्ष्यं समाजह्रुर्ब्राह्मणीं वृत्तिमाश्रिताः ।
तान् सम्प्राप्तांस्तथा वीरान् जज्ञिरे न नराः क्वचित् ॥७॥
यज्ञसेनस्य कामस्तु पाण्डवाय किरीटिने ।
कृष्णां दद्यामिति सदा नचैतद् विवृणोति सः ॥८॥

अर्थ–वहां वह लोग ब्राह्मणों के समान भिक्षावृत्ति धारण किये हुए निर्वाह करते रहे और वहां किसी ने भी उन वीरों को आया हुआ नहीं जाना, यज्ञसेन की सदा यह इच्छा रहती थी कि मैं अपनी पुत्री कृष्णा=द्रौपदी का विवाह पाण्डुपुत्र अर्जुन के साथ करूं परन्तु वह इस बात को प्रकाशित नहीं करता था ॥

सोऽन्वेषमाणः कौन्तेयं पाञ्चाल्यो जनमेजय ।
दृढं धनुरनानम्यं कारयामास भारत ॥९॥
यंत्रं वैहायसं चापि कारयामास कृत्रिमम् ।
तेन यन्त्रेण समितं राजा लक्ष्यं चकार सः ॥१०॥

अर्थ–हे भरतवंशी राजा जनमेजय ! उस पांचाल देश के राजा

द्रुपद ने कुन्तीपुत्र अर्जुन को ढूड़ने के लिये एक महा कठोर धनुष बनवाया जो किसीसे झुक नहीं सकता था तथा उसने एक आकाशीययंत्र भी बनवाया और उस यन्त्र के साथ जुड़ा हुआ एक लक्ष्य=निशाना नियत करके :—

द्रुपद उवाच

इदं सज्यं धनुः कृत्वा सज्जैरेभिश्च सायकैः ।
अतीत्य लक्ष्यं यो वेद्धा स लब्धा मत्सुतामिति ॥११॥

अर्थ–द्रुपद ने यह प्रतिज्ञा की कि जो पुरुष इस धनुष को चढ़ा के इन्हीं बाणों को उसमें लगाकर इस लक्ष्य को बींधेगा वही मेरी पुत्री को वरेगा ॥

वैशम्पायन उवाच

इति स द्रुपदो राजा स्वयंवरमघोषयत् ।
तच्छ्रुत्वा पार्थिवाः सर्वे समीयुस्तत्र भारत ॥ १२ ॥
ऋषयश्च महात्मानः स्वयंवरदिदृक्षवः ।
दुर्योधनपुरोगाश्च सकर्णाः कुरवो नृप ॥ १३ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे भारतीय राजन् ! इस प्रकार राजा द्रुपद ने स्वयंवर की सब स्थानों में घोषणा करदी अर्थात् ढिंढोरा फिरवा दिया, यह सुनकर वहां पर सब राजा आये, हे राजन् ! वहां पर महात्मा ऋषिलोग तथा कर्ण को साथ लिये हुए दुर्योधनादिक कुरुवंशी लोग भी स्वयंवर देखने के लिये आपहुंचे ॥

ततोऽर्चिता राजगणा द्रुपदेन महात्मना ।
उपोपविष्टाः मञ्चेषु द्रष्टुकामाः स्वयंवरम् ॥ १४ ॥

प्रागुत्तरेण नगराद् भूमिभागे समे शुभे ।
समाजवाटः शुशुभे भवनैः सर्वतो वृतः ॥ १५ ॥

अर्थ–तदनन्तर वह राजाओं के समुदाय महात्मा द्रुपद राजा से सत्कृत हुए स्वयंवर देखने के लिये मंचों पर पास २ बैठ गये, नगर की पूर्वोत्तर दिशा में पृथिवी के सुन्दर समभाग पर उस राजसमाज के लिये एक अतिरमणीय बाग़ में सब ओर राजभवन बने हुए थे ॥

प्राकारपरिखोपेतो द्वारतोरणमण्डितः ।
वितानेन विचित्रेण सर्वतः समलङ्कृतः ॥ १६ ॥
तूर्यौघशतसङ्कीर्णः परार्ध्यागुरुधूपितः ।
चन्दनोदकसिक्तश्च माल्यदामोपशोभितः ॥ १७ ॥

अर्थ–उस बाग़ के चारो ओर कोट तथा खाई और उसका द्वार तोरण तथा बन्दनवारों से सजाया हुआ था, वह बाग़ विचित्र प्रकार के तम्बू और शामियानों से सब ओर शोभायमान था, वहां सैकड़ों बाजे बज रहे थे तथा उत्तम अगर की धूप से महक रहा था, उसमें चन्दन के जल से छिड़काव होता और फूलों की मालाओं से सुशोभित था ॥

कैलासशिखरप्रख्यैर्नभस्तलविलेखिभिः ।
सर्वतः संवृतः शुभ्रैः प्रासादैः सुकृतोच्छ्रयैः ॥ १८ ॥
सुवर्णजालसंवीतैर्मणिकुट्टिमभूषितैः ।
सुखारोहणसोपानैर्महासनपरिच्छदैः ॥ १९ ॥

अग्राम्यसमवच्छन्नैरगुरूत्तमवासितैः ।
हंसांशुवर्णैर्बहुभिरायोजनसुगन्धिभिः ॥ २० ॥
असंबाधशतद्वारैः शयनासनशोभितैः ।
बहुधातुपिनद्धाङ्गैर्हिमवच्छिखरैरिव ॥ २१ ॥

अर्थ—वह सभास्थान सब ओर पुण्यराशियों के समान बड़े२ ऊंचे श्वेत महलों से सुशोभित था जो कैलाश पर्वत के शिखर समान आकाश मण्डल से बातें करते थे,वह महल सोने के झरोखों से युक्त, मणियों से गच कीहुई भूमि वाले, सुखपूर्वक चढ़ने योग्य सीढ़ियों वाले तथा बड़े २ आसन और सामान से भरपूर थे, नागरिक लोगों से बसे हुए उत्तम अगर की धूप से सुगन्धित तथा सूर्य की किरणों के समान रंग वाले, चार कोस तक सुगन्धि पहुंचाने वाले अनेक महलों से वह सभामण्डप शोभायमान था, जिनमें सैकड़ों विशाल द्वार थे, वह भवन शय्याओं और आसनों=फ़रशों से सुशोभित हुए २ मानो नाना प्रकार की धातुओं से संयुक्त हिमालय की चोटियें थीं ॥

तत्र नानाप्रकारेषु विमानेषु स्वलंकृताः ।
स्पर्द्धमानास्तदान्योन्यं निषेदुःसर्वपार्थिवाः ॥२२॥
तत्रोपविष्टान् ददृशुर्महासत्त्वपराक्रमान् ।
राजसिंहान्महाभागान् कृष्णागुरुविभूषितान् ॥२३॥

अर्थ—वह भवन जो नाना प्रकार के विमानों=सात२ सहनों वाले थे उनमें अलंकृत हुए सब राजा लोग एक दूसरे से बढ़ चढ़कर बैठ गये, वहां बैठे हुए बड़े २ बलशाली, पराक्रमी तथा

महाभाग्यवान् राजा लोग अनेक प्रकार की सुगन्धों से भूषित हुए सिंह समान दिखाई देते थे ॥

मञ्चेषु च परार्द्धेषु पौरजानपदा जनाः ।
कृष्णादर्शनसिद्धयर्थं सर्वतः समुपाविशन् ॥२४॥
ब्राह्मणैस्ते च सहिताः पाण्डवाः समुपाविशन् ।
ऋद्धिं पञ्चालराजस्य पश्यन्तस्तामनुत्तमाम् ॥२५॥

अर्थ—पुर और प्रान्त के रहने वाले लोग भी उत्तम मंचों पर द्रौपदी को देखने के लिये सब ओर बैठ गये, वह पाण्डव लोग भी उन ब्राह्मणों समेत पाञ्चाल देश के राजा की अनुपम समृद्धि देखते हुए वहां बैठ गये ॥

वर्त्तमाने समाजे तु रमणीयेऽह्निषोडशे ।
आप्लुतांगी सुवसना सर्वाभरणभूषिता ॥ २६ ॥
मालां च समुपादाय कांचनीं समलङ्कृताम् ।
अवतीर्णा ततो रङ्गं द्रौपदी भरतर्षभ ॥ २७ ॥

अर्थ—हे भरतवंश में श्रेष्ठ राजन् ! जब सोलहवें दिन रमणीय जनसमाज वर्त्तमान हुआ तो द्रौपदी स्नान करके सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो सोने की शोभायमान माला लिये हुए रङ्गशाला में आई ॥

पुरोहितः सोमकानां मन्त्रविद् ब्राह्मण शुचिः ।
परिस्तीर्य जुहावाग्निमाज्येन विधिवत्तदा ॥ २८॥
संतर्पयित्वा ज्वलनं ब्राह्मणान् स्वस्तिवाच्य च ।
वारयामास सर्वाणि वादित्राणि समन्ततः ॥२९॥

अर्थ—तब सोमक=सोमयाग करने वाले वेदज्ञ तथा सदाचारी द्विज पुरोहितों ने कुशों से परिस्तरण करके विधिपूर्वक घृत से अग्नि में हवन किया, हवन के पश्चात् ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराकर सब ओर से सब बाजों का बजना रोक दिया ॥

निःशब्दे तु कृते तास्मिन् धृष्टद्युम्नो विशाम्पते ।
कृष्णामादाय विधिवन्मेघदुन्दुभि निःस्वनः ॥३०॥
रङ्गमध्ये गतस्तत्र मेघगम्भीरया गिरा ।
वाक्यमुच्चैर्जगादेदं श्लक्ष्णमर्थवदुत्तमम् ॥३१॥

अर्थ—हे राजन् ! जब शब्द का होना रुक गया तब धृष्टद्युम्न विधिपूर्वक अपनी बहिन द्रौपदी को साथ लेकर बादल तथा नगारों के समान गर्जता हुआ रङ्गभवन के बीच में गया और वहां मेघ के समान गम्भीर ऊंचे स्वर से प्रयोजन सहित यह उत्तम मधुर वचन बोला कि :—

इदं धनुर्लक्ष्यमिमे च बाणाः शृण्वन्तु मे भूपतयः समेताः।
छिद्रेण यन्त्रस्य समर्पयध्वं शरैः शितैर्व्योमचरैर्दशार्द्धैः।३२।
एतन्महत्कर्म करोति यो वै कुलेन रूपेण बलेन युक्तः ।
तस्याद्यभार्याभगिनीममेयंकृष्णाभवित्रीनमृषाब्रवीमि।३३

अर्थ—हे सब राजा लोगो ! सुनो यह धनुष है, यह लक्ष्य है और यह बाण हैं, आप लोग इस यन्त्र के छिद्र में से आकाश में चलने वाले तेज़ पांच बाणों द्वारा इस लक्ष्य को बींधें,जो उत्तम-कुल, रूप और बलसम्पन्न पुरुष इस महान् कार्य को करेगा

उसी की आज यह मेरी बहिन कृष्णा=द्रौपदी भार्या होगी, यह मैं सत्य कहता हूं ॥

तानेवमुक्त्वा द्रुपदस्य पुत्रः पश्चादिदं ता
भगिनीमुवाच । नाम्ना च गोत्रेण च कर्मणा
च संकीर्त्तयन् भूमिपतीन् समेतान् ॥३४॥

अर्थ—द्रुपद का पुत्र धृष्टद्युम्न उन राजाओं से इस प्रकार कहकर पश्चात् अपनी बहिन को सब राजाओं के नाम, कुल और कर्म इस प्रकार बताने लगा कि :—

इति चत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकचत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

दुर्योधनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुष्प्रधर्षणः ।
विविंशतिर्विकर्णश्च सहो दुःशासनस्तथा ॥१॥
युयुत्सुर्वायुवेगश्च भीमवेगरवस्तथा ।
उग्रायुधो बलाकी च कनकायुर्विरोचनः ॥२॥
कुण्डकश्चित्रसेनश्च सुवर्चाः कनकध्वजः ।
नन्दको बाहुशाली च तुहुण्डो विकटस्तथा ॥ ३ ॥
एते चान्ये च बहवो धार्त्तराष्ट्रा महाबलाः ।
कर्णेन सहिता वीरास्त्वदर्थं समुपागताः ॥ ४ ॥

अर्थ—हे द्रौपदि ! दुर्योधन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुष्प्रधर्षण, विविंशति, विकर्ण, सह, दुःशासन, वायु के समान वेग और भयानक शब्द करने वाला युयुत्सु, उग्रायुध, बलाकी, कनकायु, विरोचन, कुण्डक, चित्रसेन, सुवर्चा, कनकध्वज, बाहुशाली नन्दक, तुहुण्ड और विकट, यह महाबली धृतराष्ट्र के वीर पुत्र तथा अन्य बहुत से राजा "कर्ण" सहित यहां तेरे लिये आये हैं॥

शकुनिः सौबलश्चैव वृषकोथ बृहद्बलः ।
एते गान्धारराजस्य सुताः सर्वे समागताः ॥ ५ ॥
अश्वत्थामा च भोजश्च सर्वशस्त्रभृतांवरौ ।
समवेतौ महात्मानौ त्वदर्थे समलंकृतौ ॥६॥

अर्थ—सुबल के पुत्र शकुनि, बृषक और बृहद्बल, यह सब गान्धार नरेश के पुत्र भी आये हैं, सब शस्त्रधारियों में उत्तम अलंकृत हुए महात्मा अश्वत्थामा और भोज भी तेरे लिये आये हैं ॥

बृहन्तो मणिमांश्चैव दण्डधारश्च पार्थिवः ।
सहदेवजयत्सेनौ मेघसन्धिश्च पार्थिवः ।
विराटः सह पुत्राभ्यां शङ्खेनैवोत्तरेण च ॥७॥

अर्थ—बृहन्त, मणिमान, राजा दण्डधार, सहदेव, जयत्सेन, राजा मेघसन्धि और "शङ्ख" तथा "उत्तर" नामक दोनो पुत्रों समेत राजा विराट भी यहां आये हैं ॥

वार्द्धक्षेमिः सुशर्मा च सोमविन्दुश्च पार्थिवः ।
सुकेतुः सह पुत्रेण सुनाम्ना च सुवर्चसा ॥ ८ ॥
सुचित्रः सुकुमारश्च वृकः सत्यधृतिस्तथा ।

सूर्यध्वजो रोचमानो नीलश्चित्रायुधस्तथा ॥ ९॥

अर्थ—वार्द्धक्षेमि का पुत्र सुशर्मा, राजा सोमविन्दु "सुनाम" तथा "सुवर्चा" नामक दोनो पुत्रों समेत सुकेतु, सुचित्र, सुकुमार, वृक, सत्यधृति, सूर्यध्वज, रोचमान, नील और चित्रायुध, यह सब राजा भी तेरे अर्थ यहां आये हुए हैं ॥

अंशुमांश्चेकितानश्च श्रेणिमांश्च महाबलः ।
समुद्रसेनपुत्रश्च चन्द्रसेनः प्रतापवान् ॥१०॥
जलसन्धः पितापुत्रौ विदण्डो दण्ड एव च ।
पौण्ड्रको वासुदेवश्च भगदत्तश्च वीर्यवान् ॥११॥

अर्थ—अंशुमान्, चेकितान, महाबली श्रेणिमान्, समुद्रसेन का प्रतापी पुत्र चन्द्रसेन, जलसन्ध, दण्ड तथा विदण्ड यह दोनों पिता पुत्र, पौण्ड्रक, वासुदेव, पराक्रमी भगदत्त, यह सब राजालोग भी तेरे लिये यहां आये हैं ॥

कलिङ्गस्ताम्रलिप्तश्च पत्तनाधिपतिस्तथा ।
मद्रराजस्तथा शल्यः सहपुत्रो महारथः ॥१२॥
रुक्माङ्गदेन वीरेण तथा रुक्मरथेन च ।
कौरव्यः सोमदत्तश्च पुत्राश्चास्य महारथाः ॥१३॥

अर्थ—कलिङ्ग, ताम्रलिप्त तथा पत्तन का राजा, पुत्र सहित मद्रदेश का राजा महायोद्धा शल्य, रुक्माङ्गद तथा रुक्मरथ नामक वीरों के सहित कुरुवंशी सोमदत्त और इसके महावीर पुत्र भी यहां आये हैं ॥

समवेतास्त्रयः शूराः भूरिर्भूरिश्रवाः शलः ।
सुदक्षिणश्च काम्बोजो दृढ़धन्वा च पौरवः ॥१४॥
बृहद्बलः सुषेणश्च शिविरौशीनरस्तथा ।
पटच्चरनिहन्ता च कारूषाधिपतिस्तथा ॥१५॥

अर्थ—भूरि, भूरिश्रवा और शल यह एकत्रित हुए तीनों वीर तथा काम्बोजदेश का राजा सुदक्षिण, पुरुवंशी दृढ़धन्वा, बृहद्बल, सुषेण, शिवि, औशीनर तथा चोरों का नाशक कारूष देश का राजा भी आया हुआ है ॥

संकर्षणो वासुदेवो रौक्मिणेयश्च वीर्यवान् ।
शाम्बश्च चारुदेष्णश्च प्राद्युम्निः सगदस्तथा ॥१६॥
अक्रूरः सात्यकिश्चैव उद्धवश्च महामतिः ।
कृतवर्मा च हार्दिक्यः पृथुर्विपृथुरेव च ॥१७॥

अर्थ—बलभद्र, कृष्ण, पराक्रमी, रुक्मिणीपुत्र, शाम्ब, चारुदेष्ण, प्रद्युम्न का पुत्र सगद अक्रूर, सात्यकि, महाबुद्धिमान उद्धव, हार्दिकि का पुत्र कृतवर्मा, पृथु और विपृथु, यह राजा लोग भी आये हुए हैं ॥

विदूरथश्च कङ्कश्च शंकुश्च सगवेषणः ।
आशावहोऽनिरुद्धश्च समीकः सारिमेजयः ॥१८॥
वीरो वातपतिश्चैव झिल्ली पिण्डारकस्तथा ।
उशीनरश्च विक्रान्तो वृष्णयस्ते प्रकीर्त्तिताः ॥१९॥

अर्थ—विदूरथ, कंक, शंकु, गवेषण, आशावह, अनिरुद्ध,

समीक, सारिमेजय, वीर वातपति, झिल्ली, पिण्डारक और पराक्रमी उशीनर, यह सब तेरे सामने वृष्णिवंश वाले बताये गये हैं ॥

भगीरथो वृहत्क्षत्रः सैन्धवश्च जयद्रथः ।
वृहद्रथो वाह्लिकश्च श्रुतायुश्च महारथः ॥२०॥
उलूकः कैतवा राजा चित्राङ्गदशुभाङ्गदौ ।
वत्सराजश्च मतिमान् कोशलाधिपतिस्तथा ॥२१॥

अर्थ—भगीरथ, वृहत्क्षत्र, सैन्धव, जयद्रथ, बृहद्रथ, वाह्लिक, महावीर श्रुतायु, उलूक, राजा कैतव, चित्राङ्गद, शुभाङ्गद, बुद्धिमान् वत्सराज तथा कोशल=अवध का राजा भी आया है ॥

शिशुपालश्च विक्रान्तो जरासन्धस्तथैव च ।
एते चान्ये च बहवो नानाजनपदेश्वराः ॥२२॥
त्वदर्थमागता भद्रे क्षत्रियाः प्रथिता भुवि ।
एते भेत्स्यन्ति विक्रान्तास्त्वदर्थे लक्ष्यमुत्तमम् ।
विध्येत य इदं लक्ष्यं वरयेथाः शुभेऽद्य तम् ॥२३॥

अर्थ—हे भद्रे कृष्णा ! पराक्रमी शिशुपाल तथा जरासन्ध और इनके अतिरिक्त अन्य बहुत से पृथ्वी में विख्यात भिन्न २ देशों के स्वामी क्षत्रिय राजा तेरे लिये यहां आये हैं, हे कल्याणी बाहिन ! यह पराक्रमी राजा आज इस उत्तम लक्ष्य को तेरे वरने के लिये बींधने का यत्न करेंगे, सो जो पुरुष इस लक्ष्य को बींधेगा उसी का तैने वरण करना ॥

इति एकचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ द्विचत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

तेऽलङ्कृताः कुण्डलिनो युवानः परस्परं-
स्पर्धमाना नरेन्द्राः। अस्त्रं बलं चात्मनि-
मन्यमानाः सर्वे समुत्पेतुरुदायुधास्ते ॥ १ ॥
रूपेण वीर्येण कुलेन चैव शीलेन वित्तेन-
च यौवनेन। समिद्धदर्पा मदवेगभिन्ना-
मत्ता यथा हैमवता गजेन्द्राः ॥ २ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! वह कुण्डल पहने हुए वस्त्राभूषणों से अलंकृत तरुण राजा लोग एक दूसरे से ईर्षा करते तथा अपने २ शस्त्रों और बल को बढ़ा चढ़ा समझते हुए सब शस्त्र उठाकर तैय्यार होगये, वह लोग अपने रूप, पराक्रम, कुल, सदाचार, धन और युवावस्था के अभिमान तथा अपने मद के वेग में भरे हुए मानो हिमालय पहाड़ के मतवाले हाथियों के समान थे॥

परस्परं स्पर्धया प्रेक्षमाणाः संकल्पजेनाभि-
परिप्लुतांगाः। कृष्णा ममैवेत्यभिभाषमाणा
नृपासनेभ्यः सहसोदतिष्ठन् ॥ ३ ॥
कन्दर्पवाणाभिनिपीडितांगाः कृष्णागतैस्ते
हृदयैर्नरेन्द्राः। रंगावतीर्णा द्रुपदात्मजार्थं
द्वेषं प्रचक्रुः सुहृदोऽपि तत्र ॥ ४ ॥

अर्थ—यह सब वीर्यसम्पन्न राजा एक दूसरे को ईर्षा से देखते तथा यह कहते हुए कि कृष्णा=द्रौपदी मेरी है, मेरी है, अपने २ आसन से उठकर एकाएक खड़े होगये. कामदेव के बाणोंसे सताये हुए अङ्गों वाले राजा लोग द्रुपद की पुत्री के लिये रङ्गभूमि में आये हुए अपने २ हृदय कृष्णा की ओर चले जाने के कारण आपस में मित्र होने पर भी द्वेष करने लगे ॥

हलायुधस्तत्र जनार्दनश्च वृष्ण्यन्धकाश्चैव
यथाप्रधानम् । प्रेक्षां स्म चक्रुर्यदुपुंगवास्ते
स्थिताश्च कृष्णस्य मते महान्तः ॥ ५ ॥

अर्थ—वहां पर बलराम, कृष्ण और अन्य वृष्णि तथा अंधक वंश के यदुवंशी बड़े २ वीर कृष्ण के मत में स्थित क्रमपूर्वक बैठे हुए उत्सव देख रहे थे ॥

दृष्ट्वा तु तान्मत्तगजेन्द्ररूपान् पञ्चाभि पद्मा-
निव वारणेन्द्रान् । भस्मावृतांगानिव हव्य-
वाहान् कृष्णः प्रदध्यौ यदुवीरमुख्यः ॥ ६ ॥

अर्थ—यदुकुल के मुख्यवीर कृष्ण ने उन पांचो पाण्डवों को मतवाले हाथियों जैसे रूप वाले, पांच कमलों के समान सुन्दर तथा पांच अग्नियों के समान राख से ढके हुए अङ्गों वाले छिपे हुए तेजस्वी देखकर ध्यान से पहचान लिया ॥

शशंस रामाय युधिष्ठिरं स भीमं मजिष्णुं
यमौ च वीरौ । शनैः शनैस्तान् प्रसमीक्ष्य
रामो जनार्दन प्रीतमना ददर्श ॥ ७ ॥

अर्थ–कृष्ण ने बलराम को बताया कि यह युधिष्ठिर हैं, यह भीम है, यह अर्जुन है और यह दोनों जोड़ले भाई वीर नकुल, सहदेव हैं, कृष्ण से प्रसन्न किये हुए बलराम ने भी धीरे २ उनको देखकर पहचान लिया ॥

अन्ये तु वीरा नृपपुत्रपौत्राः कृष्णागतैर्नेत्र-
मनः स्वभावैः । व्यायच्छमाना ददृशुर्न
तान् वै सन्दष्टदन्तच्छदताम्रनेत्राः ॥ ८ ॥
तथैव पार्थाः पृथुबाहवस्ते वीरौ यमौ चैव
महानुभावौ । तां द्रौपदीं प्रेक्ष्य तदा स्म
सर्वे कन्दर्पबाणाभिहता बभूवुः ॥ ९ ॥

अर्थ–परंतु जो अन्य राजा तथा उनके वीर पुत्र पौत्रादि थे उनके नेत्र, मन और स्वभाव द्रौपदी में लगे हुए होने के कारण क्रोध में दांतों से होंठ पीसते तथा लाल आंखे किये हुए थे इस कारण उन्होंने पाण्डवों को नहीं देखा, इसी प्रकार कुन्ती के तीनों महाबाहु पुत्र और जोड़ले भाई महाप्रभावशाली वीर नकुल, सहदेव भी द्रौपदी को देखकर सब ही कामदेव के बाणों से पीड़ित होगये ॥

महास्वनैर्दुन्दुभिनादितैश्चबभूवतत्संकुल-
मन्तरिक्षम् । विमानसंबाधमभूत्समन्तात्
सवेणुवीणापणवानुनादम् ॥ १० ॥

अर्थ–उस समय आकाश बड़े २ बाजों तथा नगारे आदि के शब्दों से परिपूर्ण, सब ओर विमानों से भरपूर तथा बांसरी, वीणा और ढोल आदि के शब्दों से गुंजायमान था ॥

ततस्तु ते राजगणाः क्रमेण कृष्णानिमित्तं
कृतविक्रमाश्च । सकर्णदुर्योधनशाल्वशल्य
द्रौणायनिक्राथसुनीथ वक्राः ॥ ११ ॥
कलिंगवंगाधिपपाण्ड्यपौण्ड्राविदेहराजो
यवनाधिपश्च । अन्ये च नानानृपपुत्र-
पौत्राःराष्ट्राधिपः पंकजपत्रनेत्राः ॥१२॥
किरीटहारांगदचक्रवालैर्विभूषितांगाः
पृथुवाहवस्ते । अनुक्रमं विक्रमसत्त्व-
युक्ताः बलेन वीर्येण च नर्दमानाः ॥१३॥
तत्कार्मुकं संहननोपपन्नं सज्यं न शेकुर्म-
नसापि कर्तुम् । ते विक्रमन्तः स्फुरता दृढेन
विक्षिप्यमाना धनुषा नरेन्द्राः ॥१४॥

अर्थ—तब वह राजा लोगों के समुदाय जिनमें कर्ण, दुर्योधन, शाल्व, शल्य, द्रोणाचार्य्य का पुत्र क्राथ, सुनीथ, वक्र, कलिङ्ग देश का राजा, वंग देश का राजा, पाड्य देश और पुण्ड्रदेश के राजा, मिथिला का राजा, यवनराज तथा अन्य बहुत से भिन्न २ राजाओं के पुत्र पौत्र द्रौपदी को वरने के लिये पराक्रम दिखलाने वाले थे तथा जो अनेक देशों के स्वामी कमलपत्र जैसे नेत्रों वाले, मुकट, हार, अङ्गद, चक्रवाल इन आभूषणों से भूषित अङ्गों वाले, महाबाहु, एक दूसरे से बढ़ चढ़कर पराक्रम तथा उत्साह सम्पन्न थे. उनमें से बहुत से राजा अपने बल तथा पराक्रम से गर्जते हुए एक २ धनुष के उठाने का यत्न करने लगे, परन्तु उस महाकठोर

धनुष की फड़क न सहारसके और फिर मलिन चित्त हुए उन राजाओं ने धनुष चढ़ाने का पुनः मन में संकल्प भी न किया ॥

विचेष्टमाना धरणीतलस्था यथाबलं शैक्ष्य
गुणक्रमाश्च । गतौजसः स्रस्तकिरीटहारा
विनिश्वसन्तः शमयां बभूवुः ॥१५॥
हाहाकृतं तद् धनुषा दृढेनविस्रस्तहारांग-
दचक्रवालम् । कृष्णानिमित्तं विनिवृत्त
कामं राज्ञां तदा मण्डलमार्त्तमासीत् ॥१६॥

अर्थ–उन पृथ्वी पर खड़े हुए राजाओं ने अपने बल, शि. ा तथा गुण के क्रम से वहुत यत्न किये परन्तु अन्त में उत्साहीन होगये और उनके मुकुट तथा हार आदि गिर पड़े तब वह लोग वेग से सांस लेते हुए शान्तिपूर्वक बैठगये, उस कठोर धनुषकी फड़क से राजाओं के हार, अङ्गद, चक्रवाल आदि आभूषण गिरने के कारण द्रौपदी के निराश होजाने से हाहाकार होने लगा और उस समय राजमण्डल बड़ा दुःखित होगया ॥

सर्वान्नृपांस्तान् प्रसमीक्ष्य कर्णो धनुर्धराणां
प्रवरो जगाम । उद्धृत्य तूर्णं धनुरुद्यतं तत्
सज्यं चकाराशु युयोज बाणान् ॥ १७ ॥
दृष्ट्वा सूतं मेनिरे पाण्डुपुत्रा भित्त्वा नीतं
लक्ष्यवरं धरायाम् । दृष्ट्वा तु तं द्रौपदी वाक्य-
मुच्चैर्जगाद नाहं वरयामि सूतम् ॥ १८ ॥

अर्थ–तब धनुर्धारियों में श्रेष्ठ कर्ण उन सब राजाओं को उत्साह-हीन देखकर धनुष के समीप गया और शीघ्रता से उस धनुष को उठा तुरन्त ही उसमें चिल्ला चढ़ाकर बाण लगा दिये, जब उसने उस उत्तम लक्ष्य को बींधकर पृथ्वी पर गिराया तो पाण्डवों ने उसको सूतपुत्र=कर्ण समझ लिया, परन्तु द्रौपदी ने उसको देखते ही ऊंचे स्वर से कहा कि मैं सूत को नहीं वरुंगी ॥

एवं तेषु निवृत्तेषु क्षत्रियेषु समन्ततः ।
चेदीनामधिपो वीरो बलवानन्तकोपमः ॥१९॥
दमघोषसुतो धीरः शिशुपालो महामतिः ।
धनुरादायमानस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ॥२०॥

अर्थ–इस प्रकार चारो ओर से उन राजाओं के निवृत्त हो जाने पर चंदेरी का राजा महाबुद्धिमान, बलवान, धीरवीर और मृत्यु के समान भयानक दमघोष का पुत्र शिशुपाल धनुष उठाने लगा परन्तु वह घुटनों के बल पृथ्वी पर गिरपड़ा ॥

ततो राजा महावीर्यो जरासन्धो महाबलः ।
धनुषोऽभ्यासमागत्य तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥२१॥
धनुषा पीड्यमानस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ।
तत उत्थाय राजा स स्वराष्ट्राण्यभिजग्मिवान् ॥२२॥

अर्थ–तब महापराक्रमी राजा जरासन्ध धनुष के समीप पहुंच पर्वत के समान स्थिर हुआ खड़ा रहा, परन्तु जब धनुष के उठाने का यत्न करने लगा तो धनुष के आघात से यह भी घुटनों के बल पृथ्वी पर गिरपड़ा, पश्चात यह राजा उठकर अपने देश को चलागया ॥

ततः शल्यो महावीर्यो मद्रराजो महाबलः ।
तदप्यारोप्यमानस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ॥ २३ ॥
तस्मिंस्तु संभ्रान्तजने समाजे निक्षिप्तवादेषु-
जनाधिपेषु । कुन्तीसुतो जिष्णुरियेष कर्तुं-
सज्यं धनुस्तत्सशरं प्रवीरः ॥ २४ ॥

अर्थ—तदनन्तर मद्र=मद्रास देश का महापराक्रमी तथा महाबली राजा शल्य भी धनुष को चढ़ाने का यत्न करने लगा, परन्तु घुटनों के बल भूमि पर गिर पड़ा, उस समय जब कि राजसमाज के सब लोग भ्रान्ति में पड़ गये और राजाओं ने बोलना त्याग मौन धारण करली तब कुन्ती के पुत्र महावीर अर्जुन ने संकल्प किया कि मैं धनुष का चिल्ला चढ़ाऊं और उसमें बाण लगाकर यथोचित कार्य करूं ॥

इति द्विचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

यदा निवृत्ता राजानो धनुषः सज्यकर्मणः ।
अथोदतिष्ठद्विप्राणां मध्याज्जिष्णुरुदारधीः ॥ १ ॥
उदक्रोशन् विप्रमुख्या विधुन्वन्तोऽजिनानि च ।
दृष्ट्वा संप्रस्थितं पार्थमिन्द्रकेतुसमप्रभम् ॥ २ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! जब राजा लोग धनुष चढ़ानेरूप कार्य्य से हटकर बैठ गये तब उदारबुद्धि अर्जुन ब्राह्मणों के बीच में से उठ खड़ा हुआ, इन्द्रध्वज के समान शोभायमान अर्जुन को धनुष की ओर जाता देखकर बड़े २ ब्राह्मण अपने मृगचर्मों को हिलाते हुए कोलाहल करने लगे ॥

केचिदासन् विमनसः केचिदासन्मुदान्विताः ।
आहुः परस्परं केचिन्निपुणा बुद्धिजीविनः ॥ ३ ॥

अर्थ–उनमें कुछ ब्राह्मण तो उदास होगये, कुछ आनन्दित हुए और कितने ही अपनी बुद्धि के प्रभाव से जीवन धारण करने वाले चतुर ब्राह्मण आपस में इस प्रकार बातें करने लगे कि :–

यत् कर्णशल्यप्रमुखैः क्षत्रियैर्लोकविश्रुतैः ।
नानतं बलवद्भिर्हि धनुर्वेदपरायणैः ॥ ४ ॥
तत् कथं त्वकृतास्त्रेण प्राणतो दुर्बलीयसा ।
वटुमात्रेण शक्यं हि सज्यं कर्तुं धनुर्द्विजाः ॥ ५ ॥

अर्थ–जिस धनुष को शस्त्रविद्या में निपुण तथा बलवान् कर्ण, शल्य आदि लोकविख्यात राजा नहीं चढ़ासके वह धनुष बल में हीन तथा अस्त्रविद्या के न जानने वाले इस ब्राह्मण से कैसे चढ़ाया जासकता है ॥

अवहास्या भविष्यन्ति ब्राह्मणाः सर्वराजसु ।
कर्मण्यस्मिन्नसंसिद्धे चापलादपरीक्षिते ॥ ६ ॥
यद्येष दर्पाद्धर्षाद्वाप्यथ ब्राह्मणचापलात् ।
प्रस्थितो धनुरायन्तुं वार्यतां साधु मागमत् ॥ ७ ॥

अर्थ—चपलता के कारण इस अपरीक्षित कार्य में सिद्धि न होने से हम सब ब्राह्मणों की राजसमुदाय में बड़ी हंसी होगी, सो यदि यह ब्राह्मण घमंड, हर्ष वा अपने ब्राह्मणपन की चञ्चलता से धनुष चढ़ाने चला हो तो इसे हटादो, वहां तक न जावे तो वहुत अच्छा है, क्योंकि :—

नावहास्या भविष्यामो नच लाघवमास्थिताः ।
नच विद्विष्टतां लोके गमिष्यामो महीक्षिताम् ॥८॥

अर्थ—इसमें हम लोगों की हंसी न होगी, न हम लोग चंचलता का काम करते हैं और नाही राजा लोग हमसे द्वेष करेंगे ॥

केचिदाहुर्युवा श्रीमान् नागराजकरोपमः ।
पीनस्कन्धोरुबाहुश्च धैर्येण हिमवानिव ॥९॥
सिंहखेलगतिः श्रीमान्मत्तनागेन्द्रविक्रमः ।
संभाव्यमस्मिन् कर्मेदमुत्साहाच्चानुमीयते ॥१०॥

अर्थ—कितने ही ब्राह्मण बोले कि यह पुरुष युवा, शोभा-वान्, हाथी की सूंड के समान लंबी भुजाओं वाला, मोटे कंधों वाला, धीरज में हिमालय के समान दृढ़, सिंह की भांति मतवाली चाल वाला और मतवाले हाथी के समान पराक्रमी होने से संभव है कि यह इस काम को करदेवे, जैसाकि इसके उत्साह से अनु-मान किया जाता है ॥

एवं तेषां विलपतां विप्राणां विविधा गिरः ।
अर्जुनो धनुषोऽभ्यासे तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥११॥

अर्थ—वह ब्राह्मण इस प्रकार नाना भांति की बातें चीत

कर रहे थे कि अर्जुन धनुष के पास गया और वहां पर्वत के समान स्थिर होकर खड़ा होगया ॥

यत् पार्थिवै रुक्मसुनीथवक्रैराधेय दुर्योधन
शल्य शाल्वैः। तदा धनुर्वेदपरैर्नृसिंहैः कृतं
न सज्यं महतोऽपि यत्नात् ॥ १२ ॥
सज्यं च चक्रे निमिषान्तरेण शरांश्च जग्राह-
दशार्द्धसंख्याम्। विव्याध लक्ष्यं निपपाततच्च-
छिद्रेण भूमौ सहसातिविद्धम् ॥ १३ ॥

अर्थ—जो धनुष उस समय अस्त्रविद्या में चतुर सिंह के समान रुक्म, सुनीथ, वक्र, कर्ण, दुर्योधन, शल्य तथा शाल्व आदि राजाओं से भारी यत्न करने पर भी नहीं चढ़ाया गया था उस धनुष को अर्जुन ने एक निमेष=पलभर में चढ़ा दिया और उसमें पांच बाण लगाकर छिद्र द्वारा तत्काल लक्ष्य को वींध दिया जिससे वह भूमी पर आगिरा ॥

विलक्षितास्ततश्चक्रुर्हाहाकारांश्च सर्वशः।
शताङ्गानि च तूर्याणि वादकाः समवादयन्।
सूतमागधसंघाश्चाप्यस्तुवंस्तत्र सुस्वराः ॥१४॥

अर्थ—तब सब राजा लोग लज्जित हुए २ सब ओर से हाहाकार करने लगे, इधर बाजा बजाने वाले सैकड़ों प्रकार के बाजे बजाने लगे और सूत,मागध आदि स्तुति करने वाले लोगों के समुदाय मधुर स्वर से स्तुति करने लगे ॥

तं दृष्ट्वा द्रुपदः प्रीतो बभूव रिपुसूदनः।

सह सैन्यश्च पार्थस्य साहाय्यार्थमियेष सः ॥१५॥
तस्मिंस्तु शब्दे महति प्रवृद्धे युधिष्ठिरो धर्म-
भृतां वरिष्ठः । आवासमेवोपजगाम शीघ्रं-
सार्द्धं यमाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्याम् ॥ १६ ॥

अर्थ—तब उस अर्जुन को देखकर शत्रुनाशक द्रुपद प्रसन्न होगया और उसने अपनी सेना सहित अर्जुन का सहायक होने की इच्छा की, जब वहां पर बड़ा कोलाहल बढ़ने लगा तो धर्मात्माओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर जोड़ले भाई नकुल, सहदेव को साथ लेकर शीघ्र ही निवासस्थान को चले गये ॥

विद्धं तु लक्ष्यं प्रसमीक्ष्य कृष्णा पार्थं च
शक्रप्रतिमं निरीक्ष्य । आदाय शुक्लाम्बर-
माल्यदाम जगाम कुन्तीसुतमुत्स्मयन्ती ॥ १७ ॥
स ता मुपादाय विजित्य रङ्गे द्विजातिभिस्तैर-
भिपूज्यमानः । रङ्गान्निरक्रामदचिन्त्यकर्मा-
पत्न्या तया चाप्यनुगम्यमानः ॥ १८ ॥

अर्थ—तब द्रौपदी उस लक्ष्य को विंधा हुआ देखकर तथा इन्द्र के समान बलवान् कुन्ती के पुत्र की ओर अवलोकन करके श्वेत वस्त्र से ढकी हुई माला लिये हुए मुसकराती हुई अर्जुन के समीप चलीगई, तब अद्भुत कर्म करने वाला अर्जुन उसको रङ्ग-स्थल में जीतकर साथ लिये हुए ब्राह्मण लोगों से प्रशंसित होता हुआ पत्नी सहित रङ्गभवन से बाहर निकल आया ॥

इति त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

तस्मै दित्सति कन्यां तु ब्राह्मणाय तदा नृपे ।
कोप आसीन्महीपानामालोक्यान्योन्यमन्तिकात् ॥१॥
अस्मानयमतिक्रम्य तृणीकृत्य च सङ्गतान् ।
दातुमिच्छति विप्राय द्रौपदीं योषितां वराम् ॥२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन ! जब राजाओं ने देखा कि द्रुपदराजा अपनी कन्या ब्राह्मण को देना चाहता है तब वह एक दूसरे की ओर देखते हुए राजा द्रुपद पर क्रोध करने लगे कि यह राजा हम इकठ्ठे हुए २ इतने राजाओं का अतिक्रमणकर तिनके के समान समझता हुआ श्रेष्ठ स्त्री द्रौपदी को एक ब्राह्मण के लिये अर्पण करता है ॥

अवरोप्येह वृक्षं तु फलकाले निपात्यते ।
निहन्मैनं दुरात्मानं योऽयमस्मान्न मन्यते ॥३॥
न ह्यर्हत्येष संमानं नापि वृद्धक्रमं गुणैः ।
हन्मैनं सह पुत्रेण दुराचारं नृपद्विषम् ॥ ४ ॥

अर्थ–यहां वृक्ष लगाकर फल आने के समय उखाड़कर फैंका जारहा है, सो हम इस दुष्ट राजा को मार देंगे जो हम लोगों का निरादर करता है, यह राजा आदर के योग्य नहीं और नाही यह गुणों से वृद्ध होने योग्य है, इसलिये हम इस दुराचारी तथा राजाओं के शत्रु का पुत्र समेत वध करेंगे ॥

अयं हि सर्वानाहूय सत्कृत्य च नराधिपान् ।
गुणवद्भोजयित्वान्नं ततः पश्चान्न मन्यते ॥५॥
अस्मिन्राजसमवाये देवानामिव संनये ।
किमयं सदृशं कंचिन्नृपतिं नैव दृष्टवान् ॥६॥

अर्थ—यह राजा सब राजाओं को अपने घर बुला, सत्कार करके और उत्तमोत्तम भोजन खिलाकर पीछे सबका अपमान करता है. देवताओं के समूह समान इस राजसमाज मे क्या इसको कोई योग्य राजा ही नहीं दिखाई दिया ॥

अथवा यदि कन्येयं नच कश्चिद् बुभूषति ।
अग्नावेनां प्रतिक्षिप्य याम राष्ट्राणि पार्थिवाः ॥७॥
अवमानभयाच्चैव स्वधर्मस्य च रक्षणात् ।
स्वयंवराणामन्येषां माभूदेवंविधा गतिः ॥८॥

अर्थ—अथवा यह द्रौपदी कन्या ही रहेगी और इसका कोई योग्य पति होने की सम्भावना नहीं, तो इस कन्या को अग्नि में फेंककर हम सब राजा अपने २ राज्य को चलें, अपमान के भय से तथा अपने क्षत्रियधर्म की रक्षा करने के लिये हमें ऐसा करना चाहिये जिससे अन्य स्वयंवरों की ऐसी दशा न हो ॥

इत्युक्त्वा राजशार्दूला हृष्टाः परिघबाहवः ।
द्रुपदं तु जिघांसन्तः सायुधाः समुपाद्रवन् ॥९॥
तान् गृहीतशरावापान् क्रुद्धानापततो बहून् ।
द्रुपदो वीक्ष्य संत्रासाद्ब्राह्मणाञ्छरणं गतः ॥१०॥

अर्थ-इस प्रकार कहते हुए लोहदण्ड के समान भुजाओं वाले तथा सिंहसमान राजा लोग हर्ष में भरकर शस्त्र उठाये हुए द्रुपद को मारने की इच्छा से दौड़े, राजाद्रुपद उन बहुत से राजा लोगों को क्रोध में भरे हुए तथा धनुष उठाकर अपनी ओर आते हुए देखकर भयभीत हुआ ब्राह्मणों की शरण में गया ॥

वेगेनापततस्तांस्तु प्रभिन्नानिव वारणान् ।
पाण्डुपुत्रौ महेष्वासौ प्रतियातावरिन्दमौ ॥११॥

अर्थ-उन राजाओं को मतवाले हाथियों के समान वेग से आते हुए देखकर बाण चलाने में कुशल तथा शत्रुओं के दमन-कर्त्ता पाण्डु के दोनों पुत्र भीमसेन और अर्जुन उनके सामने गये ॥

ततः समुत्पेतुरुदायुधास्ते महीक्षितो बद्ध-
गोधांगुलित्राः । जिघांसमानाः कुरुराज
पुत्रावमर्षयन्तोऽर्जुनभीमसेनौ ॥ १२ ॥

अर्थ-तब वह राजा लोग शस्त्र उठाये तथा हाथों में गोह के दस्ताने पहने हुए कुरुदेश के राजपुत्रों अर्थात् भीमसेन और अर्जुन पर क्रोध किये हुए उनके मारने की इच्छा से इकट्ठे होकर दौड़े ॥

ततस्तु भीमोऽद्भुतभीमकर्मा महाबलो
वज्रसमानसारः। उत्पाट्य दोर्भ्यां द्रुममे-
कवीरो निष्पत्रयामास यथा गजेन्द्रः ॥१३॥

अर्थ-तब अद्भुत तथा दुष्करकर्म करने वाले, महाबली, बज्र के समान दृढ़ शरीर वाले अकेले वीर भीमसेन ने दोनों

बाहों से एक बड़ा वृक्ष हाथी के समान उखाड़ और उसे हिलाकर बिना पत्तों का करलिया ॥

तं वृक्षमादाय रिपुप्रमाथी दण्डीव दण्डं
पितृराज उग्रम्। तस्थौ समीपे पुरुषर्ष-
भस्य पार्थस्य पार्थः पृथुदीर्घ बाहुः ॥१४॥

अर्थ-तब मोटी तथा लंबी भुजाओं वाला, शत्रुओं का नाशक कुन्तीपुत्र भीमसेन उस वृक्ष को उठाकर अर्जुन के समीप इस प्रकार खड़ा होगया कि मानो दण्डदायक मृत्युदेव अपने उग्र दण्ड को लिये खड़ा है ॥

तत् प्रेक्ष्य कर्मातिमनुष्यबुद्धिर्जिष्णुः स
हि भ्रातुरचिन्त्यकर्मा। विसिस्मिये चापि
भयं विहाय तस्थौ धनुर्गृह्य महेन्द्रकर्मा ॥१५॥

अर्थ-मनुष्यों की बुद्धि से बढ़कर बुद्धि वाला, अद्भुत कर्म-कर्त्ता तथा इन्द्र के समान महान् बलवान् अर्जुन अपने भाई का ऐसा कार्य देखकर अचम्भित हुआ और निर्भय हो धनुष लेकर खड़ा होगया ॥

तत् प्रेक्ष्य कर्मातिमनुष्यबुद्धिर्जिष्णोः
सहभ्रातुरचिन्त्यकर्मा। दामोदरो भ्रातर-
मुग्रवीर्यं हलायुधं वाक्यमिदं बभाषे ॥१६॥

अर्थ-मनुष्यों में विचित्र बुद्धि तथा अचिन्तनीय कर्म करने वाले कृष्णजी अर्जुन तथा उसके भाई भीमसेन का उक्त कार्य्य देखकर अपने उग्र पराक्रमी भाई बलराम से बोले कि :-

य एष सिंहर्षभखेलगामी महद्धनुः कर्षति
तालमात्रम् । एषोऽर्जुनो नात्र विचार्य-
मस्ति यद्यस्ति सङ्कर्षणवासुदेवः ॥१७॥

अर्थ—हे बलभद्र! यह जो उत्तम सिंह की न्याईं मतवाली चाल वाला ताड़ के वृक्ष समान बड़े धनुष को खेंचे खड़ा है वह अर्जुन है, यदि मैं वसुदेव का पुत्र हूं तो मेरे इस वचन में तनिक भी संदेह मत करो, और :—

यस्त्वेष वृक्षं तरसावभज्य राज्ञां निकारे
सहसा प्रवृत्तः । वृकोदरान्नान्य इहैतदद्य
कर्तुं समर्थः समरे पृथिव्याम् ॥ १८ ॥

अर्थ—यह जो बलपूर्वक वृक्ष को उखाड़कर राजाओं का तिरस्कार करने के लिये एकाएक प्रवृत्त हुआ है यह भीमसेन है, क्योंकि इससे भिन्न अन्य कोई आजकल युद्ध में ऐसा कठिन काम करने के लिये पृथ्वी पर समर्थ नहीं है ॥

योऽसौ पुरस्तात् कमलायताक्षस्तनुर्महा-
सिंहगतिर्विनीतः । गौरः प्रलम्बोज्ज्वल-
चारुघोणो विनिःसृतः सोऽच्युत धर्मपुत्रः ।
मुक्ताहि तस्माज्जतुवेश्मदाहान्मया श्रुताः
पाण्डुसुताः पृथा च ॥ १९ ॥

अर्थ—और वह जो कमल के समान बड़े २ नेत्रों वाला, पतले शरीर वाला, बड़े सिंह की भांति चाल वाला, विनययुक्त, गौरवर्ण, लंबी उज्वल सुन्दर नासिका वाला पुरुष जो रंगभवन से प्रथम

ही निकलकर चलागया है वह अपने कर्तव्य से पतित न होने वाला धर्मात्मा युधिष्ठिर है, जैसाकि मैंने सुना है कि पाण्डुपुत्र तथा कुन्ती उस लाक्षागृह में जलने से बच गये वह सत्य है ॥

तमब्रवीन् निर्जलतोयदाभो हलायुधोऽ
नन्तरजं प्रतीतः। प्रीतोऽस्मि दृष्ट्वा हि
पितृस्वसारं पृथां विमुक्तां सह कौरवाग्र्यैः ॥२०॥

अर्थ—तब जलरहित बादल के समान श्वेतवर्ण वाले बलभद्र अपने छोटे भाई की बात पर विश्वास करके उससे बोले कि मैं अपनी बूआ कुन्ती तथा कुरुवंश के मुख्यपुत्र पांचो पाण्डवों को मृत्यु से छूटे हुए देखकर बड़ा आनन्दित हुआ हूं ॥

इति चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ पंचचत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

अजिनानि विधुन्वन्तः करकांश्च द्विजर्षभाः।
ऊचुस्ते भीर्न कर्तव्या वयं योत्स्यामहे परान् ॥१॥
तानेवं वदतो विप्रानर्जुनः प्रहसन्निव।
उवाच प्रेक्षका भूत्वा यूयं तिष्ठथ पार्श्वतः ॥ २ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! तब ब्राह्मण लोग अपने मृगचर्मों को फटकारते तथा कमण्डलुओं को हिलाते हुए बोले

कि हम शत्रुओं से युद्ध करेंगे तुम भय मत करो,इस प्रकार कहते हुए उन ब्राह्मणों से अर्जुन ने मुसकराते हुए कहा कि तुम लोग एक ओर खड़े रहकर तमाशा देखते रहो ॥

ततः कर्णमुखान् दृष्ट्वा क्षत्रियान् युद्धदुर्मदान् ।
सम्पेततुरभीतौ तौ गजौ प्रतिगजाविव ॥३॥
ऊचुश्च वाचः परुषास्ते राजानो युयुत्सवः ।
आहवे हि द्विजस्यापि वधो दृष्टो युयुत्सवः ॥४॥

अर्थ—तब वह दोनों भाई कर्ण आदि विकट युद्ध करने वाले क्षत्रियों को आते देख निर्भय होकर सामने दौड़े, जैसे हाथियों को देखकर हाथी दौड़ते हैं, युद्ध में तत्पर वह राजा लोग यह भी कहने लगे कि संग्राम में युद्ध करते हुए ब्राह्मण को वध करना भी देखा गया है ॥

ततः कर्णो महातेजा जिष्णुं प्रति ययौ रणे ।
युद्धार्थी वासिताहेतोर्गजः प्रतिगजं यथा ॥५॥
दुर्योधनादयः सर्वे ब्राह्मणैः सह सङ्गताः ।
मृदुपूर्वमयत्नेन प्रत्ययुध्यंस्तदाहवे ॥६॥

अर्थ—तब महातेजस्वी कर्ण युद्ध के लिये अर्जुन की ओर संग्राम स्थल में गया, जैसे मद की सुगन्ध से हाथी दूसरे हाथी की ओर जाता है, मद्र=मदरास देश का राजा बलवान् शल्य भीमसेन के सामने आया और दुर्योधन आदि सब अन्य ब्राह्मणों के साथ भिड़ गये, इस प्रकार वह विना यत्न के कोमलता पूर्वक रणभूमि में उन ब्राह्मणों के साथ युद्ध करने लगे ॥

ततोऽर्जुनः प्रत्यविध्यदापतन्तं शितैः शरैः ।
कर्णं वैकर्त्तनं श्रीमान् विकृष्य बलवद्धनुः ॥७॥
तेषां शराणां वेगेन शितानां तिग्मतेजसाम् ।
विमुह्यमानो राधेयो यत्नात्तमनुधावति ॥८॥

अर्थ–तब श्रीमान् अर्जुन ने बलपूर्वक अपना धनुष खेंचकर तेज़ बाणों द्वारा सन्मुख आते हुए विकर्तन पुत्र कर्ण को रोक दिया, उन तेज़ तथा कठोर प्रभाव वाले बाणों के वेग से बेसुध हुआ २ कर्ण बड़े यत्न से उसकी ओर दौड़ने लगा ॥

तावुभावप्यानिर्देश्यौ लाघवाज्जयतां वरौ ।
अयुध्येतां सुसंरब्धावन्योऽन्यविजिगीषिणौ ॥९॥
कृते प्रतिकृतं पश्य पश्य बाहुबलं च मे ।
इति शूरार्थवचनैरभाषेतां परस्परम् ॥१०॥

अर्थ–वह दोनों श्रेष्ठ विजयी निपुणता में अकथनीय, क्रोध में भरे हुए, एक दूसरे को विजय करने की इच्छा से युद्ध करने लगे वह दोनों वीरता के वचनों से आपस में एक दूसरे को कहते थे कि तुम अपने किये का बदला और मेरी भुजाओं का बल देखो ॥

ततोऽर्जुनस्य भुजायोर्वीर्यमप्रतिमं भुवि ।
ज्ञात्वा वैकर्त्तनः कर्णः संरब्धः समयोधयत् ॥११॥
अर्जुनेन प्रयुक्तांस्तान् बाणान् वेगवतस्तदा ।
प्रतिहत्य ननादोच्चैः सैन्यानि तदपूजयन् ॥१२॥

अर्थ—तब विकर्त्तन का पुत्र कर्ण अर्जुन की भुजाओं का संसार में अनुपम पराक्रम समझ सावधान होकर युद्ध करने लगा, कर्ण ने अर्जुन के फेंके हुए वेगवान् बाणों को रोककर उच्च स्वर से गर्जना की, तब कर्ण का सब सेनाओं ने सत्कार किया ॥

कर्ण उवाच

तुष्यामि ते विप्रमुख्यभुजवीर्यस्य संयुगे ।
अविषादस्य चैवास्य शस्त्रास्त्रविजयस्य च ॥१३॥
किं त्वं साक्षाद् धनुर्वेदो रामो वा विप्रसत्तम ।
अथ साक्षाद् हरिहयः साक्षाद्वा विष्णुरच्युतः ॥१४॥

अर्थ—कर्ण बोला कि हे श्रेष्ठ ब्राह्मण ! इस रणभूमी में तेरी भुजाओं के पराक्रम, तुझे विषाद रहित तथा तेरे शस्त्र-अस्त्रों के प्रयोग को देखकर मैं बड़ा प्रसन्न हुआ हूं, हे श्रेष्ठ विप्र ! क्या तुम साक्षात् धनुर्वेद की मूर्ति हो वा परशुराम हो अथवा साक्षाद् इन्द्र हो वा च्युत न होने वाले साक्षात् विष्णु हो ? ॥

आत्मप्रच्छादनार्थं वै बाहुवीर्यमुपाश्रितः ।
विप्ररूपं विधायेदं मन्ये मां प्रति युध्यसे ॥१५॥
न हि मामाहवे क्रुद्धमन्यः साक्षाच्छचीपतेः ।
पुमान् योधयितुं शक्तः पाण्डवाद्वा किरीटिनः ॥१६॥

अर्थ—हे ब्राह्मण ! मैं समझता हूं कि तुम उपरोक्त पुरुषों में से कोई एक हो और अपने छिपाने के लिये ब्राह्मण का वेश धारण कर रहे हो, क्योंकि जब मैं युद्ध में क्रोधयुक्त होजाता हूं तब साक्षात् इन्द्र तथा पाण्डुपुत्र अर्जुन के सिवाय कोई अन्य पुरुष मेरे साथ युद्ध नहीं करसक्ता ॥

तमेवं वादिनं तत्र फाल्गुनः प्रत्यभाषत ।
नास्मि कर्ण धनुर्वेदो नास्मिरामप्रतापवान् ।
ब्राह्मणोऽस्मि युधां श्रेष्ठः सर्वशस्त्रभृतांवरः ॥१७॥

अर्थ-इस प्रकार कहते हुए कर्ण से अर्जुन ने कहा कि हे कर्ण ! न मैं धनुर्वेद की मूर्त्ति हूं और नाही प्रतापी परशुराम हूं किन्तु मैं युद्ध करने वाले तथा शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ ब्राह्मण हूं ॥

ब्राह्मे पौरन्दरे चास्त्रे निष्ठितो गुरुशासनात् ।
स्थितोऽस्म्यद्य रणे जेतुं त्वा वै वीर स्थिरो भव॥१८॥

अर्थ-हे वीर ! मैं गुरु की शिक्षा से ब्रह्मसम्बन्धी तथा इन्द्र सम्बन्धी अस्त्रविद्या में परिपूर्ण आज तुझे युद्ध में जीतने के लिये खड़ा हूं तू तय्यार रह ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राधेयो युद्धात् कर्णोन्यवर्त्तत ।
ब्राह्मंस्तेजस्तदाजय्यं मन्यमानो महारथः ॥१९॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! अर्जुन के ऐसा कहने पर महावीर कर्ण ब्राह्मण के तेज को अजय समझ युद्ध से हटकर चल दिया ॥

अपरस्मिन्रणोद्देशे वीरौ शल्यवृकोदरौ ।
बलिनौ युद्धसम्पन्नौ विद्यया च बलेन च ॥२०॥
अन्योन्यमाह्वयन्तौ तु मत्ताविव महागजौ ।
मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव निघ्नन्तावितरेतरम् ॥२१॥

अर्थ-युद्ध के दूसरे स्थल में बलवान् तथा युद्ध में परिपूर्ण, शल्य और भीमसेन अपनी विद्या तथा बल द्वारा मल्ल युद्ध करते हुए वह मतवाले दो हाथियों के समान एक दूसरे को धकियाते हुए मुक्कों और घुटनों की चोटों से परस्पर प्रहार करने लगे ॥

प्रकर्षणाकर्षणयोरभ्याकर्षविकर्षणैः ।
आचकर्षतुरन्योऽन्यं मुष्टिभिश्चापि जघ्नतुः ॥२२॥
ततश्चटचटाशब्दः सुघोरो ह्यभवत्तयोः ।
पाषाणसम्पातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ।
मुहूर्त्तं तौ तदान्योन्यं समरे पर्यकर्षताम् ॥२३॥

अर्थ-वह दोनों प्रकर्षण=दूर फेंकते, आकर्षण=नीचे गिराते, अभ्याकर्षण=अपनी ओर खेंचते और विकर्षण=तिरछा फेंकते हुए एक दूसरे को धकियाते तथा मुक्के मारने लगे, उस समय उन दोनों का बड़ा भयानक पटापट शब्द होने लगा और वह एक दूसरे को पत्थर की चोटों के समान मुक्कों से पीटने लगे,इस प्रकार संग्रामभूमि में घड़ी भर वह दोनों एक दूसरे को खेंचते रहे ॥

ततो भीमः समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां शल्यमाहवे ।
अपातयत् कुरुश्रेष्ठो ब्राह्मणा जहसुस्तदा ॥२४॥
तत्राश्चर्यं भीमसेनश्चकार पुरुषर्षभः ।
यच्छल्यं पातितं भूमौ नावधीद्बलिनं बली ॥२५॥

अर्थ-इसके पश्चात् कुरुवंशियों में श्रेष्ठ भीमसेन ने युद्ध में शल्य को भुजाओं से ऊंचा उठाकर पृथ्वी पर पटक दिया और उस समय सब ब्राह्मण हंसने लगे, वहां महात्मा बलवान् भीमसेन

ने यह आश्चर्यजनक दृश्य दिखाया कि उस बलवान् शल्य को भूमी पर गिराकर भी वध नहीं किया ॥

पातिते भीमसेनेन शल्ये कर्णे च शङ्किते ।
शङ्किताः सर्वराजानः परिवव्रुर्वृकोदरम् ॥ २६ ॥
ऊचुश्च सहितास्तत्र साध्विमौ ब्राह्मणर्षभौ ।
विज्ञायेतां क्वजन्मानौ क्वनिवासौ तथैव च ॥२७॥

अर्थ—इस प्रकार भीमसेन द्वारा शल्य के गिरने तथा कर्ण के शंकित होकर लौट जाने पर वह सब राजा भयभीत हो और भीमसेन के चारो ओर खड़े होकर एक स्वर से बोले कि इन श्रेष्ठ ब्राह्मणों को धन्यवाद है, पर यह अवश्य जानना चाहिये कि इन दोनों का जन्म तथा निवास स्थान कहां है ॥

को हि राधासुतं कर्णं शक्तो योधयितुं रणे ।
अन्यत्र रामाद् द्रोणाद्वा पाण्डवाद्वा किरीटिनः ॥२८॥
कृष्णाद्वा देवकीपुत्रात् कृपाद्वापि शरद्वतः ।
को वा दुर्योधनं शक्तः प्रतियोधयितुं रणे ॥२९॥

अर्थ—परशुराम, द्रोणाचार्य तथा पाण्डुपुत्र अर्जुन के सिवाय अन्य कौन है जो राधापुत्र कर्ण के साथ युद्ध करसके तथा देवकीपुत्र कृष्ण, शरद्वत् के पुत्र कृपाचार्य से भिन्न अन्य कौन है जो दुर्योधन के साथ युद्ध करने में समर्थ हो ॥

तथैव मद्राधिपतिं शल्यं बलवतांवरम् ।
बलदेवादृते वीरात् पाण्डवाद्वा वृकोदरात् ॥३०॥

वीराद्दुर्योधनाद्वान्यः शक्तः पातयितुं रणे ।
क्रियतामवहारोऽस्माद्युद्धाद्ब्राह्मणसंवृतात् ॥३१॥

अर्थ—इसी प्रकार वीर बलभद्र वा पाण्डुपुत्र भीमसेन अथवा वीर दुर्योधन के सिवाय और कोई नहीं जो मद्रदेश के राजा बलवानों में श्रेष्ठ शल्य को युद्ध में गिरा सके, सो अब ब्राह्मणों के साथ युद्ध से निवृत्त होजाना चाहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

तत्कर्म भीमस्य समीक्ष्य कृष्णः कुन्ती सुतौ
तौ परिशंकमानः । निवारयामास महीपतींस्तान्धर्मेण लब्धेत्यनुनीय सर्वान् ॥ ३२ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! भीमसेन का वह अद्भुत पराक्रम देखकर उन दोनों को कुन्ती के पुत्र समझते हुए कृष्ण ने सब राजाओं को विनति करके यह कहते हुए वहां से हटा दिया कि इन्होंने धर्मपूर्वक द्रौपदी को प्राप्त किया है ॥

एवं ते विनिवृत्तास्तु युद्धाद्युद्धविशारदाः ।
यथावासं ययुः सर्वे विस्मिता राजसत्तमाः ॥३३॥
वृत्तो ब्रह्मोत्तरो रङ्गः पाञ्चाली ब्राह्मणैर्वृता ।
इति ब्रुवन्तः प्रययुर्ये तत्रासन् समागताः ॥३४॥

अर्थ—वह युद्ध में निपुण राजा इस प्रकार वहां से निवृत्त हुए २ आश्चर्य्यमय हो अपने २ घर गये, और जो अन्य पुरुष भी वहां आये थे वह यह कहते हुए चले गये कि ब्राह्मणों की विजय के साथ रङ्गोत्सव समाप्त हुआ और ब्राह्मणों ने द्रौपदी को वर लिया ॥

ब्राह्मणैस्तु प्रतिच्छन्नौ रौरवाजिनवासिभिः ।
कृच्छ्रेण जग्मतुस्तौ तु भीमसेनधनञ्जयौ ॥३५॥

अर्थ–मृगचर्म धारण करने वाले ब्राह्मणों से घिरे हुए भीमसेन और अर्जुन कठिनता से घर की ओर गये ॥

विमुक्तौ जनसंबाधाच्छत्रुभिः परिवीक्षितौ ।
कृष्णयानुगतौ तत्र नृवीरौ तौ विरेजतुः ।
पौर्णमास्यां घनैर्युक्तौ चन्द्रसूर्याविवोदितौ ॥३६॥

अर्थ–वह दोनों वीर पुरुष मनुष्यों के समूह से पृथक् हो शत्रुओं से घायल किये हुए तथा द्रौपदी को साथ लिये हुए वहां पर परम शोभायमान प्रतीतहोते थे, जैसे पौर्णमासी के दिन बिना बादल के आकाश में उदय हुए २ चांद और सूर्य शोभायमान प्रतीत होते हैं ॥

तेषां माता बहुविधं विनाशं पर्यचिन्तयत् ।
अनागच्छत्सुपुत्रेषु भैक्ष्यकालेऽभिगच्छति ॥३७॥
धार्त्तराष्ट्रैर्हताः नस्युर्विज्ञाय कुरुपुङ्गवाः ।
इत्येवं चिन्तयामास सुतस्नेहावृता पृथा ॥३८॥

अर्थ–उनकी माता कुन्ती पुत्रों के न आने पर तथा भिक्षा का समय व्यतीत होता देखकर बहुत प्रकार से पुत्रों के नाश होने की शंका करने लगी, पुत्रप्रेम से भरी हुई कुन्ती यह सोच करने लगी कि कदाचित् उन कुरुवंश श्रेष्ठ मेरे पुत्रों को धृतराष्ट्र के पुत्रों ने पहचानकर मार दिया हो तो आश्चर्य नहीं ॥

ततः सुप्त जनप्राये दुर्दिने मेघसंप्लुते ।
महत्यथापराह्णे तु घनैः सूर्य इवावृतः ।
ब्राह्मणैः प्राविशत्तत्र जिष्णुर्भार्गववेश्म तत् ॥३९॥

अर्थ–तदनन्तर मध्याह्न के समय जब बादलों की घटा तथा वर्षा से सूर्य्य आच्छादित होरहा था और मनुष्य प्रायः सोये हुए थे तब ब्राह्मणों के सहित अर्जुन उस भार्गव=कुम्हार के घर में प्रविष्ट हुआ ॥

इति पंचचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ षट्चत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

मत्वा तु तां भार्गवकर्मशालां पार्थौ पृथां-
प्राप्य महानुभावौ। तां याज्ञसेनीं परमप्रतीतौ
भिक्षेत्यथावेदयतां नराग्र्यौ ॥ १ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! उन दोनों महानुभाव कुन्ती के श्रेष्ठ पुत्रों ने उस कुम्हार की कुटि में पहुंच और कुन्ती के पास जाकर नित्य के परिचय अनुसार द्रौपदी को लक्ष्य करके "भिक्षा ले आये" ऐसा उनसे निवेदन किया ॥

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुंक्तेति
समेत्य सर्वे । पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य-
कृष्णां कष्टं मया भाषितमित्युवाच ॥ २ ॥

अर्थ—उस समय कुन्ती कुटी के भीतर थी, उसने पुत्रों तथा द्रौपदी को बिना देखे ही अन्न की भिक्षा समझकर आज्ञा दी कि सब मिलकर बांट खाओ, परंतु पीछे कुन्ती द्रौपदी को देखकर बोली कि शोक ! मैंने ऐसी आज्ञा दी ॥

सा धर्मभीता परिचिन्तयन्ती तां याज्ञसेनीं-
परमप्रतीताम् । पाणौ गृहीत्वोपजगाम
कुन्ती युधिष्ठिरं वाक्यमुवाच चेदम् ॥३॥

अर्थ—कुन्ती धर्म के भय से चिन्ता करती हुई उस परम परिचित द्रौपदी का हाथ पकड़कर युधिष्ठिर के पास गई और यह वचन बोली कि :—

इयं तु कन्या द्रुपदस्य राज्ञस्तवानुजाभ्यां
मयि सन्निसृष्टा।यथोचित पुत्रमयापि चोक्तं
समेत्य भुंक्तेति नृप प्रमादात् ॥ ४ ॥

अर्थ—हे राजन् ! यह राजा द्रुपद की कन्या है और तेरे दोनों छोटे भाइयों ने मेरे सामने इसको निवेदन किया था, परन्तु मैंने भूल से "प्रतिदिन के समान भिक्षा समझकर" यह कह दिया कि तुम सब मिलकर भोगो ॥

एतत् कथं नानृतमुक्तमद्य मया भवेत्कु-
रूणामृषभ ब्रवीहि। पाञ्चालराजस्यसुता-
मधर्मो न चोपवर्त्तेत न विभ्रमेच्च ॥५॥

अर्थ—हे कुरुवंशियों में श्रेष्ठ ! तुम ऐसा उपाय बताओ कि मेरा यह कथन असत्य भी न हो और पाञ्चालराज की पुत्री को पाप भी न लगे तथा वह भ्रम में भी न पड़े ॥

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्तो मतिमान् नृवीरो मात्रा मुहूर्त्तं
तु विचिन्त्य राजा। कुन्तीं समाश्वास्य
कुरुप्रवीरो धनञ्जयं वाक्यमिदं बभाषे ॥६॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! माता के ऐसा कहने पर वह बुद्धिमान् वीर पुरुषश्रेष्ठ कुरुवंशी राजा युधिष्ठिर कुछ काल सोचकर कुन्ती को धीरज दे अर्जुन से बोला कि :—

त्वया जिता फाल्गुन याज्ञसेनी त्वयैव शोभि-
ष्यति राजपुत्री। प्रज्वाल्यतामग्निरमित्रसाह
गृहाण पाणिं विधिवत् त्वमस्याः ॥ ७ ॥

अर्थ—हे अर्जुन! द्रौपदी को तैने जीता है, इसलिये यह राजकुमारी तुम्हारे साथ ही शोभायमान रहेगी, हे शत्रुनाशक! तुम विवाह के लिये अग्नि जलाओ और विधिपूर्वक पाणिग्रहण=इसके साथ विवाह करो॥

अर्जुन उवाच

मा मां नरेन्द्र त्वमधर्मभाजं कृथा न धर्मोऽय-
मशिष्टदृष्टः। भवान्निवेश्यः प्रथमं ततोऽयं
भीमो महाबाहुरचिन्त्यकर्मा ॥ ८ ॥
अहं ततो नकुलोऽनन्तरं मे पश्चादयं सह-
देवस्तरस्वी। वृकोदरोऽहं च यमौ च
राजन्नियं च कन्या भवतो नियोज्याः ॥९॥

अर्थ—अर्जुन ने कहा कि हे राजेन्द्र! तुम मुझे अधर्म का भागी मत बनाओ, यह शिष्ट पुरुषों का कहा हुआ धर्म नहीं, पहले आप

इस द्रौपदी के अधिकारी हैं, पश्चात् यह महाबाहु भीमसेन है जिसने अद्भुत पराक्रम से इसे जीता है, इसके पश्चात् मैं और मेरे पश्चात् यह बलवान् नकुल, सहदेव भी अधिकारी हैं, हे राजन्! भीमसेन, मैं, नकुल, सहदेव तथा यह द्रौपदी हम सब आपके अधीन हैं ॥

एवंगते यत् करणीयमत्र धर्म्यं यशस्यं कुरु
तद्विचिन्त्य। पाञ्चालराजस्य हितं च यत्स्यात्
प्रशाधि सर्वे स्म वशे स्थितास्ते ॥ १० ॥

अर्थ—ऐसी दशा में जो कर्तव्य धर्मयुक्त तथा यश के बढ़ाने वाला हो तथा जिसमें पांचाल देश के राजा का हित भी हो वही सोचकर करें और हमें यथोचित आज्ञा दें, हम सब आपके अधीन हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

जिष्णोर्वचनमाज्ञाय भक्तिस्नेहसमन्वितम् ।
दृष्टिं निवेशयामासुः पाञ्चाल्यां पाण्डुनन्दनाः ॥११॥
दृष्ट्वा ते तत्र पश्यन्तीं सर्वे कृष्णां यशस्विनीम् ।
सम्प्रेक्षान्योन्यमासीना हृदयैस्तामधारयन् ॥१२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! कुरुवंश के भूषण सब पाण्डवों ने अर्जुन की भक्ति तथा प्रेम से भरी हुई बात सुनकर द्रौपदी की ओर दृष्टि डाली, वह लोग एक दूसरे की ओर देखते हुए कीर्तिमती कृष्णा को देखकर उसको अपने २ हृदय में धारण कर चुप हो रहे ॥

तेषां तु द्रौपदीं दृष्ट्वा सर्वेषाममितौजसाम् ।
सम्प्रमथ्येन्द्रियग्रामं प्रादुरासीन्मनोभवः ॥१३॥

तेषामाकारभावज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीत् सहितान् भ्रातॄन् मिथो भेदभयान्नृपः ।
सर्वेषां द्रौपदी भार्या भविष्यति हि नः शुभा ॥१४॥

अर्थ—उन सब महातेजस्वियोंके हृदयों में द्रौपदी के दर्शन से इन्द्रियसमूह पर आक्रमण करके कामदेव जाग उठा, तब कुन्ती के बड़े पुत्र राजा युधिष्ठिर अपने सब भाइयों को परस्पर चित्त में भेद रखते हुए देख तथा उनके आकार से उनका अभिप्राय समझकर बोले कि यह सुन्दरी द्रौपदी हम सब भाइयों की भार्या होगी ॥

वैशम्पायन उवाच

भ्रातुर्वचस्तत् प्रसमीक्ष्य सर्वे ज्येष्ठस्य पाण्डो-
स्तनयास्तदानीम् । तमेवार्थं ध्यायमाना मनो-
भिः सर्वे च ते तस्थुरदीनसत्त्वाः ॥ १५ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! वह सब बड़े भाई युधिष्ठिर की बात पर विचार करके उसी बात को अपने २ मन में चिन्तन करते हुए अन्त में दृढ़ चित्त होकर बैठ गये ॥

वृष्णिप्रवीरस्तु कुरुप्रवीरानाशंसमानः सह
रौहिणेयः । जगाम तां भार्गव कर्मशालां
यत्रासते ते पुरुषप्रवीराः ॥ १६ ॥

अर्थ—इधर वृष्णिवंश के वीर कृष्णजी बलराम के सहित पाण्डवों से मिलने की आशा करते हुए उस कुम्हार की कुटी में पहुंचे जहां वह वीर पुरुष पाण्डव बैठे हुए थे ॥

तत्रोपविष्टं पृथुदीर्घबाहुं ददर्श कृष्णः सह-
रौहिणेयः। अजातशत्रुं परिवार्यतांश्चाप्यु
पोपविष्टान् ज्वलनप्रकाशान् ॥ १७ ॥

अर्थ—तब बलदेव समेत कृष्ण ने वहां बैठे हुए महाबाहु युधिष्ठिर और उनके चारो ओर क्रम से बैठे हुए अग्नि के समान तेजस्वी अन्य भाइयों को भी देखा ॥

ततोऽब्रवीद् वासुदेवोऽभिगम्य कुन्तीसुतं
धर्मभृतां वरिष्ठम्। कृष्णोऽहमस्मीति नि-
पीडच पादौ युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः ॥१८॥

अर्थ—तब वसुदेव के पुत्र कृष्ण ने धर्मात्माओं में श्रेष्ठ अजमीढ़ राजा के वंशधर कुन्ती पुत्र युधिष्ठिर के समीप पहुंच और उनके चरण पकड़कर कहा कि मैं कृष्ण हूं ॥

तथैव तस्याप्यनुरौहिणेयस्तौ चापि हृष्टाः
कुरवोऽभ्यनन्दन्। पितृष्वसुश्चापि यदु-
प्रवीरावगृह्णतां भारतमुख्य पादौ ॥१९॥

अर्थ—इसी प्रकार कृष्ण के पश्चात् बलराम ने उनको प्रणाम किया और उन कुरुवंशियों ने उन दोनों को हर्ष के साथ आशीर्वाद दिया, पश्चात् उन दोनों यदुवंशी वीरों ने अपनी बुआ कुन्ती के चरणों में प्रणाम किया ॥

अजातशत्रुश्च कुरुप्रवीरः पप्रच्छ कृष्णं कु-
शलं विलोक्य। कथं वयं वासुदेव त्वयेह
गूढ़ा वसन्तो विदिताश्च सर्वे ॥ २० ॥

अर्थ—कुरुवंशी वीर अजातशत्रु युधिष्ठिर ने कृष्ण को देख कर कुशल पूछी और कहा कि हे वासुदेव ! आपने हम सब छिप कर रहते हुओं को कैसे जान लिया ॥

तमब्रवीद् वासुदेवः प्रहस्य गूढोऽप्यग्निर्ज्ञा-
यत एव राजन् । तं विक्रमं पाण्डवेयानती-
त्य कोऽन्यः कर्त्ता विद्यते मानुषेषु ॥ २१ ॥

अर्थ—तब कृष्ण हंसकर युधिष्ठिर से बोले कि हे राजन् ! छिपा हुआ भी अग्नि प्रतीत हो ही जाता है, भला पाण्डवों के सिवाय मनुष्यों में अन्य कौन है जो ऐसे पराक्रम के काम करसक्ता हो ॥

दिष्ट्या सर्वे पावकाद्विप्रमुक्ता यूयं घोरात्
पाण्डवाः शत्रुसाहाः। दिष्ट्या पापोधृतराष्ट्रस्य
पुत्रः सहामात्यो न सकामोऽभविष्यत॥२२॥

अर्थ—सौभाग्य की बात है कि आप सब शत्रुनाशक पाण्डव लोग उस भयानक लाक्षागृह की अग्नि से बच गये, और यह भी सौभाग्य की बात है कि धृतराष्ट्र के पापी पुत्र दुर्योधन तथा उसके मन्त्री पुरोचन की कामना पूर्ण न हुई ॥

भद्रं वोऽस्तु निहितं यद् गुहायां विवर्द्धध्वं ज्वलना
इवैधमानाः । मा वो विदुः पार्थिवाः केचिदेव या-
स्यावहे शिविरायैव तावत् । सोऽनुज्ञातः पाण्डवेना-
व्ययश्रीः प्रायाच्छीघ्रं बलदेवेन सार्द्धम् ॥ २३ ॥

अर्थ—जो कुछ भी सुख सम्पत्ति गुफा में छिपी हुई है वह तुम्हें प्राप्त हो और तुम अग्नि की भांति सदा वृद्धि करते रहो,

अब हम दोनों अपनी सेना के डेरे में ही जाते हैं जिससे अन्य राजा लोग तुम्हें न जान लें, नित्य शोभायुक्त कृष्ण ऐसा कह और युधिष्ठिर से जाने की अनुमति लेकर बलराम के सहित शीघ्र चले आये ॥

इति षट्चत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

धृष्टद्युम्नस्तु पाञ्चाल्यः पृष्ठतः कुरुनन्दनौ ।
अन्वगच्छत्तदा यान्तौ भार्गवस्य निवेशने ॥१॥
सोऽज्ञायमानः पुरुषानवधाय समन्ततः ।
स्वयमारान्निलीनोऽभूद् भार्गवस्य निवेशने ॥२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! पाञ्चाल देश के राजा द्रुपद का पुत्र धृष्टद्युम्न उस समय कुम्हार के घर में घुसते हुए भीमसेन और अर्जुन के पीछे २ चला गया और वह चारो ओर अपने पुरुषों को नियत करके स्वयं गुप्त रूप से उस कुम्हार के घर के समीप छिपकर खड़ा होगया ॥

सायं च भीमस्तु रिपुप्रमाथी जिष्णुर्यमौ
चापि महानुभावौ। भैक्ष्यं चरित्वा तु युधिष्ठि-
राय निवेदयाञ्चक्रुरदीनसत्त्वाः ॥ ३ ॥

अर्थ–जब धृष्टद्युम्न ने देखा कि सायंकाल में शत्रुघातक भीमसेन, अर्जुन और महानुभाव जोड़ले भाई नकुल, सहदेव भिक्षा करके लाये और उन्होंने उदारभाव से वह भिक्षा युधिष्ठिर के सामने रखदी ॥

ततस्तु कुन्ती द्रुपदात्मजां तामुवाच काले
वचनं वदान्या। त्वमग्रमादाय कुरुष्व भद्रे-
बलिं च विप्राय च देहि भिक्षाम् ॥ ४ ॥

अर्थ–तब उदारभाव कुन्ती ने द्रौपदी से समयानुसार कहा कि हे भद्रे ! तुम इस भिक्षा को लेकर पहले जीव जन्तुओं को बलि तथा किसी ब्राह्मण को भी भिक्षा दो, और :—

ये चान्नमिच्छन्ति ददस्व तेभ्यः परिश्रिता ये
परितो मनुष्याः । ततश्च शेषं प्रविभज्य-
शीघ्रमर्द्धं चतुर्द्धा मम चात्मनश्च ॥ ५ ॥

अर्थ–जो दीन मनुष्य यहां चारो ओर खड़े हुए भोजन की इच्छा करते हैं उनको भी इस भिक्षा में से दो, इसके पश्चात् शेष सब भिक्षा के दो भाग करके एक भाग में से चार तथा एक मेरा एक अपना इस प्रकार छ भाग करो, और :-

अर्द्धं तु भीमाय च देहि भद्रे य एष नागर्षभ-
तुल्यरूपः । गौरो युवा संहननोपपन्न एषो-
हि वीरो बहुभुक् सदैव ॥ ६ ॥

अर्थ–हे भद्रे ! आधा भाग भीमसेन को दे, जो यह हाथी के

समान महाकाय, गौरवर्ण, युवा तथा सुन्दर शरीर वाला है, क्योंकि यह वीर सदा से ही बहुत भोजन करता है ॥

सा हृष्टरूपेव तु राजपुत्री तस्थौ वचः साधु-
विशङ्कमाना । यथावदुक्तं प्रचकार साध्वी-
ते चापि सर्वे बुभुजुस्तदन्नम् ॥ ७ ॥

अर्थ—तब वह धर्मात्मा राजकुमारी उनकी किसी बात पर शंका न करती हुई कुन्ती की आज्ञानुसार प्रसन्नतापूर्वक रहने लगी और जैसा कुन्ती ने कहा वैसा ही करती रही, तदनन्तर उन सबों ने मिलकर वह भिक्षा का अन्न खाया ॥

कुशैस्तु भूमौ शयनं चकार माद्रीपुत्रः सहदे-
वस्तरस्वी । तथा स्वकीयान्यजिनानि सर्वे
संस्तीर्य वीराः सुषुपुर्धरण्याम् ॥ ८ ॥

अर्थ—माद्री के पुत्र बलवान् सहदेव ने कुशा की साथरी बनाई और वह सब वीर पाण्डव उस पर अपने२ मृगचर्म बिछाकर पृथ्वी पर सो रहे ॥

ते तत्र शूराः कथयांबभूवुः कथा विचित्राः
पृतनाधिकाराः । अस्त्राणि दिव्यानि रथांश्च
नागान् खड्गान् गदाश्चापि परश्वधांश्च ॥९॥

अर्थ—उन वीर पाण्डवों ने सोते समय विचित्र प्रकार की युद्ध-विषयक बात चीत की और अद्भुत प्रकार के शस्त्रों, रथों, हाथियों, तलवारों, गदाओं और परसा, आदि हथियारों का वर्णन करते रहे ॥

तेषां कथास्ताः परिकीर्त्यमानाः पञ्चालराजस्य सुतस्तदानीम् । शुश्राव कृष्णां च तदा निषण्णां ते चापि सर्वे ददृशुर्मनुष्याः ॥१०॥

अर्थ–उनकी कही हुई सब कथायें पाञ्चालराज के पुत्र धृष्टद्युम्न ने उस समय सुनीं और उसने तथा उसके सब साथियों ने द्रौपदी को वहां बैठी हुई देखा ॥

धृष्टद्युम्नो राजपुत्रस्तु सर्ववृत्तं तेषां कथितं चैव रात्रौ । सर्वं राज्ञे द्रुपदायाखिलेन निवेदयिष्यंस्त्वरितो जगाम ॥ ११ ॥

अर्थ–तब राजकुमार धृष्टद्युम्न यह सब समाचार तथा रात्रि में उनकी आपस में हुई सब बातचीत राजा द्रुपद से पूर्णतया कहने के लिये शीघ्र चला गया ॥

पञ्चालराजस्तु विषण्ण रूपस्तान् पाण्डवानप्रतिविन्दमानः । धृष्टद्युम्नं पर्यपृच्छन्महात्मा क्व सा गता केन नीता च कृष्णा ॥१२॥

अर्थ–महात्मा पाञ्चालनरेश द्रुपद ने पाण्डवों को न पहचानने के कारण विषाद करते हुए अपने पुत्र धृष्टद्युम्न से पूछा कि पुत्री कृष्णा कहां गई और उसको कौन लेगया है ? ॥

कच्चिन्न शूद्रेण न हीनजेन वैश्येन वा करदेनोपपन्ना । कच्चित्पदं मूर्ध्नि न पङ्कदिग्धं कच्चिन्न माला पतिताश्मशाने ॥ १३ ॥

अर्थ-कृष्णा को कोई शूद्र वा दरिद्र का पुत्र अथवा कर=टैक्स देने वाला कोई वैश्य तो नहीं लेगया ? किसी नीच का मैला पांव तो हमारे सिर पर नहीं रखा गया ? फूलों की माला मरघट में तो नहीं जापड़ी ? ॥

कच्चिन्न तप्ये परमप्रतीतः संयुज्य पार्थेन
नरर्षभेण । वदस्व तत्त्वेन महानुभाव
कोऽसौ विजेता दुहितुर्ममाद्य ॥ १४ ॥

अर्थ-हे महानुभाव ! क्या ऐसा तो नहीं हुआ कि मेरा संबन्ध कुन्तीपुत्र सिंहपुरुष अर्जुन के साथ होगया हो और इससे परम संतुष्ट होकर मुझे पछताना न पड़े ? सो तुम मुझे ठीक २ बताओ कि मेरी पुत्री को जीतने वाला पुरुष कौन है ॥

विचित्रवीर्यस्य सुतस्य कच्चित्कुरु प्रवीरस्य
ध्रियन्ति पुत्राः । कच्चित्तु पार्थेन यवीय-
साद्य धनुर्गृहीतं निहतं च लक्ष्यम् ॥१५॥

अर्थ-क्या ऐसा तो नहीं कि कुरुवंशी वीर विचित्रवीर्य के पौत्र अभी तक जीवित हों और पृथा=कुन्ती के छोटे पुत्र अर्जुन ने ही धनुष उठा लक्ष्य को बींधकर गिराया हो ॥

इति सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततस्तथोक्तः परिहृष्टरूपः पित्रे शशंसाथ
स राजपुत्रः। धृष्टद्युम्नः सोमकानां प्रवर्हो
वृत्तं यथा येन हृता च कृष्णा ॥ १ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! तब सोमकवंश के भूषण राजकुमार धृष्टद्युम्न ने पिता के ऐसा कहने पर प्रसन्नता-पूर्वक वह सब वृत्तान्त तथा जिसने कृष्णा को प्राप्त किया था उसका सब समाचार कहा ॥

योऽसौ युवा व्यायतलोहिताक्षः कृष्णाजिनी
देवसमानरूपः। यः कार्मुकाग्र्यं कृतवानधि-
ज्यं लक्ष्यं च यः पातितवान् पृथिव्याम् ॥२॥

अर्थ—वह युवा जो बड़े २ लाल नेत्रों वाला तथा काले मृग-चर्म को धारण किये हुए था और देवताओं के समान जिसका सुन्दर रूप था, जिसने उस भारी धनुष पर चिल्ला चढ़ाया और लक्ष्य को बींधकर पृथ्वी पर गिराया वह अर्जुन था ॥

कृष्णा प्रगृह्याजिनमन्वयात्तं नागं यथा
नागवधूः प्रहृष्टा। अमृष्यमाणेषु नरा-
धिपेषु क्रुद्धेषु वै तत्र समापतत्सु ॥३॥

अर्थ—उस समय कृष्णा उसके मृगचर्म का आंचल पकड़कर उसके पीछे २ गई, जैसे हाथी के पीछे हर्षपूर्वक हथिनी चली

जाती है, तब अन्य सब राजा लोग ईर्षा करते हुए क्रोध में भरकर उसकी ओर युद्ध के लिये दौड़कर आये, और :–

ततो परः पार्थिवसंघमध्ये प्रवृद्धमारुज्य
महीप्ररोहम् । प्रकालयन्नेव स पार्थिवौ-
घान् क्रुद्धोऽन्तकः प्राणभृतो यथैव ॥४॥

अर्थ–उससे दूसरा पुरुष भीमसेन था जो राजाओं के समुदाय के बीच बड़े वृक्ष को उखाड़कर क्रोध में भरा हुआ उनको मारने के लिये उद्यत हुआ था, जैसे प्राणियों को मृत्यु मारता है ॥

तौ पार्थिवानां मिषतां नरेन्द्र कृष्णामुपा-
दाय गतौ नराग्र्यौ। विभ्राजमानाविव चन्द्र
सूर्य्यौ बाह्यां पुराद्भार्गव कर्मशालाम् ॥५॥

अर्थ–हे राजन् ! वह दोनों चन्द्रमा और सूर्य के समान प्रकाशमान श्रेष्ठ पुरुष सब राजाओं के हलचल मचाते हुए भी कृष्णा को साथ लेकर नगर के बाहर एक कुम्हार की कुटी में चले गये ॥

तत्रोपविष्टार्चिरिवानलस्य तेषां जनित्रीति मम प्रतर्कः।
तथा विधैरेव नरप्रवीरैरुपोपविष्टैस्त्रिभिरग्निकल्पैः ॥६॥

अर्थ–वहां अग्नि की ज्वाला के समान तेजवाली एक स्त्री बैठी हुई थी और मेरा अनुमान है कि वह उन पाण्डवों की माता है, उसके पास २ उसी प्रकार के अग्निसमान तेजस्वी तीन वीर पुरुष भी बैठे हुए थे ॥

तस्यास्ततस्तावभिवाद्य पादावुक्त्वा च कृष्णा
त्वभिवादयेति । स्थितां च तत्रैव निवेद्य
कृष्णां भिक्षा प्रचाराय गता नराग्र्याः॥७॥

अर्थ—तब उन दोनों पुरुषों ने जाकर उस माता के चरणों में प्रणाम किया और कृष्णा से कहा कि प्रणाम कर, पश्चात् कृष्णा को वहीं ठहरने के लिये कहकर वह श्रेष्ठ पुरुष भिक्षा करने के लिये चले गये ॥

तेषां तु भैक्ष्यं प्रतिगृह्य कृष्णा दत्त्वा बलिं
ब्राह्मणसाच्च कृत्वा । तां चैव वृद्धां परिवेष्य
तांश्च नरप्रवीरान् स्वयमप्यभुंक्त ॥८॥

अर्थ—जब वह भिक्षा लेकर आये तब कृष्णा ने उनसे भिक्षा लेकर प्रथम उसमें से बलिवैश्वदेव किया, फिर ब्राह्मण को देकर पश्चात् उस वृद्धा माता और पांचो वीर पुरुषों को भी परोसा तथा स्वयं भी भोजन किया ॥

सुप्तास्तु ते पार्थिव सर्व एव कृष्णा च तेषां
चरणोपधाने । आसीत्पृथिव्यां शयनं च
तेषां दर्भाजिनाग्र्यास्तरणोपपन्नम् ॥ ९ ॥

अर्थ—हे राजन् ! जिस समय वह सब सोये तो कृष्णा उन सबके चरणों की ओर सोई तथा उन सब ने पृथ्वी पर ही उत्तम कुशा और मृगचर्म बिछाकर शयन किया ॥

ते नर्दमाना इवकालमेघाः कथा विचित्राः
कथयां बभूवुः । न वैश्यशूद्रौपयिकीः क-
थास्ता न च द्विजानां कथयन्ति वीराः ॥१०॥

अर्थ—उन वीर पुरुषों ने उस समय वर्षाकाल के मेघ समान गर्जते हुए विचित्र वातचीत कीं, वह वातें न तो वैश्य और शूद्रों से संबन्ध रखती थीं और नाही ब्राह्मणों से किन्तु वीर राजाओं का प्रसंग था ॥

निःसंशयं क्षत्रियपुङ्गवास्ते यथा हि युद्धं
कथयन्ति राजन् । आशा हि नो व्यक्तमियं
समृद्धामुक्तान् हि पार्थान् शृणुमोऽग्निदाहात् ॥११॥

अर्थ—हे राजन् ! वह लोग युद्ध की ही बातचीत करते रहे, इससे निःसन्देह वह क्षत्रिय वीर हैं और यह स्पष्ट है कि हमारी आशा पूर्ण होगई जैसा हमने सुना था कि पाण्डव अग्नि में जलने से बच गये हैं ॥

यथा हि लक्ष्यं निहतं धनुश्च सज्यं कृतं तेन
तथा प्रसह्य । यथा च भाषन्ति परस्परं ते
छन्ना ध्रुवं ते प्रचरन्ति पार्थाः ॥ १२ ॥

अर्थ—और जिसप्रकार उस वीर ने बलपूर्वक धनुष पर चिल्ला चढ़ा उस लक्ष्य को बींधकर गिराया और जैसी वह आपस में बातचीत करते हैं, इन सब चिन्हों से स्पष्ट है कि वह कुन्ती के पुत्र छिपे हुए भ्रमण करते रहते हैं ॥

ततः स राजा द्रुपदः प्रहृष्टः पुरोहितं प्रेषया-

मास तेषाम् । विद्याम युष्मानिति भाषमा-
णो महात्मनः पाण्डुसुतास्तु कच्चित् ॥१३॥

अर्थ—तब राजा द्रुपद ने प्रसन्न होकर उनके पास अपने पुरोहित को भेजा और कहा कि हम आप लोगों को जानना चाहते हैं क्या आप महात्मा पाण्डु के पुत्र हैं ? ॥

गृहीतवाक्यो नृपतेः पुरोधा गत्वा प्रशं-
सामभिधाय तेषाम् । वाक्यं समग्रं नृप-
तेर्यथावदुवाच चानुक्रमविक्रमेण ॥ १४ ॥

अर्थ—तब राजा का पुरोहित सन्देसा लेकर उनके समीप गया, पहले उसने उनकी प्रशंसा की पश्चात् राजा का सन्देसा क्रमपूर्वक यथावत् कह सुनाया, कि :—

विज्ञातुमिच्छत्यवनीश्वरो वः पञ्चालराजो
वरदो वरार्हाः । लक्ष्यस्य वेद्धारमिमं हि
दृष्ट्वा हर्षस्य नान्तं प्रतिपद्यते सः ॥१५॥

अर्थ—हे योग्य पुरुषो ! पाञ्चालनरेश वरदायक राजा द्रुपद आप लोगों को जानना चाहते हैं, क्योंकि इस लक्ष्य के वींधने वाले को देखकर उनको अति आनन्द प्राप्त हुआ है जिसका कोई वारापार नहीं ॥

आख्यात च ज्ञाति कुलानुपूर्वीं पदं शिरः
सु द्विषतां कुरुध्वम् । प्रह्लादयध्वं हृदयं
ममेदं पञ्चालराजस्य च सानुगस्य ॥१६॥

अर्थ–सो अब आप लोग अपने बन्धुओं तथा कुल की वंशावली बतावें और शत्रुओं के मस्तकों पर चरण रखकर मेरे तथा सेवकवर्ग समेत पाञ्चलनरेश द्रुपद के हृदय को आनन्दित करें ॥

पाण्डुर्हि राजा द्रुपदस्य राज्ञः प्रियः सखा
चात्मसमो बभूव । तस्यैष कामो दुहिता
ममेयं स्नुषां प्रदास्यामि हि कौरवाय ॥१७॥

अर्थ–राजा पाण्डु द्रुपद राजा के प्यारे मित्र तथा आत्मा के समान थे और राजा द्रुपद की यह कामना थी कि मैं अपनी पुत्री को राजा पाण्डु के घर की वधु बनाउंगा ॥

अयं हि कामो द्रुपदस्य राज्ञो हृदिस्थितो नि-
त्यमनिन्दिताङ्गाम् । यदर्जुनो वै पृथुदीर्घ-
बाहुर्धर्मेण विन्देत सुतां ममैताम् ॥ १८ ॥

अर्थ–द्रुपद राजा के हृदय में यह कामना थी कि महाबाहु अर्जुन धर्मपूर्वक मेरी इस सुन्दर पुत्री से विवाह करे ॥

अथोक्तवाक्यं हि पुरोहितं स्थितं ततो वि-
नीतं समुदीक्ष्य राजा । समीपतो भीममिदं
शशास प्रदीयतां पाद्यमर्घ्यं तथास्मै । मान्यःपु-
रोधा द्रुपदस्यराज्ञस्तस्मैप्रयोज्याभ्यधिकाहिपूजा॥१९॥

अर्थ–जब विनीत पुरोहित सब बातें कहकर चुप होरहा तब राजा युधिष्ठिर ने उनकी ओर देखकर पास खड़े हुए भीमसेन को आज्ञा दी कि इनके चरण धोओ तथा जलादि से सत्कार

करो, क्योंकि यह राजा द्रुपद के माननीय पुरोहित हैं इसलिये इनकी विशेषतया पूजा करनी उचित है ॥

भीमस्ततस्तत् कृतवान्नरेन्द्र तां चैव पूजां प्रति-
गृह्य हर्षात् । सुखोपविष्टं तु पुरोहितं तदा
युधिष्ठिरो ब्राह्मणमित्युवाच ॥ २० ॥

अर्थ—हे राजन् ! तब भीमसेन ने उनका सत्कार किया और पुरोहितजी उस सत्कार को हर्षपूर्वक ग्रहण करके सुख से बैठ गये तब उनसे युधिष्ठिर इस प्रकार कहने लगे किः—

पञ्चालराजेन सुतानिसृष्टा स्वधर्मदृष्टेन
यथानकामात् । प्रदिष्टशुल्का द्रुपदेन राज्ञा
सा तेन वीरेण तथानुवृत्ता ॥२१॥

अर्थ—पाञ्चालनरेश राजा द्रुपद ने स्वार्थ को त्यागकर अपने क्षात्रधर्म के अनुसार अपनी पुत्री एक प्रण करके दान की और उस वीर अर्जुन ने उसी प्रकार उसको प्राप्त किया ॥

न तत्र वर्णेषु कृताविवक्षा नचापिशीले-
न कुलेनगोत्रे । कृतेनसज्येन हि कार्मु-
केन विद्धेनलक्ष्येण हि सा विसृष्टा ॥२२॥

अर्थ—न तो वहां किसी वर्ण की अपेक्षा की, न शील की और नाही कुल की किन्तु वहां केवल यह प्रण था कि जो धनुष को चढ़ाकर लक्ष्य को बींध देगा वही द्रौपदी को प्राप्त करेगा ॥

सेयं तथा तेन महात्मनेह कृष्णाजितापार्थिव सङ्घमध्ये । नैवंगतेसौमकिरद्यराजा सन्तापमर्हत्यसुखाय कर्तुम् ॥ २३ ॥

अर्थ–सो उस माहात्मा अर्जुन ने राजाओं के समुदाय में इस कन्या को उसी प्रकार विजय किया है, अब ऐसी दशा में सोमकवंशी राजा द्रुपद को उचित है कि वह अपने आपको दुखी करने के लिये पश्चात्ताप न करे ॥

कामश्चयोऽसौ द्रुपदस्य राज्ञः सचापिसंपत्स्यतिपार्थिवस्य । संप्राप्तरूपां हि नरेन्द्रकन्यामिमामहं ब्राह्मणसाधुमन्ये ॥ २४ ॥

अर्थ–हे ब्राह्मण ! राजा द्रुपद की जो कामना थी वह भी भलेप्रकार पूर्ण होगई, क्योंकि मेरे विचार में राजा की कन्या को योग्य वर मिलगया ॥

नतद्धनुर्मन्दबलेनशक्यं मौर्व्यासमायोजयितुंतथाहि । नचाकृतास्त्रेण न हीनजेन लक्ष्यं तथापातयितुं हि शक्यम् ॥२५॥

अर्थ–उस धनुष का चिल्ला चढ़ाना निर्बल पुरुष का काम नहीं था और नाही अस्त्रविद्या से अनभिज्ञ अथवा नीचकुल में उत्पन्न हुए पुरुष से वह लक्ष्य बींधा जासकता था ॥

एवं ब्रुवत्येवयुधिष्ठिरे तु पञ्चालराजस्य समीपतोऽन्यः । तत्राजगामाशुनरो द्वितीयो निवेदयिष्यन्निह सिद्धमन्नम् ॥ २६ ॥

अर्थ-युधिष्ठिर ऐसा कह ही रहे थे कि पाञ्चालनरेश राजा द्रुपद का भेजा हुआ दूसरा पुरुष भोजन की सूचना के लिये शीघ्र ही वहां पहुंचकर बोला कि :—

दूत उवाच

जन्यार्थमन्नं द्रुपदेन राज्ञा विवाहहेतोरुप-
संस्कृतं च। तदाप्नुवध्वं कृतसर्वकार्याः
कृष्णां च तत्रैव चिरं न कार्यम् ॥ २७ ॥

अर्थ-हे महाराज! राजा द्रुपद ने विवाह के कारण जनेत=बरात के लिये भोजन तैयार कराया है सो आप सब महाशय अपने नित्यकर्म से निवृत्त होकर घर पर चलें और कृष्णा को भी साथ लेते आवें, विलम्ब न हो ॥

इमे रथाः काञ्चनपद्मचित्राः सदश्वयुक्ता
वसुधाधिपार्हाः। एतान्समारुह्य परैतसर्वे
पञ्चालराजस्य निवेशनं तत् ॥ २८ ॥

अर्थ-राजा द्रुपद के भेजे हुए सोने के कमलों से शोभायमान, सुन्दर घोड़ों वाले, राजाओं के चढ़ने योग्य रथ बाहर खड़े हुए हैं सो आप सब लोग इन पर चढ़कर राजा के महल में पधारें ॥

वैशम्पायन उवाच

ततःप्रयाता कुरुपुङ्गवास्ते पुरोहितं तं परि-
याप्यसर्वे। आस्थाययानानिमहान्तितानि
कुन्ती च कृष्णा च सहैकयाने ॥ २९ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! तब वह सब कुरुवंश के श्रेष्ठ पुरुष पाण्डव पुरोहित को विदा करके बड़े २ रथों पर चढ़-कर चले और कुन्ती तथा कृष्णा साथ २ एक रथ में बैठकर चलीं ॥

कुन्ती तु कृष्णां परिगृह्य साध्वीमन्तःपुरं
द्रुपदस्याविवेश । स्त्रियश्च तां कौरवरा-
जपत्नीं प्रत्यर्चयामासुरदीनसत्त्वाः ॥३०॥

अर्थ–तब कुन्ती पतिव्रता कृष्णा को साथ लेकर राजा द्रुपद के रनवास में गई और वहां पर कौरवनरेश की पत्नी कुन्ती का वहां की स्त्रियों ने बड़े उत्साह से सत्कार किया ॥

तान् सिंहविक्रान्तगतीन्निरीक्ष्य महर्षभाक्षा-
नजिनोत्तरीयान् । गूढोत्तरांस्तान् भुजगेन्द्र-
भोगप्रलम्बबाहून् पुरुषप्रवीरान् ॥ ३१ ॥
राजा च राज्ञः सचिवाश्च सर्वे पुत्राश्च
राज्ञः सुहृदस्तथैव । प्रेष्याश्चसर्वे निखि-
लेन राजन् हर्षं समापेतुरतीव तत्र॥३२॥

अर्थ–हे राजन्! वह पराक्रमी सिंहसमान चाल वाले, बड़े बृषभों के समान तथा बड़े २ नेत्रों वाले, मृगचर्म धारण किये हुए, छिपे हुए ऊंचे कंधों वाले, बड़े सांप के समान लम्बी बाहों वाले वीर पाण्डवों को देखकर राजा के मन्त्री, पुत्र, मित्र तथा नौकर लोग अत्यन्त हर्ष को प्राप्त हुए ॥

ते तत्र वीराः परमासनेषु सपादपीठे स्वविशङ्कमानाः।
यथानुपूर्वीविविशुर्नराग्रयास्तथामहार्हेषुनविस्मयन्तः३३

अर्थ—वह उत्तम पुरुष वीर पाण्डव वहां बड़े २ राजोचित आसनों पर जिन पर पांव रखने के लिये सुन्दर खड़ाऊं बने हुए थे निःशङ्क तथा विनीत हुए २ क्रमपूर्वक बैठ गये ॥

उच्चावचं पार्थिवभोजनीयं पात्रीषुजाम्बूनदराजतीषु । दासाश्चदास्यश्च सुमृष्टवेषाः संभोजकाश्चाप्युपजह्नुरन्नम् ॥ ३४ ॥

अर्थ—तब सुन्दर वेष वाले दास दासियों तथा भोजन बनाने वालों ने सोने चांदी के पात्रों में उन पाण्डवों को राजोचित अनेक प्रकार के भोजन जिमाये ॥

ते तत्र भुक्त्वा पुरुषप्रवीरा यथात्मकामं सुभृशं प्रतीताः । उत्क्रम्यसर्वाणि वसूनि राजन् सांग्रामिकं ते विविशुर्नृवीराः ॥ ३५ ॥

अर्थ—हे राजन् ! उन वीर पुरुषों ने वहां परम संतोषपूर्वक यथारुचि भोजन करने के पश्चात् सब धनों को उल्लङ्घन करके युद्ध में विजय किये हुए धन को ग्रहण किया ॥

तल्लक्षयित्वा द्रुपदस्यपुत्रो राजाचसर्वैः सहमन्त्रिमुख्यैः । समर्थयामासुरुपेत्य हृष्टाः कुन्तीसुतान् पार्थिव राजपुत्रान् ॥३६॥

अर्थ—हे राजन् ! राजा द्रुपद तथा उसके पुत्र धृष्टद्युम्न ने अपने सब मुख्य मन्त्रियों समेत यह घटना देखकर हर्षपूर्वक कुन्ती के पुत्रों के पास जाकर समर्थन किया कि आप वास्तव में राजकुमार हैं ॥

इति अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकोनपंचाशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततआहूयपाञ्चाल्यो राजपुत्रयुधिष्ठिरम् ।
पर्यपृच्छददीनात्मा कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥१॥
कथं जानीमभवतः क्षत्रियान्ब्राह्मणानुत ।
वैश्यान् वा गुणसम्पन्नानथवा शूद्रयोनिजान् ॥२॥
मायामास्थाय वा विप्रांश्चरतः सर्वतो दिशम् ।
ब्रवीतु नो भवान् सत्यं सन्देहो ह्यत्र नो महान् ॥३॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय! इसके पश्चात् महात्मा पाञ्चालनरेश ने राजकुमार महातेजस्वी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर को बुलाकर पूछा कि हम आपको कैसे जानें कि आप लोग क्षत्रिय हैं वा ब्राह्मण अथवा गुणयुक्त वैश्य वा शूद्रवंशी हैं? अथवा आप लोग ब्राह्मण होते हुए कपट से गुप्त रहकर सब दिशाओं में घूमा करते हैं? आप हमें सत्य बतलावें, क्योंकि इसमें हमें बड़ा सन्देह है ॥

अपिनःसंशयस्यान्ते मनः सन्तुष्टिमावहेत् ।
अपिनोभागधेयानि शुभानिस्युःपरन्तप ॥ ४ ॥
इच्छयाब्रूहितत्सत्यं सत्यं राजसुशोभते ।
ध्रुवंविवाहकरणमास्थास्यामि विधानतः ॥ ५ ॥

अर्थ–हे शत्रुतापक ! क्या हमारा संशय मिटने पर हमारे मन का सन्तोष होगा ? और क्या हमारे भाग्य कल्याण-

कारी होंगे? आप अपनी प्रसन्नता पूर्वक सत्य बात बताओ, क्योंकि सत्य से राजाओं की शोभा है, और विवाह तो मैं विधिपूर्वक अवश्य ही करूंगा ॥

युधिष्ठिर उवाच

मा राजन् विमना भूस्त्वं पाञ्चाल्यप्रीतिरस्तुते।
ईप्सितस्ते ध्रुवः कामः संवृत्तोऽयमसंशयम् ॥६॥
वयं हि क्षत्रियो राजन् पाण्डोः पुत्रा महात्मनः।
ज्येष्ठंमांविद्धि कौन्तेयं भीमसेनार्जुनावुभौ ॥७॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले कि हे पाञ्चालनरेश! आप उदास न हों किंतु तुम्हें प्रसन्नता होनी चाहिये, क्योंकि तुम्हारी यह सदा की इष्ट मनोकामना पूर्ण हुई, इसमें सन्देह नहीं, हे राजन्! हम लोग क्षत्रिय कुलोत्पन्न महात्मा राजा पाण्डु के पुत्र हैं, मुझे कुन्ती का बड़ा पुत्र समझो और यह दोनों भीमसेन तथा अर्जुन हैं ॥

आभ्यांतवसुताराजन्निर्जिता राजसंसदि।
बभौचतत्रकुन्तीच यत्रकृष्णाव्यवस्थिता ॥ ८ ॥
व्येतुतेमानसंदुःखं क्षत्रियाःस्मो नरर्षभ।
पद्मिनीवसुतेयंते ह्रदादन्यह्रदं गता ॥९॥

अर्थ—हे श्रेष्ठराजन्! इन दोनों पुरुषों ने राजसभा में तुम्हारी पुत्री कृष्णा को विजय किया है और जहां पर कृष्णा विद्यमान है वहीं पर हमारी माता कुन्ती विराजमान है, हे राजन्! आप अपने मन का सन्ताप दूर करें, क्योंकि हम लोग क्षत्रिय हैं और तुम्हारी यह पुत्री कमलिनी के समान एक तालाब से दूसरे तालाब में चली गई है ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः स द्रुपदोराजा हर्षव्याकुललोचनः ।
प्रतिवक्तुंमुदायुक्तो नाशकत्तं युधिष्ठिरम् ॥१०॥
यत्नेन तु सतं हर्ष सन्निगृह्य परंतप ।
अनुरूपंतदावाचा प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ ११ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तब राजा द्रुपद के नेत्रों में हर्ष के कारण जल भर आया और आनन्द के वेग में वह युधिष्ठिर को कुछ उत्तर न देसके, पश्चात् शत्रुदमनकर्ता द्रुपद राजा यत्न द्वारा अपने हर्ष को रोककर युधिष्ठिर से उचित बात चीत करने लगे ॥

पप्रच्छचैनंधर्मात्मा यथा ते प्रद्रुताः पुरात् ।
स तस्मै सर्वमाचख्यावानुपूर्वेण पाण्डवः ॥ १२ ॥
तच्छ्रुत्वा द्रुपदोराजा कुन्तीपुत्रस्यभाषितम् ।
विगर्हयामास तदा धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ॥१३॥

अर्थ–धर्मात्मा द्रुपद ने वह सब समाचार भी पूछा जिस प्रकार वह नगर से भाग निकले थे, तब पाण्डु के पुत्र युधिष्ठिर ने क्रमपूर्वक सब कथा राजा को सुनाई, कुन्ती के पुत्र का कथन सुनकर राजा ने राजा धृतराष्ट्र की बड़ी निन्दा की ॥

आश्वासयामास च तं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
प्रतिजज्ञे च राज्याय द्रुपदो वदतांवरः ॥१४॥

प्रत्याश्वस्तस्ततो राजा सह पुत्रैरुवाच तम् ।
गृह्णातु विधिवत् पाणिमद्यायं कुरुनन्दनः ।
पुण्येऽहनि महाबाहुरर्जुनः कुरुतां क्षणम् ॥१५॥

अर्थ—तत्पश्चात् प्रतिज्ञा करने वालों में श्रेष्ठ राजा द्रुपद ने कुन्ती-पुत्र युधिष्ठिर को धैर्य दिया और राज्य देने की भी प्रतिज्ञा की, इस के पश्चात् स्वस्थ होकर राजा ने अपने पुत्रों समेत युधिष्ठिर के पास जाकर कहा कि आज पवित्र दिन है इसलिये यह महा-बाहु कुरुवंशभूषण अर्जुन मेरी पुत्री का विधिपूर्वक पाणिग्रहण करके आनन्दित हो ॥

युधिष्ठिर उवाच

तमब्रवीत्ततो राजा धर्मात्मा च युधिष्ठिरः ।
ममापि दारसंबन्धः कार्यस्तावद्विशाम्पते ॥१६॥

अर्थ—तब धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर बोले कि हे राजन् ! मेरा भी विवाह आप अपनी पुत्री के साथ करें ॥

द्रुपद उवाच

भवान् वा विधिवत्पाणिं गृह्णातु दुहितुर्मम ।
यस्य वा मन्यसे वीर तस्य कृष्णामुपादिश ॥१७॥

अर्थ—राजा द्रुपद बोले कि हे वीर ! या तो आप मेरी पुत्री के साथ विधिपूर्वक अपना विवाह करें वा जिस भाई के साथ विवाह करना उचित समझें उसके साथ करदें ॥

युधिष्ठिर उवाच

सर्वेषां महिषी राजन् द्रौपदी नो भविष्यति ।
एवं प्रव्याहृतं पूर्वं मम मात्रा विशाम्पते ॥१८॥

एष नः समयो राजन् रत्नस्य सह भोजनम् ।
नच तं हातुमिच्छामः समयं राजसत्तम ॥१९॥

अर्थ-युधिष्ठिर बोले कि हे राजन् ! द्रौपदी हम सब भाइयों की रानी बनेगी, क्योंकि मेरी माता ने पहले ऐसी ही आज्ञा हमें दी है, हे राजन् ! हमारा यह नियम है कि सब से उत्तम वस्तु चाहे जिस भाई को मिले वह सब भाइयों के मिलकर भोगने योग्य है, सो हे महाराज ! हम अपने उस नियम को त्याग नहीं सक्ते ॥

ततो राजा यज्ञसेनः सपुत्रो जन्यार्थमुक्तं
बहुतत्तदग्य्रम् । समानयामास सुतां च
कृष्णामाप्लाव्य रत्नैर्बहुभिर्विभूष्य ॥॥२०॥

अर्थ-तब पुत्रों समेत राजा यज्ञसेन ने जनेत का भांति २ के उत्तमोत्तम पदार्थों से सत्कार किया और अपनी पुत्री कृष्णा को स्नान कराकर उत्तम वस्त्र तथा आभूषणों से भूषित करके विवाह के लिये यज्ञमण्डप में पहुंचाया ॥

ततस्तु सर्वे सुहृदानृपस्य समाजग्मुः सहिता
मन्त्रिणश्च । द्रष्टुं विवाहं परमप्रतीताद्विजा-
श्च पौराश्च यथा प्रधानाः ॥ २१ ॥

अर्थ-इसके पश्चात् राजा के सब मित्र, मन्त्री लोग तथा नगर के प्रधान ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इकट्ठे होकर परम प्रसन्नता के साथ विवाह देखने के लिये वहां आये ॥

ततोऽस्यवेश्माग्र्यजनोपशोभितं विस्तीर्णप-
द्मोत्पलभूषिताजिरम् । बलौघरत्नौघविचित्र-
मावभौ नभो यथा निर्मलतारकान्वितम् ॥२२॥

अर्थ–उस समय राजा द्रुपद का भवन बड़े२ पुरुषों से सुशोभित तथा आंगन में बड़े२ कमल और कुमुद के फूलों से अलंकृत तथा सेनासमूह और रत्नसमूह से ऐसा विचित्र शोभायुक्त था जैसे निर्मल तारागणों से परिपूर्ण आकाशमण्डल होता है ॥

ततस्तु ते कौरवराजपुत्रा विभूषिताःकुण्ड-
लिनोयुवानः । महार्हवस्त्राम्बरचन्दनो-
क्षिता कृताभिषेकाःकृतमङ्गलक्रियाः॥२३॥
पुरोहितेनाग्निसमानवर्चसा सहैव धौम्येन
यथाविधि प्रभो । क्रमेण सर्वे विविशुस्ततः
सदोमहर्षभा गोष्ठमिवाभिनन्दिनः ॥२४॥

अर्थ–हे राजन् ! तब कौरवों के राजा अर्थात् पाण्डु के युवा पुत्र स्नान तथा मंगलकार्य करके चन्दन से सुगन्धित उत्तम वस्त्रों को धारण कर और कुण्डल पहने हुए अग्नि के समान तेज वाले अपने धौम्य नामक पुरोहित के साथ विधिपूर्वक क्रम २ से विवाहमण्डप में प्रविष्ट हुए, जैसे आनन्दयुक्त बड़े २ वृषभ अपनी शाला में प्रविष्ट होते हैं ॥

ततःसमाधाय स वेदपारगो जुहावमन्त्रैर्ज्व-
लितं हुताशनम् । युधिष्ठिरंचाप्युपनीय
मन्त्रविन्नियोजयामास सहैव कृष्णया ॥२५॥
क्रमेणचानेन नराधिपात्मजा वरास्त्रियस्ते
जगृहुस्तदाकरम् । अहन्यहन्युत्तमरूपधा-
रिणो महारथः कौरववंशवर्धनाः ॥ २६ ॥

अर्थ—तब वेद पारगामी पुरोहित ने मन्त्रों द्वारा अग्न्याधान कर प्रज्वलित अग्नि में हवन किया पश्चात् उस मन्त्रवेत्ता ने युधिष्ठिर को अपने पास बैठाकर विधिपूर्वक कृष्णा के साथ विवाह करादिया, इसी रीति से शेष चारों कुरुवंश की वृद्धि करने वाले राजकुमार वीर पाण्डवों ने उस उत्तम स्त्री कृष्णा के साथ एक २ दिन में विवाह किया ॥

कृतेविवाहे द्रुपदो धनंददौ महारथेभ्यो बहुरूपमुत्तमम् । शतं रथानांवरहेममालिनां चतुर्युजां हेमखलीनमालिनाम् ॥ २७ ॥

शतंगजानामपि पद्मिनां तथा शतं गिरीणामिवहेमशृङ्गिणाम् । तथैव वस्त्राणि विभूषणानिप्रभावयुक्तानि महानुभावः ॥ २८ ॥

अर्थ—विवाह होने के पश्चात् महाप्रतापी राजा द्रुपद ने उन महावीर पाण्डवों को अनेक प्रकार का उत्तमधन दान में दिया अर्थात् सौ रथ जिनमें सुन्दर सुवर्ण की मालायें लगी हुई थीं तथा प्रत्येक में सुवर्ण के लगाम वाले चार २ घोड़े जुते हुए थे, सौ हाथी जिन पर सोने के कमल लगाये हुए थे और जो सोने के शिखर वाले सौ पहाड़ से प्रतीत होते थे, इनके अतिरिक्त उत्तमोत्तम गुणयुक्त वस्त्र तथा आभूषण भी दान में दिये ॥

कृतेविवाहे तु ततस्तुपाण्डवाः प्रभूतरत्नामुपलभ्यतांश्रियम् । विजह्रुरिन्द्रप्रतिमामहाबलाः पुरेतुःपञ्चालनृपस्य तस्य ह ॥ २९॥

अर्थ-विवाह के पश्चात् इन्द्र समान महाबलवान् पाण्डव लोग बड़े २ रत्नों से परिपूर्ण राज्यलक्ष्मी को पाकर वहीं पञ्चाल-नरेश के नगर में वास करते रहे ॥

इति एकोनपंचाशोऽध्यायः समाप्तः

अथ पंचाशोऽध्यायःप्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवैः सह संयोगं गतस्य द्रुपदस्य ह।
न बभूवभयंकिंचिद्‌देवेभ्योपि कथंचन ॥१॥
कुन्तीमासाद्यतानार्यो द्रुपदस्यमहात्मनः।
नामसंकीर्त्तयन्त्योऽस्यजग्मुः पादौस्वमूर्धनिः॥२॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! राजा द्रुपद का पांडवों के साथ सम्बन्ध होजाने से देवताओं का भी किसी प्रकार का कुछ भय न रहा, महात्मा द्रुपद राजा की स्त्रियों ने कुन्ती के पास जाकर अपना २ नाम बताते हुए अपने २ मस्तक से उसके चरणों का स्पर्श किया ॥

कृष्णा च क्षौमसंवीता कृतकौतुकमङ्गला।
कृताभिवादना श्वश्वास्तस्थौ प्रह्वाकृताञ्जलिः॥३॥
रूपलक्षणसम्पन्नां शीलाचारसमन्विताम्।
द्रौपदीमवदत्प्रेम्णा पृथाशीर्वचनं स्नुषाम् ॥४॥

अर्थ–कृष्णा भी रेशमी वस्त्र पहिने तथा विवाहोत्सव के मङ्गलाचरण किये हुए अपनी सासु को अभिवादन करके माता के साथ हाथ जोड़कर खड़ी होगई, तब कुन्ती रूप तथा सुलक्षणों से युक्त, शील और सदाचार से परिपूर्ण अपनी वधु द्रौपदी को इस प्रकार प्रेम से आशीर्वाद देने लगी किः—

जीवसूर्वीरसूर्भद्रे बहुसौख्यसमन्विता ।
सुभगाभोगसम्पन्ना यज्ञपत्नीपतिव्रता ॥५॥
अतिथीनागतान् साधूनृद्धान्बालांस्तथागुरून् ।
पूजयन्त्यायथान्यायं शश्वद्गच्छन्तु ते समाः ॥६॥

अर्थ–हे भद्रे ! तुम्हारे चिरंजीव वीरपुत्र हों, तुम अनंत सुखों से युक्त, सौभाग्यवती, उत्तम भोग्य पदार्थों से सम्पन्न, यज्ञ में पति का साथ देने वाली और पतिव्रता होकर रहो, अपने घर आये हुए महात्मा अतिथियों, वृद्धों, बालकों तथा गुरुओं का यथोचित सत्कार करते हुए तुम्हारा समय व्यतीत हो, औरः—

कुरुजाङ्गलमुख्येषु राष्ट्रेषु नगरेषु च ।
अनुत्वमभिषिच्यस्व नृपतिं धर्मवत्सला॥७॥
पृथिव्यांयानिरत्नानि गुणवन्तिगुणान्विते ।
तान्याप्नुहित्वंकल्याणि सुखिनी शरदां शतम्॥८॥

अर्थ–कुरुक्षेत्र के जो मुख्य देश तथा नगर हैं उन सब के राज्यासन पर तू अपने पति के साथ धर्मप्रिय रानी बनाई जाय, हे गुणवती कल्याणकारिणी ! पृथ्वी पर जितने उत्तमोत्तम गुण युक्त पदार्थ हैं वह सब तुम्हें प्राप्त हों और तुम सुखपूर्वक सौ वर्ष तक जीवित रहो ॥

यथा च त्वाभिनन्दामि वध्वद्य क्षौमसंवृताम् ।
तथा भूयोऽभिनन्दिष्ये जातपुत्रां गुणान्विताम् ॥९॥

अर्थ–हे वधु ! जैसे मैं आज तुझ क्षौम वस्त्र धारण कीहुई को आशीर्वाद दे रही हूं इससे भी अधिक मैं उस समय आशीर्वाद दूंगी जब तुम्हारे पुत्र उत्पन्न होंगे ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तु कृतदारेभ्यः पाण्डुभ्यः प्राहिणोद्धरिः ।
वैदूर्यमणिचित्राणि हैमान्याभरणानि च ॥१०॥
वासांसि च महार्हाणि नानादेश्यानि माधवः ।
कम्बलाजिनरत्नानि स्पर्शवन्ति शुभानि च ॥११॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! इसके पश्चात् कृष्णा ने विवाहित पाण्डवों के लिये उपहार की रीति पर वैदूर्य मणियों से जटित सोने के आभूषण, भिन्न २ देशों के उत्तमोत्तम वस्त्र, उत्तम स्पर्श वाले सुन्दर कम्बल तथा मृगचर्म भेजे ॥

शयनासनयानानि विविधानि महान्ति च ।
वैदूर्यवज्रचित्राणि शतशोभाजिनानि च ॥१२॥
गजान् विनीतान् भद्रांश्चसदश्वांश्चस्वङ्लकृतान् ।
रथांश्च दान्तान् सौवर्णैः शुभ्रैःपट्टैरलङ्कृतान् ॥१३॥
कोटिशश्च सुवर्णं च तेषामकृतकं तथा ।
वीथीकृतममेयात्मा प्राहिणोन्मधुसूदनः ॥१४॥

अर्थ–मधु राक्षस के घातक महात्मा कृष्ण ने भांति २ की बड़ी २ सेजें, आसन, सवारी, वैदूर्यमणि से चित्रित सैंकड़ों

बरतन, शिक्षा पाये हुए उत्तम हाथी, सजाये हुए अच्छे २ घोड़े, हाथीदांत के बने हुए तथा सुवर्ण के सुन्दर पट्टों से सजे हुए रथ, करोड़ों मोहर तथा बिना घड़ा हुआ सुवर्ण भी उपहार में भेजा, और:-

तत्सर्वं प्रतिजग्राह धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
मुदा परमया युक्तो गोविन्दप्रियकाम्यया ॥१५॥

अर्थ-धर्मराज युधिष्ठिर ने कृष्ण को प्रसन्न करने की कामना से परम आनन्दित होकर वह सब उपहार ग्रहण किया ॥

इति पंचाशोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकपंचाशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञां चरैराप्तैः प्रवृत्तिरुदनीयत ।
पाण्डवैरुपसम्पन्ना द्रौपदी पतिभिःशुभा ॥१॥
येन तद्धनुरायम्य लक्ष्यं विद्धं महात्मना ।
सोऽर्जुनो जयतां श्रेष्ठो महाबाणधनुर्धरः ॥२॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! तब प्रामाणिक राजदूतों द्वारा इधर उधर यह समाचार फैल गया कि सुन्दरी द्रौपदी से पाण्डवों का विवाह होगया, जिस महात्मा ने वह धनुष खैंचकर लक्ष्य को बींधा था वह महान् बाण सहित धनुष के धारण करने वाला श्रेष्ठ विजयी अर्जुन था, और :-

यः शल्यं मद्रराजं वै प्रोत्क्षिप्यापातयद्बली ।
त्रासयामास संक्रुद्धो वृक्षेण पुरुषान्रणे ॥३॥
न चास्य संभ्रमः कश्चिदासीत्तत्र महात्मनः ।
स भीमो भीमसंस्पर्शः शत्रुसेनाङ्गपातनः ॥ ४ ॥

अर्थ–जिसने मद्र=मदरास देश के राजा को उठाकर पटक दिया तथा जिस बलवान् ने क्रोध से वृक्ष उठाकर युद्ध में पुरुषों को भयभीत कर दिया था और जिस महात्मा को उस समय कुछ भी घबराहट न हुई थी वह भयानकस्पर्श वाला तथा शत्रुओं की सेनाओं के शरीर निर्जीव करने वाला भीमसेन था ॥

ब्रह्मरूपधरान् श्रुत्वा प्रशान्तान् पाण्डुनन्दनान् ।
कौन्तेयान् मनुजेन्द्राणां विस्मयः समजायत ॥५॥
सपुत्रा हि पुरा कुन्ती दग्धा जतुगृहे श्रुता ।
पुनर्जातानिवचतांस्तेऽमन्यन्त नराधिपाः॥६॥

अर्थ–राजा लोगों को उस समय बड़ा आश्चर्य हुआ जब उन्होंने सुना कि कुन्ती के पुत्र पाण्डव ब्राह्मणों के वेष धारण किये हुए थे, राजा लोगों ने पहले सुना था कि कुन्ती पुत्रों समेत लाक्षागृह में जलादी गई, इसलिये उन लोगों ने कुन्ती तथा पाण्डवों का पुनर्जन्मसा हुआ समझा ॥

धिगकुर्वंस्तदा भीष्मं धृतराष्ट्रं च कौरवम् ।
कर्मणातिनृशंसेन पुरोचनकृतेन वै ॥७॥
वृत्ते स्वयंवरे चैव राजानः सर्वएव ते ।
यथागतं विप्रजग्मुर्विदित्वा पाण्डवान् वृतान्॥८॥

अर्थ–तब पुरोचन के किये हुए उस अत्यन्त घोरकर्म का समाचार पाकर राजा लोग कुरुवंशी भीष्म तथा धृतराष्ट्र को धिक्कार देने लगे, स्वयम्वर समाप्त होजाने पर पाण्डवों का विवाह हुआ समझ स्वयंवर में सम्मिलित हुए राजा लोग अपने २ स्थान को चले गये ॥

अथ दुर्योधनो राजा विमना भ्रातृभिः सह ।
अश्वत्थाम्ना मातुलेन कर्णेन च कृपेण च ॥ ९ ॥
विनिवृत्तो वृतंदृष्ट्वा द्रौपद्याश्वेतवाहनम् ।
तन्तु दुःशासनो व्रीडो मन्दं मन्दमिवाब्रवीत्॥१०॥

अर्थ–तब राजा दुर्योधन भी द्रौपदी का विवाह अर्जुन के साथ हुआ देखकर उदास हुआ २ अपने भाइयों तथा अश्वत्थामा, मामा शकुनी, कर्ण और कृपाचार्य के साथ लौट चला, मार्ग में लज्जित हुआ दुःशासन दुर्योधन से धीरे २ इस प्रकार बात चीत करने लगा कि:—

यद्यसौ ब्राह्मणो न स्याद्विन्देत द्रौपदीं न सः ।
न हितं तत्त्वतो राजन् वेद कश्चिद्धनञ्जयम् ॥११॥
दैवं च परमंमन्ये पौरुषंचाप्यनर्थकम् ।
धिगस्तु पौरुषं तात ध्रियन्ते यत्र पाण्डवाः॥१२॥

अर्थ–हे राजन् ! यदि अर्जुन ब्राह्मण के वेष में न होता तो वह द्रौपदी को नहीं पासकता था, क्योंकि कोई भी पुरुष यथार्थरूप से अर्जुन को नहीं पहचानता था, हे भाई ! मैं प्रारब्ध

को बड़ा और पुरुषार्थ को अनर्थक समझता हूं, धिक्कार है पुरुषार्थ को जो अबतक पाण्डव लोग जीवित हैं ॥

एवं सम्भाषमाणास्ते निन्दन्तश्च पुरोचनम्।
विविशुर्हास्तिनपुरं दीना विगतचेतसः ॥१३॥
त्रस्ताविगतसङ्कल्पा दृष्ट्वा पार्थान्महौजसः।
मुक्तान्हव्यभुजश्चैव संयुक्तान्द्रुपदेन च ॥ १४ ॥
धृष्टद्युम्नं तु सञ्चिन्त्य तथैव च शिखण्डिनम्।
द्रुपदस्यात्मजांश्चान्यान्सर्वयुद्धविशारदान् ॥१५॥

अर्थ–वह लोग इस प्रकार बात चीत करते तथा पुरोचन की निन्दा करते हुए दुःखी और बेसुध हुए २ हस्तिनापुर में प्रविष्ट हुए, दुर्योधन आदिक कौरव महाबली पाण्डवों को देखकर तथा उनका अग्नि में जलने से छुटकारा, राजा द्रुपद के साथ संबन्ध और धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा द्रुपद राजा के संपूर्ण युद्धों में निपुण अन्य पुत्रों का विचार करके भयभीत और उत्साहहीन होगये ॥

विदुरस्त्वथ तांश्रुत्वा द्रौपदीं पाण्डवैर्वृताम्।
व्रीडितान्धार्त्तराष्ट्रांश्च भग्नदर्पानुपागतान् ॥१६॥
ततः प्रीतमनाः क्षत्ता धृतराष्ट्रं विशाम्पते।
उवाच दिष्ट्या कुरवो वर्द्धत इति विस्मितः ॥१७॥

अर्थ–जब विदुर ने सुना कि पाण्डवों ने द्रौपदी को वरलिया तथा धृतराष्ट्र के पुत्र लज्जित और खण्डितगर्व होकर लौट आये

तब वह मन में प्रसन्न होकर धृतराष्ट्र से अचम्भितसे हुए २ बोले कि हे राजन् ! सौभाग्य की बात है कि कुरुवंशी वृद्धि को प्राप्त हुए ॥

वैचित्रवीर्यस्तु नृपो निशम्य विदुरस्य तत् ।
अब्रवीत्परमप्रीतो दिष्ट्या दिष्ट्येति भारत ॥१८॥
मन्यते सद्वृतं पुत्रं ज्येष्ठं द्रुपदकन्यया ।
दुर्योधनमविज्ञानात्प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरः ॥१९॥

अर्थ-तब विचित्रवीर्य का पुत्र राजा धृतराष्ट्र विदुरजी की यह बात सुनकर परम प्रसन्न हुआ २ बोला कि हे भरतवंशी ! सौभाग्य है, सौभाग्य है, प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्र ने भूलसे विदुरजी के कथन का आशय यह समझा कि मेरे बड़े पुत्र दुर्योधन के साथ द्रुपद की पुत्री का विवाह होगया है ॥

अथ त्वाज्ञापयामास द्रौपद्या भूषणं बहु ।
आनीयतां वै कृष्णेति पुत्रं दुर्योधनं तदा ॥२०॥
अथास्य पश्चाद्विदुर आचख्यौ पाण्डवान्वृतान् ।
सर्वान्कुशलिनो वीरान् पूजितान् द्रुपदेन ह॥२१॥

अर्थ-इस पर धृतराष्ट्र ने अपने पुत्र दुर्योधन को आज्ञा दी कि वधु द्रौपदी को अनेक वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर घर ले आओ, तब विदुरजी ने उनको समझाया कि वीर पाण्डव कुशलपूर्वक जीवित हैं और राजा द्रुपद ने सत्कार के साथ अपनी पुत्री का विवाह उनके साथ किया है, और यह भी कहा कि :-

तेषां संबन्धिनश्चान्यान् बहून् बलसमन्वितान् ।
समागतान् पाण्डवैर्यैस्तस्मिन्नेव स्वयंवरे ॥२२॥

अर्थ—उसी स्वयंवर में उन पाण्डवों के अन्य बहुत से महाबली संबन्धी भी उनसे मिल चुके हैं ॥

धृतराष्ट्र उवाच

यथैव पाण्डोपुत्रास्तु तथैवाभ्यधिका मम ।
यथा चाभ्यधिका बुद्धिर्मम तान् प्रति तच्छृणु॥२३॥
यत्तेकुशलिनो वीरा मित्रवन्तश्च पाण्डवाः।
तेषां संबंधिनश्चान्ये बहवश्चमहाबलाः॥२४॥

अर्थ—धृतराष्ट्र बोले कि हे विदुर! मुझे जैसे अपने पुत्र प्यारे हैं उनसे अधिक पाण्डु के पुत्र प्यारे हैं और जिस कारण से मेरा उनके साथ अधिक भाव है वह तुम सुनो, वह लोग युद्ध में निपुण तथा वीर हैं और उनके सम्बन्धी लोग भी बहुत तथा महाबली हैं॥

को हि द्रुपदमासाद्य मित्रंक्षत्तःसबांधवम् ।
न बुभूषेद्भवेनार्थी गतश्रीरपि पार्थिवः ॥२५॥

अर्थ—हे मित्र विदुर ! ऐसा कौन अभागा राजा है जो ऐश्वर्य की इच्छा रखता हुआ सम्बान्धियों समेत द्रुपद राजा की प्रतिष्ठा न करे ॥

वैशम्पायन उवाच

तं तथा भाषमाणं तु विदुरः प्रत्यभाषत ।
नित्यं भवतु ते बुद्धिरेषा राजञ्छतंसमाः ॥२६॥
ततो दुर्योधनश्चापि राधेयश्च विशाम्पते ।
धृतराष्ट्रमुपागम्य वचोब्रूतामिदं तदा ॥२७॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि ऐसा कहते हुए धृतराष्ट्र से विदुर ने कहा कि "हे राजन् ! तुम्हारा ऐसा भाव सौ

वर्ष तक सदा बना रहे" हे राजा जनमेजय ! इसके पश्चात् दुर्योधन और कर्ण धृतराष्ट्र के समीप आकर इस प्रकार बोले किः—

सन्निधौ विदुरस्य त्वां दोषं वक्तुं न शक्नुवः ।
विविक्तमिति वक्ष्यावः किं तवेदं चिकीर्षितम् ॥२८॥
सपत्नवृद्धिं यत्तात मन्यसे वृद्धिमात्मनः ।
अभिष्टौषि च यत्क्षत्तुः समीपे द्विषतां वरः ॥२९॥

अर्थ—हे पिता ! हम विदुर के सामने तुम्हें तुम्हारे दोष की बात नहीं बतासकते, अब एकान्त में बताते हैं कि तुम कैसा उलटा कार्य करना चाहते हो, हे श्रेष्ठपुरुष राजन् ! तुम जो विदुर के सामने सदा पाण्डवों की स्तुति किया करते हो तो कदाचित् तुम शत्रुओं की उन्नति को अपनी उन्नति मानते हो ॥

अन्यस्मिन् नृपकर्तव्ये त्वमन्यत्कुरुषेऽनघ ।
तेषां बलविघातो हि कर्तव्यस्तात नित्यशः ॥३०॥
ते वयं प्राप्तकालस्य चिकीर्षां मन्त्रयामहे ।
यथा नो न ग्रसेयुस्ते सपुत्रबलबान्धवान् ॥३१॥

अर्थ—हे निष्पाप राजन् ! कर्तव्य कुछ और है और तुम कुछ और कररहे हो, क्योंकि हम सबका कर्तव्य तो यही है कि सदा पाण्डवों के बल का नाश करें, सो अब हम इस अवसर के लिये उपाय की मन्त्रणा करते हैं जिससे वह लोग हमको तथा हमारे पुत्र, सेना और संबन्धियों को हानि न पहुंचा सकें ॥

इति एकपंचाशोऽध्यायः समाप्तः

अथ द्विपंचाशोऽध्यायः प्रारभ्यते

धृतराष्ट्र उवाच

अहमप्येवमेवैतच्चिकीर्षामि यथा युवाम् ।
विवेक्तुं नाहमिच्छामि त्वाकारं विदुरं प्रति ॥१॥
ततस्तेषांगुणानेव कीर्त्तयामि विशेषतः ।
नावबुध्येत विदुरो ममाभिप्रायमिङ्गितैः ॥ २ ॥

अर्थ–धृतराष्ट्र बोले कि जिसप्रकार तुम दोनों कार्य करना चाहते हो मैं भी वैसा ही करना चाहता हूं, परंतु विदुर के प्रति मैं अपना अभिप्राय प्रकट करना नहीं चाहता, इसी प्रयोजन से मैं विदुर के सामने पाण्डवों के गुण ही विशेषता से कहा करता हूं जिससे मेरी चेष्टाओं द्वारा वह मेरा भीतरी आशय न समझ सकें॥

यच्च त्वं मन्यसे प्राप्तं तद्ब्रवीहि सुयोधन ।
राधेय मन्यसे यच्च प्राप्तकालं वदाशु मे॥३॥

अर्थ–हे दुर्योधन तथा हे कर्ण ! अब इस अवसर के लिये जो कुछ तुम दोनो कर्तव्य समझते हो सो मुझे शीघ्र बताओ ॥

दुर्योधन उवाच

अद्य तान् कुशलैर्विप्रैः सुगुप्तैराप्तकारिभिः ।
कुन्तीपुत्रान् भेदयामो माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥४॥

अर्थ–दुर्योधन ने कहा कि अब हमें यह करना चाहिये कि गुप्तरूप से अपने विश्वासपात्र चतुर ब्राह्मणों द्वारा उपदेश दिलवाकर कुन्ती तथा माद्री के पुत्रों में फूट डलवावें ॥

अथवा द्रुपदो राजा महद्भिर्वित्तसञ्चयैः ।
पुत्राश्चास्य प्रलोभ्यन्ताममात्याश्चैव सर्वशः ।
परित्यजेद्यथा राजा कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥५॥

अर्थ—अथवा वहुत बड़े धन के लोभ से राजा द्रुपद और उसके पुत्रों तथा मन्त्रियों को पूर्णतया अपनी ओर मिला लिया जाय, जिससे राजा द्रुपद कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर को त्याग दें ॥

अथ तत्रैव वा तेषां निवासं रोचयन्तु ते ।
इहैषां दोषवद्वासं वर्णयन्तु पृथक् पृथक् ।
ते भिद्यमानास्तत्रैव मनः कुर्वंतु पाण्डवाः ॥६॥

अर्थ—अथवा वह गुप्तचर पृथक् २ पाण्डवों से मिलकर उनको वहीं पर रहने में रुचि दिलावें और यहां आकर रहना उनके लिये दोषपूर्ण जतलावें जिससे वह लोग उनके कहने में आये हुए वहीं पर रहना पसंद करें ॥

अथवा कुशलाः केचिदुपायनिपुणा नराः ।
इतरेतरतः पार्थान् भेदयन्त्वनुरागतः ॥७॥
व्युत्थापयन्तु वा कृष्णां वहुत्वासुकरं हि तत् ।
अथवा पाण्डवाँस्तस्यां भेदयन्तु ततश्च ताम् ॥८॥

अर्थ—अथवा कोई ऐसे उपाय में चतुर गुप्तपुरुष भेजे जावें जो अपने अनुराग द्वारा कुन्ती के पुत्रों में आपस में फूट डलवादें वा द्रौपदी को उच्चाटित कर देवें, क्योंकि अनेक पति होने से ऐसा किया जाना सहज है अथवा पहले पांचो पाण्डवों को उस द्रौपदी से फोड़ लेवें पश्चात् द्रौपदी को उनसे उच्चाटित कर देवें ॥

भीमसेनस्य वा राजन्नुपायकुशलैर्नरैः ।
मृत्युर्विधीयतां छन्नैः स हि तेषां बलाधिकः ॥९॥
तमाश्रित्य हि कौन्तेयः पुरा चास्मान्न मन्यते ।
स हि तीक्ष्णश्च शूरश्च तेषां चैव परायणम् ॥१०॥

अर्थ—हे राजन् ! अथवा उपाय में निपुण गुप्तपुरुषों द्वारा भीमसेन को मरवा दिया जाय क्योंकि वही उनमें अधिक बलवान् है, उसी के भरोसे पर युधिष्ठिर पहले भी हमलोगों को कुछ नहीं समझता था, और वही उन पांचों में तेज़, बहादुर तथा उन सबका सहारा है ॥

तस्मिंस्त्वभिहते राजन् हतोत्साहा हतौजसः ।
यतिष्यंते न राज्याय स हि तेषां व्यपाश्रयः॥११॥
अजेयो ह्यर्जुनःसंख्ये पृष्ठगोपे वृकोदरे ।
तमृते फाल्गुनो युद्धे राधेयस्य न पादभाक्॥१२॥

अर्थ—हे राजन ! भीमसेन के मरजाने पर वह लोग उत्साहहीन तथा तेजरहित होकर राज्य बटवाने के लिये यत्न नहीं करेंगे, क्योंकि भीमसेन ही उनका सहारा है, जब तक भीमसेन पाण्डवों का पृष्ठ पोषक है तब तक अर्जुन भी युद्ध में नहीं जीता जासक्ता, किन्तु उस भीमसेन के न रहने पर अर्जुन कर्ण के चौथाई अंश के बराबर भी नहीं रहेगा ॥

ते जानानास्तु दौर्बल्यं भीमसेनमृते महत् ।
अस्मान् बलवतो ज्ञात्वा न यतिष्यन्ति दुर्बलाः॥१३॥

इहागतेषु वा तेषु निदेशवशवर्त्तिषु ।
प्रवर्त्तिष्यामहे राजन् यथाशास्त्रं निबर्हणम् ॥१४॥

अर्थ–हे राजन् ! भीमसेन के विना वह लोग दुर्बल हुए २ अपनी दुर्बलता तथा हमलोगों की प्रबलता पर ध्यान देकर हमारे विरुद्ध यत्न न करेंगे अथवा यहां उनके आजाने पर तथा हमारे आज्ञाधीन होजाने पर हम लोग नीतिशास्त्र के अनुसार उनके वध करने का यत्न करेंगे ॥

अथवा दर्शनीयाभिः प्रमदाभिर्विलोक्यताम् ।
एकैकस्तत्र कौन्तेयस्ततः कृष्णा विरज्यताम् ॥१५॥
प्रेष्यतां चैव राधेयस्तेषामागमनाय वै ।
तैस्तैः प्रकारैःसन्नीय पात्यंतामाप्तकारिभिः ॥१६॥

अर्थ–अथवा कुन्ती के एक २ पुत्र को सुन्दर युवाति स्त्रियें दिखलाकर लुभाया जाय और पीछे कृष्णा के साथ उनकी फूट करदी जावे, उनको बुलाने के लिये कर्ण को भेज दिया जाय और भिन्न २ उपायों द्वारा नीति के प्रयोग से प्रमाणिक गुप्तचरों द्वारा उनको मरवा दिया जाय ॥

एतेषामप्युपायानां यस्ते निर्दोषवान्मतः ।
तस्य प्रयोगमातिष्ठ पुरा कालोतिवर्तते ॥१७॥
यावद्ध्यकृतविश्वासा द्रुपदे पार्थिवर्षभे ।
तावदेव हि शक्यास्ते न शक्यास्तु ततःपरम् ॥१८॥

अर्थ–इन सब उपायों में से जिस उपाय को आप निर्दोष समझते हों, उसी उपाय का प्रयोग करें जब तक अवसर न बीत

जाय, जब तक कि उन पाण्डवलोगों को राजा द्रुपद पर पूर्ण विश्वास न होने पावे, तब तक ही हम उनका उपाय कर सकते हैं पश्चात् नहीं ॥

एषा मम मतिस्तात निग्रहाय प्रवर्त्तते ।
साध्वी वा यदि वाऽसाध्वी किं वा राधेय मन्यसे॥१९॥

अर्थ–हे पिता ! मेरी सम्मति उनको अपने अधीन करने के लिये होती है, सो इसकी भलाई बुराई आप विचार लें अथवा हे कर्ण ! जो कुछ तुम्हारी सम्मति हो तुम भी बतादो ॥

इति द्विपंचाशोऽध्यायः समाप्तः

अथ त्रिपंचाशोऽध्यायः प्रारभ्यते

कर्ण उवाच

दुर्योधन तव प्रज्ञा न सम्यगिति मे मतिः ।
न ह्युपायेन ते शक्याः पाण्डवाः कुरुवर्द्धन ॥१॥
पूर्वमेव हि ते सूक्ष्मैरुपायैर्यतितास्त्वया ।
निग्रहीतुं तदा वीर न चैव शाकितास्त्वया ॥२॥

अर्थ–कर्ण ने कहा कि हे कुरुवंश की वृद्धि करने वाले दुर्योधन ! मुझे तुम्हारी सम्मति उचित नहीं जचती, क्योंकि हम नीति के उपायों से उन पाण्डवों का कुछ नहीं कर सकते, हे वीर ! तुमने पहले भी गुप्त उपायों द्वारा उनको पराजित करने का यत्न किया था परन्तु तुम सफलता नहीं पासके ॥

इहैव वर्त्तमानास्ते समीपे तव पार्थिव ।
अजातपक्षाः शिशवः शकिता नैव बाधितुम् ॥३॥
जातपक्षा विदेशस्था विवृद्धाः सर्वशोऽद्य ते ।
नोपायसाध्याः कौन्तेया ममैषा मतिरच्युता ॥४॥

अर्थ-हे राजन् ! जिससमय वह लोग बालकपन में इसी नगर में तुम्हारे समीप ही रहते थे और उनका कोई साथी भी नहीं बनने पाया था तब भी तुम उनको अपने अधीन नहीं बनासके थे, अब जब उनके साथी बहुत से बनगये और सब प्रकार से वह बढ़चढ़ गये तो इतनी दूर विदेश में रहते हुए पाण्डवों को तुम नीति के उपायों से कुछ हानि नहीं पहुंचा सकते, यह मेरी अटल सम्मति है ॥

नच ते व्यसनैर्योक्तुं शक्या दिष्टकृतेन च ।
शकिताश्चेप्सवश्चैव पितृपैतामहं पदम् ॥ ५ ॥
परस्परेण भेदश्च नाधातुं तेषु शक्यते ।
एकस्यां ये रताः पत्न्यां न भिद्यन्ते परस्परम् ॥६॥

अर्थ-वह लोग अपने पिता पितामह से प्राप्त हुए राज्यपद के अभिलाषी हैं और उनको तुम यत्न तथा प्रारब्ध से होने वाले किसी व्यसन में नहीं फंसा सकते, उनमें तुम आपस में फूट भी नहीं डाल सकते, क्योंकि जो सब एकही भार्या में रमण करते हैं उनमें आपस में विरोध नहीं होसकता, और:—

नचापि कृष्णा शक्यते तेभ्यो भेदायितुं परैः ।
परिद्यूनान् वृतवती किमुताद्य मृजावतः ॥७॥

अर्थ-कृष्णा को भी उनसे फोड़ नहीं सकते जबकि दुर्दशा में होतेहुए भी पाण्डवों को उसने वर लिया तो अब सुदशा में होते हुओं को कैसे त्याग सकेगी ॥

आर्यव्रतश्च पाञ्चाल्यो न स राजा धनप्रियः ।
न सन्त्यक्ष्यति कौन्तेयान् राज्यदानैरपि ध्रुवम् ॥८॥
तथास्य पुत्रो गुणवाननुरक्तश्च पाण्डवान् ।
तस्मान्नोपायसाध्यांस्तानहं मन्ये कथंचन ॥९॥

अर्थ-और पाञ्चालनरेश राजा द्रुपद सदाचारी होने से धन का लालची नहीं, इसलिये यह निश्चय है कि वह राज्य के देने पर भी पाण्डवों को नहीं त्यागेगा तथा उसका पुत्र धृष्टद्युम्न भी गुणवान् और पाण्डवों का प्रेमी है, इन सब कारणों से मैं समझता हूं कि पाण्डवों को नीति के उपायों द्वारा हम किसी प्रकार भी वशीभूत नहीं करसकते ॥

इदं त्वद्य क्षमं कर्त्तुमस्माकं पुरुषर्षभ ।
यावन्नकृतमूलास्ते पाण्डवेया विशाम्पते ।
तावत्प्रहरणीयास्ते तत्तुभ्यं तात रोचताम् ॥१०॥

अर्थ-हे प्यारे श्रेष्ठ पुरुष राजन् ! अब हम केवल यह कर सकते हैं कि जब तक पाण्डवों की जड़ न जमने पावे तब तक उनके साथ युद्ध करने का यत्न करें,सो इसी बात को तुम उत्तम समझो॥

अस्मत्पक्षो महान् यावद्यावत्पाञ्चालको लघुः ।
तावत् प्रहरणं तेषां क्रियतां मा विचारय ॥११॥

वाहनानि प्रभूतानि मित्राणि च कुलानि च ।
यावन्न तेषां गान्धारे तावद् विक्रम पार्थिव ॥१२॥

अर्थ–जब तक हमारे साथी बहुत हैं और पाञ्चालनरेश छोटा है, तब तक उन पर चढ़ाई करदो इसमें सोचविचार मत करो, हे गान्धारी के पुत्र राजा दुर्योधन ! जब तक उनके पास बहुत सवारियें, बहुत मित्र तथा संबन्धी नहीं हैं तब तक उन पर चढ़ाई करनी चाहिये ॥

यावच्च राजा पाञ्चाल्यो नोद्यमे कुरुते मनः ।
सहपुत्रैर्महावीर्यैस्तावद्विक्रम पार्थिव ॥१३॥
यावन्नायाति वार्ष्णेयः कर्षन्यादववाहिनीम् ।
राज्यार्थे पाण्डवेयानां पाञ्चाल्यसदनं प्रति ॥१४॥

अर्थ–हे राजन् ! जब तक अपने महाबली बड़े २ पुत्रों समेत पाञ्चालनरेश राजा द्रुपद युद्ध के उद्योग का संकल्प नहीं करता और जब तक यदुवंशिओं की सेना को साथ लिये हुए वृष्णिवंशी कृष्ण पाण्डवों को राज्य दि[illegible]ने के लिये उनकी सहायतार्थ पाञ्चालनरेश के घर पर नहीं आता तब तक तुम अपना पराक्रम दिखलाओ, और :–

वसूनि विविधान् भोगान् राज्यमेव च केवलम् ।
नात्याज्यमस्ति कृष्णस्य पाण्डवार्थे कथंचन ॥१५॥

अर्थ–धन, नानाप्रकार के सुखभोग तथा राज्य इनमें से कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जिसको कृष्ण पाण्डवों के हित के लिये न त्याग सकता हो ॥

विक्रमेण मही प्राप्ता भरतेन महात्मना ।
विक्रमेण च लोकांस्त्रीन् जितवान्पाकशासनः ॥१६॥
विक्रमं च प्रशंसन्ति क्षत्रियस्य विशाम्पते ।
स्वको हि धर्मः शूराणां विक्रमः पार्थिवर्षभ ॥१७॥

अर्थ–महात्मा भरत राजा ने पराक्रम से ही पृथ्वी को जीता और इन्द्र ने भी पराक्रम से ही तीनो लोकों को विजय किया था, हे श्रेष्ठ पुरुष राजन् ! क्षत्रिय के लिये पराक्रम ही प्रशंसनीय है, और अपना धर्म भी शूरवीरों के लिये पराक्रम ही है ॥

ते बलेन वयं राजन् महता चतुरङ्गिणा ।
प्रमथ्य द्रुपदं शीघ्रमानयामहे पाण्डवान् ॥१८॥
न हि साम्ना न दानेन न भेदेन च पाण्डवाः ।
शक्याः साधयितुं तस्माद्विक्रमेणैव तान् जहि ॥१९॥

अर्थ–हे राजन् ! सो हमलोग बड़ी भारी चतुरङ्गिणी सेना द्वारा राजा द्रुपद को मारकर पाण्डवों को यहां ले आयगे, पाण्डवों को साम, दान तथा भेद, इन उपायों से नहीं जीत सकते, इस लिये चौथे उपाय दण्ड अर्थात् पराक्रम द्वारा ही उनको जीतकर मारडालना चाहिये ॥

तान् विक्रमेण जित्वेमामखिलां भुंक्ष्व मेदनीम् ।
अतो नान्यं प्रपश्यामि कार्योपायं जनाधिप ॥२०॥

अर्थ–हे राजन् ! उनको पराक्रम से जीतकर इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर राज्य भोगें, मैं इसके अतिरिक्त और कोई अपनी कार्यसिद्धि का उपाय नहीं देखता ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु राधेयवचो धृतराष्ट्रः प्रतापवान् ।
अभिपूज्य ततः पश्चादिदं वचनमब्रवीत् ॥ २१॥
उत्पन्नं महाप्राज्ञे कृतास्त्रे सूतनन्दने ।
त्वयि विक्रमसम्पन्नमिदं वचनमीदृशम् ॥२२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! प्रतापी राजा धृतराष्ट्र कर्ण की उक्त बात सुनकर उसका सत्कार करके पश्चात् कहने लगे कि हे सूतपुत्र कर्ण ! तुम बड़े बुद्धिमान् तथा अस्त्रविद्या में निपुण हो, इसलिये यह पराक्रम से भरे हुए वचन तुम्हारे लिये ठीक ही हैं ॥

भूय एव तु भीष्मश्च द्रोणो विदुर एव च ।
युवां च कुरुतं बुद्धिं भवेद्यानः सुखोदया ॥२३॥
तत आनाय्य तान् सर्वान्मन्त्रिणः सुमहायशाः।
धृतराष्ट्रो महाराज मन्त्रयामास वै तदा ॥२४॥

अर्थ—परन्तु भीष्म, द्रोण, विदुर तथा तुम दोनों मिलकर इस बात पर विचार करो कि हमारे सुख के उदय का क्या उपाय है, हे राजन् ! तब महाप्रतापी राजा धृतराष्ट्र सब मान्त्रियों को बुलवाकर इस विषय पर विचार करने लगे ॥

इति त्रिपंचाशोऽध्यायः समाप्तः

अथ चतुष्पंचाशोऽध्यायः प्रारभ्यते

भीष्म उवाच

न रोचते विग्रहो मे पांडुपुत्रैः कथंचन ।
यथैव धृतराष्ट्रो मे तथा पाण्डुरसंशयम् ॥१॥
गांधार्य्याश्च यथा पुत्रास्तथा कुंतीसुता मम ।
यथा च मम ते रक्ष्या धृतराष्ट्र तथा तव ॥२॥

अर्थ–भीष्मजी बोले कि पाण्डुपुत्रों के साथ युद्ध करना मुझे किसी प्रकार भी अभीष्ट नहीं, क्योंकि जैसा मेरे लिये धृतराष्ट्र है वैसा ही पाण्डु था इसमें कुछ सन्देह नहीं, हे धृतराष्ट्र ! जैसे मेरे लिये गान्धारी के पुत्र हैं वैसे ही कुन्ती के पुत्र हैं, इसलिये जिसप्रकार मुझे उनकी रक्षा करनी उचित है उसीप्रकार तुम्हारे पुत्रों की भी रक्षा कर्तव्य है ॥

एवं गते विग्रहं तैर्न रोचे सन्धाय वीरैर्दीय-
तामर्द्धभूमिः । तेषामपीदं प्रपितामहानां
राज्यं पितुश्चैव कुरूत्तमानाम् ॥ ३ ॥

अर्थ–ऐसी दशा में मैं उनके साथ युद्ध करना उचित नहीं समझता प्रत्युत उन वीरों के साथ सन्धि करके आधी भूमी उन्हें देदेनी चाहिये, क्योंकि वह भी कुरुवंश के भूषण हैं और उनके भी दादा–परदादा तथा पिता का राज्य है ॥

दुर्योधन यथा राज्यं त्वमिदं तात पश्यसि ।
मम पैतृकमित्येवं तेऽपि पश्यन्ति पाण्डवाः ॥४॥
यदि राज्यं न ते प्राप्ताः पाण्डवेयायशस्विनः।
कुत एव तवापीदं भारतस्यापि कस्यचित् ॥५॥

अर्थ–हे प्यारे दुर्योधन ! जैसे तुम समझते हो कि यह राज्य मेरे पिता की संपत्ति है वैसे ही वह पाण्डव भी समझते हैं, यदि उन प्रतापी पाण्डवों का राज्यपर कोई अधिकार नहीं है तो तुम्हारा या किसी भी भरतवंशी का कैसे अधिकार होसक्ता है ॥

अथ धर्मेण राज्यं त्वं प्राप्तवान् भरतर्षभ ।
तेऽपि राज्यमनुप्राप्ताः पूर्वमेवेति मे मतिः ॥६॥
मधुरेणैव राज्यस्य तेषामर्द्धं प्रदीयताम् ।
एतद्धि पुरुषव्याघ्र हितं सर्वजनस्य च ॥७॥

अर्थ–हे भरतवंश श्रेष्ठ ! यदि तुम अपने आपको धर्म से राज्य के पाने वाला समझते हो तो मेरा यह निश्चय है कि उन्होंने भी पहले ही राज्य को पालिया, इसलिये उचित यही है कि सरलता के साथ उनका आधा राज्य देदियाजाय, हे श्रेष्ठ-पुरुष ! इसी में सबका भला है ॥

अतोऽन्यथाचेत् क्रियते न हितं नो भविष्यति ।
तवाप्यकीर्तिः सकला भविष्यति न संशयः॥८॥
कीर्त्तिरक्षणमातिष्ठ कीर्त्तिर्हि परमं बलम् ।
नष्टकीर्तेर्मनुष्यस्य जीवितं ह्यफलं स्मृतम् ॥९॥

अर्थ—यदि इससे उलटा किया जायगा तो हमारा भला न होगा और तुम्हारी भी भारी अपकीर्त्ति होगी इसमें संदेह नहीं, तुम अपनी कीर्त्ति की रक्षा का यत्न करो, क्योंकि कीर्त्ति ही परम बल है, जिस मनुष्य की कीर्त्ति नष्ट होजाय उसका जीवन ही निष्फल होजाता है ॥

यावत्कीर्त्तिर्मनुष्यस्य न प्रणश्यति कौरव ।
तावज्जीवति गान्धारे नष्टकीर्त्तिस्तु नश्यति ॥१०॥
तमिमं समुपातिष्ठ धर्मं कुरु कुलोचितम् ।
अनुरूपं महाबाहो पूर्वेषामात्मनः कुरु ॥११॥

अर्थ—हे गान्धारी के पुत्र कुरुवंशी दुर्योधन ! जब तक मनुष्य की कीर्त्ति है तभी तक वह जीता है किंतु कीर्त्ति नष्ट होने पर मरजाता है, हे महाबाहु ! इसलिये तुम कुरुवंश के योग्य तथा अपने पुरुषाओं के अनुरूप जो अपना कर्तव्य हो उसका पालन करो॥

दिष्टया ध्रियंते पार्था हि दिष्टया जीवति सा पृथा ।
दिष्ट्या पुरोचनः पापो न सकामोत्ययं गतः॥१२॥
यदा प्रभृति दग्धास्ते कुंतिभोजसुतासुताः ।
तदा प्रभृति गांधारे न शक्नोम्यभिवीक्षितुम् ॥१३॥

अर्थ—सौभाग्य की बात है कि वह कुन्ती और कुन्ती के पुत्र पाण्डव अभी जीवित हैं, सौभाग्य की बात है कि पापी पुरोचन का मनोरथ पूरा नहीं हुआ और वह मर भी गया, हे गान्धारी के पुत्र ! जब से मैंने सुना था कि कुन्तीभोज की पुत्री कुन्ती के पुत्र पाण्डव जल गये तब से मैं तुम्हारी ओर देख भी नहीं सक्ता था॥

लोके प्राणभृतां कश्चिच्छ्रुत्वा कुन्तीं तथा गताम् ।
न चापि दोषेण तथा लोको मन्येत्पुरोचनम् ।
यथा त्वां पुरुषव्याघ्र लोको दोषेण गच्छति ॥१४॥

अर्थ—हे सिंहपुरुष दुर्योधन ! संसार में कोई भी पुरुष जो कुन्ती का पुत्रों समेत वैसा होना अर्थात् लाक्षागृह में जलाया जाना सुनता था वह पुरोचन को वैसा दोष नहीं लगाता था जैसा तुमको पाप लगाता था ॥

तदिदं जीवितं तेषां तव किल्विषनाशनम् ।
सम्मन्तव्यं महाराज पाण्डवानां च दर्शनम् ॥१५॥
न चापि तेषां वीराणां जीवतां कुरुनन्दन ।
पित्र्योंऽशः शक्यआदातुमपि वज्रभृतां स्वयम् ॥१६॥
ते सर्वेऽवस्थिता धर्मे सर्वे चैवैकचेतसः ।
अधर्मे न निरताश्च तुल्ये राज्ये विशेषतः ॥१७॥
यदि धर्मस्त्वया कार्यो यदि कार्यं प्रियं च मे ।
क्षेमं च यदि कर्त्तव्यं तेषामर्द्धं प्रदीयताम् ॥१८॥

अर्थ—वह सभी पाण्डव धर्म पर दृढ़ तथा सब एक चित्त हैं, और विशेषकर उनका आधा राज्य होते हुए भी वह अधर्म की ओर नहीं जाते, यदि तुम धर्म और मेरी प्रसन्नता करना चाहते हो तथा अपना कल्याण करना अभीष्ट है तो उनको आधा राज्य देदेना ही उचित है ॥

इति चतुष्पंचाशोऽध्यायः समाप्तः

अथ पंचपंचाशोऽध्यायः प्रारभ्यते

द्रोण उवाच

मन्त्राय समुपानीतैर्धृतराष्ट्र हितैर्नृप ।
धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च वाच्यमित्यनुशुश्रुम ॥ १ ॥
ममाप्येषा मतिस्तात या भीष्मस्य महात्मनः ।
संविभज्यास्तु कौन्तेया धर्म एष सनातनः ॥ २ ॥

अर्थ–द्रोणाचार्य बोले कि हे राजन् धृतराष्ट्र ! हम यह सुनते आये हैं कि जो पुरुष सलाह के लिये बुलाये जावें उन्हें उचित है कि हितैषी होकर धर्म, अर्थ तथा यश करने वाली सलाह देवें, हे प्यारे ! मेरी भी यही सम्मति है जो महात्मा भीष्मजी की है, सो कुन्ती के पुत्रों को शीघ्र ही राज्य का बटवारा करके देदो, यही सनातन धर्म है ॥

प्रेष्यतां द्रुपदायाशु नरः कश्चित्प्रियंवदः ।
बहुलं रत्नमादाय तेषामर्थाय भारत ॥ ३ ॥
मिथः कृत्यं च तस्मै स आदाय वसु गच्छतु ।
वृद्धिं च परमां ब्रूयात्त्वत्संयोगोद्भवांस्तथा ॥ ४ ॥

अर्थ–हे भरतवंशी ! किसी प्रियभाषी दूत को बहुत से रत्न देकर राजा द्रुपद के समीप पाण्डवों के बुलाने के लिये शीघ्र भेजना चाहिये, वह उनके समीप परस्पर के संबन्ध का कार्य तथा धन

लोके प्राणभृतां कश्चिछ्रुत्वा कुन्तीं तथा गताम् ।
न चापि दोषेण तथा लोको मन्येत्पुरोचनम् ।
यथा त्वां पुरुषव्याघ्र लोको दोषेण गच्छति ॥१४॥

अर्थ–हे सिंहपुरुष दुर्योधन ! संसार में कोई भी पुरुष जो कुन्ती का पुत्रों समेत वैसा होना अर्थात् लाक्षागृह में जलाया जाना सुनता था वह पुरोचन को वैसा दोष नहीं लगाता था जैसा तुमको पाप लगाता था ॥

तदिदं जीवितं तेषां तव किल्विषनाशनम् ।
सम्मन्तव्यं महाराज पाण्डवानां च दर्शनम् ॥१५॥
न चापि तेषां वीराणां जीवतां कुरुनन्दन ।
पित्र्योंऽशः शक्यआदातुमपि वज्रभृतां स्वयम् ॥१६॥
ते सर्वेऽवस्थिता धर्मे सर्वे चैवैकचेतसः ।
अधर्मे न निरताश्च तुल्ये राज्ये विशेषतः ॥१७॥
यदि धर्मस्त्वया कार्यो यदि कार्यं प्रियं च मे ।
क्षेमं च यदि कर्त्तव्यं तेषामर्द्धं प्रदीयताम् ॥१८॥

अर्थ–वह सभी पाण्डव धर्म पर दृढ़ तथा सब एक चित्त हैं, और विशेषकर उनका आधा राज्य होते हुए भी वह अधर्म की ओर नहीं जाते, यदि तुम धर्म और मेरी प्रसन्नता करना चाहते हो तथा अपना कल्याण करना अभीष्ट है तो उनको आधा राज्य देदेना ही उचित है ॥

इति चतुष्पंचाशोऽध्यायः समाप्तः

अथ पंचपंचाशोऽध्यायः प्रारभ्यते

द्रोण उवाच

मन्त्राय समुपानीतैर्धृतराष्ट्र हितैर्नृप ।
धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च वाच्यमित्यनुशुश्रुम ॥ १ ॥
ममाप्येषा मतिस्तात या भीष्मस्य महात्मनः ।
संविभज्यास्तु कौन्तेया धर्म एष सनातनः ॥ २ ॥

अर्थ–द्रोणाचार्य बोले कि हे राजन् धृतराष्ट्र ! हम यह सुनते आये हैं कि जो पुरुष सलाह के लिये बुलाये जावें उन्हें उचित है कि हितैषी होकर धर्म, अर्थ तथा यश करने वाली सलाह देवें, हे प्यारे ! मेरी भी यही सम्मति है जो महात्मा भीष्मजी की है, सो कुन्ती के पुत्रों को शीघ्र ही राज्य का बटवारा करके देदो, यही सनातन धर्म है ॥

प्रेष्यतां द्रुपदायाशु नरः कश्चित्प्रियंवदः ।
बहुलं रत्नमादाय तेषामर्थाय भारत ॥ ३ ॥
मिथः कृत्यं च तस्मै स आदाय वसु गच्छतु ।
वृद्धिं च परमां ब्रूयात्त्वत्संयोगोद्भवांस्तथा ॥ ४ ॥

अर्थ–हे भरतवंशी ! किसी प्रियभाषी दूत को बहुत से रत्न देकर राजा द्रुपद के समीप पाण्डवों के बुलाने के लिये शीघ्र भेजना चाहिये, वह उनके समीप परस्पर के संबन्ध का कार्य तथा धन

लेकर जावे और वहां जाकर तुम्हारे और द्रुपद के परस्पर संबन्ध से होने वाली परमवृद्धि की प्रशंसा करे ॥

संप्रीयमाणं त्वां ब्रूयाद्राजन् दुर्योधनं तथा ।
असकृद्द्रुपदे चैव धृष्टद्युम्ने च भारत ॥५॥
उचितत्वं प्रियत्वं च योगस्यापि च वर्णयेत् ।
पुनः पुनश्च कौन्तेयान् माद्रीपुत्रौ च सान्त्वयन्॥६॥

अर्थ–हे भारतीय राजन् धृतराष्ट्र ! वह दूत वहां जाकर राजा द्रुपद तथा धृष्टद्युम्न से वार २ यह कहे कि राजा धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन पाण्डवों के समाचार से बड़े प्रसन्न हैं, वह दूत कुन्ती तथा माद्री के पुत्रों को धैर्य देते हुए इस विवाहसंबन्ध को भी वार २ उचित और प्रिय वर्णन करे ॥

हिरण्मयानि शुभ्राणि बहून्याभरणानि च ।
वचनात्तव राजेन्द्र द्रौपद्या संप्रयच्छतु ॥७॥
तथा द्रुपदपुत्राणां सर्वेषां भरतर्षभ ।
पाण्डवानां च सर्वेषां कुन्त्या युक्तानि यानि च ॥८॥

अर्थ–हे भरतवंश में श्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्र ! वह दूत तुम्हारी आज्ञा से बहुत से सुन्दर २ सुवर्ण के भूषण द्रौपदी, द्रुपद के सब पुत्रों और सब पाण्डवों तथा जो कुन्ती के योग्य हों वह कुन्ती को देवे ॥

एवं सान्त्वसमायुक्तं द्रुपदं पाण्डवैः सह ।
उक्त्वा सोऽनन्तरं ब्रूयात्तेषामागमनं प्रति ॥९॥

अनुज्ञातेषु वीरेषु बलं गच्छतु शोभनम् ।
दुःशासनो विकर्णश्चाप्यानेतुं पाण्डवानिह ॥१०॥

अर्थ-इस प्रकार वह दूत, पाण्डवों सहित द्रुपद को धैर्य के वचन कहकर पश्चात् राजा द्रुपद से पाण्डवों के आने के विषय में कहे, जब उन वीरों को आने की अनुमति मिलजाय तब सुन्दरसेना सहित दुःशासन और विकर्ण पाण्डवों को यहां लिवा लाने के लिये जावें ॥

ततस्ते पाण्डवाः श्रेष्ठाः पूज्यमाना सदा त्वया ।
प्रकृतीनामनुमते पदे स्थास्यन्ति पैतृके ॥११॥
एतत्तव महाराज पुत्रेषु तेषु चैव हि ।
वृत्तमौपयिकं मन्ये भीष्मेण सह भारत ॥१२॥

अर्थ-तब वह श्रेष्ठ पाण्डव सदा तुम से सत्कार किये हुए प्रजाओं की अनुमति से अपने पिता के राज्य पर स्थिर होजायंगे, हे भरतवंशी महाराज धृतराष्ट्र ! मैं भीष्म के साथ सहमत हूं कि तुम्हारे पुत्रों और पाण्डवों के लिये इस प्रकार न्याययुक्त वर्ताव करना उचित है ॥

कर्ण उवाच

योजितावर्थमानाभ्यां सर्वकार्येष्वनन्तरौ ।
न मन्त्रयेतां त्वच्छ्रेयः किमद्भुततरं ततः ॥१३॥
दुष्टेन मनसा यो वै प्रच्छन्नेनांतरात्मना ।
ब्रूयान्निःश्रेयसं नाम कथं कुर्यात्सतां मतम् ॥१४॥

अर्थ-कर्ण बोला कि तुम्हारे दोनों मन्त्री जो धन तथा मान से सत्कार पाये हुए तथा सब कार्यों में प्रधान हैं वह यदि तुम्हारी भलाई की बात न कहें तो इससे अधिक और क्या आश्चर्य हो सकता है, परन्तु जो पुरुष दुष्ट मन से भीतर कुछ और ही भाव रखता हुआ भलाई की बात कहे तो वह सज्जनों के योग्य सम्माति कैसे देसकता है ?॥

न मित्राण्यर्थकृच्छ्रेषु श्रेयसे चेतराय वा ।
विधिपूर्वं हि सर्वस्य दुःखं वा यदि वा सुखम् ॥१५॥
कृतप्रज्ञोऽकृतप्रज्ञो बालो वृद्धश्च मानवः ।
ससहायोऽसहायश्च सर्वं सर्वत्र विन्दति ॥१६॥

अर्थ-धन आदि के कष्ट में मित्र लोग कुछ भलाई वा बुराई नहीं करते किंतु अपने यत्न के अनुसार सब कोई दुःख वा सुख भोगता है, मनुष्य चाहे बुद्धिमान् हो, निर्बुद्धि हो, चाहे बालक वा वृद्ध हो, सहायकों वाला वा असहाय हो, किंतु सब कुछ सब स्थानों में प्राप्त करसकता है ॥

श्रूयते हि पुरा कश्चिदम्बुवीच इतीश्वरः ।
आसीद्राजगृहे राजा मागधानां महीक्षिताम् ॥१७॥
स हीनः करणैः सर्वैरुच्छ्वासपरमो नृपः ।
अमात्यसंस्थः सर्वेषु कार्येष्वेवाभवत्तदा ॥१८॥

अर्थ-सुना जाता है कि पहले मगधदेश के राजाओं के घराने में कोई "अम्बुवीच" नामक राजा था वह राजा अत्यन्त विश्वास करने वाला होकर सब साधनों से हीन हुआ २ सब कार्यों में मन्त्रियों के भरोसे रहने लगा ॥

तस्यामात्यो महाकर्णिर्बभूवैकेश्वरस्तदा ।
स लब्धबलमात्मान मन्यमानोऽवमन्यते ॥१९॥
स राज्ञ उपभोग्यानि स्त्रियो रत्नधनानि च।
आददे सर्वशो मूढ ऐश्वर्यं च स्वयं तदा ॥२०॥

अर्थ–तब महाकर्णि नामक उसका मन्त्री ही राजा बन बैठा और वह अपने आपको बलवान समझकर राजा का अपमान करने लगा तथा लालच से अन्धे हुए २ उस मन्त्री ने राजा के भोगने योग्य स्त्रियों, रत्नों तथा धनों को और राजा के ऐश्वर्य्य को भी स्वयं ग्रहण कर लिया ॥

तदादाय च लुब्धस्य लाभाल्लोभोऽप्यवर्द्धत ।
तथा हि सर्वमादाय राज्यमस्य जिहीर्षति ॥२१॥
हीनश्च करणैः सर्वैरुच्छ्वासिपरमस्य सः ।
यतमानोऽपि तद्राज्यं न शशाकेति नः श्रुतम् ॥२२॥

अर्थ–उस सबको लेकर ज्यों २ लाभ होने लगा त्यों २ उस मन्त्री का लोभ भी बढ़ता गया, तात्पर्य यह है कि वह सब कुछ लेकर उसके राज्य छीनने की इच्छा करने लगा, अन्त में वह राजा सब साधनों से हीन होगया और केवल मन्त्रियों पर विश्वास करता २ राज्य खो बैठा पश्चात् यत्न करने पर भी वह राज्य को न पासका, ऐसा हमने सुना है ॥

एवं विद्धन्नुपादत्स्व मन्त्रिणां साध्वसाधुताम् ।
दुष्टानां चैव बोद्धव्यमदुष्टानां च भाषितम् ॥२३॥

अर्थ-हे विद्वान् ! इस प्रकार पहले तुम मन्त्रिलोगों की श्रेष्ठता और दुष्टता पर विचार करो, पश्चात् दुष्टों तथा श्रेष्ठों के भाषण को सुनो और समझो ॥

द्रोण उवाच

विद्म ते भावदोषेण यदर्थमिदमुच्यते ।
दुष्ट पाण्डवहेतोस्त्वं दोषमाख्यापयस्युत ॥२४॥
हितं तु परमं कर्ण ब्रवीमि कुलवर्द्धनम् ।
अथ त्वं मन्यसे दुष्टं ब्रूहि यत्परमं हितम् ॥२५॥

अर्थ-द्रोणाचार्य बोले कि हे दुष्ट कर्ण ! तुम्हारे दुष्ट अभिप्राय को हम समझते हैं जिसलिये तैने यह सब कुछ कहा है, तुम पाण्डवों के लिये कुछ और हानि की बात जतला रहे हो, हे कर्ण ! मैं तो हित की बात तथा कुल की उन्नति करने की सम्मति बतला रहा हूं, यदि तू हमें दुष्ट समझता है तो जो कुछ परम हित की बात हो वह तू कह ॥

अतोऽन्यथा चेत्क्रियते यद्ब्रवीमि परं हितम् ।
न वो वै न विनङ्क्ष्यन्ति न चिरेणैव मे मतिः॥२६॥

अर्थ-मैं जो कुछ अत्यन्त हित की बात कह रहा हूं यदि इस से उलटा किया जायगा तो मेरी सम्मति में तुमलोग शीघ्र ही नष्ट होजाओगे ॥

इति पंचपंचाशोऽध्यायः समाप्तः

अथ षट्पंचाशोऽध्यायः प्रारभ्यते

विदुर उवाच

राजन्निःसंशयं श्रेयो वाच्यस्त्वमसि बान्धवैः ।
न त्वशुश्रूषमाणे वै वाक्यं संप्रति तिष्ठति ॥१॥
प्रियं हितं च तद्वाक्यमुक्तवान् कुरुनन्दनः ।
भीष्मःशान्तनवो राजन् प्रतिगृह्णासि तन्न च ॥२॥

अर्थ-विदुर ने कहा कि हे राजन् ! इस में सन्देह नहीं कि तुम्हारे बन्धुलोगों को तुम्हारे हित की बात कहनी उचित है, परंतु जो पुरुष अपने हितकी बात सुनना ही नहीं चाहता हो,तो उसके मन में वचन ठहर नहीं सकता, हे राजन् ! कुरुवंशभूषण शन्तनु-पुत्र भीष्मजी ने तुम्हारे लिये प्यारी और हित की बात कही है परंतु तुम उस बात को ग्रहण नहीं करते ॥

तथा द्रोणेन बहुधा भाषितं हितमुत्तमम् ।
तच्च राधासुतः कर्णो मन्यते न हितं तव ॥३॥
चिन्तयंश्च न पश्यामि राजंस्तव सुहृत्तमम् ।
आभ्यां पुरुषसिंहाभ्यां यो वा स्यात्प्रज्ञयाधिकः ॥४॥

अर्थ-और द्रोणाचार्य ने भी तुम्हारे हितके लिये अनेक प्रकार से उत्तम २ उपदेश किये हैं पर राधा का पुत्र कर्ण उस में तुम्हारा हित नहीं समझता, हे राजन् ! मैं बहुत सोचविचार करने पर भी यह नहीं देखता कि इन दोनों सिंहपुरुषों से अधिक तुम्हारा अन्य कोई हितकारी वा बुद्धि में अधिक है ॥

इमौ हि वृद्धौ वयसा प्रज्ञया च श्रुतेन च ।
समौ च त्वयि राजेन्द्र तथा पाण्डुसुतेषु च ॥५॥
धर्मे चानवरौ राजन् सत्यतायां च भारत ।
रामाद्दाशरथेश्चैव गयाच्चैव न संशयः ॥६॥

अर्थ–हे राजेन्द्र ! यह दोनों महात्मा आयु,बुद्धि और विद्या में बड़े हैं तथा तुम और पाण्डु के पुत्र दोनों ही इनके लिये समान हैं, हे भारतीय राजन् ! यह दोनों पुरुष धर्म तथा सत्यता में दशरथ के पुत्र रामचन्द्र और महात्मा गय=सुग्रीव से कम नहीं हैं, इस में कुछ सन्देह नहीं ॥

न चोक्तवन्तावश्रेयः पुरस्तादपि किंचन ।
न चाप्यपकृतं किंचिदनयोर्लक्ष्यते त्वयि ॥७॥
तावुभौ पुरुषव्याघ्रावनागसि नृपे त्वयि ।
न मन्त्रयेतां त्वच्छ्रेयः कथं सत्यपराक्रमौ ॥८॥

अर्थ–हे राजन् ! इन दोनों ने पहले भी कोई अहित की बात नहीं कही और नाही आप केप्रति इनका कोई अपकार दीखता है, इसलिये आप की ओर से यह सिंहपुरुष सर्वथा निष्पाप हैं, हे नृप ! फिर यह दोनों सच्चेपराक्रमी सिंहपुरुष निरपराध होते हुए क्यों नहीं तुम्हारे हित की सलाह देंगे अर्थात् अवश्य देंगे ॥

इति मे नैष्ठिकी बुद्धिर्वर्त्तते कुरुनन्दन ।
न चार्थहेतोर्धर्मज्ञौ वक्ष्यतः पक्षमाश्रितम् ॥९॥

दुर्योधनप्रभृतयः पुत्रा राजन् यथा तव ।
तथैव पाण्डवेयास्ते पुत्रा राजन्न संशयः ॥१०॥

अर्थ-हे कुरुवंशी राजन ! मेरा यह दृढ़ निश्चय है कि यह दोनों धर्मात्मा पुरुष धन के लोभ से कभी पक्षपात की बात नहीं कहेंगे, हे राजन ! जैसे ही दुर्योधन आदिक तुम्हारे पुत्र हैं वैसे ही पाण्डव भी तुम्हारे पुत्र हैं, इसमें संशय नहीं ॥

तेषु चेदहितं किंचिन्मन्त्रयेयुरतद्विदः ।
मन्त्रिणस्ते न च श्रेयः प्रपश्यन्ति विशेषतः ॥११॥
अथ ते हृदये राजन् विशेषः स्वेषु वर्त्तते ।
अन्तरस्थं विवृण्वानाः श्रेयः कुर्युर्न ते ध्रुवम् ॥१२॥

अर्थ-हे राजन ! विशेषकर जो मन्त्री इस बात को न समझते हुए उन पाण्डवों की हानि करने की सलाह देवें वही तुम्हारे हित को नहीं समझते, हे राजन ! यदि तुम्हारे हृदय में अपने पुत्रों पर विशेष प्रेम है तो निश्चय रखना कि वह पुत्र तुम्हारे भीतरी भाव को प्रकट करते हुए तुम्हारे लिये भला न करेंगे ॥

एतदर्थमिमौ राजन् महात्मानौ महाद्युती ।
नोचतुर्विकृतं किंचिन्न ह्येष तव निश्चयः ॥१३॥
यच्चाप्यशक्यतां तेषामाहतुः पुरुषर्षभौ ।
तत्तथा पुरुषव्याघ्र तव तद्भद्रमस्तु ते ॥१४॥

अर्थ-परंतु हे राजन ! तुम्हारा ऐसा निश्चय नहीं होगा, इसीलिये इन दोनों महाउद्यमी महात्माओं ने तुम्हारे चित्त को दुखाने वाली ऐसी कोई बात नहीं कही, हे सिंहपुरुष राजन !

इन दोनों श्रेष्ठ पुरुषों ने जो यह कहा है कि पाण्डवों को तुम जीत नहीं सकते, सो ठीक ऐसा ही है, ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे ॥

येषां पक्षधरो रामो येषां मन्त्री जनार्दनः ।
किं नु तैरजितं संख्ये येषां पक्षे च सात्यकिः ॥१५॥
द्रुपदः श्वसुरो येषां येषां श्यालाश्च पार्षताः ।
धृष्टद्युम्नमुखा वीरा भ्रातरो द्रुपदात्मजाः ॥१६॥

अर्थ-जिनका पक्षपाती बलराम है और जिनका मन्त्री अर्थात् सलाहकार कृष्ण है तथा जिनके पक्ष में सात्यकि है, उन्होंने किस को युद्ध में नहीं जीत लिया अर्थात् सबको वह जीत सकते हैं, राजा द्रुपद जिनका श्वसुर है और पृषती के पुत्र अर्थात् द्रुपद के वीर पुत्र धृष्टद्युम्न आदि सब भाई जिनके साले हैं उनका जीतना असंभव है ॥

सोऽशक्यतां च विज्ञाय तेषामग्रे च भारत ।
दायाद्यतां च धर्मेण सम्यक् तेषु समाचर ॥१७॥
इदं निन्दितमयशः पुरोचनकृतं महत् ।
तेषामनुग्रहेणाद्य राजन् प्रक्षालयात्मनः ॥१८॥

अर्थ-हे भारतीय राजन् ! सो तुम उनको जीतना असंभव जानकर पहले ही धर्मपूर्वक उनके दायभाग को अर्पण करके उनके साथ अच्छा वर्ताव करो, हे राजन् ! पुरोचन का किया हुआ यह जो भारी निन्दित कलंक तुम्हारे ऊपर लगा हुआ है इस अपने कलंक को तुम आज ही पाण्डवों पर अनुग्रह करके धो डालो ॥

तेषामनुग्रहश्चायं सर्वेषां चैव नः कुले ।
जीवितं च परं श्रेयः क्षत्रस्य च विवर्द्धनम् ॥१९॥

बलवन्तश्च दाशार्हा बहवश्च विशाम्पते ।
यतः कृष्णस्ततः सर्वे यतः कृष्णस्ततो जयः ॥२०॥

अर्थ-उन पर यह अनुग्रह करना हमसब के हित का कारण, जीवनरूप, परम कल्याण तथा क्षत्रियवंश की वृद्धि करना है, हे राजन् ! यदुवंशी वीर भी बहुत हैं और बलवान् भी हैं, जिस ओर कृष्ण होंगे उसी ओर वह सब रहेंगे और जिस ओर कृष्ण हैं, उसी ओर विजय होगा ॥

यच्च साम्नैव शक्येत कार्यं साधयितुं नृप ।
को दैवशप्तस्तत्कार्यं विग्रहेण समाचरेत् ॥२१॥
श्रुत्वा च जीवतः पार्थान् पौरजानपदा जनाः ।
बलवद्दर्शने हृष्टास्तेषां राजन् प्रियं कुरु ॥२२॥

अर्थ-हे राजन् ! जो कार्य शान्ति से सिद्ध किया जासकता हो उसको युद्ध करके सिद्ध करे ऐसा कौन दुर्भागी पुरुष होगा, हे राजन् ! पुर और प्रान्त के रहने वाले पुरुष भी पण्डवों को जीवित सुनकर बहुत ही हर्षित हुए हैं, सो तुम उनका भी मनोरथ पूर्ण करो, और :—

दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः ।
अधर्मयुक्ता दुष्प्रज्ञा बाला मैषां वचः कृथाः॥२३॥
उक्तमेतत् पुरा राजन्मया गुणवतस्तव ।
दुर्योधनापराधेन प्रजेयं वै विनङ्क्ष्यति ॥२४॥

अर्थ- हे राजन् ! दुर्योधन, कर्ण, सुबल का पुत्र शकुनि यह लोग पापात्मा, निर्बुद्धि और बालक हैं, इसलिये इनका कहा

मत करो, हे राजन्! तुम गुणवान् हो, मैं ने पहले ही तुम से कहा था कि दुर्योधन के अपराध से यह सब प्रजा नष्ट होजायगी ॥

इति षट्पंचाशोऽध्यायः समाप्तः

अथ सप्तपंचाशोऽध्यायः प्रारभ्यते

धृतराष्ट्र उवाच

भीष्मः शान्तनवो विद्वान् द्रोणश्च भगवानृषिः ।
हितं च परमं वाक्यं त्वंच सत्यं ब्रवीषि माम् ॥१॥
यथैव पाण्डोस्ते वीराः कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
तथैव धर्मतः सर्वे मम पुत्रा न संशयः ॥२॥

अर्थ–धृतराष्ट्र ने कहा कि विद्वान् शन्तनुपुत्र भीष्म, भगवान् ऋषि द्रोणाचार्य तथा तुम भी मेरे लिये हितकारी तथा सच्ची बात कह रहे हो, जिस प्रकार वह महायोद्धा वीर पाण्डव कुन्ती के पुत्र धर्मानुसार मेरे पुत्र हैं वैसे ही यह सब मेरे पुत्र हैं, इसमें सन्देह नहीं ॥

यथैव मम पुत्राणामिदं राज्यं विधीयते ।
तथैव पाडुपुत्राणामिदं राज्यं न संशयः॥३॥
क्षत्तरानय गच्छैतान् सहमात्रा सुसत्कृतान् ।
तया च देवरूपिण्या कृष्णया सह भारत ॥४॥

अर्थ–और इस में भी संशय नहीं कि जैसे मेरे पुत्रों का इस राज्य पर अधिकार है वैसे ही पाण्डु के पुत्रों का भी है, हे भरत-

वंशी विदुर ! तुम जाओ और परमसत्कार के साथ पाण्डवों को उनकी माता तथा दिव्यरूपवाली कृष्णा समेत लिवा लाओ ॥

दिष्ट्या जीवान्ति ते पार्था दिष्ट्या जीवति सा पृथा ।
दिष्ट्या द्रुपदकन्यां च लब्धवन्तो महारथाः ॥५॥
दिष्ट्या वर्द्धामहे सर्वे दिष्ट्या शान्तः पुरोचनः ।
दिष्ट्या मम परं दुःखमपनीतं महाद्युते ॥६॥

अर्थ–हर्ष की बात है कि वह कुन्ती के पुत्र तथा कुन्ती जीवित हैं और यह भी हर्ष की बात है कि उन महावीर पुरुषों ने द्रुपद की पुत्री को प्राप्त कर लिया, हर्ष है कि हम सबकी उन्नति हुई और पुरोचन का नाश हुआ, हे महातेजस्वी विदुर ! मुझे यह भी हर्ष है कि तुमने मेरे भारी दुःख को दूर कर दिया है ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रस्य शासनात् ।
सकाशं यज्ञसेनस्य पाण्डवानां च भारत ॥७॥
समुपादाय रत्नानि वसूनि विविधानि च ।
द्रौपद्याः पाण्डवानां च यज्ञसेनस्य चैव हि ॥८॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे भारतीय राजन् जनमेजय ! तब धृतराष्ट्र की आज्ञा से विदुर जी द्रौपदी तथा पाण्डवों और यज्ञ-सेन=द्रुपद राजा के लिये अनेक प्रकार के रत्न और धन लेकर उनके समीप गये ॥

स चापि प्रतिजग्राह धर्मेण विदुरं ततः ।
चक्रतुश्च यथान्यायं कुशलप्रश्नसंविदम् ॥९॥

ददर्श पाण्डवांस्तत्र वासुदेवं च भारत ।
स्नेहात्परिष्वज्य स तान् पप्रच्छानामयं ततः ॥१०॥

अर्थ–तब राजा द्रुपद भी धर्मपूर्वक सत्कार के साथ उनको लिवा लेगये और उन दोनों ने परस्पर शिष्टाचार के अनुसार कुशल पूछा, हे भरतवंशी ! विदुरजी ने वहां पर पाण्डवों तथा कृष्णजी को देखा और प्रेम के साथ आलिङ्गन करके कुशल समाचार पूछा॥

वचनाद्धृतराष्ट्रस्य स्नेहयुक्तं पुनः पुनः ।
पप्रच्छानामयं राजंस्ततस्तान् पाण्डुनन्दनान् ॥११॥
प्रददौ चापि रत्नानि विविधानि वसूनि च ।
पाण्डानां च कुन्त्याश्च द्रौपद्याश्च विशाम्पते ।
द्रुपदस्य च पुत्राणां यथा दत्तानि कौरवैः ॥१२॥

अर्थ–हे राजन् ! इसके पश्चात् विदुर ने धृतराष्ट्र की ओर से प्रेमपूर्वक बार २ पाण्डवों की कुशल पूछी और अनेकप्रकार के रत्न तथा धन पाण्डवों, कुन्ती, द्रौपदी तथा द्रुपद के पुत्रों को दिये, जो कौरवों ने उन्हें दिये थे ॥

उवाच चामितमतिः प्रश्रितं विनयान्वितः ।
द्रुपदं पाण्डुपुत्राणां सन्निधौ केशवस्य च ॥१३॥

अर्थ–इस के पश्चात् महाबुद्धिमान् विनययुक्त विदुरजी पाण्डवों तथा कृष्णजी के सन्मुख इस प्रकार विनीत वचन बोले कि:-

राजन् शृणु सहामात्यः सपुत्रश्च वचो मम ।
धृतराष्ट्रः सपुत्रस्त्वां सहामात्यः सबान्धवः ॥१४॥

अब्रवीत् कुशलं राजन् प्रीयमाणः पुनः पुनः ।
प्रीतिमांस्ते दृढं चापि संबन्धेन नराधिप ॥१५॥

अर्थ—हे राजन् ! तुम अपने मन्त्रियों तथा पुत्रों समेत मेरी बात सुनो, राजा धृतराष्ट्र ने प्रसन्नता के साथ अपने पुत्रों, मन्त्रियों तथा संबन्धियों समेत बार २ तुम्हारा कुशल पूछा है तथा हे राजन् ! तुम्हारे साथ इस विवाह संबन्ध से वह अत्यन्त प्रसन्न हुए हैं, और :—

तथा भीष्मः शान्तनवः कौरवैः सह सर्वशः ।
कुशलं त्वां महाप्राज्ञः सर्वतः परिपृच्छति ॥१६॥
भारद्वाजो महाप्राज्ञो द्रोणः प्रियसखस्तव ।
समाश्लेषमुपेत्य त्वां कुशलं परिपृच्छति ॥१७॥

अर्थ—शन्तनुपुत्र महाबुद्धिमान् भीष्मजी ने सब कुरुवंशियों समेत तुम्हारी सब प्रकार से कुशल पूछी है और तुम्हारे प्यारे मित्र महाबुद्धिमान् द्रोणाचार्य ने आलिङ्गन करके तुम्हारा कुशल-समाचार पूछा है ॥

धृतराष्ट्रश्च पाञ्चाल्य त्वया संबन्धमीयिवान् ।
कृतार्थं मन्यतेऽऽत्मानं तथा सर्वेऽपि कौरवाः॥१८॥
न तथा राज्यसंप्राप्तिस्तेषां प्रीतिकरी मता ।
यथा सबन्धकं प्राप्य यज्ञसेन त्वया सह ॥१९॥

अर्थ—हे पाञ्चाल नरेश ! तुम्हारे साथ सम्बन्ध होजाने से धृतराष्ट्र तथा अन्य सब कुरुवंशी अपने आपको कृतार्थ मानते हैं,

हे द्रुपद राजन् ! उनको राज्य की प्राप्ति से उतनी प्रसन्नता नहीं हुई जितनी तुम्हारे साथ सम्बन्ध होजाने से हुई है ॥

एताद्विदित्वा तु भवान् प्रस्थापयतु पाण्डवान् ।
द्रष्टुं हि पाण्डुपुत्रांश्च त्वरन्ति कुरवो भृशम् ॥२०॥
विप्रोषिता दीर्घकालमेते चापि नरर्षभाः ।
उत्सुका नगरं द्रष्टुं भविष्यन्ति तथा पृथा ॥२१॥

अर्थ-ऐसा जानकर आप पाण्डवों को वहां भेजदें, क्योंकि पाण्डवों को देखने के लिये कुरुवंशी बहुत उत्कण्ठा कर रहे हैं और यह सिंहपुरुषपाण्डव तथा कुन्ती बहुत समय से परदेश में रहते रहे हैं इसलिये इनको भी अपना नगर देखने की उत्कण्ठा होगी, और:-

कृष्णामपि च पाञ्चालीं सर्वाः कुरुवरस्त्रियः ।
द्रष्टुकामाः प्रतीक्षन्ते पुरं च विषयाश्च नः ॥२२॥
स भवान् पाण्डुपुत्राणामाज्ञापयतु मा चिरम् ।
गमनं सह दाराणामेतदत्र मतं मम ॥२३॥

अर्थ-पाञ्चाली कृष्णा=द्रौपदी को देखने के लिये सब कुरुवंशियों की स्त्रियें तथा हमारे नगर और देश की स्त्रियें भी प्रतीक्षा कर रही हैं, सो मेरी इसमें यह सम्मति है कि आप पाण्डवों को उनकी भार्या समेत शीघ्रही वहां जाने की आज्ञा दें ॥

निसृष्टेषु त्वया राजन् पाण्डवेषु महात्मसु ।
ततोऽहं प्रेषयिष्यामि धृतराष्ट्रस्य शीघ्रगान् ।
आगमिष्यन्ति कौन्तेयाःकुन्ती च सहकृष्णया॥२४॥

अर्थ–हे राजन् ! महात्मा पाण्डवों को तुम्हारी आज्ञा मिलने पर मैं वहां से धृतराष्ट्र के शीघ्रगामी रथ भिजवाऊंगा जिनपर चढ़कर कुन्ती के पुत्र, कुन्ती तथा द्रौपदी यह सब वहां आजायेंगे ॥

इति सप्तपंचाशोऽध्यायः समाप्तः

अथ अष्टपंचाशोऽध्यायः प्रारभ्यते

द्रुपद उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथात्थ विदुराद्य माम् ।
ममापि परमो हर्षः संबन्धेऽस्मिन् कृते प्रभो ॥१॥
गमनं चापि युक्तं स्यादृढमेषां महात्मनाम् ।
न तु तावन्मया युक्तमेतद्वक्तुं स्वयं गिरा ॥२॥

अर्थ–द्रुपद ने कहा कि हे महाविद्वान् प्रभावशील विदुर ! मुझ से जो कुछ आप कह रहे हैं वह ठीक है, इस सन्बन्ध के करने पर मुझे भी अत्यन्त हर्ष हुआ है, और इन महात्मा पाण्डवों का वहां जाना भी उचित ही प्रतीत होता है, परन्तु यह बात मुझे अपनी वाणी से कहना उचित नहीं है ॥

यदा तु मन्यते वीरः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनार्जुनौ चैव यमौ च पुरुषर्षभौ ॥३॥
रामकृष्णौ च धर्मज्ञौ तदा गच्छन्तु पाण्डवाः ।
एतौ हि पुरुषव्याघ्रावेषां प्रियहिते रतौ ॥४॥

अर्थ-जब इस बात को वीर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर, श्रेष्ठ पुरुष भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, मान लें और धर्म के ज्ञाता बलराम और कृष्ण भी स्वीकार कर लें तब पाण्डवलोग वहां जावें, क्योंकि बलराम और कृष्ण यह दोनों सिंहपुरुष इन पाण्डवों की प्रसन्नता तथा हित करने में तत्पर रहते हैं॥

युधिष्ठिर उवाच

परवन्तो वयं राजंस्त्वयि सर्वे सहानुगाः ।
यथा वक्ष्यासि नः प्रीत्या तत्करिष्यामहे वयम्॥५॥
ततोऽब्रवीद् वासुदेवो गमनं रोचते मम ।
यथा वा मन्यते राजा द्रुपदः सर्वधर्मवित् ॥६॥

अर्थ-युधिष्ठिर बोले कि हे राजन् ! हम सब पराधीन और आपके आज्ञाकारी हैं, जैसे आप प्रसन्नतापूर्वक हमें कहेंगे वैसा ही हम करेंगे, तब कृष्ण ने कहा कि मेरी सम्मति में पाण्डवों का वहां जाना ही अच्छा प्रतीत होता है अथवा सम्पूर्ण धर्म्मों के ज्ञाता राजा द्रुपद जो कुछ उचित समझें वह कर्तव्य है ॥

द्रुपद उवाच

यथैव मन्यते वीरो दाशार्हः पुरुषोत्तमः ।
प्राप्तकालं महाबाहुः सा बुद्धिर्निश्चिता मम ॥७॥
यथैव हि महाभागाः कौन्तेया मम साम्प्रतम् ।
तथैव वासुदेवस्य पाण्डुपुत्रा न संशयः॥८॥

अर्थ-राजा द्रुपद ने कहा कि पुरुषोत्तम महाबाहु यदुवंशी कृष्ण जो कुछ इस अवसर के योग्य उचित सम्मति देते हैं, मेरी

भी वही दृढ़ सम्मति है, क्योंकि महाभाग्यवान् पाण्डव लोग जैसे इस समय मेरे प्यारे हैं ठीक वैसे ही कृष्ण के भी हैं, इसमें कुछ संदेह नहीं ।।

न तद्ध्यायति कौन्तेयः पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यथैषां पुरुषव्याघ्रः श्रेयो ध्यायति केशवः ।।९।।

अर्थ–कुन्ती पुत्र पाण्डव युधिष्ठिर भी उतनी भलाई की बात इन पाण्डवों के लिये नहीं सोचसकते जितनी सिंहपुरुष कृष्ण इनके लिये भलाई सोचते हैं ।।

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते समनुज्ञाता द्रुपदेन महात्मना ।
पाण्डवाश्चैव कृष्णश्च विदुरश्च महीपते ।।१०।।
आदाय द्रौपदीं कृष्णां कुन्तीं चैव यशस्विनीम् ।
सविहारं सुखं जग्मुर्नगरं नागसाह्वयम् ।।११।।

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तब महात्मा द्रुपद राजा ने पाण्डवों को जाने की अनुमति देदी, तब पाण्डव, कृष्ण तथा विदुर यह सब लोग द्रुपद की पुत्री कृष्णा तथा प्रतापवती कुन्ती को साथ लेकर कुशलपूर्वक हस्तिना पुर को चले ।।

श्रुत्वा चाप्यागतान् वीरान् धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
प्रतिग्रहाय पाण्डूनां प्रेषयामास कौरवान् ।।१२।।
विकर्णं च महेष्वासं चित्रसेनं च भारत ।
द्रोणं च परमेष्वासं गौतमं कृपमेव च ।।१३।।

अर्थ–हे भारतीय राजन् ! तब राजा धृतराष्ट्र ने वीर पाण्डवों का आना सुनकर उनके लिवा लाने के लिये कुरुवंशी पुरुषों तथा महाधनुर्धारी विकर्ण, चित्रसेन, महाधनुर्धारी द्रोणाचार्य और गोतमवंशी कृपाचार्य को भेजा ॥

तैस्ते परिवृता वीराः शोभमाना महाबलाः ।
नगरं हस्तिनापुरं शनैः प्रविविशुस्तदा ॥१४॥
तत उच्चावचा वाचः पौरैः प्रियचिकीर्षुभिः ।
उदीरिता अशृण्वंस्ते पांडवा हृदयङ्गमाः ॥१५॥

अर्थ–तब वह वीर पाण्डव उन आये हुए पुरुषों से घिरे हुए शोभा के साथ धीरे २ हस्तिनापुर नगर में प्रविष्ट हुए, इसके पश्चात् मार्ग में पाण्डवों ने अपने हितकारी पुरवासियों की कही हुई भिन्न २ प्रकार की मनोहर बातें इसप्रकार सुनीं कि:—

अयं स पुरुषव्याघ्रः पुनरायाति धर्मवित् ।
यो नः स्वानिव दायादान् धर्मेण परिरक्षति ॥१६॥
अद्य पाण्डुर्महाराजो वनादिव जनप्रियः ।
आगतः प्रियमस्माकं चिकीर्षुर्नात्र संशयः ॥१७॥

अर्थ–आज यह वही सिंहसमान पुरुष धर्मज्ञाता युधिष्ठिर फिर लौट आये, जो हम लोगों को अपने सन्तान के समान समझ कर धर्म के साथ रक्षा करते थे, इस में सन्देह नहीं कि मानो आज प्रजा के प्रेमी महाराज पाण्डु ही हमलोगों की भलाई करने की इच्छा करके वन से लौट आये हैं ॥

ततस्ते धृतराष्ट्रस्य भीष्मस्य च महात्मनः ।
अन्येषां च तदर्हाणां चक्रुः पादाभिवन्दनम् ॥१८॥

कृत्वा तु कुशलप्रश्नं सर्वेण नागरेण च ।
न्यविशन्ताथ वेश्मानि धृतराष्ट्रस्य शासनात् ॥१९॥

अर्थ–तब उन पाण्डवों ने राजा धृतराष्ट्र, महात्मा भीष्म और अन्य वृद्ध योग्य पुरुषों के चरणों में प्रणाम किया, पश्चात् उन से तथा अन्य सब नगर के मनुष्यों से कुशल प्रश्न हो चुकने के अनन्तर धृतराष्ट्र की आज्ञा से वह लोग महलों में प्रविष्ट हुए ॥

विश्रान्तास्ते महात्मानः कंचित्कालं महाबलाः ।
आहूता धृतराष्ट्रेण राज्ञा शान्तनवेन च ॥२०॥

अर्थ–उन महाबली महात्मा पाण्डवों ने वहां ठहरकर कुछ समय तक विश्राम किया, तदनन्तर राजा धृतराष्ट्र और भीष्म पितामह ने उनको बुलवाया ॥

धृतराष्ट्र उवाच

भ्रातृभिः सह कौन्तेय निबोध गदतो मम ।
पुनर्नो विग्रहो मा भूत् खाण्डवप्रस्थमाविश ॥२१॥
न च वो वसतस्तत्र कश्चिच्छक्तः प्रबाधितुम् ।
अर्द्धं राज्यस्य संप्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविश ॥२२॥

अर्थ–धृतराष्ट्र ने कहा कि हे कुन्ती के पुत्र युधिष्ठिर ! तुम अपने भाइयों समेत मेरी बात पर ध्यान दो, तुम "खाण्डवप्रस्थ" नामी प्रान्त में प्रवेश करो जिससे हमारा तुम्हारा फिर कभी झगड़ा न हो, वहां रहते हुए तुमलोगों को कोई क्लेश नहीं पहुंचा सकता इसलिये तुम राज्य का आधा भाग ग्रहण करके "खाण्ड-वप्रस्थ" में चले जाओ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं नृपं सर्वे प्रणम्य च ।
प्रतस्थिरे ततो घोरं वनं तन्मनुजर्षभाः ।
अर्द्धं राज्यस्य संप्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविशन् ॥२३॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! वह सिंहपुरुष पांडव उस बचन को स्वीकार कर तथा राजा धृतराष्ट्र को प्रणाम करके "खाण्डवप्रस्थ" नामी भयंकर बन की ओर चल दिये और इस-प्रकार राज्य का आधा भाग पाकर खाण्डवप्रस्थ में प्रविष्ट हो गये ॥

ततस्ते पाण्डवास्तत्र गत्वा कृष्णपुरोगमाः ।
मण्डयांचक्रिरे तद्वै पुरं स्वर्गवदच्युताः ॥ २४ ॥
ततः पुण्ये शिवे देशे शान्तिं कृत्वा महारथाः ।
नगरं स्थापयामासुर्द्वैपायनपुरोगमाः ॥२५॥

अर्थ–तब वह धैर्यवान् पाण्डवलोग कृष्ण को आगे करके वहां पहुंचे और उन्होंने उस पुरी को सुखों से पूर्ण तथा अलंकृत कर दिया, उन महावीर पुरुषों ने व्यासजी को आगे करके उस पवित्र शुभस्थान में शान्तिपूर्वक अपनी राजधानी का वह नगर स्थापित किया ॥

सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलंकृतम् ।
प्राकारेण च संपन्नं दिवमावृत्य तिष्ठता ॥२६॥
गुप्तमभ्रचयप्रख्यैर्गोपुरैर्मन्दरोपमः ।
विविधैरपि निर्विद्धैः शस्त्रोपेतैः सुसंवृतैः ॥२७॥

अर्थ—उस नगर को उन्होंने समुद्र के समान बड़ी २ खाईयों से शोभित तथा आकाश से बातें करने वाले ऊंचे कोटों से भूषित किया, नगर के द्वार बादलों के समूह समान शोभायुक्त तथा मन्दर-पर्वत के समान ऊंचे और विविध प्रकार के शस्त्रों से युक्त, अत्यन्त दृढ़ और भलेप्रकार बन्द होने वाले बनाकर उस नगर की रक्षा की॥

शक्तिभिश्चावृतं तद्धि द्विजिह्वैरिव पन्नगैः।
तल्पैश्चाभ्यसिकैर्युक्तं शुशुभे योधरक्षितम् ॥२८॥
तीक्ष्णांकुशशतघ्नीभिर्यन्त्रजालैश्च शोभितम्।
आयसैश्च महाचक्रैः शुशुभे तत्पुरोत्तमम् ॥२९॥

अर्थ—वह नगर दो जिह्वा वाले सांपों के समान "शक्ति" नामक शस्त्रों से परिपूर्ण तथा शस्त्रादि के अभ्यास में निपुण "तल्प" = रक्षक पुरुषों से युक्त और योधा लोगों से सुरक्षित किये जाने पर परम शोभायमान हुआ, वह उत्तमनगर तीक्षण अंकुश, शतघ्नी तथा यन्त्र सहित शस्त्रों के समूह और लोहे के बने हुए महाचक्र नामी शस्त्रों से अत्यन्त शोभायमान होगया ॥

सुविभक्तमहारथ्यं देवताबाधवर्जितम्।
विरोचमानं विविधैः पांडुरैर्भवनोत्तमैः॥३०॥
तत् त्रिविष्टपसंकाशमिन्द्रप्रस्थं व्यरोचत।
मेघवृन्दमिवाकाशे विद्धं विद्युत्समावृतम् ॥३१॥

अर्थ—उस नगर में बड़ी चौड़ी गलियें बनाई गई, और देवता अर्थात् जल आदि के संबन्ध से होने वाली पीड़ाओं से वह नगर सुरक्षित किया गया, अनेक प्रकार के बड़े २ श्वेत

भवनों मे शोभायमान वह "इन्द्रप्रस्थ" राजधानी मानों स्वर्ग के समान प्रकाशमान आकाश में विजलियों से युक्त वादलों का समूह था॥

तत्र रम्ये शिवे देशे कौरव्यस्य निवेशनम् ।
शुशुभे धनसंपूर्णं धनाध्यक्षक्षयोपमम् ॥३२॥

अर्थ–उस नगर के एक उत्तमस्थान में कुरुवंशी राजा युधिष्ठिर का धनों से परिपूर्ण महल ऐसा शोभायमान था, मानों संसारभर के धनों के स्वामी का भवन प्रतीत होता था ॥

तत्रागच्छन् द्विजा राजन् सर्ववेदविदांवराः ।
निवासं रोचयन्तिस्म सर्वभाषाविदस्तथा ॥३३॥
वणिजश्चाभ्युयुस्तत्र नानादिग्भ्यो धनार्थिनः ।
सर्वशिल्पविदस्तत्र वासायाभ्यागमंस्तदा ॥३४॥

अर्थ–हे राजन्! उस इन्द्रप्रस्थ नगर में सम्पूर्ण वेदों के जानने वाले ब्राह्मण तथा सब भाषाओं के जानने वाले पुरुष आये और उन्होंने वहां वसना पसन्द किया, अनेक दिशाओं से धन कमाने के लिये व्योपारी वैश्यलोग तथा समस्त कलाकौशलों के ज्ञाता पुरुष भी वहां आकर बस गये ॥

उद्यानानि च रम्याणि नगरस्य समंततः ।
आम्रैराम्रातकैर्नीपैरशोकैश्चम्पकैस्तथा ॥३५॥
पुन्नागैर्नागपुष्पैश्च लकुचैः पनसैस्तथा ।
शालतालतमालैश्च वकुलैश्च सकेतकैः ॥३६॥

अर्थ–उस इन्द्रप्रस्थ नगर के चारों ओर रमणीयबाग़ लगवाये गये जिनमें आम, आंबला, कदम्ब, अशोक, चमेली, पु-

नाग = सुपारी, नागपुष्प = नगकेसर, लकुच = आक, कटहल, शाल, ताड़, तमाल = अमलतास, मौलशरी, तथा केतकी आदि के वृक्ष लगवाये ॥

वापीभिर्विविधाभिश्च पूर्णाभिः परमाम्भसा ।
सरोभिरतिरम्यैश्च पद्मोत्पलसुगन्धिभिः ॥३७॥
तेषां पुण्यजनोपेतं राष्ट्रमाविशतां महत् ।
पाण्डवानां महाराज शश्वत्प्रीतिरवर्द्धत ॥३८॥

अर्थ—उस नगर में उत्तम जल से परिपूर्ण नाना प्रकार की बावड़ियें और कमल तथा कुमुद के फूलों से सुगन्धित अत्यन्त रमणीय तालाब बनवाये, हे महाराज ! पुण्यात्मा लोगों से पूर्ण उस भारी राज्य में रहते हुए पाण्डवों को नित्यप्रति हर्ष बढ़ता गया ॥

तत्र भीष्मेण राज्ञा च धर्मप्रणयने कृते ।
पाण्डवाः समपद्यन्त खाण्डवप्रस्थवासिनः ॥३९॥
तान् निवेश्य ततो वीरो रामेण सह केशवः ।
ययौ द्वारवतीं राजन् पांडवानुमते तदा ॥४०॥

अर्थ—वहां भीष्मपितामह तथा राजा युधिष्ठिर के धर्मराज्य करने से पाण्डवलोग " खाण्डवप्रस्थ " के वासी बनगये, हे राजन् ! तब वीर कृष्ण उन पाण्डवों को वहां बसाकर बलराम के साहित पाण्डवों की अनुमती से " द्वारकापुरी " को चले गये ॥

इति अष्टपंचाशोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकोनषष्टितमोऽध्यायः प्रारभ्यते

जनमेजय उवाच

एव संप्राप्य राज्यं तदिन्द्रप्रस्थं तपोधन ।
अत ऊर्ध्वं महात्मानः किमकुर्वत पाण्डवाः ॥१॥
कथं च पञ्च कृष्णायामेकस्यां ते नराधिपाः ।
वर्त्तमाना महाभागा नाभिद्यन्त परस्परम् ॥२॥

अर्थ–जनमेजय बोले कि हे तपोधन वैशम्पायन ! महात्मा पाण्डवों ने इस प्रकार इन्द्रप्रस्थ का राज्य पाकर इसके पश्चात् क्या २ किया ? वह महाभाग्यवान् पांचो पाण्डव एक भार्या द्रौपदी के साथ वर्तते हुए आपस में कैसे न फूटे ॥

श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं विस्तरेण तपोधन ।
तेषां चेष्टितमन्योऽन्यं युक्तानां कृष्णया सह ॥३॥

अर्थ–हे तपोधन ! द्रौपदी के सम्बन्ध में उनका जैसा परस्पर का वर्ताव था वहसब मैं विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूं ॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञाताः कृष्णया सह पाण्डवाः ।
रेमिरे खाण्डवप्रस्थे प्राप्तराज्याः परन्तपाः ॥४॥

अर्थ–वैम्पायन बोले कि हे शत्रुओं के सन्तापकारी राजन् ! पाण्डवलोग धृतराष्ट्र की आज्ञा से राज्य पाकर खाण्डवप्रस्थ में द्रौपदी के सहित सुखपूर्वक रहने लगे ॥

प्राप्य राज्यं महातेजाः सत्यसन्धो युधिष्ठिरः ।
पालयामास धर्मेण पृथिवीं भ्रातृभिः सह ॥५॥
जितारयो महाप्रज्ञः सत्यधर्मपरायणाः ।
मुदं परमिकां प्राप्तास्तत्रोषुः पाण्डुनन्दनाः ॥६॥

अर्थ—सत्यवादी महाप्रतापी युधिष्ठिर राज्य को पाकर भाइयों समेत धर्मपूर्वक पृथ्वी की रक्षा करने लगे, महाबुद्धिमान् पाण्डु के पुत्र अपने शत्रुओं को जीतकर सत्य और धर्म में तत्पर हुए २ परम आनन्दित हो वहां रहने लगे ॥

कुर्वाणाः पौरकार्याणि सर्वाणि पुरुषर्षभाः ।
आसाञ्चक्रुर्महार्हेषु पार्थिवेष्वासनेषु च ॥७॥
अथ तेषूपविष्टेषु सर्वेष्वेव महात्मसु ।
नारदस्तत्र देवर्षिरा ाम यदृच्छया ॥८॥

अर्थ—वह सिंहपुरुष पाण्डव नगर का सबप्रकार न्यायसंबन्धी कार्य करते समय राजोचित बड़े उच्च सिंहासनों पर बैठा करते थे, एक समय वह सब महात्मा पाण्डव न्यायालय में बैठे हुए थे, कि अकस्मात् देव ऋषि नारदजी वहां पर आये ॥

आसनं रुचिरं तस्मै प्रददौ स्वं युधिष्ठिरः ।
प्रतिगृह्य तु तां पूजामृषिः प्रीतमनास्तदा ॥९॥
आशीभिर्वर्द्धयित्वा च तमुवाचास्यतामिति ।
विविक्ते पाण्डवान् सर्वानुवाच भगवानृषिः ॥१०॥

अर्थ—तब युधिष्ठिर ने उनको अपना सुन्दर सिंहासन बैठने

के लिये दिया पश्चात् ऋषि नारद उनके उस सत्कार को ग्रहण करके तथा प्रसन्नता के साथ आशीर्वादें देकर बोले कि बैठ जाइये, तब एकान्त में भगवान् नारद ऋषि सब पांण्डवों को सम्बोधन करके इसप्रकार उपदेश देने लगे कि :—

पाञ्चाली भवतामेका धर्मपत्नी यशस्विनी ।
यथा वो नात्र भेदः स्यात्तथा नीतिर्विधीयताम् ॥११॥
सुन्दोपसुन्दौ हि पुरा भ्रातरौ सहितावुभौ ।
आस्तामवध्यावन्येषां त्रिषु लोकेषु विश्रुतौ ॥१२॥

अर्थ—कीर्त्ति के योग्य पाञ्चाली=द्रौपदी तुम पांचों भाईयों की एक भार्या है सो तुम्हें इसप्रकार की नीति बर्तनी उचित है जिससे तुम्हारा आपस में विरोध न होने पावे, देखो प्राचीन समय में सुन्द तथा उपसुन्द नामक दो भाई हुए हैं जो सदा आपस में मेल रखते हुए शत्रुओं से अवध्य = न मारे जाने वाले तथा तीनों लोकों में प्रसिद्ध थे ॥

एकराज्यावेकगृहावेकशय्यासनाशनौ ।
तिलोत्तमायास्तौ हेतोरन्योऽन्यमभिजघ्नतुः ॥१३॥
तस्माद् ब्रवीमि वः स्नेहात् सर्वान् भरतसत्तमः ।
यथा वो नात्र भेदः स्यात्सर्वेषां द्रौपदीकृते ।
तथा कुरुतभद्रं वो मम चेत्प्रियमिच्छथ ॥१४॥

अर्थ—उन दोनों भाइयों का एकही राज्य, एकही घर, इकट्ठे मिलकर ही सोना, बैठना और खाना था, परन्तु "तिलोत्तमा" नामक सुन्दर स्त्री के लिये उन्होंने आपस में एक दूसरे को मार

डाला, हे भरतकुल भूषण पाण्डवो! इसलिये मैं तुम सब को प्रेम से यह उपदेश करता हूं कि यदि तुम अपना कल्याण और मेरी प्रसन्नता चाहते हो तो जिस प्रकार द्रौपदी के लिये तुम्हारी आपस में फूट न पड़े वैसी नीति बरतो ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता महात्मानो नारदेन महर्षिणा ।
समयं चक्रिरे राजंस्तेऽन्योऽन्यं वशमागताः ॥१५॥
द्रौपद्या नः सहासीनमन्योऽन्यं योऽभिदर्शयेत् ।
स नो द्वादश वर्षाणि ब्रह्मचारी वने वसेत् ॥१६॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! महर्षिनारद के इस प्रकार कहने पर उन महात्मा पाण्डवों ने ऐसा नियम बांध दिया जिससे कि वह आपस में एक दूसरे के वश में होगये, उन सब ने प्रतिज्ञा की, कि हम पांचों में से कोई किसी को द्रौपदी के समीप बैठा हुआ देखले तो वह बारहवर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक वन में रहे ॥

कृते तु समये तस्मिन् पांडवैर्धर्मचारिभिः ।
नारदोऽप्यगमत्प्रीत इष्टं देशं महामुनिः ॥१७॥
एवं तैः समयः पूर्वं कृतो नारदचोदितैः ।
न चाभिद्यन्त ते सर्वे तदान्योन्येन भारत ॥१८॥

अर्थ—धर्मात्मा पाण्डवों के ऐसी प्रतिज्ञा करने पर महामुनि नारद भी प्रसन्न होकर इच्छितदेश को चले गये, हे भारतीय-राजन्! इस प्रकार नारदजी की प्रेरणा से उन्होंने ऐसी प्रतिज्ञा की और इसीलिये उन सबकी आपस में फूट न पड़ी ॥

इति एकोनषष्टितमोऽध्यायः समाप्तः

अथ षष्टितमोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

एवं ते समयं कृत्वा न्यवसंस्तत्र पाण्डवाः ।
वशे शस्त्रप्रतापेन कुर्वन्तोऽन्यान् महीक्षितः ॥१॥
तेषां मनुजसिंहानां पञ्चानाममितौजसाम् ।
बभूव कृष्णा सर्वेषां पार्थानां वशवर्त्तिनी ॥२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! इस प्रकार पाण्डव नियम करके शस्त्रों के प्रताप से अन्य राजाओं को वश में करते हुए वहां रहने लगे और द्रौपदी भी उन सब महाप्रतापी सिंहपुरुष पांचो पाण्डवों की आज्ञा में वर्त्तमान रहने लगी ॥

अथ दीर्घेण कालेन ब्राह्मणस्य विशाम्पते ।
कस्यचित्तस्करा जह्रुः केचिद्गा नृपसत्तम ॥ ३ ॥
ह्रियमाणे धने तस्मिन् ब्राह्मणः क्रोधमूर्छितः ।
आगम्य खाण्डवप्रस्थमुदक्रोशत्स पाण्डवान् ॥४॥

अर्थ–हे महापुरुष राजन् ! इसके पश्चात् बहुत समय बीत जाने पर यह घटना हुई कि किसी ब्राह्मण की गौयें चोर चुराकर लेगये, उस गोरूपी धनकी चोरी होजाने पर वह ब्राह्मण क्रोध से बेसुधसा हुआ२ खाण्डवप्रस्थ में आकर पाण्डवों के आगे रोनेलगा कि:–

ह्रियते गोधनं क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ।
प्रसह्य चास्मद्विषयादभ्यधावत पाण्डवाः ॥५॥

ब्राह्मणस्वे हृते चौरैर्धर्मार्थे च विलोपिते ।
रोरूयमाणे च मयि क्रियतां हस्तधारणा ॥ ६ ॥

अर्थ—हे पाण्डवो ! दुष्ट हत्यारे पापात्मा चोर बलपूर्वक मेरा गोरूपी धन चुराकर भाग गये हैं, मुझ ब्राह्मण का धन चोरों से चुराये जाने के कारण मेरा धर्म और अर्थ सब जाता रहा, अब मुझ रोते हुए का तुम हाथ पकड़ो ॥

वैशम्पायन उवाच

रोरूयमाणस्याभ्याशे भृशं विप्रस्य पाण्डवः ।
तानि वाक्यानि शुश्राव कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ॥७॥
आयुधानि च यत्रासन् पाण्डवानां महात्मनाम् ।
कृष्णया सह तत्रास्ते धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥८॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! उस रोते पीटते हुए ब्राह्मण के समीप उससमय कुन्तीपुत्र अर्जुन विद्यमान था और उसने वह सब बातें सुनीं, परंतु महात्मा पाण्डवों के सब शस्त्र वहां रक्खे थे जहां उससमय धर्मराज युधिष्ठिर द्रौपदी के साथ बैठे हुए थे ॥

सम्प्रवेशाय च शक्तो गमनाय च पाण्डवः ।
आक्रन्दे तत्र कौन्तेयश्चिन्तयामास दुःखितः ॥९॥
ह्रियमाणे धने तस्मिन् ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
अश्रुप्रमार्जनं तस्य कर्त्तव्यमिति निश्चयः ॥१०॥

अर्थ—पाण्डुपुत्र अर्जुन शस्त्रों के स्थान में प्रवेश करने के लिये असमर्थ था, इसलिये वह दुःखी होकर रोने लगा, परंतु

उसने यह निश्चय कर लिया कि इस दीन ब्राह्मण का धन चुराया गया है इसलिये इसके आंसू अब हमें अवश्य पोंछने चाहियें ॥

अनुप्रवेशे राज्ञस्तु वनवासो भवेन्मम ।
सर्वमन्यत्परिहृतं धर्षणात्तु महीपतेः ॥११॥
एवं विनिश्चित्य ततः कुन्तीपुत्रो धनंजयः ।
अनुप्रविश्य राजानमामंत्र्य च विशाम्पते ।
धनुरादाय संहृष्टो ब्राह्मणं प्रत्यभाषत ॥१२॥

अर्थ—यदि मैं इससमय राजा युधिष्ठिर के समीप प्रवेश करूंगा तो मुझे वनवास होगा, किंतु मैं इन सब दुःखों की पर्वाह नहीं करता यदि राजायुधिष्ठिर मुझपर रुष्ट न हों, तब कुन्तीपुत्र अर्जुन ने ऐसा दृढ़ निश्चय करके राजा के समीप प्रवेश किया और उनकी आज्ञा से धनुष उठा हर्षपूर्वक बाहर आकर उस ब्राह्मण से इस प्रकार बोला कि:—

ब्राह्मणागम्यतां शीघ्रं यावत परधनैषिणः ।
न दूरे ते गताः क्षुद्रास्तावद् गच्छावहे सह ॥१३॥
सोऽनुसृत्य महाबाहुर्धन्वी वर्मी रथी ध्वजी ।
शरैर्विध्वस्य तांश्चौरानवजित्य च तद्धनम् ॥१४॥
ततस्तद्गोधनं पार्थो दत्त्वा तस्मै द्विजातये ।
आजगाम पुरं वीर सव्यसाची धनञ्जयः ॥१५॥

अर्थ—हे ब्राह्मण! शीघ्र आइये ताकि वह दुष्ट चोर दूर न चले जांय, हम दोनों साथ २ उनके पीछे चलें, तब वह महाबाहु धनुष लिये और कवच पहने, रथ पर चढ़े हुए अपने झंडे के साथ उन चोरों के

पीछे २ दौड़ा और उसने अपने बाणों से चोरों को मारकर उस धन को जीत लिया, पश्चात् गोरूपीधन उस ब्राह्मण को लौटा दिया और वह वीर सव्यसाची*अर्जुन अपने नगर इन्द्रप्रस्थ को चला आया ॥

धर्मराजमुवाचेदं व्रतमादिश मे प्रभो ।
समयः समतिक्रान्तो भवत्सन्दर्शने मया ॥१६॥
वनवासं गमिष्यामि समयो ह्येष नः कृतः ।
उवाच दीनो राजा च धनञ्जयमिदं वचः ।
प्रमाणमस्ति यदि ते मत्तः शृणु वचोऽनघ ॥१७॥

अर्थ-और आकर धर्मराज युधिष्ठिर से बोला कि आप हे राजन् ! अब आप मुझे बारहवर्ष तक बन में ब्रह्मचर्य व्रत रखने की आज्ञा दीजिये क्योंकि मैंने द्रौपदी के समीप आपके दर्शन करके उस नियम को भङ्ग करदिया है जैसीकि हमने प्रतिज्ञा की थी कि ऐसी दशा में हम बनवास के लिये जायंगे, यह सुनकर राजा युधिष्ठिर दुःखी हुए २ अर्जुन से बोले कि हे निष्पाप ! यदि तुम मेरी बात को प्रमाण मानते हो तो सुनो :—

अनुप्रवेशे यद्वीर कृतवांस्त्वंममाप्रियम् ।
सर्वं तदनुजानामि व्यलीकं न च मे हृदि ॥१८॥
गुरोरनुप्रवेशो हि नोपघातो यवीयसः ।
यवीयसोऽनुप्रवेशो ज्येष्ठस्य विधिलोपकः ॥१९॥

*बायें हाथ से भी धनुष चलाने के कारण अर्जुन का नाम "सव्यसाची" था ॥

अर्थ–हे वीर ! तुमने जो मेरे समीप उससमय प्रवेश करके मेरे प्रतिकूल काम किया है वह सब मुझे स्वीकृत है और मेरे हृदय में कोई बुराभाव नहीं है क्योंकि बड़े के पास ऐसी दशा में छोटे का चला जाना कोई बुरी बात नहीं, किन्तु छोटे के पास बड़े का चला जाना नियम का भङ्ग करने वाला है ॥

निवर्त्तस्व महाबाहो कुरुष्व वचनं मम ।
न हि ते धर्मलोपोऽस्ति न च मे धर्षणा कृता ॥२०॥

अर्थ–सो हे महाबाहु अर्जुन ! तुम मेरा कहना मानकर घर को लौटो, क्योंकि न तो इसमें तुम्हारे धर्म की हानि है और नाही तुमने मेरा अपमान किया है ॥

अर्जुन उवाच

न व्याजेन चरेद्धर्ममिति मे भवतः श्रुतम् ।
न सत्याद्विचलिष्यामि सत्येनायुधमालभे ॥२१॥

अर्थ–अर्जुन बोला कि हे धर्मराज युधिष्ठिर ! आपने मुझे उपदेश किया था कि "छल से धर्म न करे" इसलिये अब मैं सचाई से नहीं हटुंगा और सचाई से ही व्रत के पश्चात् शस्त्र उठाउंगा ॥

वैशम्पायन उवाच

सोऽभ्यनुज्ञाय राजानं वनचर्याय दीक्षितः ।
वने द्वादश वर्षाणि वासायानुजगाम ह ॥२२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! वह अर्जुन राजा युधिष्ठिर की अनुमति लेकर वनवास की दीक्षा धारण किये हुए बारहवर्ष तक वनवास करने के लिये चलदिया ॥

इति षष्टितमोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकषष्टितमोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

तं प्रयातं महाबाहुं कौरवाणां यशस्करम् ।
अनुजग्मुर्महात्मानो ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥१॥
पुण्यान्यपि च तीर्थानि ददर्श भरतर्षभः ।
स गङ्गाद्वारमाश्रित्य निवेशमकरोत्प्रभुः ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! कुरुवंशियों में महाप्रतापी वह महाबाहु अर्जुन जब चला तब उसके साथ वेदपारगामी महात्मा ब्राह्मण भी चले, उस प्रभाववान् भरतकुलसिंह अर्जुन ने पवित्रतीर्थस्थानों के दर्शन भी किये और गङ्गा के द्वार तक पहुंचकर वहां वास करने लगा ॥

निविष्टे तत्र कौन्तेये ब्राह्मणेषु च भारत ।
अग्निहोत्राणि विप्रास्ते प्रादुश्चक्रुरनेकशः ॥३॥
कृताभिषेकैर्विद्वद्भिर्नियतैः सत्पथे स्थितैः ।
शुशुभेऽतीव तद्राजन् गङ्गाद्वारं महात्मभिः ॥४॥

अर्थ—हे भारतीय राजन् ! अर्जुन तथा उन ब्राह्मणों के वहां वास करने पर ब्राह्मणलोग वहां अनेक प्रकार से अग्निहोत्र करने लगे, हे राजन् ! नित्य स्नान करने वाले तथा नियमपूर्वक सच्चे मार्ग पर रहने वाले उन विद्वान् महात्मा ब्राह्मणों से गङ्गा के द्वार की भी अत्यन्त शोभा होगई ॥

प्रययौ हिमवत्पार्श्वं ततो वज्रधरात्मजः ।
दृष्टवान् पांडवश्रेष्ठः पुण्यान्यायतनानि च ॥५॥
अवतीर्य नरश्रेष्ठो ब्राह्मणैः सह भारत ।
प्राचीं दिशमभिप्रेप्सुर्जगाम भरतर्षभः ॥६॥

अर्थ–इसके पश्चात् वज्रधारी का पुत्र श्रेष्ठ पाण्डव अर्जुन हिमालय की ओर गया और उसने वहां पर पवित्र तीर्थ देखे, हे भारतीय राजन्! तब वह भरतकुल श्रेष्ठ महापुरुष अर्जुन ब्राह्मणों समेत पर्वत से उतरकर पूर्व दिशा के स्थानों को देखने की इच्छा से चल दिया ॥

नन्दामपरनन्दां च कौशिकीं च यशस्विनीम् ।
महानदीं गयां चैव गङ्गामपि च भारत ॥७॥
अङ्गवङ्गकालिङ्गेषु यानि तीर्थानि कानिचित् ।
जगाम तानि सर्वाणि पुण्यान्यायतनानि च ॥८॥

अर्थ–हे भारतीय राजन्! नन्दा, अपरनन्दा, प्रसिद्ध नदी कौशिकी, महानदी गङ्गा तथा गया, अङ्गदेश, बंगाल और कलिङ्ग देश में जो२ तीर्थ तथा अन्य पवित्र स्थान थे उन सबमें अर्जुन गया ॥

दृष्ट्वा च विधिवत्तानि धनं चापि ददौ ततः ।
सहायैरल्पकैः शूरः प्रययौ यत्र सागरः॥९॥
महेन्द्रपर्वतं दृष्ट्वा तापसैरुपशोभितम् ।
समुद्रतीरेण शनैर्मणिपूरं जगाम ह ॥१०॥

अर्थ–अर्जुन ने उन सब स्थानों को विधिपूर्वक देखा और धनका भी दान किया, पश्चात् वह वीर थोड़े सहायकों सहित

समुद्र के समीप पहुंचा, वहां तपस्वियों से शोभायमान महेन्द्रपर्वत को देखता हुआ समुद्र के किनारे २ मणिपुर नगर में जा पहुंचा ॥

तत्र सर्वाणि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च ।
अभिगम्य महाबाहुरभ्यगच्छन्महीपतिम् ॥११॥
मणिपूरेश्वरं राजन् धर्मज्ञं चित्रवाहनम् ।
उवास नगरे तस्मिन् तिस्रः कुन्तीसुतः समाः ।
आमन्त्र्य नृपतिं तं तु जगाम परिवर्त्तितुम् ॥१२॥

अर्थ–हे राजन् ! वहां महाबाहु अर्जुन ने सब तीर्थों तथा पवित्र स्थानों में जाकर पश्चात् मणिपुर के धर्मज्ञाता चित्रवाहन नामक राजा से भेंट की, उस नगर में कुन्ती के पुत्र अर्जुन ने तीन वर्ष तक निवास किया, पश्चात् उस राजा से अनुमति लेकर वहां से चल दिया ॥

ततः समुद्रे तीर्थानि दक्षिणे भरतर्षभः ।
अभ्यगच्छत् सुपुण्यानि शोभितानि तपस्विभिः ।१३।
वर्जयन्ति स्म तीर्थानि तत्र पञ्च स्म तापसः ।
अवकीर्णानि यान्यासन् पुरस्तात्तु तपस्विभिः ।१४।

अर्थ–तब भरतकुल श्रेष्ठ अर्जुन दक्षिणदिशा में समुद्र के समीप जो पवित्र सुन्दर तीर्थ तपस्वियों से पूर्ण थे उनकी ओर गया वहां पर तपस्वीलोग पांच तीर्थों पर जाने से सब किसी को निषेध करते थे, जो तीर्थ पहले किसी समय में तपस्वियों से घिरे रहते थे ॥

तपस्विनस्ततोऽपृच्छत् प्राञ्जलिः कुरुनन्दनः ।
तीर्थानीमानि वर्ज्यन्ते किमर्थं ब्रह्मवादिभिः ॥१५॥

अर्थ-तब कुरुवंशभूषण अर्जुन ने हाथ जोड़कर तपस्वियों से पूछा कि इन तीर्थों पर जाने से आप लोग हमें क्यों निषेध करते हैं ॥

तापसा ऊचुः

ग्राहाः पञ्चवसन्त्येषु हरन्ति च तपोधनान् ।
तत एतानि वर्ज्यन्ते तीर्थानि कुरुनन्दन ॥१६॥

अर्थ-तपस्वी बोले कि हे अर्जुन इन पांचों तीर्थों में पांच ग्राह=मगर हैं जो तपस्वियों को क्लेश देते हैं,इसलिये इन तीर्थों पर जाना मना है ॥

वैशम्पायन उवाच

तेषां श्रुत्वा महाबाहुर्वार्यमाणस्तपोधनैः ।
विगाह्य सहसा शूरः स्नानं चक्रे परंतपः ॥१७॥
अथ तं पुरुषव्याघ्रमन्तर्जलचरो महान् ।
जग्राह चरणे ग्राहः कुन्तीपुत्रं धनञ्जयम् ॥१८॥
स तमादाय कौन्तेयो विस्फुरन्तं जलेचरम् ।
उदातिष्ठन्महाबाहुर्बलेन बलिनांवरः ॥ १९ ॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! महाबाहु तथा शत्रुतनाप-कारी वीर अर्जुन उन तपस्वियों की बात सुनते ही उनके मना करने पर भी उन तीर्थों में एकाएक घुसकर स्नान करने लगा, तब उस महापुरुष कुन्तीपुत्र अर्जुन को, भीतर ही उस बड़े जलचर ग्राह ने पांव से पकड़ लिया, परन्तु महाबाहु तथा बलवानों में श्रेष्ठ अर्जुन उस फड़कते हुए जलचर-ग्राह को बलपूर्वक खैंच-कर बाहर निकल आया ॥

समुद्रे पश्चिमे यानि तीर्थान्यायतनानि च।
तानि सर्वाणि गत्वा स प्रभासमुपजग्मिवान् ॥२०॥
प्रभासदेशं सम्प्राप्तं बीभत्सुमपराजितम् ।
सुपुण्यं रमणीयं च शुश्राव मधुसूदनः ॥२१॥

अर्थ—इसके पश्चात् अर्जुन पश्चिम दिशा की ओर समुद्र के समीप सब तीर्थों तथा उत्तम स्थानों में होता हुआ "प्रभास" देश में पहुंचा, वहां कृष्ण ने सुना कि पवित्र मनोहर प्रभास देश में अजय-वीर अर्जुन आया हुआ है ॥

ततोऽभ्यगच्छत् कौन्तेयं सखायं तत्र माधवः ।
ददृशाते तदान्योन्यं प्रभासे कृष्णपाण्डवौ ॥२२॥
ततोऽर्जुनं वासुदेवस्तां चर्य्यां पर्यपृच्छत ।
किमर्थं पाडण्वैतानि तीर्थानुचरस्युत ॥२३॥
ततोऽर्जुनो यथावृत्तं सर्वमाख्यातवांस्तदा ।
श्रुत्वोवाच च वार्ष्णेय एवमेतदिति प्रभुः ॥२४॥

अर्थ—तब कृष्णजी अपने मित्र अर्जुन से मिलने के लिये प्रभास देश में गये और वहां कृष्ण तथा अर्जुन ने एक दूसरे के दर्शन किये, पश्चात् कृष्ण ने अर्जुन से उस भ्रमण के विषय में पूछा कि तुम किसकारण तीर्थ और वनों में भ्रमण करते हो ? तब अर्जुन ने सब वृत्तान्त यथावत् कह सुनाया, उसको सुनकर प्रभु कृष्ण ने कहा कि सत्य है ऐसा ही करना उचित था ॥

तौ विहृत्य यथाकामं प्रभासे कृष्णपाण्डवौ ।
महीधरं रैवतकं वासायैवाभिजग्मतुः ॥ २५ ॥

पूर्वमेव तु कृष्णस्य वचनात्तं महीधरम् ।
पुरुषा मण्डयांचक्रुरुपजह्रुश्च भोजनम् ॥ २६ ॥

अर्थ–तब कृष्ण और अर्जुन "प्रभास" देश में यथेष्ट आहारविहार करके रैवतकपर्वत पर कुछ समय निवास करने के लिये चले गये, वहां पर कृष्णजी के कहने से पहले ही वहां के लोगों ने उस पर्वत को सजाया हुआ था और भोजन भी तैयार कर रखा था ॥

प्रतिगृह्यार्जुनः सर्वमुपभुज्य च पाण्डवः ।
सहैव वासुदेवेन दृष्टवान् नटनर्त्तकान् ॥२७॥
अभ्यऽनुज्ञाय तान् सर्वानर्चयित्वा च पाण्डवः ।
सत्कृतं शयनं दिव्यमभ्यगच्छन्महामतिः ॥२८॥

अर्थ–तब पाण्डुपुत्र अर्जुन ने उनका सत्कार ग्रहण कर और भोजन करके कृष्णजी के साथही नट और नाचने वालों का तमाशा देखा, इसके पश्चात् बुद्धिमान् अर्जुन ने उन सब नट-लोगों का सत्कार किया और उनको छुट्टी देकर उत्तम दिव्य-गुण युक्त शय्या पर जा लेटे ॥

मधुरेणैव गीतेन वीणाशब्देन चैव ह ।
प्रबोध्यमानो बुबुधे स्तुतिभिर्मङ्गलैस्तथा ॥२९॥
स कृत्वावश्यकार्याणि वार्ष्णेयनाभिनन्दितः ।
रथेन काञ्चनांगेन द्वारकामभिजग्मिवान् ॥३०॥

अर्थ–प्रातः काल होतेही मधुर गीतों, वीणों की ध्वनि तथा

स्तुति और मङ्गलाचार के शब्दों द्वारा जगाये जाने पर वह उठ खड़े हुए, तब अर्जुन प्रातः काल के आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर कृष्णजी के अनुरोध से सुवर्ण के रथ पर चढ़कर द्वारका नगरी की ओर गये ॥

अलङ्कृता द्वारका तु बभूव जनमेजय ।
कुन्तीपुत्रस्य पूजार्थमपि निष्कुटकेष्वपि ॥३१॥
दिदृक्षन्तश्च कौन्तेयं द्वारकावासिनो जनाः ।
नरेन्द्रमार्गमाजग्मुस्तूर्णं शतसहस्रशः ॥३२॥

अर्थ—हे जनमेजय ! तब अर्जुन के सत्कारार्थ द्वारका नगरी बड़े २ घरों से लगाकर झोपड़ों तक सजाई गई, और अर्जुन के दर्शन करने के लिये सैकड़ों हज़ारों नगरवासी लोग शीघ्र ही राजसड़क पर आ इकट्ठे हुए ॥

स तथा सत्कृतः सर्वैर्भोजवृष्ण्यन्धकात्मजैः ।
अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वैश्च प्रतिना[न्दि]तः ॥३३॥
कृष्णस्य भवने रम्ये रत्नभोज्यसमावृते ।
उवास सह कृष्णेन बहुलास्तत्र शर्वरीः ॥ ३४ ॥

अर्थ—तब अर्जुन का भोजवंशी, वृष्णवंशी, तथा अन्धकवंशी इन सब लोगोंने सत्कार किया और अर्जुन ने अपने से बड़ों को अभिवादन किया, और उन लोगोंने आशिर्वादें दीं, इस के पश्चात्, अर्जुन ने कृष्णजी के सुन्दर रत्नपूर्ण तथा विविध

भोज्यपदार्थों से युक्त रमणीयभवन में कृष्ण जी के साथ बहुत दिनों तक निवास किया ॥

इति एकषष्टितमोऽध्यायः समाप्तः

अथ द्विषष्टितमोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततः कतिपयाहस्य तस्मिन् रैवतके गिरौ ।
वृष्ण्यन्धकानामभवदुत्सवो नृपसत्तम ॥१॥
प्रासादै रत्नचित्रैश्च गिरेस्तस्य समन्ततः ।
स देशः शोभितो राजन् कल्पवृक्षैश्च सर्वशः ॥२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! इसके कुछ दिनों पश्चात् रैवतक पर्वत पर वृष्णिवंशी क्षत्रियों ने एक उत्सव किया, उस पर्वत के सब स्थानों में मणियों से महल सजाये गये तथा सब ओर परमोत्तम वृक्षों की सजावट की गई ॥

वादित्राणि च तत्रान्ये वादकाः समवादयन् ।
ननृतुर्नर्त्तकाश्चैव जगुर्गेयानि गायनाः ॥३॥
अलंकृताः कुमाराश्च वृष्णीनां सुमहौजसाम् ।
यानैर्हाटकचित्रैश्च चञ्चूर्यन्ते स्म सर्वशः ॥ ४ ॥

अर्थ–वहां पर भिन्न २ प्रकार के बाजा बजाने वाले बाजे

बजाने लगे, नाचने वाले नाचने लगे गवैयालोग गाने लगे, और विविधप्रकार के पदार्थ बेंचने वाले बेंचने लगे तथा महाप्रतापी वृष्णिवंशी क्षत्रियों के कुमार बालक सुवर्ण की गाड़ियों पर सब ओर घूमने फिरने लगे ॥

पौराश्च पादचारेण यानैरुच्चावचैस्तथा ।
सदाराःसानुयात्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥५॥
ततो हलधरः क्षीवो रेवतीसहितः प्रभुः ।
अनुगम्यमानो गन्धर्वैश्चरत्तत्र भारत ॥६॥

अर्थ—सैकड़ों हज़ारों पुरवासी लोग भी पैदल तथा नाना प्रकार की गाड़ियों पर चढ़कर, अपनी २. स्त्रियों तथा साथियों समेत वहां घूमने फिरने लगे, हे भारतवंशी राजन् ! तब प्रतापी त्तम बलराम भी अपनी स्त्री रेवती को साथ लेकर गवैया लोगों के साहित इधर उधर भ्रमण करने लगे ॥

तथैव राजा वृष्णीनामुग्रसेनः प्रतापवान् ।
रौक्मिणेयश्च साम्बश्च क्षीवौ समरदुर्मदौ ॥७॥
अक्रूरः सारणश्चैव गदो बभ्रुर्विदूरथः ।
निशठश्चारुदेष्णश्च पृथुर्विपृथुरेव च ॥८॥
सात्यकः सात्यकिश्चैव भंगकारमहारवौ ।
हार्दिक्य उद्धवश्चैव ये चान्ये नानुकीर्त्तिताः ॥९॥
एते परिवृताःस्त्रीभिर्गन्धर्वैश्च पृथक् पृथक् ।
तमुत्सवं रैवतके शोभयांचक्रिरे तदा ॥१०॥

अर्थ—इन के अतिरिक्त, वृष्णिवंशी क्षत्रियों के प्रतापी राजा उग्रसेन, युद्ध से न हटने वाले रुक्मिणीपुत्र तथा साम्ब, अक्रूर, सारण, गद, बभ्रु, विदूरथ, सात्यक और सात्यक का पुत्र भङ्गकार, महारव, हार्दिक्य, उद्धव तथा अन्य वीर क्षत्रिय भी जिनके नाम नहीं कहे गये यह सबलोग अपनी २ स्त्रियों तथा गायकलोगों के साथ जाकर उस समय रैवतक पर्वत पर उत्सव की शोभा बढ़ाने लगे ॥

चित्रकौतूहले तस्मिन् वर्त्तमाने महाद्भुते ।
वासुदेवश्च पार्थश्च सहितौ परिजग्मतुः ॥११॥
तत्र चंक्रममाणौ तौ वसुदेवसुतां शुभाम् ।
अलंकृतां सखीमध्ये सुभद्रां ददृशुस्तदा ॥१२॥

अर्थ—उस महान् अद्भुत विचित्र उत्सव को देखने के लिये कृष्ण और अर्जुन भी साथ २ गये, उन दोनों ने इधर उधर भ्रमण करते समय सखियों के बीच में बैठी हुई वस्त्राभूषणों से सुसज्जित वसुदेव की सुन्दर पुत्री "सुभद्रा" को देखा ॥

दृष्ट्वैव तामर्जुनस्य कन्दर्पः समजायत ।
तदैवैकाग्रमनसं कृष्णः पार्थमलक्षयत् ॥१३॥
अब्रवीत् पुरुषव्याघ्रः प्रहसन्निव भारत ।
वनेचरस्य किमिदं कामेनालोड्यते मनः ॥१४॥

अर्थ—उस सुभद्रा को देखते ही अर्जुन के चित्त में कामदेव जाग उठा और उसीसमय कृष्णजी ने भी अर्जुन को सुभद्रा की ओर टकटकी बांधे हुए देख लिया, हे भारतीय-

राजन् ! तब मुसकराते हुए पुरुषोत्तम कृष्णजी बोले कि वनवासी व्रतधारी पुरुष के चित्त को भी कामदेव ने क्यों व्याकुल कर दिया है ॥

ममैषा भगिनी पार्थ सारणस्य सहोदरा ।
सुभद्रा नाम भद्रं ते पितुर्मे दयिता सुता ।
यदि ते वर्त्तते बुद्धिर्वक्ष्यामि पितरं स्वयम् ॥२५॥

अर्थ–हे अर्जुन ! यह सुभद्रा नामक मेरी बहिन है और मेरे मौसेरे भाई सारण की सगी बहिन तथा मेरे पिता वसुदेव की लाड़ली बेटी है, यदि तुम्हारा इसके साथ विवाह का विचार हो तो मैं स्वयं अपने पिता से कहदूं ॥

अर्जुन उवाच

दुहिता वसुदेवस्य वासुदेवस्य च स्वसा ।
रूपेण चैषा सम्पन्ना कमिवैषा न मोहयेत् ॥१६॥
कृतमेव तु कल्याणं सर्व मम भवेद्ध्रुवम् ।
यदि स्यान्मम वार्ष्णेयी महिषीयं स्वसा तव ॥१७॥

अर्थ–तब अर्जुन ने कहा कि हे कृष्ण ! यह वसुदेव की पुत्री तुम्हारी बहिन तथा रूपसम्पन्न होती हुई किस पुरुष को मोहित नहीं करसक्ती, यदि यह वृष्णिवंश की सन्तान अर्थात् तुम्हारी बहिन सुभद्रा मेरी पटरानी बनजावे तो निश्चय है कि मेरा सब प्रकार से कल्याण होगा ॥

प्राप्तौ तु क उपायः स्यात्तं ब्रवीहि जनार्दन ।
आस्थास्यामि तदा सर्वं यदि शक्यं नरेण तत् ॥१८॥

अर्थ–हे परोपकारी कृष्ण ! इसकी प्राप्ति के लिये जो उपाय हो सो बताओ, यदि उसका होसकना मनुष्य के लिये सम्भव हुआ तो मैं सब कुछ करूंगा ॥

वासुदेव उवाच

स्वयंवरः क्षत्रियाणां विवाहः पुरुषर्षभ ।
सच संशयितः पार्थ स्वभावस्यानिमित्ततः ॥१९॥

अर्थ–कृष्ण जी बोले कि हे पुरुषोत्तम अर्जुन ! क्षत्रियों के लिये स्वयंवर विवाह बताया गया है, परंतु स्वभाव की भिन्नता के कारण उसके होने में संदेह है ॥

प्रसह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
विवाहहेतुः शूराणामिति धर्मविदो विदुः ॥२०॥
स त्वमर्जुन कल्याणीं प्रसह्य भगिनीं मम ।
हर स्वयंवरे ह्यस्याः को वै वेद चिकीर्षितम् ॥२१॥

अर्थ–वीर क्षत्रियों के लिये बलपूर्वक कन्या को छीन ले जाना भी विवाह का प्रशंसनीय कारण है, ऐसा धर्मवेत्तालोग कहते हैं, सो हे अर्जुन ! तुम मेरी सुन्दर बहिन को बलपूर्वक उठाकर ले जाओ, क्योंकि इसके स्वयंवर के विषय में कौन जानता है कि क्या होगा ॥

ततोऽर्जुनश्च कृष्णश्च विनिश्चित्येति कृत्यताम् ।
शीघ्रगान् पुरुषानन्यान् प्रेषयामासतुस्तदा ॥२२॥
धर्मराजाय तत्सर्वमिन्द्रप्रस्थं गताय वै ।
श्रुत्वैव च महाबाहुरनुजज्ञे स पाण्डवः ॥२३॥

अर्थ—तब अर्जुन और कृष्ण ने सब कर्त्तव्य निश्चय करके धर्मराज युधिष्ठिर के समीप इन्द्रप्रस्थ में अन्य शीघ्रगामी पुरुषों को भेजा और वह सन्देश पहुंचा दिया, उसको सुनते ही महाबाहु पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अर्जुन को वैसा करने की अनुमति देदी ॥

इति द्विषष्टितमोऽध्यायः समाप्तः

अथ त्रिषष्टितमोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

गतां रैवतके कन्यां विदित्वा जनमेजय ।
कृष्णस्य मतमादाय प्रययौ भरतर्षभः ॥१॥
रथेन काञ्चनाङ्गेन कल्पितेन यथाविधि ।
मृगया व्यपदेशेन प्रययौ भरतर्षभः ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे जनमेजय ! तब भरतकुल श्रेष्ठ अर्जुन कन्या सुभद्रा को रैवतकपर्वत पर गई हुई जानकर कृष्णजी की सलाह से उसी अवसर पर वहां को चल दिया और विधिपूर्वक सजे हुए सुवर्ण के रथ पर शिकार खेलने के बहाने से उसी स्थान की ओर चला गया, और :—

तामभिद्रुत्य कौन्तेयः प्रसह्यारोपयद्रथम् ।
सुभद्रां चारुसर्वांगीं कामबाणप्रपीडितः ॥ ३ ॥
ततः स पुरुषव्याघ्रस्तामादाय शुचिस्मिताम् ।
रथेन काञ्चनांगेन प्रययौ स्वपुरं प्रति ॥४॥

अर्थ—कामदेव के बाणों से सताये हुए अर्जुन ने समस्त सुन्दर अङ्गों वाली सुभद्रा को मार्ग में रोककर अपने रथ पर बलपूर्वक चढ़ा लिया, तब वह सिंहपुरुष अर्जुन उस मनोहर मुसक्यान वाली युवति को लेकर सुवर्ण के रथ द्वारा अपने नगर इन्द्रप्रस्थ की ओर चल दिया ॥

ह्रियमाणां तु तां दृष्ट्वा सुभद्रां सैनिका जनाः ।
विक्रोशन्तोऽद्रवन् सर्वे द्वारकामभितः पुरीम् ॥५॥
ते समासाद्य सहिताः सुधर्मामभितः सभाम् ।
सभापालस्य तत्सर्वमाचख्युः पार्थविक्रमम् ॥६॥

अर्थ—तब सुभद्रा का हरा जाना देखकर सब सैनिक लोग चिल्लाते पुकारते हुए द्वारका नगरी की ओर दौड़े और उन लोगों ने सुधर्मा नामक सभा के सामने जाकर उसके अध्यक्ष से अर्जुन का वह सब साहस कह सुनाया ॥

तेषां श्रुत्वा सभापालो भेरीं सान्नाहिकीं ततः ।
समाजघ्ने महाघोषां जाम्बूनदपरिष्कृताम् ॥७॥
क्षुब्धास्तेनाथ शब्देन भोजवृष्ण्यन्धकास्तदा ।
अन्नपानमपास्याथ समापेतुः समन्ततः ॥८॥

अर्थ—सभा का अध्यक्ष उनकी बात सुनते ही युद्ध की तैयारी का सूचक भारी शब्द वाला सुवर्णालङ्कृत नगारा बजाने लगा, तब उस शब्द से क्रोध में भरे हुए भोजवंशी, वृष्णिवंशी तथा अन्धकवंशी वीर खाना पीना त्याग सब ओर से आकर इकट्ठे होगये ॥

तेषां समुपविष्टानां देवानामिव सन्नये।
आचख्यौ चेष्टितं जिष्णोः सभापालः सहानुगः ।९।
तच्छ्रुत्वा वृष्णिवीरास्ते मदसंरक्तलोचनाः।
अमृष्यमाणाः पार्थस्य समुत्पेतुरहङ्कृताः ॥१०॥

अर्थ-जब वह सबलोग देवताओं के समान सभाभवन में आकर बैठे तब सभापाल और उसके सहायकों ने अर्जुन की वह सब कार्य्यवाई कही, वह वृष्णिवंशी वीर यह सुनते ही क्रोध के मद से लाल नेत्रों वाले हुए २ अर्जुन की उस बात को न सहार कर अहङ्कार के साथ युद्ध के लिये तैयार होगये ॥

वनमाली ततःक्षीव कैलाशशिखरोपमः।
नीलवास मदोत्सिक्त इदं वचनमब्रवीत् ॥११॥
किमिदं कुरुथाप्राज्ञास्तूष्णीं भूते जनार्दने।
यदस्य रुचितं कर्त्तुं तत्कुरुध्वमतन्द्रिताः ॥१२॥

अर्थ-तब कैलाश पर्वत की चोटी के समान श्वेतवर्ण वाले नीलाम्बर पहिने हुए मतवाले बलराम जी कहने लगे कि हे निर्बुद्धियो! कृष्ण तो चुपचाप बैठे हुए हैं तुम यह क्या कोलाहल कर रहे हो? कृष्ण का जो कुछ करना अभीष्ट हो वही काम तुम सब सावधान होकर करो ॥

ततस्ते तद्वचः श्रुत्वा ग्राह्यरूपं हलायुधात्।
तूष्णीभूतास्ततः सर्वे साधुसाध्विति चाब्रुवन् ॥१३॥
ततोऽब्रवीद् वासुदेवं वचो रामः परन्तपः।
किमवाग्युपविष्टोऽसि प्रेक्षमाणो जनार्दन ॥१४॥

अर्थ- तब वह सबलोग बलरामजी की उचित बात सुनकर चुप होगये और वाह २ करने लगे, इसके पश्चात् शत्रुसंतापक बलराम जी कृष्ण जी से बोले कि हे जनदुःखहारण कृष्ण तुम यह सब कुछ देखते हुए भी चुप चाप क्यों बैठे हुए हो? ॥

ततोऽब्रवीद् वासुदेवो वाक्यं धर्मार्थसंयुतम् ।
मावमानं कुलस्यास्य गुडाकेशः प्रयुक्तवान् ।
सम्मानोभ्यधिकस्तेन प्रयुक्तोऽयं न संशयः ॥१५॥

अर्थ-तब कृष्णजी धर्मनीति युक्त यह बात कहने लगे कि अर्जुन ने हमारे कुल का अपमान नहीं किया प्रत्युत उसने हमारा अधिक सन्मान किया है, इसमें कुछ संदेह नहीं ॥

अर्थलुब्धान् न वः पार्थो मन्यते सात्त्वतान् सदा ।
स्वयंवरमनाधृष्यं मन्यते चापि पाण्डवः ॥१६॥
प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत्कोऽनुमन्यते ।
विक्रयं चाप्यपत्यस्य कः कुर्यात्पुरुषो भुवि ॥१७॥
एतान् दोषांस्तु कौन्तेयो दृष्टवानिति मे मतिः ।
अतः प्रसह्यहृतवान् कन्यां धर्मेण पाण्डवः ॥१८॥

अर्थ-अर्जुन सदा यह जानता है कि हम यदुवंशीलोग धन के लोभ से कन्या का विवाह करने वाले नहीं हैं, और यह भी जानता है कि स्वयंवर में सुभद्रा का मिलना सहज नहीं है, पशु के समान अपनी कन्या का दान करना कौन अच्छा समझता है और कौन पुरुष पृथ्वी पर है जो अपनी संतान को बेचेगा, मैं समझता हूं

कि अर्जुन ने इन सब दोषों को समझा होगा, इसीलिये उसने क्षत्रियधर्म के अनुसार कन्या को हर लिया है ॥

उचितश्चैव संबन्धः सुभद्रा च यशस्विनी ।
एष चापीदृशः पार्थः प्रसह्य हृतवानिति ॥१९॥
तमभिद्रुत्य सान्त्वेन परमेण धनञ्जयम् ।
न्यवर्त्तयत संहृष्टा ममैषा परमा मतिः ॥२०॥

अर्थ–और यह विवाह संवन्ध भी योग्य ही हुआ है, क्योंकि सुभद्रा भी गुणवती है और इधर अर्जुन भी वैसा ही गुणवान् है जो वलपूर्वक हरकर लेगया है, सो मेरी यह दृढ़ सम्मति है कि दौड़कर अर्जुन के समीप पहुंच हर्षपूर्वक परमशान्ति के साथ उसको यहां लौटा लाओ ॥

तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य तथा चक्रुर्जनाधिप ।
निवृत्तश्चार्जुनस्तत्र विवाहं कृतवान् प्रभुः ॥२१॥
उषित्वा तत्र कौन्तेयः संवत्सरपराः क्षयाः ।
पुष्करे तु ततः शेषंकालं वर्त्तितवान् प्रभुः ।
पूर्णे तु द्वादशे वर्षे खाण्डवप्रस्थमागतः ॥२२॥

अर्थ–हे राजन् ! कृष्णजी का कथन सुनकर उन पुरुषों ने वैसा ही किया, तब वीर अर्जुन ने वहां लौटकर सुभद्रा के साथ विवाह किया द्वारकापुरी में वीर अर्जुन एकवर्ष तक रहा, पश्चात् शेषकाल पुष्करतीर्थ पर उन्होंने विताया, और बारहवर्ष का बनवास समाप्त करके फिर खाण्डवप्रस्थ में लौट आया ॥

ततोऽभिगम्य त्वरिता पूर्णेन्दुसदृशानना ।
ववन्दे द्रौपदीं भद्रा प्रेष्याहमिति चाब्रवीत् ॥२३॥
प्रत्युत्थाय तदा कृष्णा स्वसारं माधवस्य च ।
परिष्वज्यावदत् प्रीत्या निःसपत्नोऽस्तु ते पतिः॥२४॥

अर्थ–तब पूर्णचन्द्रमा के समान मुखवाली सुभद्रा ने शीघ्रता से समीप जाकर द्रौपदी को प्रणाम कर कहा कि मैं तुम्हारी दासी हूं तब द्रौपदी ने कृष्ण की बहिन को उठाकर आलिङ्गन किया और प्रेम से बोली कि तुम्हारा पति शत्रुहीन हो ॥

ततस्ते हृष्टमनसः पाण्डवेया महारथाः ।
कुन्ती च परमप्रीता बभूव जनमेजय ॥२५॥
अर्जुनं पाण्डवश्रेष्ठमिन्द्रप्रस्थगतं तदा ।
आजगाम विशुद्धात्मा रामेण सह केशवः ॥२६॥
वृष्ण्यन्धकमहामात्यैः सह वीरैर्महारथैः ।
भ्रातृभिश्च कुमारैश्च योधैश्च बहुभिर्वृतः ॥२७॥

अर्थ–हे जनमेजय ! तब वह महावीर पाण्डव और कुन्ती अर्जुन के आने से परमप्रसन्न हुए जब श्रेष्ठ पाण्डव अर्जुन इन्द्रप्रस्थ में पहुंच गया तब वह पवित्रात्मा कृष्णजी बलरामजी के सहित तथा वृष्णिवंश और अन्धकवंशी के महामन्त्रियों में से बहुत से वीर सैनिक योद्धाओं, भाइयों तथा कुमार बालकों को साथ लिये हुए इन्द्रप्रस्थ में अर्जुन के समीप पहुंचे ॥

तेषां ददौ हृषीकेशो जन्यार्थे धनमुत्तमम् ।
हरणेवै सुभद्राया ज्ञातिदेयं महायशाः ॥ २८ ॥

रामः पाणिग्रहणिकं ददौ पार्थाय लांगली ।
प्रीयमाणो हलधरः संबन्धं प्रतिमानयन् ॥२९॥

अर्थ–महाप्रतापी कृष्णजी ने सुभद्रा के हरण के सबन्ध में पाण्डवों को दहेज़ में बहुतसा उत्तम धन दिया जो उनके बन्धु लोगों को नियमानुसार देना आवश्यक था, हल के धारण करने वाले बलराम ने प्रसन्नता के साथ विवाहसम्बन्ध का सन्मान करते हुए विवाह का चिह्नरूप हल अर्थात् हल के आकार का शस्त्र अर्जुन को दान के रूप में दिया ॥

रामं पुरस्कृत्य ययुर्वृष्ण्यन्धकमहारथाः ।
रत्नान्यादाय शुभ्राणि दत्तानि कुरुसत्तमैः ॥३०॥
वासुदेवस्तु पार्थेन तत्रैव सह भारत ।
उवास नगरे रम्ये शक्रप्रस्थे महात्मना ॥३१॥

अर्थ–वृष्णिवंशी और अन्धकवंशी वीरपुरुष पण्डवों के दिये हुए बहुत से उत्तमोत्तम रत्न लेकर बलरामजी के साथ द्वारका नगरी को चले गये, हे भारतीय राजन् ! परन्तु कृष्णजी महात्मा अर्जुन के साथ रमणीय इन्द्रप्रस्थ नगर में ही रहते रहे ॥

दीर्घबाहुं महोरस्कं वृषभाक्षमरिन्दमम् ।
सुभद्रा सुषुवे वीरमभिमन्युं नरर्षभम् ॥३२॥
जन्मप्रभृति कृष्णश्च चक्रे तस्य क्रियाः शुभाः ।
स चापि ववृधे बालः शुक्लपक्षे यथा शशी ॥३३॥

अर्थ–तब सुभद्रा के अभिमन्यु नामक वीर पुत्र उतपन्न हुआ, जिसकी लंबी भुजायें, विशाल हृदय, वृषभ के समान नेत्र थे और

वह शत्रुओं को दमन करने वाला तथा मनुष्यों में श्रेष्ठ था, कृष्णजी ने जन्म से लगाकर उसके सब शुभ संस्कार किये और वह बालक भी शुक्लपक्ष में चन्द्रमा के समान प्रतिदिन बढ़ता गया ॥

चतुष्पादं दशविधं धनुर्वेदमरिन्दमः ।
अर्जुनाद् वेद वेदज्ञः सकलं दिव्यमानुषम् ॥३४॥
आगमे च प्रयोगं च चक्रे तुल्यमिवात्मना ।
तुतोष पुत्रं सौभद्रं प्रेक्षमाणो धनञ्जयः ॥३५॥

अर्थ—उस शत्रुनाशक बालक ने अपने पिता अर्जुन द्वारा दिव्य-मनुष्यों से संबन्ध रखने वाला चार खंडों से युक्त दश प्रकार का धनुर्वेद, पूर्णतया सीख लिया, अर्जुन ने शस्त्रों के ज्ञान तथा प्रयोग में उसको अपने ही समान बनालिया और अर्जुन सुभद्रा के पुत्र को देखकर संतुष्ट हो गया ॥

पाञ्चाल्यपि तु पञ्चभ्यः पतिभ्यः शुभलक्षणा ।
लेभे पञ्चसुतान् वीरान् श्रेष्ठान् पञ्चाचलानिव॥३६॥
युधिष्ठिरात्प्रतिविन्ध्यं सुतसोमं वृकोदरात् ।
अर्जुनाच्छ्रुतकर्माणं शतानीकं च नाकुलम् ।
सहदेवाच्छ्रुतसेनमेतान् पञ्च महारथान् ॥३७॥

अर्थ—तब शुभ लक्षणों वाली द्रौपदी के भी पांच पतियों से पांच पर्वतों के समान श्रेष्ठ पांच योद्धा वीर पुत्र उत्पन्न हुए अर्थात् युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीमसेन से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकर्मा,

एकवर्षान्तरास्त्वेते द्रौपदेया यशस्विनः ।
अन्वजायन्त राजेन्द्र परस्परहितैषिणः ॥३८॥
कृत्वा च वेदाध्ययनं ततः सुचरितव्रताः ।
जगृहुः सर्वमिष्वमर्जुनाद्दिव्यमानुषम् ॥३९॥

अर्थ—हे राजेन्द्र! द्रौपदी के यह पांचो प्रतापी पुत्र एक२ वर्ष के पश्चात् उत्पन्न हुए और यह सब आपस में एक दूसरे के हितैषी बन गये थे, इसके अनन्तर इन पांचों ने नियमानुसार ब्रह्मचर्य व्रतधारण करके दिव्यमनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाली सम्पूर्ण शस्त्रविद्या अर्जुन से सीखली ॥

इति त्रिषष्टितमोऽध्यायः समाप्तः

अथ चतुःषष्टितमोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

इन्द्रप्रस्थे वसन्तस्ते जघ्नुरन्यान् नराधिपान् ।
शासनाद् धृतराष्ट्रस्य राज्ञः शान्तनवस्य च ॥१॥
ततः कतिपयाहस्य बीभत्सुः कृष्णमब्रवीत् ।
उष्णानि कृष्ण वर्त्तन्ते गच्छावो यमुनां प्रति ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! इन्द्रप्रस्थ में रहते हुए पाण्डवों ने राजा धृतराष्ट्र तथा भीष्मजी की आज्ञा से अन्य शत्रु राजाओं को पराजय किया और मारा, तब कुछ दिनों पश्चात्

अर्जुन ने कृष्णजी से कहा कि हे कृष्ण ! आजकल गर्मियों के दिन हैं इसलिये हमदोनों यमुना नदी की ओर चलें ॥

आमन्त्य तौ धर्मराजमनुज्ञाप्य च भारत ।
जग्मतुः पार्थगोविन्दौ सुहृज्जनावृतौ ततः ॥३॥
तत्र गत्वा महात्मानौ कृष्णौ परपुरञ्जयौ ।
महार्हासनयो राजंस्ततस्तौ संन्यसीदताम् ॥४॥

अर्थ—हे भारतीय राजन् ! वह दोनों अर्जुन और कृष्ण धर्मराज युधिष्ठिर से पूछकर उनकी अनुमति से अपने मित्र लोगों के सहित यमुना नदी की ओर गये, शत्रुओं के नगरों को विजय करने वाले दोनों महात्मा अर्थात् कृष्ण तथा अर्जुन वहां जाकर राजोचित आसनों पर बैठे ॥

अभ्यागच्छत्तदा विप्रो वासुदेवधनञ्जयौ ।
अर्जुनो वासुदेवश्च तूर्णमुत्पत्य तस्थतुः ॥५॥
सोऽब्रवीदर्जुनं चैव वासुदेवं च सात्वतम् ।
भिक्षे वार्ष्णेयपार्थौ वामेकां तृप्तिं प्रयच्छताम् ॥६॥

अर्थ—तब कृष्ण और अर्जुन के समीप एक ब्राह्मण आखड़ा हुआ, उसे देखते ही अर्जुन और कृष्ण शीघ्र उठ खड़े हुए, वह ब्राह्मण सत्वतवंशी वसुदेवपुत्र कृष्णजी से तथा अर्जुन से बोला कि हे कृष्ण और अर्जुन! मैं तुम से भिक्षा मांगता हूं, तुम मेरी एक अभिलाषा को पूर्ण करो ॥

स युवाभ्यां सहायाभ्यामस्त्रविद्भ्यां समागतः ।
दहेयं खाण्डवं दावमेतदन्नं वृतं मया ॥७॥

अर्थ-मैं आप से यह भिक्षा मांगता हूं कि आप दोनों शस्त्रधारियों की सहायता से मैं इस भयानक "खाण्डव" नामक बन को जला दूं ॥

अर्जुन उवाच

उत्तमास्त्राणि मे सन्ति दिव्यानि च बहूनि च ।
यैरहं शक्तुयां योद्धुमपि वज्रधरान् स्वयम् ॥८॥
तथा कृष्णस्य वीर्येण नायुधं विद्यते समम् ।
येन नागान् पिशाचांश्च निहंत्यान्माधवो रणे ॥९॥

अर्थ-अर्जुन ने कहा कि हे ब्राह्मण ! मेरे समीप बहुत से उत्तम २ अद्भुत शस्त्र हैं जिनके द्वारा मैं स्वयं वज्र के धारण करने वालों से भी युद्ध करसकता हूं, और कृष्णजी के पराक्रम के समान कोई अन्य शस्त्र नहीं है जिसके द्वारा कृष्ण इस बनके रहने वाले हाथियों, सांपों तथा मांसाहारी जंगली मनुष्यों वा हिंसक अन्य जीव जन्तुओं को मारसक्ते हैं ॥

सर्वतः परिवार्यैव दावमेतन्महत् प्रभो ।
कामं संप्रज्वलाद्यैव कल्यौ स्वः सह्य कर्मणि ॥१०॥
एवमुक्तः स भगवान् दाशार्हेणार्जुनेन च ।
ददाह खाण्डवं दावं युगान्तमिव दर्शयन् ॥११॥

अर्थ-हे प्रभावशील ब्राह्मण ! तुम चाहो तो इस भयानक वनके चारों ओर आग लगाकर अभी इसको जला सकते हो, हमदोनों अपना कर्तव्य पालन करने के लिये तैय्यार खड़े हुए हैं, कृष्ण

और अर्जुन के ऐसा कहते ही भगवान् ब्राह्मण ने प्रलयकाल की घटनासी दिखलाते हुए उस भारी खाण्डव बनको जलाना आरम्भ कर दिया ॥

तौ रथाभ्यां रथिश्रेष्ठौ दावस्योभयतः स्थतौ ।
दिक्षु सर्वा सुभूतानां चक्राते कदनं महत् ॥१२॥
यत्र यत्र च दृश्यन्ते प्राणिनः खाण्डवालयाः ।
पलायन्तः प्रवीरौ तौ तत्र तत्राभ्यधावताम् ॥१३॥

अर्थ—वह दोनों श्रेष्ठ योद्धा बन के दोनों ओर खड़े हो गये और सब दिशाओं में उस बन से भागने वाले दुष्टजन्तुओं को मार २ कर गिराने लगे, जिस २ ओर को खाण्डव बन के रहने वाले प्राणी भागते हुए दिखलाई देंते उसी ओर वह दोनों वीर दौड़कर जा पहुंचते थे ॥

खाण्डवे दह्यमाने तु भूतानि शतसङ्घशः ।
उत्पेतुर्भैरवान्नादान् विनदन्तः समन्ततः ॥१४॥
ते शराञ्चितसर्वाङ्गा निनदन्तो महारवान् ।
ऊर्द्ध्वमुत्पत्य वेगेन निपेतुः खाण्डवे पुनः ॥१५॥

अर्थ—जिससमय खाण्डवबन जलने लगा तब सैकड़ों हज़ारों झुंड के झुंड डरावने प्राणी भयानक चिल्लाहट मचाते हुए उसबन के सब भागों से निकल २ कर दौड़ने लगे, परन्तु जब बाणों से उनके सब अङ्ग बिन्धने लगे तो बड़े वेग से शब्द करते हुए उछल २ कर फिर उसी जलते हुए खाण्डव बन में गिरपड़े ॥

तथासुरं मयं नाम तक्षकस्य निवेशनात् ।
विप्रद्रवन्तं सहसा ददर्श मधुसूदनः ॥१६॥
जिघांसुर्वासुदेवस्तं चक्रमुद्यम्य धिष्ठितः ।
स चक्रमुद्यतं दृष्ट्वा दिधक्षन्तं च पावकम् ।
अभिधावार्जुनेत्येव मयस्त्राहीति चाब्रवीत् ॥१७॥

अर्थ–जब कृष्णजी ने एकाएक देखा कि " मय " नामक राक्षस तक्षक के घर से निकल कर दौड़ रहा है तब कृष्णजी उस के मारने के लिये चक्र उठाकर दौड़े, जब मय ने देखा कि मेरे मारने को कृष्ण ने चक्र उठाया हुआ है और दूसरी ओर अग्नि भी मुझे जलाना ही चाहती है अर्थात् अत्यन्त समीप आगई है, तब उस ने अर्जुन को पुकार कर कहा कि मैं "मय" हूं मुझे शीघ्र ही दौड़कर बचाओ ॥

तस्य भीतस्वनं श्रुत्वा माभैरिति धनञ्जयः ।
प्रत्युवाच मयं पार्थो जीवयान्निव भारत ॥१८॥
तं पार्थेनाभये दत्ते नमुचेर्भ्रातरं मयम् ।
तं हन्तुमैच्छद् दाशार्हः पावको न ददाह च ॥१९॥

अर्थ–हे राजन् ! उसके घबराहट की पुकार सुनकर कुन्ती पुत्र अर्जुन ने " मय " से कहा कि "मतडरो" इस प्रकार कहकर मानों उसको जीवित कर दिया, नमुचि के भाई "मय" को जब अर्जुन ने अभयदान दिया, तब कृष्णजी ने उसके मारने की इच्छा त्याग दी और वह अग्नि में जलने से भी बचगया ॥

अर्जुनो वासुदेवश्च दानवश्च मयस्तथा ।
परिक्रम्य ततः सर्वे त्रयोऽपि भरतर्षभ ।
रमणीये नदीकूले सहिताः समुपाविशन् ॥२०॥

अर्थ–हे भारतीय राजन् ! तब अर्जुन, कृष्ण तथा राक्षस "मय" यह तीनो थोड़ी दूर चलकर रमणीय यमुना नदी के तट पर इकट्ठे होकर बैठ गये ॥

इति श्री पं० आर्य्यमुनिनोपनिबद्धे
महाभारते आर्य्यटीकायां
आदिपर्व समाप्तम् ।



ॐ

अथ सभापर्व प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीन्मयः पार्थं वासुदेवस्य सन्निधौ ।
प्रांजलिः श्लक्ष्णया वाचा पूजयित्वा पुनःपुनः ॥१॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय! खाण्डव वन जल-जाने के पश्चात् "मय" दानव, अर्जुन और कृष्ण का बारम्बार सत्कार करके कृष्ण के सन्मुख अर्जुन के प्रति हाथ जोड़ कर मधुरबाणी द्वारा बोला कि:—

अस्मात्कृष्णात् सुसंरब्धात्पावकाच्च दिधक्षतः ।
त्वया त्रातोस्मि कौन्तेय ब्रूहि किं करवाणि ते॥२॥

अर्थ—हे महाराज अर्जुन! आप ने मुझको इन कृष्णजी के क्रोध से और अग्नि से जलते हुए बचाया है, मैं भी आपका कुछ प्रत्युपकार किया चाहता हूं, सो आप कृपाकरके बतलावें कि मैं आपका क्या कार्य करूं?॥

अर्जुन उवाच

कृतमेव त्वया सर्वं स्वस्ति गच्छ महासुर ।
प्रीतिमान्भव मे नित्यं प्रीतिमंतो वयं च ते ॥३॥

अर्थ-यह सुनकर अर्जुन बोला कि आपने हमारा सब कार्य्य किया, मैं आप पर प्रसन्न हूं, अब आप कुशलपूर्वक अपने घर जायं और हम से सदाही प्रीति मानते रहें ॥

मय उवाच

युक्तमेतत्त्वयि विभो यथात्थ पुरुषर्षभ ।
प्रीतिपूर्वमहं किंचित्कर्तुमिच्छामि भारत ॥४॥
अहं हि विश्वकर्मा वै दानवानां महाकविः ।
सोऽहं वै त्वत्कृते कर्त्तुं किंचिदिच्छामि पाण्डव॥५॥

अर्थ-तब "मय" बोला कि हे पुरुषश्रेष्ठ ! आपने ठीक कहा और आप इसी योग्य हैं, परंतु हे भरतकुलोत्पन्न अर्जुन ! मैं प्रीतिपूर्वक आपका कुछ कार्य किया चाहता हूं, क्योंकि मैं दानवों का बड़ा कवि विश्वकर्मा होने से शिल्पविद्या भलेप्रकार जानता हूं॥

अर्जुन उवाच

प्राणकृच्छ्राद्विमुक्तं त्वमात्मानं मन्यसे मया ।
एवं गतेन शक्ष्यामि किंचित्कारयितुं त्वया ॥६॥
नचापि तव संकल्पं मोघमिच्छामि दानव ।
कृष्णस्य क्रियतां किंचित्तथा प्रतिकृतं मयि ॥७॥
चोदितो वासुदेवस्तु मयेन भरतर्षभ ।
मुहूर्त्तमिव संदध्यौ किमयं चोद्यतामिति ॥८॥

अर्थ-यह सुनकर अर्जुन बोला कि हे दानव ! आप अपनेको हमसे रक्षा किया हुआ मानकर हमारा प्रत्युपकार करना चाहते हो, परंतु ऐसी दशा में मेरा कोई ऐसा कार्य्य नहीं जो मैं आपसे

कराऊं, यदि आप हमारा कुछ कार्य्य किया चाहते ही हैं तो कृष्ण से पूछें और जो वह आज्ञा दें वही करें, क्योंकि उनका कार्य्य भी हमारा ही है, यह सुनकर मय ने कृष्ण से कहा और वह क्षणभर विचारकर बोले कि:—

कृष्ण उवाच

यदि त्वं कर्त्तुकामोसि प्रियं शिल्पवतांवर।
धर्मराजस्य दैतेय यादृशीमिह मन्यसे ॥९॥
यां कृतां नानुकुर्वन्ति मानवाः प्रेक्ष्यधिष्ठिताः।
मनुष्यलोके सकले तादृशीं कुरु वै सभाम् ॥१०॥

अर्थ– कृष्णजी बोले कि हे शिल्पजानने वालों में श्रेष्ठ! यदि तू धर्मराज युधिष्ठिर का प्रिय करना चाहता है, तो एक ऐसा सुन्दर सभाभवन बना जिसके सदृश संसारभर में दूसरा कोई न हो, और जिसको देखकर सब तेरी बुद्धि की प्रशंसा करें॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं संप्रहृष्टो मयस्तदा।
विमानप्रतिमां चक्रे पाण्डवस्य शुभां सभाम् ॥११॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! कृष्ण का उक्त वाक्य सुनकर मय ने प्रसन्नतापूर्वक "विमानप्रतिमा" = विमान के समान उत्तम सभाभवन पाण्डवों के लिये बनाना स्वीकार किया॥

ततः कृष्णश्च पार्थश्च धर्मराजे युधिष्ठिरे।
सर्वमेतत्समावेद्य दर्शयामासतुर्मयम् ॥१२॥
तस्मै युधिष्ठिरः पूजां यथार्हमकरोत्तदा।
स तु तां प्रतिजग्राह मयः सत्कृत्य भारत ॥१३॥

अर्थ—इसके अनन्तर कृष्ण और अर्जुन मय दानव को धर्मराज युधिष्ठिर के समीप लेगये और उनसे सब वृतांत कहकर मय के सभाभवन बनाने का हाल कहा, तब युधिष्ठिर ने वह सब वृतांत सुनकर मय का यथोचित सत्कार किया, और मय ने भी युधिष्ठिर का सत्कार करके, उनके सत्कार को ग्रहण किया ॥

स कालं कंचिदाश्वस्य विश्वकर्मा विचिन्त्य तु ।
सभां प्रचक्रमे कर्तुं पाण्डवानां महात्मनाम् ॥१४॥
सर्वर्तुगुणसम्पन्नां दिव्यरूपां मनोरमाम् ।
दशकिष्कुसहस्रां तां मापयामास सर्वतः ॥१५॥

अर्थ—तत्पश्चात् कुछ काल स्वस्थचित्त होकर विश्वकर्मा ने चिन्तन करके महात्मा पाण्डवों के लिये ऐसा सभाभवन बनाना प्रारम्भ किया जो बड़ा मनोहर दिव्यगुण सम्पन्न तथा सब ऋतुओं में गुणकारी हो, जिस के लिये उसने दश २ सहस्र हाथ चारों ओर से भूमि मापकर सभा बनाने का स्थान नियत किया ॥

उषित्वा खाण्डवप्रस्थे सुखवासं जनार्दनः ।
गमनाय मतिं चक्रे पितुर्दर्शनलालसः ॥१६॥
काञ्चनं रथमास्थाय तार्क्ष्यकेतनमाशुगम् ।
स्यन्दनेनाथ कृष्णोऽपि त्वरितं द्वारकामगात् ॥१७॥

अर्थ—कृष्णजी ने कुछ समय तक खाण्डवप्रस्थ में सुखपूर्वक निवास करके, पश्चात् पिता के दर्शन की उत्कण्ठा से द्वारकापुरी जाने का विचार किया, तब कृष्णजी सुवर्ण के शीघ्रगामी

रथ पर बैठकर जिसपर कि गरुड़ के चिह्न की ध्वजा लगी हुई थी, शीघ्र ही द्वारका नगरी में जा पहुंचे ॥

इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः

अथ द्वितीयोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्मयः पार्थमर्जुनं जयतांवरम् ।
उत्तरेण तु कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति ।
यियक्षमाणेषु पुरा दानवेषु मया कृतं ॥१॥
चित्रं मणिमयं भाण्डं रम्यं विन्दुसरः प्रति ।
सभायां सत्यसंधस्य यदासीद् वृषपर्वणः ॥२॥
आगमिष्यामि तद्गृह्य यदि तिष्ठति भारत ।
ततः सभां करिष्यामि पाण्डवस्य यशस्विनीम् ॥३॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे जनमेजय ! तब मयदानव ने जीतने वालों में श्रेष्ठ=अर्जुन से कहा कि हे भरतवंशी ! कैलासपर्वत के उत्तर की ओर मैनाकपर्वत है जिसमें एक विन्दुसर है, मैंने वहां पूर्वकाल में जब कि दानवों को यज्ञ करने की इच्छा हुई थी, सत्य-प्रतिज्ञ वृषपर्वा नामक राजा के लिये सभा बनाई थी, उसी स्थान के निकट उस सभा के बनाने का सामान विचित्र मणि—रत्नादिक रक्खे हुए हैं, सो मैं वहां से उस सामान को लाकर आपके लिये बड़ा मनोहर उत्तम सभाभवन बनाऊंगा, और :—

मनः प्रह्लादिनीं चित्रां सर्वरत्नविभूषिताम् ।
अस्ति विन्दुसरस्युग्रा गदा च कुरुनन्दन ॥४॥
वारुणश्च महाशंखो देवदत्तः सुघोषवान् ।
सर्वमेतत्प्रदास्यामि भवते नात्र संशयः ॥५॥

अर्थ—हे कुरुनन्दन ! वहीं विन्दुसर के निकट सब रत्नों से विभूषित, मनको आह्लाद = प्रसन्न करने वाली एक भारी गदा राजा वृषपर्वा की रखी है, और राजा वरुण का " देवदत्त " नामक बड़ा शंख, जिसका शब्द बड़ी दूर से सुनाई देता है, वहीं रखा हुआ है, सो मैं इन सब वस्तुओं को भी लेता आऊंगा और आप को दूंगा, इसमें संशय नहीं ॥

तत्र गत्वा स जग्राह गदां शंखं च भारत ।
स्फाटिकं च सभाद्रव्यं यदासीद् वृषपर्वणः ॥६॥
किंकरैः सहरक्षोभिर्यदरक्षन्महद्धनम् ।
तदगृह्णान्मयस्तत्र गत्वा सर्वं महासुरः ॥७॥
गदां च भीमसेनाय प्रवरां प्रददौ तदा ।
देवदत्तं चार्जुनाय शंखप्रवरमुत्तमम् ॥८॥

अर्थ—वह मय नामक दैत्य वहां जाकर गदा, शंख और मणि आदिक सभा बनाने का बड़ा समान, जो राजा वृषपर्वा का वहां दैत्यों से रक्षित रखा हुआ था, उसको लेकर इन्द्रप्रस्थ को लौट आय ,उसनेवह उत्तम गदा भीमसेन को तथा वह श्रेष्ठ शंख अर्जुन को देदिया और :—

तदाहृत्य च तां चक्रे सोऽसुरोऽप्रतिमां सभाम् ।
विश्रुतां त्रिषु लोकेषु दिव्यां मणिमयीं शुभाम्॥९॥

अर्थ—वह सब सामान लाकर उस "मय" नामी असुर ने अनुपम सभा तैयार की, जो कि दिव्यमणिओं से बनाई गई और जिसकी तीनो लोकों में प्रसिद्धि फैल गई थी ॥

भ्राजमाना तथात्यर्थं दधार परमं वपुः ।
अभिघ्नतीव प्रभया प्रभामर्कस्य भास्वराम् ॥१०॥

अर्थ—उस सभा में ऐसा प्रकाश था कि उसके सन्मुख सूर्य्य का भी प्रकाश मन्द प्रतीत होता था, और:—

प्रबभौ ज्वलमानेव दिव्यादिव्येन वर्चसा ।
नवमेघप्रतीकाशादिवमावृत्याविष्ठिता ।
आयता विपुला रम्या विपाप्मा विगतक्लमा॥११॥
उत्तमद्रव्यसम्पन्ना रत्नप्राकारतोरणा ।
बहुचित्रा बहुधना सुकृता विश्वकर्मणा ॥१२॥
तांस्म तत्र मयेनोक्ता रक्षन्ति च वहन्ति च ।
सभामष्टौ सहस्राणि किंकरा नाम राक्षसाः ॥१३॥

अर्थ—वह सभा कृत्रिम तथा अकृत्रिम तेज से ऐसी शोभायमान थी कि मनुष्य की थकावट वहां जाते ही दूर होजाती थी, और लंबी चौड़ी तथा ऊंची इतनी थी कि आकाश से मिली हुई नवीनमेघ जैसी जान पड़ती थी, उस दैत्यों के विश्वकर्मा = मय असुर ने उस सभा के लिये अनेक प्रकार के रत्नादि द्रव्यों से कोट = अहाता तथा तोरण = द्वार आदि बनाकर उसकी रक्षा के लिये आठ हज़ार

किंकर नामी दैत्य नियत कर दिये थे, और वह सभा ऐसी दिव्य बनाई थी कि उस को जहां चाहें वहां उठाकर लेजा सकते थे ॥

तस्यां सभाया नलिनीं चकाराप्रतिमां मयः ।
वैदूर्यपत्रविततां मणिनालमयांबुजाम् ॥१४॥
पद्मसौगन्धिकवतीं नानाद्विजगणायुताम् ।
पुष्पितैः पंकजैश्चित्रां कूर्मैर्मत्स्यैश्च कांचनैः ।
चित्रस्फटिकसोपानां निष्पंकसलिलां शुभाम् ॥१५॥
मंदानिलसमुद्धूतां मुक्ताबिन्दुभिराचिताम् ।
महामणिशिलापट्टबद्धपर्यन्त वेदिकाम् ॥१६॥

अर्थ-"मय" दानव ने उस सभाभवन में एक नलिनी= कमलयुक्त सरोवर बनाया था, जिसमें कि हरीमणिओं के पत्तों वाले तथा मणिओं की ही डंडिओं वाले कमल बनाये थे, उस सरोवर की सीढ़ियां स्फटिक की बनी थीं, उसके चारों ओर मणिओं का चौंतरा बना हुआ था, और उन कमलों में सुगन्ध आती थी तथा उनपर नानाप्रकार के पक्षी भी बैठाये गये थे, उस सरोवर में अनेक प्रकार की मणियों से जटित सुनहरे कछुये तथा मछलियां फिरती थीं और उसमें कींच रहित जल स्फटिक के सदृश स्वच्छ झलकता था, और मंद २ शीतल वायु बह रहा था ॥

तां सभामभितो नित्यं पुष्पवंतो महाद्रुमाः ।
आसन्नानाविधालीलाः शीतच्छाया मनोरमाः ॥१७॥
काननानि सुगन्धीनि पुष्करिण्यश्च सर्वशः ।
हंसकारंडवोपेताश्चक्रवाकोपशोभिताः ॥१८॥

जलजानां च पद्मानां स्थलजानां च सर्वशः ।
मारुतो गन्धमादाय पाण्डवान् स्म निषेवते॥१९॥

अर्थ—उस सभा के चारों ओर बड़े २ सुन्दर तथा शीतल छाया देने वाले फूलों के वृक्ष लगे हुए थे और चारों ओर बड़े सुगन्धित बाग़ थे, जिनमें कि कमल, हंस तथा चकवा चकवी आदि से युक्त सरोवरों के होने से सभा अत्यन्त सुशोभित बनी हुई थी, वहां वायु, सबप्रकार के जल में उत्पन्न होने वाले कमलों तथा स्थल में फूलने वाले फूलों की उत्तम सुगन्ध को लेकर बहता हुआ पाण्डवों की सेवा करने लगा॥

वैशम्पायन उवाच

ईदृशीं तां सभां कृत्वा मासैः परिचतुर्दशैः ।
निष्ठितां धर्मराजाय मयो राजन् न्यवेदयत्॥२०॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! मयदानव ने उस सभा को १४ मास में बनाकर युधिष्ठिर के प्रति निवेदन करदिया॥

इति द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः

अथ तृतीयोऽध्यायः प्रारभ्यते

सङ्गति—अब महाराज युधिष्ठिर का सभा में प्रवेश करना और सबदेशों के राजा तथा ऋषिमुनियों का वहां आना कथन करते हैं:—

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रवेशनं तस्यां चक्रे राजा युधिष्ठिरः ।
अयुतं भोजयित्वा तु ब्राह्मणानां नराधिपः ॥१॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! उस सभा के बन-जाने पर, युधिष्ठिर ने उसमें प्रवेश करने के लिये दशसहस्र ब्राह्मणों को भोजन कराया, और :—

ददौ तेभ्यः सहस्राणि गवां प्रत्येकशः पुनः ।
अहतैश्चैव वासोभिर्माल्यैरुच्चावचैरपि ॥ २ ॥
तर्पयामास विप्रेन्द्रान्नानादिग्भ्यः समागतान् ।
पुण्याहघोषस्तत्रासीद्दिवस्पृगिव भारत ॥३॥
वादित्रैर्विविधैर्दिव्यैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ।
पूजयित्वा कुरुश्रेष्ठो दैवतानि निवेश्य च ॥४॥

अर्थ-हज़ारों गौयें दान कीं तथा प्रत्येक ब्राह्मण को नवीन वस्त्र तथा भांति २ की मालायें दीं, इसप्रकार नाना दिशाओं से आये हुए ब्राह्मणों को राजा ने भलेप्रकार तृप्त किया और उन ब्राह्मणों ने बड़े उच्चस्वर से वेदमन्त्रों की ध्वनि द्वारा राजा को आशीर्वाद दिया, तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने नाना प्रकार के बाजे बजवाकर तथा उत्तमोत्तम सुगन्धिओं से सत्कार करके देवता=दिव्यगुणसम्पन्न ब्राह्मणों को वहां बैठाया पुनः आप सभा में विराजमान हुआ ॥

सभायामृषयस्तस्यां पाण्डवैःसह आसते ।
आसांचक्रुर्नरेन्द्राश्च नाना देशसमागताः ॥५॥

अर्थ-तदनन्तर अनेकदेशों से आये हुए ऋषि तथा राजा लोग उस सभा में महाराजा युधिष्ठिर के समीप स्थित हुए, जिन के नाम यह हैं :—

सं०-अब प्रथम ऋषियों के नाम कथन करते हैं :—

असितो देवलः सत्यः सर्पिर्मालीमहाशिराः ।
अर्वावसुः सुमित्रश्च मैत्रेयः शुनको बलिः ॥६॥
बकोदल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनः शुकः ।
सुमंतुर्जैमिनिः पैलो व्यासशिष्यास्तथा वयम् ॥७॥
तित्तिरिर्याज्ञवल्क्यश्च ससुतो लोमहर्षणः ।
अप्सुहोम्यश्च धौम्यश्च अणीमाण्डव्यकौशिकौ ॥८॥
दामोष्णीषस्त्रैबलिश्च पर्णादोघटजानुकः ।
मौंजायनो वायुभक्षः पाराशर्यश्च सारिकः ॥९॥

अर्थ—असित, देवल, सत्य, सर्पि, माली, महाशिरा, अर्वावसु, सुमित्र, मैत्रेय, शुनक, बलि, बक, दाल्भ्य, स्थूलशिरा, कृष्णद्वैपायन = व्यासजी, शुक, सुमंतु, जैमिनि, पैल और हम अर्थात् वैशम्पायन यह सब व्यासजी के शिष्य, तित्तिरि, याज्ञवल्क्य, अपने पुत्र सहित लोमहर्षण, अप्सुहोम्य, धौम्य, अणीमांडव्य, कौशिक, दामोष्णीष, त्रैबलि, पर्णाद, घटजानुक, मौंजायन, वायुभक्ष, पाराशर्य, सारिक, और :—

बलिवाकः सिनीवाकः सप्तपालः कृतश्रमः ।
जातूकर्णः शिखावांश्च आलंबः पारिजातकः ॥१०॥
पर्वतश्च महाभागो मार्कंडेयो महामुनिः ।
पवित्रपाणिः सावर्णो भालुकिर्गालवस्तथा ॥११॥
जंघाबन्धुश्च रैभ्यश्च कोपवेगस्तथा भृगुः ।
हरिबभ्रुश्च कौंडिन्यो बभ्रुमाली सनातनः ॥१२॥

काक्षीवानौशिजश्चैव नाचिकेतोऽथ गौतमः।
पैंग्यो वराहः शुनकः शांडिल्यश्च महातपाः॥१३॥

अर्थ—बलिवाक, सिनीवाक, सत्यपाल, कृतश्रम, जातूकर्ण, शिखावान्, आलंब, पारिजातक, पर्वत, महाभाग, महामुनि मार्कंडेय, पवित्रपाणि, सावर्ण, भालुकि, गालव, जंघाबन्धु, रैभ्य, कोपवेग, भृगु, हरिबभ्रु, कौंडिन्य, सनातन बभ्रुमाली, काक्षीवान्, औशिज, नाचिकेत, गौतम, पैंग्य, वराह, शुनक, महातपस्वी शांडिल्य, और :—

कुक्कुरोवेणुजंघोऽथ कालापः कठ एव च।
मुनयो धर्मविद्वांसो धृतात्मानो जितेन्द्रियाः॥१४॥
एते चान्ये च बहवो वेदवेदाङ्गपारगाः।
उपासते महात्मानं सभायामृषिसत्तमाः॥१५॥
कथयन्तः कथाः पुण्या धर्मज्ञाः शुचयोमलाः।
तथैव क्षत्रियश्रेष्ठा धर्मराजमुपासते॥१६॥

अर्थ—कुक्कुर, वेणुजंघ, कालाप तथा कठ और इनके अतिरिक्त अन्य बहुतसे धार्मिक विद्वान् संयमी जितेन्द्रिय वेदवेदाङ्गों के जानने वाले श्रेष्ठ ऋषि मुनि महात्मा युधिष्ठिर के समीप बैठे, जो कि पवित्र, धार्मिक तथा पुण्य कथाओं के कहने वाले थे, इसी प्रकार अनेक श्रेष्ठ क्षत्रिय भी धर्मराज युधिष्ठिर की सेवा में उपस्थित थे, जिनके नाम यह हैं :—

श्रीमान्महात्मा धर्मात्मा मुंजकेतुर्विवर्द्धनः।
संग्रामजिद्दुर्मुखश्च उग्रसेनश्च वीर्यवान्॥१७॥

कक्षसेनः क्षितिपतिः क्षेमकश्चापराजितः ।
कंबोजराजः कमठः कंपनश्च महाबलः ॥१८॥
सततं कम्पयामास यवनानेक एव यः ।
बलपौरुषसम्पन्नान् कृतास्त्रानमितौजसः ॥१९॥

अर्थ—श्रीमान् महात्मा धर्मात्मा मुंजकेतु, विवर्द्धन, संग्रामजित् दुर्मुख, वीर्यवान् उग्रसेन, कक्षसेन, क्षितिपति, किसी से युद्ध में पराजित न होने वाला क्षेमक, कंबोजराज, कमठ, तथा महाबलवान् कंपन, जिसने कि बलपौरुष सम्पन्न और अस्त्र-शस्त्र वेत्ता अनेक यवनों को युद्ध में कंपा दिया था, औरः—

जटासुरो मद्रकानां च राजा कुंतिः पुलिं-
दश्च किरातराजः। तथाङ्गवाङ्गौ सह पुंड्र-
केण पांड्योड्रराजौ च सहांध्रकेण ॥२०॥
अंगो वंगः सुमित्रश्च शैब्यश्चामित्रकर्शनः ।
किरातराजः सुमना यवनाधिपतिस्तथा॥२१॥
चाणूरो देवरातश्च भोजो भीमरथश्च यः ।
श्रुतायुधश्च कालिंगो जयसेनश्च मागधः ॥२२॥

अर्थ—मद्रकदेशों का राजा जटासुर, राजा कुंति, किरातों का राजा पुलिंद, अंग तथा वंग देशों के राजा, पुंड्र, पाण्ड्य, उड्र-राज, राजा अंध्रक, अंग, वंग, सुमित्र, शत्रुनाशक शैब्य, किरातों का राजा सुमना, यवनों का राजा, चाणूर, देवरात, भोज, भीमरथ, श्रुतायुध, राजा कालिंग, तथा मगध देश का राजा जयसेन, औरः—

सुकर्मा चेकितानश्च पुरुश्चामित्रकर्शनः ।
केतुमान्वसुदानश्च वैदेहोऽथ कृतक्षणः ॥२३॥
सुधर्मा चानिरुद्धश्च श्रुतायुश्च महाबलः ।
अनूपराजो दुर्धर्षः क्रमजिच्च सुदर्शनः ॥२४॥
शिशुपालः सहसुतः करूषाधिपतिस्तथा ।
वृष्णीनां चैव दुर्धर्षाः कुमारा देवरूपिणः ॥२५॥

अर्थ—सुकर्मा, चेकितान, शत्रुनाशक पुरु, केतुमान्, वसुदान, वैदेह, कृतक्षण, सुधर्मा, अनिरुद्ध, महाबली श्रुतायु, अनूपराज, दुर्धर्ष, क्रमजित, सुदर्शन, पुत्रसमेत शिशुपाल, करूषराज तथा वृष्णि=यदु कुलके दुर्धर्ष=कठिनता से जीते जाने योग्य योद्धा, और दिव्यरूप-सम्पन्न कुमार भी थे, जिनके नाम यह हैं :—

आहुको विपृथुश्चैव गदः सारण एव च ।
अक्रूरः कृतवर्मा च सत्यकश्च शिनेः सुतः ॥२६॥
भीष्मकोथाकृतिश्चैव द्युमत्सेनश्च वीर्यवान् ।
केकयाश्च महेष्वासा यज्ञसेनश्च सौमकिः ॥२७॥
केतुमान्वसुमांश्चैव कृतास्त्रश्च महाबलः ।
एते चान्ये च बहवः क्षत्रिया मुख्यसंमताः ॥२८॥

अर्थ—आहुक, विपृथु, गद, सारण, अक्रूर, कृतवर्मा और शिनि का पुत्र सत्यक, तथा भीष्मक, आकृति, वीर द्युमत्सेन, महाबलवान् केकयदेश के राजा, सोमकवंशी यज्ञसेन, केतुमान्, तथा शस्त्रविद्या में निपुण महाबली वसुमान् इत्यादि अनेक राजा वहां उपस्थित थे जिन में से मुख्य २ राजाओं के यह नाम दिये गये हैं, और:—

उपासते सभायां स्म कुंतीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अर्जुनं ये च संश्रित्य राजपुत्रा महाबलाः ॥२९॥
अशिक्षंत धनुर्वेदं रौरवाजिनवाससः ।
तत्रैव शिक्षिता राजन् कुमारा वृष्णिनन्दनाः॥३०॥
रौक्मिणेयश्च सांवश्च युयुधानश्च सात्यकिः ।
सुधर्मा चानिरुद्धश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥३१॥
एते चान्ये च बहवो राजानः पृथिवीपते ।
धनंजयसखा चात्र नित्यमास्ते स्म तुंबुरुः ॥३२॥

अर्थ—कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर की सभा में ऐसे कई बलवान् राजपुत्र उपस्थित थे जिन्होंने अर्जुन के समीप रहकर मृगचर्म धारण किये हुए धनुर्वेद सीखा था, हे राजन् ! वहीं पर वृष्णि-वंशी राजकुमारों ने शिक्षा पाई थी जिनके नाम यह हैं—रुक्मिणी का पुत्र प्रद्युम्न, सांव, युयुधान, सात्यकि, सुधर्मा, अनिरुद्ध, तथा श्रेष्ठ पुरुष शैब्य आदि अनेक अन्य बहुतसे राजालोग, जो अर्जुन के मित्र थे और तुंबुरु नामक गन्धर्व जो नित्य अर्जुन के समीप रहता था, यह सबभी उस महासभा में अर्जुनके समीप उपस्थित थे॥

उपासते महात्मानमासीनं सप्तविंशतिः ।
गीतवादित्रकुशलाः साम्यतालविशारदाः ॥३३॥
प्रमाणेऽथ लयेस्थाने किन्नराः कृतनिश्रमाः।
संचोदितास्तुंबुरुणा गन्धर्वसहितास्तदा ।
गायन्ति दिव्यतानैस्ते यथान्यायं मनास्विनः॥३४॥

अर्थ–उस सभा में सत्ताईस गन्धर्व भी थे, जो गाने बजाने में कुशल तथा तालस्वर मिलाने और विराम तथा लय में बड़े निपुण थे, उन सुयोग्य किन्नर तथा गन्धर्वों ने "तुंबुरु" की प्रेरणा द्वारा विधिपूर्वक मधुर आलाप से बड़ा मनोहर गान किया ॥

इति तृतीयोऽध्यायः समाप्तः

अथ चतुर्थोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०–अब उक्त सभा में नारदजी का आना और युधिष्ठिर को उपदेश करना कथन करते हैं :–

वैशम्पायन उवाच

अथ तत्रोपविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
महत्सु चोपविष्टेषु गंधर्वेषु च भारत ॥१॥
वेदोपानिषदां वेत्ता ऋषिः सुरगणार्चितः ।
इतिहासपुराणज्ञः पुराकल्पविशेषवित् ॥२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! जब महाराज युधिष्ठिर आदि पाण्डव लोग तथा अन्य बड़े २ राजा गन्धर्वों सहित उस महासभा में विराजमान थे तब वहां नारदजी आये, जो चार वेद तथा दश उपनिषदों के वेत्ता, ऋषि, तथा देवताओं से पूजित इतिहास–पुराणों के ज्ञाता और विशेषतः पुराकल्प=अर्थवाद के जानने वाले थे ॥

न्यायविद्धर्मतत्त्वज्ञः षडंगविदनुत्तमः ।
ऐक्यसंयोगनानात्व समवायविशारदः ॥३॥

अर्थ—नारदजी न्यायशास्त्र के ज्ञाता, धर्म के तत्व को जानने वाले, वेदों के छः अंग—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्योतिष के जानने वाले, ऐक्य=अद्वैतवाद, संयोग सम्बन्ध, नानात्व=भेद और समवाय सम्बन्ध के लक्षणों को जानने वाले थे ॥

वक्ता प्रगल्भो मेधावी स्मृतिमान्नयवित्कविः ।
परापरविभागज्ञः प्रमाणकृतनिश्चयः ॥४॥
पंचावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित् ।
उत्तरोत्तरवक्ता च वदतोऽपि बृहस्पतेः ॥५॥
धर्मकामार्थमोक्षेषु यथावत्कृतनिश्चयः ।
तथा भुवनकोशस्य सर्वस्यास्य महामतिः ॥६॥

अर्थ—बोलने में चतुर, बुद्धिमान्, स्मृतिमान्, नीति के जानने वाले, पण्डित तथा पर=ज्ञानकाण्ड, अपर=कर्मकाण्ड को प्रमाणसहित निश्चय करने वाले, पंचावयव=प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन, इन पांचों से युक्त प्रत्येक विषय के गुणदोष को जानने वाले, प्रश्नोत्तर की रीति में बृहस्पति के कथन का भी उत्तर देने वाले, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का जिन्होंने यथावत् निश्चय किया है तथा इस सम्पूर्ण संसार के तत्व को जानने वाले, आत्मज्ञ, और :—

प्रत्यक्षदर्शी लोकस्य तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा ।
सांख्ययोगविभागज्ञो निर्विवित्सुः सुरासुरान् ॥७॥
संधिविग्रहतत्त्वज्ञस्त्वनुमानविभागवित् ।
षाड्गुण्यविधियुक्तश्च सर्वशास्त्रविशारदः ॥८॥

अर्थ-वह तिर्यक्=मध्यलोक,ऊर्ध्व=ऊर्ध्वलोक और अधः= अधोलोक इनतीन प्रकार के लोकों की लोकगति को प्रत्यक्षवत् देखने वाले, सांख्यशास्त्र तथा योगशास्त्र के विषय को पृथक् २ करके जानने वाले, देवता और असुरों का भेद जानने वाले, सन्धि=सुलह और विग्रह=युद्ध के तत्व को जानने वाले, राजा के छः गुणों की विधि के ज्ञाता, अनुमान के जानने वाले तथा सब शास्त्रों के पण्डित थे, और :-

युद्धगान्धर्वसेवी च सर्वत्राप्रतिघस्तथा ।
एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्युक्तो गुणगणैर्मुनिः॥९॥
लोकाननुचरन्सर्वानागमत्तां सभां नृप ।
नारदः सुमहातेजा ऋषिभिः सहितस्तदा ॥१०॥
पारिजातेन राजेन्द्र पर्वतेन च धीमता ।
सुमुखेन च सौम्येन देवर्षिरमितद्युतिः ॥११॥
सभास्थान्पाण्डवान्द्रष्टुं प्रीयमाणो मनोजवः ।
जयाशीर्भिस्तु तं विप्रो धर्मराजानमार्चयत् ॥१२॥

अर्थ-युद्ध तथा गान्धर्वविद्या में निपुण और सर्वत्र विना रोक टोक जाने आने वाले, इत्यादि गुणपूर्ण तथा अन्य अनेक गुणसम्पन्न मुनि महातेजस्वी नारद, बुद्धिमान् पारिजात, पर्वत, सुमुख और सौम्य ऋषियों सहित देश देशान्तरों में भ्रमण करते हुए, महाराज युधिष्ठिर की सभा में पाण्डवों को देखने की इच्छा से आये और उन्होंने युधिष्ठिर को प्रीतिपूर्वक "जय" कहकर आशीर्वाद दिया ॥

तमागतमृषिं दृष्ट्वा नारदं सर्वधर्मवित् ।
सहसा पाण्डवश्रेष्ठः प्रत्युत्थायानुजैः सह ॥१३॥
अभ्यवादयत प्रीत्या विनयावनतस्तदा ।
तदर्हमासनं तस्मै संप्रदाय यथाविधि ॥१४॥
गां चैव मधुपर्कं च संप्रदायार्घ्यमेव च ।
अर्चयामास रत्नैश्च सर्वकामैश्च धर्मवित् ॥१५॥
तुतोष च यथावच्च पूजां प्राप्य युधिष्ठिरात् ।
धर्मकामार्थसंयुक्तं पप्रच्छेदं युधिष्ठिरम् ॥१६॥

अर्थ—सबधर्मों के ज्ञाता युधिष्ठिर, नारद को आया हुआ देखकर अपनेसब भाइयों सहित सहसा उठकर खड़ा होगये, और विनययुक्त प्रीति से दण्डवत् करके उनको विधिपूर्वक उत्तम आसन पर बिठा कर गौ, मधुपर्क, अर्घ्य, रत्न और अन्य सम्पूर्ण इच्छित पदार्थों से उनका विधिवत् सत्कार किया, तब नारदजी पाण्डवों से यथोचित सत्कार पाकर संतुष्ट हुए औरधर्म, अर्थ तथा काम से संवन्ध रखने वालीं बातें युधीष्ठिर से इसप्रकार पूछने लगे, किः—

कच्चिदर्थाश्च कल्पन्ते धर्मे च रमते मनः ।
सुखानि चानुभूयन्ते मनश्च न विहन्यते ॥१७॥
कच्चिदाचरित पूर्वैर्नरदेवपितामहैः ।
वर्त्तसे वृत्तिमक्षुद्रां धमार्थसहितां त्रिषु ॥१८॥
कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतांवर ।
विभज्य काले कालज्ञः सदा वरद सेवसे ॥१९॥

अर्थ–आपके सब अर्थ=प्रयोजन सिद्ध होते हैं ? मन प्रसन्नतासे धर्म करने में लगता है वा नहीं ? आप सुखों को भोगते हैं वा नहीं ? हे राजन्! परमात्मा में ध्यान लगाते समय मन इधर उधर तो नहीं जाता ? अपने पूर्वजपुरुषाओं के धर्म, अर्थ, काम से युक्त उत्तम आचरणों में आपकी वृत्ति लगती है वा उससे निवृत्त हो गये हो ? हे जीतने वालों में श्रेष्ठ ! आपने धर्म, अर्थ तथा काम के लिये कालविभाग किया हुआ है वा नहीं ? और सदा उसी के अनुसार सेवन किया करते हो वा नहीं ? ॥

कच्चिद्राजगुणैःषड्भिः सप्तोपायांस्तथानघ ।
बलाबलं तथा सम्यक् चतुर्दश परीक्षसे ॥२०॥
कच्चिदात्मानमन्वीक्ष्य परांश्च जयतांवर ।
तथा संधाय कर्माणि अष्टौ भारत सेवसे ॥२१॥

अर्थ–हे अनघ=निष्पाप भारतीय राजन्! राजाओं के षट्=छः गुण=(१) दूत तथा मन्त्रियों को उपदेश करना (२) शत्रुओं को दबाने में उत्कर्ष दिखाना (३) तर्क में कुशल होना (४) स्मृति (५) भूत, भविष्यत को बुद्धिबल से जानना (६) नीति में कुशल होना, सप्त-उपाय=(१) साम (२) दान (३) दण्ड (४) भेद (५) मन्त्र (६) औषध (७) अपने तथा शत्रु के बल अबल का विवेक, चौदह दोष = (१) नास्तिकता (२) असावधानता (३) दीर्घसूत्रता = देरी से कार्य करना (४) इन्द्रियों के आधीन रहना (५) किसी गूढ़ प्रयोजन को अकेले चिंतन करना (६) विपरीत अर्थ देखने वालों के साथ विचार करना (७) क्रोध (८) ज्ञानियों का दर्शन न करना (९) निश्चित किये हुए कार्य को आरम्भ न करना (१०) अपने विचार को सब से कहदेना (११) मंगल कार्य्यों को न करना (१२) सब शत्रुओं पर एकसाथ चढ़ाई

करना (१३) झूंठबोलना और (१४) आलस्य, इन सब गुण और दोषों की तौ आप परीक्षा करते रहते हैं ? और हे राजन् ! दूसरे चौदह को भी देखते हो वा नहीं ? अर्थात् (१) घोड़े (२) हाथी (३) क़िला (४) योद्धा (५) देश (६) कोष=ख़ज़ाना (७) अधिकारी (८) शत्रु (९) शास्त्र (१०) व्यवहार (११) दूत (१२) महल (१३) आय = आमदनी, व्यय = खर्च और (१४) रथादि राजकीय सामानकी गणना करते हो वा नहीं ? तथा हे भारत ! अपना और अपने शत्रु के बलाबल का निरीक्षण करके सावधानी के साथ इन आठ कर्मों का सेवन करते हो वा नहीं ? (१) कृषि = खेती का प्रबन्ध (२) सड़कें बनवाना (३) क़िले बनाना (४) पुल बनवाना (५) हाथियों को चारे के लिये ग्राम २ बंधवाना (६) सोने चांदी की खानों पर कर = महसूल बांधना (७) उजड़े हुए अथवा शून्य देशों को बसाना और (८) व्योपार का प्रबन्ध करना ॥

कच्चित्प्रकृतयः सप्त न लुप्ता भरतर्षभ ।
आढ्यास्तथा व्यसनिनः स्वनुरक्ताश्च सर्वशः॥२२॥

अर्थ—हे राजन् ! सप्त प्रकृति = (१) सेनापति (२) अमात्य = मन्त्री (३) सुहृद = मित्र (४) कोष = ख़ज़ाना (५) राज्य (६) दुर्ग = क़िला और (७) सेना यह नष्ट तो नहीं होगये ? और धनिक तथा निर्धन लोग आप में पूर्णतया भक्ति तो रखते हैं ? ॥

कच्चिन्न कृतकैर्दूतैर्ये चाप्यपरिशंकिताः ।
त्वत्तो वा तव चामात्यैर्भिद्यते मंत्रितं तथा॥२३॥
मित्रोदासीनशत्रूणां कच्चिद्वेत्सि चिकीर्षितम् ।
कच्चित्संधिं यथाकालं विग्रहं चोपसेवसे
कच्चिद्वृत्तिमुदासीने मध्यमे चानुमन्यसे ॥२४॥

अर्थ–आपके गूढ़मन्त्र = सलाह को तुम्हारे विश्वासी मनुष्य, वनावटी दूत, तुम स्वयं तथा मन्त्रीलोग प्रकाश तो नहीं करदेते? और आप अपने मित्र, उदासीन तथा शत्रु मनुष्यों के संकल्पों को, काल के अनुसार सन्धि विग्रह को जानते हो वा नहीं? जो न आपके मित्र न शत्रु, किन्तु मध्यम हैं अर्थात् आप से और आपके शत्रु दोनों से मिले हुए हैं, उनके कर्तव्यकर्म को भी जांचते रहते हो वा नहीं ॥

कुलीनाश्चानुरक्ताश्च कृतास्ते वीर मंन्त्रिणः।
विजयो मंन्त्र मूलो हि राज्ञो भवति भारत ॥२५॥
कच्चित्संवृतमंत्रैस्ते अमात्यैः शास्त्रकोविदैः।
राष्ट्रं सुरक्षितं तात शत्रुभिर्न विलुप्यते ॥२६॥

अर्थ–हे भारत! आपने कुलीन, प्रीतिमान्, बुद्धिमान् तथा वृद्ध पुरुष, अपने मन्त्री नियत किये हैं वा नहीं? क्योंकि राजा की विजय का मूल "मन्त्र" ही गिना जाता है, हे तात! आपके राज्य में ऐसे मन्त्री हैं जो अपना भेद किसी से न कहें और शास्त्र के जानने वाले हों? तथा ऐसे मन्त्रिओं से आपका राज्य तो सुरक्षित है, शत्रुलोग तो नष्ट नहीं करते? ॥

कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित्काले विबुध्यसे।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिंतयस्यर्थमर्थवित् ॥२७॥
कच्चिन्मंत्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह।
कच्चित्ते मंत्रितो मंत्रो न राष्ट्रं परिधावति ॥२८॥

अर्थ–आप समय पर जाग पड़ते हैं? निद्रा के वशीभूत तो नहीं रहते हैं? हे अर्थ के जानने वाले! अपने अर्थ का चिन्तन

ब्राह्ममुहूर्त्त में करते हो वा नहीं ? कहीं सर्वथा अकेले वा बहुतों में बैठकर तो मन्त्रविचार नहीं करते जो सब राज्य में फैलजाय ॥

कच्चिदर्थान्विनिश्चित्य लघुमूलान्महोदयान् ।
क्षिप्रमारभसे कर्त्तुं न विघ्नयसि तादृशान् ।
कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः परोक्षास्ते विशंकिताः॥२९॥

अर्थ–जिन कार्यों के करने में परिश्रम थोड़ा और फल अधिक हो, ऐसे कार्य्यों के शीघ्र करने में विघ्न तो नहीं होता ? आपके राजकर्मचारी अविश्वासी और ऐसे तो नहीं हैं जिनके स्वभाव को आप न जानते हों ?

कच्चिद्राजन् कृतान्येव कृतप्रायाणि वा पुनः ।
विदुरस्ते वीरकर्माणि नानवाप्तानि कानिचित् ॥३०॥
कच्चिन्नैको बहूनर्थान्सर्वशः साम्परायिकान् ।
अनुशास्ति यथाकामं कामात्मा शासनातिगः ॥३१॥
कच्चित्पुरुषकारेण पुरुषः कर्म शोभयन् ।
लभते मानमधिकं भूयो वा भक्तवेतनम् ॥३२॥

अर्थ–हे वीर राजन् ! क्या आप ऐसा करते हैं ? कि आप के कार्यों को पूर्णतया अथवा प्रायः समाप्त होजाने पर ही मनुष्य जान सकें, किंतु आरम्भ समय में किसी कार्य को कोई न जान सके, कहीं आप ऐसा तौ नहीं करते कि शास्त्र की आज्ञा उल्लङ्घन करके अपनी इच्छानुसार मनमानी आज्ञा योद्धाओं को देदेते हों ? आपके राज्य में कोई मनुष्य अपने पुरुषार्थ से कोई अच्छा काम करे तो वेतन से पृथक् उसका आदरपूर्वक धन से सन्मान करते हो वा नहीं ? और :–

कच्चिद्विद्याविनीतांश्च नरान् ज्ञानविशारदान् ।
यथार्हं गुणतश्चैव दानेनाभ्युपपद्यसे ॥३३॥

अर्थ–विद्या विनीत तथा ज्ञानसम्पन्न पुरुषों को, उनके गुणानुसार, यथायोग्य पारितोषिकादि दान देते हो वा नहीं ? ॥

कच्चिद्दारान्मनुष्याणां तवार्थे मृत्युमीयुषाम् ।
व्यसनं चाभ्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभ ॥३४॥

अर्थ–हे भरतकुल श्रेष्ठ ! जो मनुष्य तुम्हारे लिये अपने प्राण देचुके हैं, अथवा व्यसनों के उपस्थित होने से जो दुःख पारहें हैं, उनके कुटुम्ब का पालन पोषण करते हो वा नहीं ? ॥

कच्चिद्भयादुपगतं क्षीणं वा रिपुमागतम् ।
युद्धे वा विजितं पार्थ पुत्रवत्परिरक्षसि ॥३५॥

अर्थ–हे राजन् ! शत्रु के भय से वा धनहीन होने से अथवा युद्ध में हार जाने के कारण जो शत्रु आपकी शरण आता है, उसका आप पुत्र के समान पालन करते हैं वा नहीं ? ॥

कच्चिदायस्य चार्द्धेन चतुर्भागेन वा पुनः ।
पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्ययः संशुद्ध्यते तव ॥३६॥
कच्चिज्ज्ञातीन्गुरून्वृद्धान्वणिजःशिल्पिनःश्रितान् ।
अभीक्ष्णमनुगृह्णासि धनधान्येन दुर्गतान् ॥३७॥

अर्थ–आपका व्यय, आमदनी से अर्धभाग, चौथाईभाग, अथवा तीसरे भाग में भलेप्रकार पूर्ण होजाता है वा नहीं ? कहीं सम्पूर्ण लाभ को तो व्यय नहीं करदेते ? और स्वज्ञाति = बन्धुलोग, गुरु, वृद्ध, व्योपारी, शिल्पविद्या जानने वाले, अपने आश्रित,

तथा दरिद्र इनपर धनधान्य से अनुग्रह=दया तो रखते हो, अर्थात् इनको कोई कष्ट तो नहीं होने देते ? ॥

कच्चिच्चायव्ययेयुक्ताः सर्वे गणकलेखकाः ।
अनुतिष्ठन्ति पूर्वाह्णे नित्यमायं व्ययं तव ॥३८॥
कच्चिदर्थेषु संप्रौढान् हितकामाननुप्रियान् ।
नापकर्षसि कर्मभ्यः पूर्वमप्राप्यकिल्विषम् ॥३९॥

अर्थ—सम्पूर्ण आय व्यय का हिसाब रखने वाले गणक तथा लेखक अथात् व्यय करने वाले और लिखने वाले, नित्य पूर्वाह्ण में आय व्यय का हिसाब यथावत् करते हैं वा नहीं ? और प्रौढान्=धनकार्य में बुद्धिमान् वृद्ध, प्यारे तथा आपके भले की इच्छा करने वाले, जिनका पहले कोई अपराध सिद्ध नहीं हो चुका हो, ऐसे निरपराध अधिकारियों को उनके अधिकार से च्युत तो नहीं करदेते ? ॥

कच्चिच्छारीरमाबाधमौषधैर्नियमेन वा ।
मानसं वृद्धसेवाभिः सदा पार्थापकर्षसि ॥४०॥
कच्चिद्वैद्याश्चिकित्सायामष्टांगायां विशारदाः ।
सुहृदश्चानुरक्ताश्च शरीरे ते हिताः सदा ॥४१॥

अर्थ—किसी शारीरिक रोग को औषध अथवा पथ्य से, और मानसदुःख को सदा वृद्धों की सेवा करके उनके सदुपदेश से दूर करते हो वा नहीं ? आपके आष्टांग* चिकित्सा-शास्त्र

---

* (१) निदान (२) पूर्वलिंग (३) रूप (४) उपशय (५) सम्प्राप्ति (६) औषध (७) रोगी (८) परिचारक ॥

में प्रवीण वैद्य, सुहृद्, आपसे प्रेम करने वाले, आपके शरीर से सदा हित करने वाले हैं वा नहीं ? ॥

कच्चित्सर्वेऽनुरक्तास्त्वां भूमिपालाः प्रधानतः ।
कच्चित्प्राणांस्त्वदर्थेषु संत्यजन्ति त्वया हृताः॥४२॥
कच्चित्ते सर्वविद्यासु गुणतोऽर्चा प्रवर्त्तते ।
ब्राह्मणानां च साधूनां तव नैःश्रेयसी शुभा ॥४३॥

अर्थ–प्रधान राजालोगों की आप से प्रीति है वा नहीं ? और जो राजा तुम्हारे आधीन हैं वह तुम्हारे लिये अपने प्राण देने को तैयार हैं वा नहीं ? और आप विद्या तथा गुणसम्पन्न ब्राह्मण वा साधुओं का सत्कार करते हैं वा नहीं ? क्योंकि यह आपके लिये कल्याण का मार्ग हैं, अर्थात् उनकी सेवा करके उनसे सदुपदेश ग्रहण करना परमात्मप्राप्ति का साधन है ॥

कच्चित्ते सफला वेदाः कच्चित्ते सफलं धनम् ।
कच्चित्ते सफला दाराः कच्चित्ते सफलं श्रुतम्॥४४॥

अर्थ–हे राजन् ! आपके वेद, धन, स्त्री और पढ़े हुए शास्त्र तो सफल हैं ? ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै सफला वेदाः कथं वै सफलं धनम् ।
कथं वै सफला दाराः कथं वै सफलं श्रुतम् ॥४५॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोले कि हे महाराज ! वेद, धन, स्त्री और शास्त्र किस प्रकार सफल होते हैं ? ॥

नारद उवाच

अग्निहोत्रफला वेदाः दत्तभुक्तफलं धनम् ।
रतिपुत्रफला दाराः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ॥४६॥

अर्थ—नारद बोले कि हे राजन् ! अग्निहोत्र से वेद सफल होते, अधिकारियों को दान देने तथा उचित व्यय करने से धन सफल होता, विषय सुख तथा पुत्रोत्पत्ति से स्त्री सफल होती और शील तथा सदाचारसम्पन्न होने से शास्त्र सफल होता है ॥

कच्चिदंधांश्च मूकांश्च पंगून्व्यंगानबान्धवान् ।
पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्राजितानपि ॥४७॥

अर्थ—हे धर्मज्ञ ! अन्धे, गूंगे, लंगड़े, अंगहीन तथा अबान्धव = जाति से बाहर किये हुओं का वा अनाथलोगों का पालन, सदा ा के समान करते हो वा नहीं ? और:—

षडनर्था महाराज कच्चित्ते पृष्ठतः कृताः ।
निद्रालस्यं भयं क्रोधोऽमार्दवं दीर्घसूत्रता ॥४८॥

अर्थ— हे महाराज ! निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, कठोरता और दीर्घसूत्रता, यह छः दोष आपने छोड़े हैं वा नहीं ॥

समर्थोसि महीं जेतुं भ्रातरस्ते स्थिता वशे ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहरस्वेति भारत ॥४९॥

अर्थ—हे भरतवंशी राजन् ! तुम सम्पूर्ण पृथ्वी को विजय करने में समर्थ हो और तुम्हारे भाई भी तुम्हारी आज्ञा में हैं, सो तुम "राजसूय" नामी श्रेष्ठ यज्ञ करो ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कुरूणामृषभो महात्मा श्रुत्वा गिरो
ब्राह्मणसत्तमस्य । प्रणम्य पादावभिवाद्य
तुष्टो राजाब्रवीन्नारदं देवरूपम् ॥५०॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! कुरुवंशिओं में श्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिर, देवतुल्य उत्कृष्ट ब्राह्मण नारद के उक्त वचन सुनकर, दण्डवत् करके प्रसन्नता के साथ नम्रतापूर्वक बोले कि:—

एवं करिष्यामि त्वया यथोक्तं प्रज्ञा हि मे
भूय एवाभिवृद्धा । उक्त्वा तथा चैव चकार
राजा लेभे महीं सागरमेखलां च ॥५१॥

अर्थ–जैसा आपने उपदेश किया है मैं वैसा ही करूंगा, क्योंकि आपके उपदेश से मेरा ज्ञान और भी बढ़गया है, ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिर ने वैसा ही आचरण किया और समुद्र-पर्य्यन्त पृथ्वी को विजय कर लिया ॥

नारद उवाच

एवं यो वर्त्तते राजा चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे ।
स विहृत्येह सुसुखी शक्रस्यैति सलोकताम्॥५२॥

अर्थ–तत्पश्चात्, फिर नारदजी बोले कि हे युधिष्ठिर ! जो राजा उक्त रीति से चारो वर्णों की रक्षा करता है वह इस संसार में परमसुख भोगकर शक्र = इन्द्र = परमात्मा की सलोकता = समीपता = मुक्ति को प्राप्त होता है ॥

इति चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः

अथ पंचमोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०—अब महाराज युधिष्ठिर का राजसूययज्ञ करने का विचार कथन करते हैं :—

वैशम्पायन उवाच

ऋषेस्तद्वचनं श्रुत्वा निशश्वास युधिष्ठिरः ।
चिन्तयन् राजसूयेष्टिं न लेभे शर्म भारत ॥१॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! ऋषि नारद के उक्त वचन सुनकर महाराज युधिष्ठिर ऊंचा श्वास भरकर राजसूय यज्ञ विषयक चिन्ता करने लगे, और हे भारत ! वह उस समय शान्ति को प्राप्त न थे ॥

युधिष्ठिरस्ततः सर्वानर्चयित्वा सभासदः ।
प्रत्यर्चितश्च तैः सर्वैर्यज्ञायैव मनो दधे ॥२॥
स राजसूयं राजेन्द्र कुरूणामृषभस्तदा ।
आहर्तुं प्रवणं चक्रे मनः संचिन्त्य चासकृत् ॥३॥
भूयश्चाद्भुतवीर्य्यौजा धर्ममेवानुचिन्तयन् ।
किं हितं सर्वलोकानां भवेदिति मनो दधे ॥४॥

अर्थ—तदनन्तर युधिष्ठिर ने अपने सभासद राजा आदिकों का सन्मान करके और उन सब से आपभी सत्कार पाकर वार २ विचार करके राजसूय यज्ञ करने का दृढ़ निश्चय किया, इसी अन्तर में, वह अद्भुत तेजस्वी कुरुओं का राजा धर्म करने की इच्छा से पुनः २ यह चिन्तन करने लगा कि इस अवसर में मुझे

कोई ऐसा कर्म करना चाहिये, जिससे सब लोकों का हित हो, अर्थात् वह अपनी प्रजा का शुभ चिन्तन करने लगा ॥

अनुगृह्णन् प्रजाः सर्वाः सर्वधर्मभृतांवरः ।
अविशेषेण सर्वेषां हितं चक्रे युधिष्ठिरः ॥५॥
सर्वेषां दीयतां देयं मुष्णन्कोपमदावुभौ ।
साधु धर्मेति धर्मेति नान्यच्छ्रूयेत भाषितम् ॥६॥

अर्थ—तब धर्मात्माओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ने अपनी सब प्रजा पर समानभाव से अनुग्रह करने के लिये सबके हित की यह बात सोची कि क्रोध और मद को त्याग कर, जो पदार्थ जिसके योग्य हो, वह सबको देना चाहिये, क्योंकि धर्म सब से श्रेष्ठ है, इससे उत्तम कोई पदार्थ नहीं, ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥

एवं गते ततस्तास्मिन्पितरीवाश्वसन् जनाः ।
न तस्य विद्यते द्वेष्टा ततोस्याजातशत्रुता ॥७॥

अर्थ—युधिष्टिर के उक्त प्रकार विचारने तथा उसके अनुसार आचरण करने पर उसको सब प्रजा पिता के समान मानने लगी और उसका कोई शत्रु उत्पन्न न होने से उसका नाम "अजातशत्रु" पड़ गया, क्योंकि :—

परिग्रहान्नरेन्द्रस्य भीमस्य परिपालनात् ।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव बीभत्सोः सव्यसाचिनः ॥८॥
धीमतः सहदेवस्य धर्माणामनुशासनात् ।
वैनत्यात्सर्वतश्चैव नकुलस्य स्वभावतः ।
अविग्रहा वीतभयाः स्वकर्मनिरताः सदा ॥ ११ ॥

अर्थ–युधिष्ठिर के कृपालु होने, भीमसेन के प्रजापालन करने, अर्जुन के शत्रुनाशक होने, बुद्धिमान् सहदेव के धर्मपूर्वक शासन करने और नकुल के पूर्णतया नम्रस्वभाव होने से उनके सम्पूर्ण देश निवासी कलहराहित, निर्भय और धर्म में निरन्तर रत होगये थे॥

निकामवर्षाः स्फीताश्च आसन् जनपदास्तथा ।
वार्धुषी यज्ञसत्त्वानि गोरक्षं कर्षणं वणिक् ॥१२॥
विशेषात्सर्वमेवैतत्संजज्ञे राजकर्मणा ।
अनुकर्षं च निष्कर्षं व्याधिपावकमूर्छनम् ॥१३॥

अर्थ–उस बड़े विस्तृत राज्य में वर्षा समय पर यथेष्टरूप से होने लगी, ब्याज की उपजीविका, यज्ञ करने की सामर्थ्य, गोरक्षा, कृषी=खेती और व्योपार ने बड़ी वृद्धि पाई, राज्य के प्रबन्ध से युक्त सब काम भलेप्रकार होने लगा, दरिद्रों से पिछले वर्ष का कर लेना तथा प्रजा पर कर बढ़ाना बन्द कर दिया गया और उससमय सब प्रजा रोग और अग्नि के भय से मुक्त होकर सुखपूर्वक रहने लगी॥

सर्वमेव न तत्रासीद्धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ।
दस्युभ्यो वंचकेभ्यश्च राज्ञः प्रतिपरस्परम् ॥१४॥
राजवल्लभतश्चैव नाश्रूयत मृषाकृतम् ।
प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वकर्मजम् ॥१५॥
अभिहर्त्तुं नृपाः षट्सु पृथक्जात्यैश्च नैगमैः ।
ववृधे विषयस्तत्र धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥१६॥

अर्थ–युधिष्ठिर के इसप्रकार धर्मयुक्त होने पर चोर तथा ठगों की पीड़ा और राजाओं का परस्पर असत्य व्यवहार तथा राजाओं के प्रिय मनुष्यों का अत्याचार कहीं सुनने में भी नहीं आता था, माण्डलिक राजालोग युधिष्ठिर के समीप बैठने, प्रेमपूर्वक वर्ताव करने और उपार्जन की हुई अपनी आय में से वार्षिक करचुकाने तथा सन्धि, विग्रहादि छः गुणों के व्यवहार में और भिन्न २ प्रकार के व्योपारियों के साथ सम्बन्ध रखने से, एवं धर्मराज-युधिष्ठिर के राज्य की बड़ी वृद्धि हुई ॥

यस्मिन्नधिकृतः सम्राड्भ्राजमानो महायशाः ।
यत्र राजन् दशदिशः पितृतो मातृतस्तथा ।
अनुरक्ताः प्रजा आसन्नागोपालाद् द्विजातयः॥१७॥

अर्थ–हे राजन्! राजा युधिष्ठिर जिस २ देश का अधिकारी होता जाता था उस २ देश के लोगों की राजा में पिता माता से भी अधिक भक्ति होजाती थी,इसकारण गोपाल से लेकर ब्राह्मण पर्यन्त सभी प्रजा युधिष्ठिर से अत्यन्त प्रीति मानने लगी थी ॥

समन्त्रिणः समानाय्य भ्रातॄंश्च वदताम्वरः ।
राजसूयं प्रति तदा पुनः पुनरपृच्छत॥१८॥
ते पृच्छमानाः सहिता वचोऽर्थ्यं मन्त्रिणस्तदा ।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञं यियक्षुमिदमब्रुवन् ॥१९॥

अर्थ–राज्यप्रबन्ध के स्थिर होजाने पर एकसमय बोलने वालों में चतुर युधिष्ठिर ने अपने सब मन्त्री और भ्राताओं को सभा में बुलाकर उन से "राजसूययज्ञ" करने की सम्मति पूंछी तब

मन्त्रि तथा भ्राताओं ने महाबुद्धिमान् राजा युधिष्ठिर के प्रति एकस्वर से अर्थसहित यह बचन बोले कि :—

तस्य सम्राड्गुणार्हस्य भवतः कुरुनन्दन ।
राजसूयस्य समयं मन्यंते सुहृदस्तव ॥२०॥

अर्थ—हे कुरुनन्दन ! आप को आप के सब सुहृद्लोग सम्राट् होने के योग्य जानकर यह अवसर " राजसूययज्ञ " करने के योग्य मानते हैं ॥

तस्य यज्ञस्य समयः स्वाधीनः क्षत्रसम्पदा ।
साम्ना षडग्नयो यस्मिंश्चीयंते शंसितव्रतैः ॥२१॥
दर्वीहोमानुपादाय सर्वान्यः प्राप्नुते क्रतून् ।
अभिषेकञ्च यस्यान्ते सर्वजित्तेन चोच्यते ॥२२॥

अर्थ—उस यज्ञ करने का समय वह है, जब कि राजा,क्षत्रियोंकी सम्पूर्ण संपत्तियों पर स्वाधीन हो और हे राजन् ! जिसमें व्रतधारी वेदज्ञ ब्राह्मण साम वेद से छः अग्नियों का स्थापन करते हैं, और जिसमें राजा प्रथम दर्वी-होम करके पुनः अन्य सब यज्ञों को पूर्णतया करता हुआ, यज्ञ के अन्त में सब माण्डलिक राजाओं को जीतने के अनन्तर, राज्याभिषेक अर्थात् विशेष प्रकार से स्नान करके राज्यतिलक को प्राप्त होता है, इसी कारण इस राजसूययज्ञ का दूसरा नाम "सर्वजित्" यज्ञ भी है ॥

समर्थोसि महबाहो सर्वे ते वशगा वयम् ।
अचिरात्त्वं महाराज राजसूयमवाप्स्यसि ॥२३॥

अविचार्यं महाराज राजसूये मनः कुरु ।
इत्येवं सुहृदः सर्वे पृथक् च सह चाब्रुवन् ॥२४॥

अर्थ—हे महाबाहो राजन् ! आप यज्ञ करने में समर्थ और हम सब आपके आज्ञाकारी हैं, अतः आप थोड़े ही समय में यज्ञ पूर्ण कर सकेंगे, तदनन्तर सब मित्रलोग तथा बन्धुवर्ग एक २ करके तथा साथ मिलकर एकस्वर से यह वचन बोले कि हे महाराज ! आप विना कुछ विचारे निःसन्देह "राजसूययज्ञ" कीजिये क्योंकि आप सर्वथा समर्थ हैं ॥

श्रुत्वा सुहृद्वचस्तच्च जानंश्चाप्यात्मनः क्षमम् ।
सभ्रातृभिः पुनर्धीमानृत्विग्भिश्च महात्मभिः ॥२५॥
मन्त्रिभिश्चापि सहितो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
धौम्यद्वैपायनाद्यैश्च मन्त्रयामास मन्त्रवित् ॥२६॥

अर्थ—अपने आप को यज्ञ करने के समर्थ जानते हुए भी, मित्रजन तथा अन्य सबों की "राजसूययज्ञ" विषयक अपने अनुकूल सम्मत्ति सुनकर, यज्ञ करने का निश्चित विचार करने के लिये अपने भ्राता, मन्त्री और ऋत्विजों सहित धौम्य तथा व्यास आदि ऋषि मुनियों को बुलाकर मन्त्र को भलीभांति जानने वाले युधिष्ठिर ने इन के साथ सम्मति और मन्त्रणा = सलाह की ॥

युधिष्ठिर उवाच

इयं या राजसूयस्य सम्राडर्हस्य सुक्रतोः ।
श्रद्दधानस्य वदतस्पृहा मे सा कथं भवेत् ॥२७॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले कि हे महाराज ! मेरी इच्छा सम्राट् के योग्य "राजसूययज्ञ" करने की है, इस कारण आप लोगों से

श्रद्धा के साथ पूछता हूं, कि मेरी यह इच्छा क्योंकर पूर्ण हो सकती है ? ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तास्तु ते तेन राज्ञा राजीवलोचन ।
इदमूचुर्वचः काले धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥२८॥
अर्हस्त्वमसि धर्मज्ञ राजसूयं महाक्रतुम् ।
अथैवमुक्ते नृपतावृत्विग्भिर्ऋषिभिस्तथा
मन्त्रिणो भ्रातरश्चास्य तद्वचः प्रत्यपूजयन् ॥२९॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे कमल समान नेत्रों वाले राजा जनमेजय ! युधिष्ठिर के उक्त प्रकार कहने पर सब ऋत्विज् तथा ऋषिमुनि, धर्म्मराज युधिष्ठिर के प्रति समयानुसार यह वचन बोले कि हे धर्मज्ञ ! आप इस महान् "राजसूययज्ञ" करने के योग्य हैं, तदनन्तर ऋत्विजों तथा ऋषियों की इस सम्मति का सब मन्त्री तथा युद्धिष्ठिर के भाइयों ने सत्कारपूर्वक अनुमोदन किया ॥

सं०–अब यज्ञ की सम्मति के निश्चयार्थ युधिष्ठिर का कृष्ण को द्वारकापुरी से बुलवाना कथन करते हैं :–

स तु राजा महाप्राज्ञः पुनरेवात्मनात्मवान् ।
भूयो विममृशे पार्थो लोकानां हितकाम्यया ।
सामर्थ्ययोगं सम्प्रेक्ष्य देशकालौ व्ययागमौ ॥३०॥
विमृश्य सम्यक् च धिया कुर्वन् प्राज्ञो न सीदति ।
नहि यज्ञसमारम्भः केवलात्मविनिश्चयात् ॥३१॥

भवतीति समाज्ञाय यत्नतः कार्यमुद्वहन् ।
स निश्चयार्थं कार्यस्य कृष्णमेव जनार्दनम् ।
गुरुवद्भूतगुरवे प्राहिणोद्दूतमञ्जसा ॥३२॥

अर्थ—वह महाबुद्धिमान् पुरुषार्थी राजा युधिष्ठिर लोक का हित करने की इच्छा से फिर भी अपने आप अकेला बैठकर विचारने लगा कि अपनी सामर्थ्य, आय व्यय, देश और भूत भविष्यत् काल को, जो राजा कार्यप्रारम्भ से पूर्व बुद्धिपूर्वक सम्यक् विचार लेता और पश्चात् कार्य आरम्भ करता है, वह बुद्धिमान् कभी दुःख नहीं पाता, इसलिये "अपनी ही सम्मति तथा यत्न से "राजसूययज्ञ" जैसे महान् कार्य का प्रारम्भ करना ठीक नहीं" यह विचारकर यत्न के साथ कार्य का निर्वाह करने के लिये, तथा कार्य के सम्यक् निश्चयार्थ, जनार्दन कृष्ण को सब प्राणिओं में बड़ा तथा श्रेष्ठ मानकर उनके बुलाने के निमित्त राजा युधिष्ठिर ने शीघ्र ही द्वारकापुरी की ओर दूत भेजा ॥

शीघ्रगेन रथेनाशु स दूतः प्राप्य यादवान् ।
द्वारकावासिनं कृष्णं द्वारवत्यां समासदत् ।
दर्शनाकांक्षिणं पार्थं दर्शनाकांक्षयाच्युतः ॥३३॥
इन्द्रसेनेन सहित इन्द्रप्रस्थमगात्तदा ।
व्यतीत्य विविधान् देशांस्त्वरावान्क्षिप्रवाहनः ।
इन्द्रप्रस्थगतं पार्थमभ्यगच्छज्जनार्दनः ॥३४॥

अर्थ—वह इन्द्रसेन नामक दूत शीघ्रगामी रथ पर चढ़कर शीघ्र द्वारकापुरी में यादवों के समीप पहुंचकर द्वारकावासी कृष्ण जी

के समीप पहुंच गया, और उन्हें राजा युधिष्ठिर का संदेशा सुनाया, उसको सुनते ही युधिष्ठिर को अपना दर्शनोत्सुक जानकर कृष्णजी दूत को साथ लिये हुए तुरन्त द्वारकापुरी से चल दिये, और अनेक देशों को लांघते हुए शीघ्रगामी सवारियों द्वारा न्द्रप्रस्थ में धर्मराज युधिष्ठिर के समीप आपहुंचे ॥

स गृहे पितृवद्भ्रात्रा धर्मराजेन पूजितः ।
भीमेन च ततोऽपश्यत्स्वसारं प्रीतिमान्पितुः ।
प्रीतः प्रीतेन सुहृदा रेमे स सहितस्तदा ॥३५॥
अर्जुनेन यमाभ्याञ्च गुरुवत्पर्युपासितः ।
तं विश्रान्तं शुभे देशे क्षणिनं कल्पमच्युतम् ।
धर्मराजः समागम्याज्ञापयत्स्वप्रयोजनम् ॥३६॥

अर्थ–तत्र प्रथम धर्मराज युधिष्ठिर और वीर भीमसेन ने कृष्णजी का प्रीतिपूर्वक सम्मान किया, इसके पश्चात् कृष्णजी ने प्रेम के साथ अपनी बुआ कुन्ती के दर्शन किये, पुनः अर्जुन जो कि उनका प्यारा मित्र था, उसके साथ मिलकर आनन्द की बातें कीं, तदनन्तर नकुल तथा सहदेव ने गुरु के समान आदर सत्कार किया, तत्पश्चात कुछकाल विश्राम करने के अनन्तर शुभस्थान में स्थित, अमोघ = अनिष्फल सामर्थ्यवान् कृष्णजी के समीप जाकर अवसर देख धर्मराज युधिष्ठिर अपना प्रयोजन इस प्रकार जताने लगे, कि :—

युधिष्ठिर उवाच

प्रार्थितो राजसूयो मे न चासौ केवलेप्सया ।
प्राप्यते येन तत्ते हि विदितं कृष्ण सर्वशः ॥३७॥

यस्मिन्सर्वं सम्भवति यश्च सर्वत्र पूज्यते ।
यश्च सर्वेश्वरो राजा राजसूयं स विन्दति ॥३८॥
तं राजसूयं सुहृदः कार्य्यमाहुः समेत्य मे ।
तत्र मे निश्चिततमं तव कृष्ण गिरा भवेत् ॥३९॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोले कि हे कृष्ण ! मेरी "राजसूययज्ञ" करने की पूर्ण इच्छा है, परन्तु विना यत्न के केवल इच्छामात्र से वह पूर्ण नहीं हो सकता, सो उसके करने के लिये जो २. आवश्यकतायें होती हैं उन सब को आप भलीभांति जानते हैं, अर्थात् "राजसूययज्ञ" वही कर सकता है जो सम्पूर्ण सामर्थ्यवान्, सब राजाओं का स्वामी तथा सब देशों में पूजा जाता हो. मेरे सुहृद्लोग और सब बन्धुवर्ग तो मुझे "राजसूययज्ञ" करने योग्य बताते हैं, परंतु हे कृष्ण ! मैं अपनी योग्यता तथा अयोग्ता के विषय में आपका कथन सर्वोपरि निश्चित मानता हूं, इसलिये मुझे निश्चय तब होगा, जब कि आप अपनी जिह्वा से कहेंगे, क्योंकि :–

केचिद्धि सौहृदादेव न दोषं परिचक्षते ।
स्वार्थहेतोस्तथैवान्ये प्रियमेव वदन्त्युत ॥४०॥
प्रियमेव परीप्सन्ते केचिदात्मनि यद्धितम् ।
एवं प्रायाश्च दृश्यन्ते जनवादाः प्रयोजने ॥४१॥
त्वन्तु हेतूनतीत्यैतान्कामक्रोधौ व्युदस्य च ।
परमं यत्क्षमं लोके यथावद्वक्तुमर्हसि ॥४२॥

अर्थ–यह सब बन्धुवर्ग तो, कोई सम्बन्ध, कोई स्वार्थ और कोई अपने हितकारी प्रयोजन तथा कोई स्नेह के कारण से मेरी

निर्बलता और दोष नहीं कहते, किंतु जैसा हम कहते हैं वैसी ही हमारे अनुकूल प्रियसम्मति देते हैं, परंतु आप तो उक्त कारणों से निर्लेप और काम क्रोध को त्याग कर परम सामर्थ्य को प्राप्त हो, इसलिये जो बात श्रेष्ठ तथा करने योग्य हो उसे आप बताइये ॥

इति पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः

अथ षष्ठोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०—अब कृष्ण की युधिष्ठिर के प्रति "राजसूययज्ञ" करने के लिये प्रथम राजा जरासन्ध के मारने की सम्मति देना कथन करते हैं :-

कृष्ण उवाच

सर्वैर्गुणैर्महाराज राजसूयं त्वमर्हसि ।
जानतस्त्वेव ते सर्वं किञ्चिद्वक्ष्यामि भारत ॥१॥
जामदग्न्येन रामेण क्षत्रं यदवशोषितम् ।
तस्मादवरजं लोके यदिदं क्षत्रसंज्ञितम् ॥२॥
कृतोऽयं कुलसंकल्पः क्षत्रियैर्वसुधाधिप ।
निदेशवाग्भिस्तत्तेह विदितं भरतर्षभ ॥३॥

अर्थ—युधिष्ठिर के उक्त प्रयोजन को सुनकर श्रीकृष्ण बोले कि हे भरतकुलश्रेष्ठ महाराज ! तुम सम्पूर्ण गुणों से युक्त सर्वथा "राजसूययज्ञ" करने योग्य हो और सब बातों को भी भले प्रकार जानते हो, परन्तु उस में मैं कुछ विशेष तुम्हारे प्रति कहता हूं, वह यह कि जिससमय जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने

क्षत्रियों का बीज नाश किया था, उस समय जो क्षत्रिय इधर उधर जान बचाकर भाग गये थे, उन से यह क्षत्रियवंश फिरसे हुआ है, और हे राजन् ! जब क्षत्रियों का कुल वृद्धि को प्राप्त हुआ तब सबने मिलकर यह संकल्प किया था, जो कि तुमने भी पूर्व पुरुषाओं से सुना होगा, अर्थात् "जो क्षत्रिय हम सब को जीत लेवे वही "सम्राट्" पदवी पावेगा" ॥

ऐलस्येक्ष्वाकुवंशस्य प्रकृतिं परिचक्षते ।
राजानः श्रेणिवद्धाश्च तथान्ये क्षत्रिया भुवि ॥४॥
ऐलवंश्याश्च ये राजंस्तथैवेक्ष्वाकवो नृपाः ।
तानि चैकशतं विद्धि कुलानि भरतर्षभ ॥५॥

अर्थ–हे भरतकुलश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! मैं जानता हूं और तुमने भी कुलपरम्परा से सुना होगा कि "इला" के पुत्र पुरूरवा और "इक्ष्वाकु" वंशी राजाओं की प्रकृति = स्वभाव को सब क्षत्रिय लोग मानते हैं, अर्थात् इला के पुत्र पुरूरवा जिनसे चन्द्रवंश चला, और इक्ष्वाकु के पुत्र नाभाग आदि जिनसे सूर्यवंश चला है, इन दोनों की यही प्रकृति थी कि वहलोग राजाओं को जीत २ कर सम्राट् की पदवी को पहुँचे थे, इन दोनो वंशों के राजा तथा अन्य क्षत्रियलोग एकता की शृङ्खला में बद्ध रहते थे, और देश के अन्य सब माण्डलिकराजा इन्हीं की आज्ञा में श्रेणिबद्ध रहते थे, हे राजन् ! आपको ज्ञात हो कि इन दोनों वंशो में आजतक जितने यह छोटे २ वंश फैलगये हैं, इन में एक सौ कुलीन सम्राट् = बादशाह हो चुके हैं ॥

ययातेस्त्वेव भोजानां विस्तरो गुणतो महान् ।
भजतेऽद्य महाराज विस्तरं स चतुर्दिशम् ॥६॥
तेषां तथैव तां लक्ष्मीं सर्वक्षत्रमुपासते ।
इदानीमेव वै राजन् जरासन्धो महीपतिः ॥७॥
अभिभूय श्रियं तेषां कुलानामभिषेचितः ।
स्थितो मूर्ध्नि नरेन्द्राणामोजसाक्रम्य सर्वशः ।
सोऽवनीं मध्यमां भुक्त्वा मिथो भेदममन्यत ॥८॥

अर्थ-हे महाराज ! ययातिवंश में राजा भोज की सन्तान अपने महान् गुणों के कारण यहां तक बढ़ी कि चारों दिशाओं में उस का राज्य फैल गया था और अन्य .व राजा उसकी उपासना करने लगे थे, परन्तु हे राजन् ! आजकल राजा जरासन्ध उन सब राजाओं की लक्ष्मी का तिरस्कार करके अपने बल से उन सबको जीतकर राज्यतिलक पाये हुए उनके मस्तकपर स्थित है, और वह राजाजरासन्ध मथुरा के समीप मध्यदेश को भी भोगता हुआ हम से भेद=वैरबुद्धि रखता है ॥

प्रभुर्यस्तु परो राजा यस्मिन्नेकवशे जगत् ।
स साम्राज्यं महाराज प्राप्तो भवति योगतः ।
तं स राजा जरासन्धं संश्रित्य किल सर्वशः ॥९॥
राजन् सेनापतिर्जातः शिशुपालः प्रतापवान् ।
तमेव च महाराज शिष्यवत्समुपास्थितः ॥१०॥

अर्थ-हे महाराज ! जो राजा परम सामर्थ्यवान् हो, और जिस एक के वश में यह सब जगत् हो वही राजा उपाय द्वारा

सम्राट् की पदवी को प्राप्त होने योग्य है, हे राजन् ! देखो महावीर प्रतापशाली राजा शिशुपाल जरासन्ध को ही आश्रय करके उस का सेनापति हुआ है और शिष्यकी भांति उसके समीप बना रहता है॥

वक्रः करूषाधिपतिर्मायायोधी महाबल ।
अपरौ च महावीर्य्यौ महात्मानौ समाश्रितौ ॥११॥
जरासन्धं महावीर्य्यं तौ हंसडिम्भकावुभौ ।
वक्रदन्तः करूपश्च करभो मेघवाहनः ।
मूर्ध्ना दिव्यमणिं बिभ्रद्यमद्भुतमणिं विदुः ॥१२॥
मुरुञ्च नरकञ्चैव शास्ति यो यवनाधिपः ।
अपर्यन्त बलो राजा प्रतीच्यां वरुणो यथा ॥१३॥

अर्थ–और करूषदेश का राजा मायायोधी, महाबलवान् "वक्र" और महावीर महात्मा "हंस" तथा "डिम्भक" नामी दोनों महायोद्धा, "दन्तवक्र, करूप, करभ" और "मेघवाहन" तथा मुरु और नरक नामी देशों पर राज्य करने वाला यवनों का राजा जो कि मस्तक पर अद्भुतमणि धारण करने से प्रसिद्ध है, और पश्चिम दिशा में राजा वरुण के समान अपरिमितबल वाला है, यह सब राजालोग भी महावीर्य्य-जरासन्ध के अधीन हैं ॥

भगदत्तो महाराज वृद्धस्तव पितुः सखा ।
स वाचा प्रणतस्तस्य कर्मणा च विशेषतः ॥१४॥
स्नेहबद्धश्च मनसा पितृवद्भक्तिमांस्त्वयि ।
प्रतीच्यां दक्षिणं चान्तं पृथिव्याः प्रति यो नृपः॥१५॥

मातुलो भवतः शूरः पुरुजित्कान्तिवर्द्धनः ।
स ते सन्नतिमानेकः स्नेहतः शत्रुसूदनः ॥१६॥

अर्थ–हे महाराज ! तुम्हारे पिता का मित्र तथा तुम में प्रीति पूर्वक अन्तःकरण से ।पितासमान भक्ति रखने वाला वृद्ध राजा भगदत्त जो पश्चिम दिशा में पृथिवी के दाक्षिण देश के अन्त तक राज्य करता है वह भी वाणी तथा विशेषकर कर्म से तो राजा जरासन्ध के ही अधीन है, उस दिशा में तो तुम से प्रीति रखने वाला शत्रुनाशक, शूरवीर, एकमात्र कुन्तिभोज नामक तुम्हारा मामा ही सहायक है अन्य कोई नहीं ॥

जरासन्धं गतस्त्वेव पुरा यो न मया हतः ।
पुरुषोत्तमविज्ञातो योसौ चेदिषु दुर्मतिः ॥१७॥
आत्मानं प्रतिजानाति लोकेऽस्मिन्पुरुषोत्तमम् ।
आदत्ते सततं मोहाद्यः स चिन्हं च मामकम् ॥१८॥
वंगपुण्ड्रकिरातेषु राजा बलसमन्वितः ।
पौंड्रको वासुदेवेति योसौ लोकेऽभिविश्रुतः ॥१९॥

अर्थ–और चन्देरी का राजा पुरुषोत्तम जो अपनी दुर्बुद्धि से अपने को पुरुषोत्तम मानकर मेरे चिन्ह शङ्ख, चक्र आदि धारण करता है, इसको मैंने पहिले मारते २ छोड़ दिया था, और वङ्ग, पुंड्र तथा किरातदेश का राजा पौंड्रक वासुदेव जो लोक में महाबलवान् प्रसिद्ध है, यह दोनों राजा भी जरासन्ध के आज्ञाकारी हैं ॥

चतुर्थभाङ् महाराज भोज इन्द्रसखो बली ।
विद्याबलाद्यो व्यजयत्स पांड्यक्रथकैशिकान् ॥ २० ॥

भ्राता यस्याकृत्तिः शूरो जामदग्न्यसमोऽभवत् ।
स भक्तो मागधं राजा भीष्मकः परवीरहा ॥ २१ ॥
प्रियाण्याचरतः प्रह्वान् सदा सम्बन्धिनस्ततः ।
भजतो न भजत्यस्मानप्रियेषु व्यवस्थितः ॥ २२ ॥
न कुलं सबलं राजन्नभ्यजानात्तथात्मनः ।
पश्यमानो यशोदीप्तं जरासन्धमुपस्थितः ॥ २३ ॥

अर्थ–हे महाराज ! भोजवंशी राजा भीष्मक जो बड़ाबली, इन्द्रका मित्र तथा पृथिवी के चतुर्थांशभाग पर अकेला राज्य करता है, और जिसने अपनी विद्याबल से पांड्य, क्रथ तथा कैशिक देशों को विजय किया, और जिस राजा भीष्मक का भाई आकृति नामक जो परशुरामजी के समान शूरवीर था, अब वह वीर शत्रुओं का नाशक भीष्मक भी अपने कुल की शूरता तथा बल को भूल गया है, और यह दोनों भाई अब मगधदेश के यशस्वी राजा जरासन्ध के ही आज्ञाकारी हैं, यह हमारे शत्रुओं से मिलकर हमारा और अपने संबन्धिओं का सदा बुरा ही चाहता रहता है, परन्तु हमलोग अपने सम्बन्धियोंसहित सदा नम्रतापूर्वक उसका प्रियाचरण ही करते रहते हैं ।

उदीच्याश्च तथा भोजाः कुलान्यष्टादश प्रभो ।
जरासन्धभयादेव प्रतीचीं दिशमास्थिताः ॥२४॥
शूरसेना भद्रकारा बोधाः शाल्वाः पटच्चराः ।
सुस्थलाश्च सुकुट्टाश्च कुलिन्दाः कुन्तिभिःसह॥२५॥

शाल्वायनाश्च राजानः सोदर्यानुचरैः सह ।
दक्षिणा ये च पञ्चाला पूर्वाः कुन्तिषु कोशल :॥२६॥
तथोत्तरां दिशञ्चापि परित्यज्य भयार्दिताः ।
मत्स्याःसंन्यस्तपादाश्च दक्षिणां दिशमाश्रिताः।२७।

अर्थ—हे प्रभो = स्वामिन् ! भोजवंशी अठारह कुल, जो उत्तर दिशा में राज्य करते थे, राजा जरासन्ध के भय से अब पश्चिम दिशा को भाग गये हैं, और शूरसेन,भद्रकार, बोध,शाल्व, पटच्चर, सुस्थल, सुकुट्ट, कुलिन्द, कुन्ति, अपने भ्राताओं तथा सहायकों समेत शाल्वायन, कुन्ति देश के दक्षिण में पाञ्चाल देश के अधिपति, तथा कुन्तिदेश के पूर्व में कौशल, और उत्तर दिशा में रहने वाले मत्स्य तथा संन्यस्तपादादि देशों के राजा भी जरासन्ध के भय से भयभीत हुए २ उत्तर दिशा को छोड़कर अब सब के सब दक्षिण दिशा में जाबसे हैं ॥

तथैव सर्वपञ्चाला जरासन्धभयार्दिताः ।
स्वराज्यं सम्परित्यज्य विद्रुताः सर्वतो दिशम्॥२८॥
कस्यचित्त्वथ कालस्य कंसो निर्मथ्य यादवान् ।
बार्हद्रथसुते देव्यावुपागच्छद्वृथामतिः ॥२९॥
अस्तिः प्राप्तिश्च नाम्ना ते सहदेवानुजेऽबले ।
बलेन तेन स्वज्ञातीनभिभूय वृथामतिः ।
श्रैष्ठ्यं प्राप्तः स तस्यासीदतीवापनयो महान्॥३०॥

अर्थ—एवं पाञ्चालदेश के सभी राजा अपने२ देशों को जरासन्ध के भय से त्यागकर जहां तहां भागगये हैं, और कुछ काल का

अन्तर हुआ कि राजा उग्रसेन के कंस नामी दुर्बुद्धि पुत्र ने यादवों का तिरस्कार करके अपना विवाह जरासन्ध की "अस्ति" और "प्राप्ति" नाम वाली दोनों पुत्रियों से किया था, जो कि सहदेव की दोनों छोटी वहिनें हैं, तथा वह उसके वल से मोहित होकर अपने जाति वालों को भी महान् दुःख देने लगा था ॥

भोजराजन्यवृद्धैश्च पीड्यमानैर्दुरात्मना ।
ज्ञातित्राणमभीप्सद्भिरस्मत्सम्भावना कृता ॥३१॥
संकर्षणद्वितीयेन ज्ञातिकार्यं मया कृतम् ।
हतौ कंससुनामानौ मया रामेण चाप्युत ॥३२॥

अर्थ—हे राजन् ! उससमय दुष्टात्मा कंस की पीड़ा से अत्यन्त दुःखित हुए २ वृद्ध भोज क्षत्रियों ने, अपने वन्धुवर्ग की रक्षा चाहते हुए मेरा स्मरण किया अर्थात् मेरी सहायता चाही, तब मैंने अपने भाई वलराम को साथ लेकर स्वज्ञाति के लोगों की रक्षा के निमित्त कंस और सुनामा को, उसके अनुयायियों सहित मारकर अपनी ज्ञाति की रक्षा की ॥

भये तु समतिक्रान्ते जरासन्धे समुद्यते ।
मन्त्रोऽयं मन्त्रितो राजन् कुलैरष्टादशावरैः ॥३३॥
अनारमन्तो निघ्नन्तो महास्त्रैः शत्रुघातिभिः ।
न हन्यामो वयं तस्य त्रिभिर्वर्षशतैर्बलम् ॥३४॥

अर्थ—हे राजन् ! राजा जरासन्ध कंस का बध सुनकर बड़ी भारी सेना सहित हमारे ऊपर चढ़ आया, तब हमसब अठारह कुल यादव, अपने मन्त्रिपुरोहितादिकों से सम्मति करने लगे कि

यदि हमलोग शत्रुघातक महा अस्त्र-शस्त्रों से लगातार भी युद्ध करना चाहें, तो तीनसौवर्ष में भी इसकी सेना को न मार सकेंगे, क्योंकि :—

तस्य ह्यमरसंकाशौ बलेन बलिनाम्वरौ ।
नामभ्यां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ ॥३५॥
तावुभौ सहितौ वीरौ जरासन्धश्च वीर्यवान् ।
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः॥३६॥

अर्थ-उस के समीप बलवानों में श्रेष्ठ, देवताओं के समान बलवान्,शस्त्रों से अवध्य=न मरने योग्य, "हंस" और "डिम्भक" नामी दोनों वीर मन्त्री रक्षा करने वाले थे, मेरी समझ में तो महावीर "हंस" और "डिम्भक" तथा पराक्रमी राजा"जरासन्ध" यह तीनों ही तीनो लोकों को पराजय करने में पर्याप्त=समर्थ थे ॥

अथ हंस इति ख्यातः कश्चिदासीन्महान्नृपः ।
रामेण स हतस्तत्र सङ्ग्रामेऽष्टादशावरे ॥३७॥
हतो हंस इति प्रोक्तमथ केनापि भारत ।
तच्छ्रुत्वा डिम्भको राजन् यमुनांभस्यमज्जत ॥३८॥
विना हंसेन लोकेऽस्मिन् नाहं जीवितुमुत्सहे ।
इत्येतां मतिमास्थाय डिम्भको निधनं गतः ॥३९॥

अर्थ-हे भरतकुलोत्पन्न राजन् ! जरासन्ध की सेना में एक "हंस" नामक वलीराजा भी था जो अठारह कुलों के साथ युद्ध में मेरे भाई बलराम के हाथ से मारा गया, तब डिम्भक से कोई मनुष्य यह कहने लगा कि तुम्हारा साथी, बलराम

ने मार डाला. ऐसा सुनकर डिम्भक इसलोक में हंस के विना अपने अकेले का जीवन व्यर्थसमझकर यमुना में डूबकर मरगया ॥

तथा तु डिम्भकं श्रुत्वा हंसः परपुरञ्जयः ।
प्रपेदे यमुनामेव सोऽपि तस्यां न्यमज्जत ॥४०॥
तौ स राजा जरासन्धः श्रुत्वा च निधनं गतौ ।
पुरं शून्येन मनसा प्रययौ भरतर्षभ ॥४१॥
ततो वयममित्रघ्न तस्मिन्प्रतिगते नृपे ।
पुनरानन्दिनः सर्वे मथुरायां वसामहे ॥४२॥

अर्थ—तदनन्तर, डिम्भक की मृत्यु का हाल सुनकर शोक के वशीभूत हुआ २ शत्रुनगरविजयी हंस भी यमुना में डूबमरा, हे भरतकुलश्रेष्ठ ! तब राजा जरासन्ध दोनों महावीरों का मरना सुनकर शून्यमन हुआ २ अपने नगर में लौट आया, हे शत्रुनाशक-राजन् ! तत्पश्चात् जरासन्ध के लौट जाने पर हमसब लोग फि मथुरापुरी में सुखपूर्वक रहने लगे ॥

यदा त्वभ्येत्य पितरं सा वै राजीवलोचना ।
कंसभार्या जरासन्धं दुहिता मागधं नृपम् ।
चोदयत्येव राजेन्द्र पतिव्यसनदुःखिता ॥४३॥
पतिघ्नं मे जहीत्येवं पुनः पुनररिन्दम ।
ततो वयं महाराज तं मन्त्रं पूर्वमन्त्रितम् ॥४४॥
संस्मरन्तो विमनसो व्यपयाता नराधिप ।
पलायामो भयात्तस्य ससुतज्ञातिबान्धवाः ।
इति सञ्चिंत्य सर्वेस्म प्रतीचीं दिशमाश्रिताः ॥४५॥

अर्थ–हे राजेन्द्र ! तदनन्तर कमलसमान नेत्रों वाली राजा जरासन्ध की पुत्रियां " जोकि कंस को विवाही थीं " उन दोनों ने अपने पिता मगधदेश के राजा जरासन्ध के समीप पहुंच पतिवियोग से दुःखित होकर वार२ कहा कि हे शत्रुनाशक-राजन् ! हमारे पति के घातक को आप मारिये, यह सुनकर जरासन्ध ने बड़ी भारी सेना के सहित हमारे ऊपर चढ़ आने की सलाह की, तब हमलोग सब पुत्र स्त्री भाईबन्धु कुटुम्ब सहित उसके भय के मारे घबराये, तथा उसके पूर्वोक्त विचार को चिन्तन करते हुए पश्चिमदिशा को चले गये, और:—

तथैव दुर्गसंस्कारं देवैरपि दुरासदम् ।
तस्यां वयममित्रघ्न निवसामोऽकुतो भयाः ॥४६॥
अष्टादशसहस्राणि भ्रातॄणां सन्ति नः कुले ।
आहुकस्य शतं पुत्रा एकैकस्त्रिदशावरः ॥४७॥

अर्थ–हे शत्रुनाशक राजन् ! वहां देवताओं से भी अजय=न जीते-जांने योग्य एक उत्तम दुर्ग=क़िला बनाकर उस दिशा में ही निर्भय हो हमसब रहने लगे, हे महाराज ! मेरे कुलमें अठारह सहस्र सब भाईबन्धु हैं, और आहुक के सौ पुत्र देवताओं के समान बलवान्, महायोद्धा, तथा वक्ष्यमाण हम महारथी भी हैं:—

चारुदेष्णः सहभ्रात्रा चक्रदेवोऽथ सात्यकिः ।
अहञ्च रौहिणेयश्च साम्बः प्रद्युम्न एव च ॥४८॥
कृतवर्मा ह्यनाधृष्टिः समीकः समितिञ्जयः ।
कंकः शंकुश्च कुन्तिश्च सप्तैते वै महारथाः ॥४९॥

पुत्रौ चान्धकभोजस्य वृद्धो राजा च ते दश ।
वज्रसंहनना वीरा वीर्यवन्तो महारथाः ॥५०॥

अर्थ–१–भ्राता सभेत चारुदेष्ण २–चक्रदेव ३–सात्यकि ४–मैं अर्थात् कृष्ण ५–बलदेव ६–साम्ब और ७–प्रद्युम्न तथा सात मुख्यमहारथी हैं जिन के नाम यह हैं, १–कृतवर्मा २–अनाधृष्टि ३–समीक ४–समितिञ्जय ५–कंक ६–शङ्कु तथा ७–कुन्ति, और अन्धकवंशी भोज के दो पुत्र, तथा वृद्धराजा यह दश महाबलवान्, वज्रतुल्य शरीर वाले और बड़े पराक्रमी महावीर हैं ॥

स त्वं सम्राड्गुणैर्युक्तः सदा भरतसत्तम ।
क्षत्रे सम्राजमात्मानं कर्त्तुमर्हसि भारत ॥५१॥
न तु शक्यं जरासन्धे जीवमाने महाबले ।
राजसूय स्त्वयावाप्तुमेषा राजन्मतिर्मम ॥५२॥

अर्थ–हे भरतकुल श्रेष्ठ ! तुम सदा से चक्रवर्ती राजा होन योग्य गुणों से सम्पन्न हो और तुम्हें उचित है कि क्षत्रिय–जगत् में अपने आपको चक्रवर्ती राजा बनाओ, परन्तु हे राजन् ! मेरी सम्मति यह है कि जब तक महाबली राजा जरासन्ध जीता रहेगा, तब तक तुम राजसूययज्ञ द्वारा अपने आपको चक्रवर्त्ती राजा नहीं कर सकते ॥

तेन रुद्धा हि राजानः सर्वे जित्वा गिरिव्रजे ।
कन्दरे पर्वतेन्द्रस्य सिंहेनेव महा द्विपाः ॥५३॥
वयं चैव महाराज जरासन्धभयात्तदा ।
मथुरां संपरित्यज्य गता द्वारवतीं पुरीम् ॥५४॥

अर्थ—राजा जरासन्ध ने सब राजाओं को जीत २ कर पर्वत की गुफ़ा में पशुओं की भांति रोक रक्खा है, जैसे कि सिंह ने हाथिओं को, और हे महाराज! हमलोग भी उससमय जरासन्ध के ही भय से मथुरा त्याग कर द्वारकापुरी को चले गये थे॥

यदि त्वेनं महाराज यज्ञं प्राप्तुमभीप्ससि।
यतस्व तेषां मोक्षाय जरासन्धवधाय च ॥५५॥
इत्येषा मे मती राजन्यथा वा मन्यसेऽनघ।
एवं गते समाचक्ष्व स्वयं निश्चित्य हेतुभिः ॥५६॥

अर्थ—हे महाराज! यदि आप इस यज्ञ को पूर्ण करना चाहते हैं तो पहले उन राजाओं के छुड़ाने तथा जरासन्ध के मारने का यत्न करें, हे निष्पाप राजन्! मेरी तो यही सम्मति है, अन्यथा अब ऐसी दशा में आप जैसा उचित समझें वैसा हेतुओं से निश्चय करके स्वयं मुझ से कहें॥

इति षष्ठोऽध्यायः समाप्तः

अथ सप्तमोऽध्यायः प्रारभ्यते

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं त्वया बुद्धिमतां यन्नान्यो वक्तुमर्हति।
संशयानां हि निर्मोक्ता त्वं नान्यो विद्यते भुवि ॥१॥
गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियङ्कराः।
नच साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट् शब्दोहि कृच्छ्रभाक्॥२॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोले कि हे कृष्ण ! तुमने जो सम्मति दी है वैसी देने की किसी अन्य बुद्धिमान् में सामर्थ्य नहीं है, क्योंकि संशयों के काटने वाले पृथ्वीभर में तुम हो, अन्य नहीं। अपने २ घर में सब राजालोग अपना २ हित करते रहते हैं, परन्तु इससे उनको साम्राज्य की प्राप्ति नहीं हुई, क्योंकि सम्राट् पदवी बड़े कष्टों से मिलती है ॥

शममेव परं मन्ये शमात् क्षेमं भवेन्मम ।
आरम्भे पारमेष्ठ्यन्तु न प्राप्यमिति मे मतिः ॥३॥
वयं चैव महाभाग जरासन्धभयात्तदा ।
शङ्किताःस्म महाभाग दौरात्म्यात्तस्य चानघ ॥४॥

अर्थ–मैं समझता हूं कि इससमय शान्ति करना ही उत्तम है और शान्ति से ही मेरा कल्याण होगा, किन्तु यदि हम राजसूय-यज्ञ करेंगे, तो मेरी सम्मति में वह पूर्ण न हो सकेगा, हे निष्पाप, महाभाग्यवान् ! हमलोग भी जरासन्ध के भय से और उसकी दुष्टता से उससमय डर गये थे ॥

अहं हि तव दुर्धर्ष भुजवीर्याश्रयः प्रभो ।
नात्मानं बलिनं मन्ये त्वयि तस्माद्विशङ्किते ॥५॥
त्वत्सकाशाच्च रामाच्च भीमसेनाच्च माधव ।
अर्जुनाद्वा महाबाहो हन्तुं शक्यो नवेति वै ॥६॥
एवं जानन् हि वार्ष्णेय विमृशामि पुनः पुनः ।
तच्छ्रुत्वा चाब्रवीद् भीमो वाक्यं वाक्यविशारदः॥७॥

अर्थ–हे अजय स्वामिन् ! मैं तो तुम्हारी भुजाबल के सहारे पर हूं, जब तुम ही उससे शंका करते हो, तो मैं अपने आप को

बलवान् नहीं समझता, हे महाबाहु कृष्ण! तुम से, बलराम से, भीमसेन से वा अर्जुन से, अर्थात् किसी से भी वह जरासन्ध मारा जासकता है वा नहीं, इसी बात पर मैं बार२ विचार कर रहा हूं, यह सुनकर बोलने में चतुर भीमसेन यह बात कहने लगे ॥

भीम उवाच

अनारम्भपरो राजा वल्मीक इव सीदति ।
दुर्बलश्चानुपायेन बलिनं योधितिष्ठति ॥८॥
अतन्द्रितस्तु प्रायेण दुर्बलो बलिनं रिपुम् ।
जयेत् सम्यक्प्रयोगेण नीत्यार्थानात्मनो हितान्॥९॥
कृष्णे नयो मयि बलं जयः पार्थे धनञ्जये ।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः ॥१०॥

अर्थ—भीमसेन बोले कि जो राजा अपनी उन्नति का यत्न नहीं करता वह बल्मीक=बांबी की भांति क्षीण हो जाता है, और यत्न न करने वाले बलवान् को दुर्बलपुरुष भी दबालेता है, परन्तु जो राजा सदा सवाधान रहकर नीति द्वारा यथोचित व्यवहार करता है, वह दुर्बल होने पर भी अपने बलवान् शत्रु और लाभकारी पदार्थों को प्रयाः विजय कर लेता है, कृष्ण में नीति है, मुझ में बल है तथा अर्जुन के हाथ विजय है, इसप्रकार हम तीनों मिलकर मगधदेश के राजा जरासन्ध को जीत लेंगे, जैसे कि तीन अग्निएं मिलकर यज्ञ को पूर्ण करती हैं॥

कृष्ण उवाच

अर्थानारभते बालो नानुबन्धमवेक्षते ।
तस्मादरिं न मृष्यन्ति बालमर्थपरायणम् ॥ ११ ॥

हित्वा करान् यौवनाश्विः पालनाच्च भागीरथः ।
कार्त्तवीर्यस्तपोवीर्याद्बलात्तु भरतो विभुः ।
ऋद्धया मरुत्तस्तान् पञ्च सम्राजस्त्वनुशुश्रुम॥१२॥

अर्थ-कृष्ण जी बोले कि-मूर्खमनुष्य कार्य तो आरम्भ कर देता है परन्तु उपाय के अच्छे बुरे होने का विचार नहीं करता, इसीलिये कार्य में तत्पर हुए २ मूर्खशत्रु को अन्य प्रतिपक्षी लोग सहन नहीं करसकते,युवनाश्व के पुत्र ने प्रजा के कर=शुल्क दूर करके, भागीरथ ने प्रजा के उत्तम पालन से, कार्त्तवीर्य ने तपके प्रभाव से, राजा भरत ने बल से और राजा मरुत्त ने बड़ी भारी समृद्धि के बल से साम्राज्य प्राप्त किया, हम इन पांच चक्रवर्ती राजाओं का भिन्न २ पांच उपायों द्वारा स्वराज्यपाना इतिहास में सुनचुके हैं ॥

न चैनमनुरुध्यन्ते कुलान्येकशतं नृपाः ।
तस्मादिह बलादेव साम्राज्यं कुरुते हि सः॥१३॥
रत्नभाजो हि राजानो जरासन्धमुपासते ।
न च तुष्यति तेनापि बाल्यादनयमास्थितः॥१४॥

अर्थ-राजा जरासन्धका, सौ बड़े २ राजा भी अनुरोध=मुक़ाबला नहीं करसकते, इसलिये वह अपने बल से ही पृथ्वी पर चक्रवर्त्ती राज्य कर रहा है,देखो बड़े २ रत्नधारण करने वाले राजालोग जरासन्ध की सेवा में लगे हुए हैं, परन्तु वह मूर्खता के कारण अनीति धारण किये हुए है, इसलिये उन राजाओं की इतनी सेवा से भी सन्तुष्ट नहीं होता ॥

एवं सर्वान् वशे चक्रे जरासन्धः शतावरान् ।
तं दुर्बलतरो राजा कथं पार्थ उपैष्यति ॥१५॥
षडशीतिः समानीताः शेषा राजंश्चतुर्दश ।
जरासन्धेन राजानस्ततः क्रूरं प्रवर्त्स्यते ॥१६॥
प्राप्नुयात् स यशो दीप्तं तत्र यो विघ्नमाचरेत् ।
जयेद्यश्च जरासन्धं स सम्राट् नियतं भवेत् ॥१७॥

अर्थ—हे युधिष्ठिर ! इसप्रकार जरासन्ध ने प्रायः सौ राजाओं को अपने वश में किया हुआ है, तौ फिर अत्यन्तनिर्बल राजा उसके साथ कैसे युद्ध करसकता है ? हे राजन् ! राजा जरासन्ध ने छयासी ८६ राजाओं को तो लाकर क़ैद कर लिया है और अब चौदह शेष हैं, इनको क़ैद करने के पश्चात् वह महान् अत्याचार फैलावेगा, और इसप्रकार वह प्रज्वलितयश को प्राप्त करलेगा, परन्तु जो मनुष्य उसके उक्त कार्य में विघ्न डाल दे और जरासन्ध को जीतले, तौ निश्चय है कि वह चक्रवर्त्तीराजा होजायेगा ॥

इति सप्तमोऽध्यायः समाप्तः

अथ अष्टमोऽध्यायः प्रारभ्यते

युधिष्ठिर उवाच

सम्राड्गुणमभीप्सन् वै युष्मान् स्वार्थपरायणः ।
कथं प्रहिणुयां कृष्ण सोऽहं केवलसाहसात् ॥१॥
भीमार्जुनावुभौ नेत्रे मनो मन्ये जनार्दनम् ।
मनश्चक्षुर्विहीनस्य कीदृशं जीवितं भवेत् ॥२॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोले कि हे कृष्ण ! मैं स्वार्थ में तत्पर होकर अपने लिये चक्रवर्त्तीराज्य चाहता हुआ केवल साहसमात्र से आप लोगों को वहां कैसे भेज सक्ता हूं, भीमसेन और अर्जुन दोनो मेरे नेत्र हैं और कृष्ण मेरा हृदय है, सो हृदय तथा नेत्रों के बिना मेरा जीवन किस प्रकार का हो जायेगा ? और:—

जरासन्धबलं प्राप्य दुष्पारं भीमविक्रमम् ।
यमौ हि न विजेताजौ तत्र वः किं विचेष्टितम् ॥३॥
अस्मिंस्त्वर्थान्तरे युक्तमनर्थः प्रतिपद्यते ।
तस्मान्न प्रतिपत्तिस्तु कार्या युक्ता मता मम ॥४॥

अर्थ–जोड़ले भाई=नकुल, सहदेव में से भी कोई जरासन्धकी भयानकपराक्रम वाली दुर्जय=कठिनता से जीते जाने योग्य सेना को युद्ध में नहीं जीत सकता, तब हम क्यों ऐसी व्यर्थचेष्टा करें, इस राजसूययज्ञ के कार्य में अवश्य अनर्थ होगा, इसलिये मैं ऐसी अनर्थ की बात को स्वीकार करना उचित नहीं समझता ॥

यथाहं विमृशाम्येकस्तत्तावत् श्रूयतां मम ।
संन्यासं रोचये साधु कार्यस्यास्य जनार्दन ।
प्रतिहन्ति मनो मेऽद्य राजसूयो दुराहर ॥५॥

अर्थ–हे कृष्ण ! मैं स्वयम् जो कुछ विचार कर रहा हूं, सो तुम सुनो, मेरी सम्मति में इस राजसूययज्ञ के संकल्प का त्याग देना ही अच्छा है, क्योंकि यह महान् दुष्कर राजसूययज्ञ मेरे चित्त को कंपा रहा है ॥

अर्जुन उवाच

धनुः शस्त्रं शरावीर्यं पक्षो भूमिर्यशोबलम् ।
प्राप्तमेतन्मया राजन् दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ॥६॥
क्षत्रियः सर्वशो राजन् यस्य वृद्धिर्द्विषज्जये ।
सर्वैर्गुणैर्विहीनोऽपि वीर्यवान् हि तरेद्रिपून् ॥७॥

अर्थ—अर्जुन बोला कि हे राजन् ! धनुष, शस्त्र और बाण ही मेरा पराक्रम है, पृथ्वी, यश और बल ही मेरे पक्षपाती अर्थात् सहायक हैं, इनकी ही सहायता से मैंने जिस दुर्लभ वस्तु की इच्छा की वह प्राप्त करली, हे राजन् ! वही क्षत्रिय कहलाने के योग्य है जो शत्रुओं को जीत कर अपनी वृद्धि करे, क्योंकि पराक्रमी पुरुष अन्य सब गुणों से हीन होकर भी शत्रुओं को जीतसकता है ॥

सर्वैरपि गुणैर्युक्तो निर्वीर्यः किं करिष्यति ।
गुणीभूताः गुणाः सर्वे तिष्ठन्ति हि पराक्रमे ॥८॥
संयुक्तो हि बलैः कश्चित्प्रमादान्नोपयुज्यते ।
तेन द्वारेण शत्रुभ्यः क्षीयते सबलो रिपुः ॥९॥

अर्थ—सब गुणों से सम्पन्न भी पराक्रमहीन पुरुष क्या कर-सकता है, क्योंकि पराक्रम के आगे अन्य सब गुण अप्रधान हैं, बलवान् तथा सेनाओं वाला शत्रु भी कभी २ असावधानी करके अपने बल का प्रयोग नहीं करपाता, और उसी प्रमादरूपी छिद्र के द्वारा शत्रुओं से नाश को प्राप्त होजाता है ॥

दैन्यं यथा बलवति तथा मोहो बलान्विते ।
तावुभौ नाशकौ हेतू राज्ञा त्याज्यौ जयार्थिना॥१०॥

जरासन्धविनाशं च राज्ञां च परिरक्षणम् ।
यदि कुर्याम यज्ञार्थे किं ततः परमं भवेत् ॥११॥

अर्थ–बलवान् पुरुष के लिये जैसे दीनता निषिद्ध है, वैसे ही असावधानी=भूल भी निषिद्ध है, ये दोनों नाश करने वाले साधन विजय चाहने वाले राजा के लिये त्यागने योग्य हैं, यदि हम अपने राजसूययज्ञ की सिद्धि के लिये जरासन्ध को मारें और उसके क़ैद किये हुए राजाओं को छुड़ाकर उनकी रक्षा करें तो इसमें अच्छी और क्या बात होसक्ती है ॥

अनारम्भे हि नियतो भवेदगुणनिश्चयः ।
गुणान्निःसंशयाद्राजन् नैर्गुण्यं मन्यसे कथम् ॥१२॥
कषायं सुलभं पश्चान्मुनीनां शममिच्छताम् ।
साम्राज्यं तु भवेच्छक्यं वयं योत्स्यामहे परान्॥१३॥

अर्थ–हे राजन् ! यदि हम यह कार्य आरम्भ न करेंगे तो जरासन्ध से कभी न कभी हमारी हानि होनी निश्चित है, सो तुम निःसन्देह होने वाले लाभ से हानि किस प्रकार मानते हो ? शान्ति चाहने वाले मुनियों को भगवे वस्त्र बनालेना सहज हैं परन्तु हमें तो सार्वभौम राज्य तभी प्राप्त होसकता है जब हम शत्रुओं के साथ युद्ध करें ॥

वासुदेव उवाच

जातस्य भारते वंशे तथा कुन्त्याःसुतस्य च ।
या वै युक्ता मतिः सेयमर्जुनेन प्रदर्शिता ॥१४॥
नस्म मृत्युं वयं विद्म रात्रौ वा यदि वा दिवा ।
न चापि कंचिदमरमयुद्धे नानुशुश्रुम ॥ १५ ॥

अर्थ—कृष्णजी बोले कि भरतराजा के वंश में उत्पन्न तथा कुन्ती के पुत्र की जैसी सम्मति होनी चाहिये, वैसीही अर्जुन ने बतलाई है, हमें इस बात का क्या पता है ? कि आज रात में वा दिन में ही हमारी मृत्यु होजाय, और ना ही हमने यह सुना है कि युद्ध न करने पर कोई अमर होगया हो ॥

एतावदेव पुरुषैः कार्यं हृदयतोषणम् ।
नयेन विधिदृष्टेन यदुपक्रमते परान् ॥१६॥
ते वयं नयमास्थाय शत्रुदेहसमीपगाः ।
कथमन्तं न गच्छेम वृक्षस्येव नदीरयाः ।
परं रन्ध्रे समाक्रान्ताः स्वरन्ध्रावरणे स्थिताः ॥१७॥

अर्थ—सो, हे राजन् ! इसी का नाम पुरुषार्थ है, और यही कार्य हृदय को सन्तोष देने वाला है कि विधिपूर्वक नीति के द्वारा शत्रुओं पर आक्रमण किया जाय, और हमलोग नीति का अवलम्बन करके अपने दोष छिपाते हुए तथा दूसरे के छिद्रों पर आक्रमण करते हुए, शत्रु के शरीर के समीप पहुंचकर क्यों नहीं उसका नाश कर सकेंगे, जैसे कि नदी का प्रवाह वृक्ष को नष्ट करदेता है ॥

व्यूढानीकैरतिबलैर्न युध्येदरिभिः सह ।
इति बुद्धिमतां नीतिस्तन्ममापीह रोचते ॥१८॥
अनवद्या ह्यसंबद्धाः प्रविष्टाः शत्रुसद्म तत् ।
शत्रुदेहमुपाक्रम्य तं कामं प्राप्नुयामहे ॥१९॥
अथवैनं निहत्याजौ शेषेणापि समाहताः ।
प्राप्नुयाम ततः स्वर्गं ज्ञातित्राणपरायणाः ॥२०॥

अर्थ–बड़ी सेनाओं वाले महाबली शत्रुओं के साथ शस्त्रों द्वारा युद्ध करना उचित नहीं, किन्तु उन्हें कूटनीति द्वारा मारना चाहिये, ऐसी बुद्धिमानों की नीति है और मुझे भी यह उचित प्रतीत होती है, इसलिये हमलोग दूषित न होकर अत्यन्त गुप्त-रूप से शत्रु जरासन्ध के घरमें घुसकर उसके शरीर पर आक्रमण करके अपने संकल्प को पूर्ण करेंगे अर्थात् शत्रु को विजय करके राजसूययज्ञ को निर्विघ्न समाप्त करेंगे। दूसरे पक्ष में यदि हमलोग इसको मारकर उसके शेष सहायकों द्वारा युद्ध में हमलोग भी मारे गये, तो अपने ज्ञाति अर्थात् बन्धुओं की रक्षा के कार्य में बलि = कुर्बान होकर स्वर्ग को प्राप्त होंगे ॥

पतितौ हंसडिम्भकौ कंसश्च सगणो हतः।
जरासन्धस्य निधने कालोऽयं समुपागतः ॥२१॥
मयि नीतिर्बलं भीमे रक्षिता चावयोर्जयः।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः ॥२२॥

अर्थ–हंस और डिम्भक मरचुके हैं तथा कंस भी सेना समेत मारा जाचुका है, अब जरासन्ध के मरने का समय आगया है, मुझमें नीति और भीममें बल है तथा अर्जुन हमदोनों का रक्षक है, सो हम तीनों मिलकर मगधदेश के राजा को जीत लेंगे, जैसे कि तीन अग्निएं मिलकर यज्ञ को पूर्ण करती हैं ॥

त्रिभिरासादितोऽस्माभिर्विजने स नराधिपः।
न सन्देहो यथा युद्धमेकेनाप्युपयास्यति ॥२३॥
अवमानाच्च लोभाच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः।
भीमसेनेन युद्धाय ध्रुवमभ्युपयास्यति ॥२४॥

अर्थ—राजा जरासन्ध जब एकान्त में हमें मिलेगा तो इसमें सन्देह नहीं कि वह अकेला एक के साथ युद्ध करेगा और इसमें भी सन्देह नहीं कि वह अभिमान और प्रतिष्ठा के लोभ तथा अपने भुजबल के गर्व से भीमसेन के ही साथ युद्ध करना स्वीकार करेगा ॥

अलं तस्य महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ।
लोकस्य समुदीर्णस्य निधनायान्तको यथा ॥२५॥
यदि मे हृदयं वेत्सि यदि ते प्रत्ययो मयि ।
भीमसेनार्जुनौ शीघ्रं न्यासभूतौ प्रयच्छ मे ॥२६॥

अर्थ—उस जरासन्ध के नाश करने के लिये महाबाहु तथा महाबली भीमसेन ऐसा समर्थ है जैसे इस विस्तृत संसार के नाश करने के लिये मृत्यु होती है, सो यदि तुम मेरे हृदय का अभिप्राय यथावत् समझते तथा मुझपर विश्वास करते हो तो शीघ्र ही भीमसेन और अर्जुन को धरोहर के रूप में मेरे लिये देदो ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो भगवता प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ।
भीमार्जुनौ समालोक्य संप्रहृष्टमुखौ स्थितौ ॥२७॥
अच्युताच्युत मा मैवं व्याहरामित्रकर्षण ।
पाण्डवानां भवान्नाथो भवन्तं चाश्रिता वयम् ॥२८॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! उस समय भगवान् कृष्ण के ऐसा कहने पर युधिष्ठिर ने प्रसन्नमुख खड़े हुए भीमसेन और अर्जुन की ओर देखकर कृष्णजी से इस प्रकार कहा कि हे शत्रुनाशक कृष्ण ! आप ऐसी बात " न कहिये,

न कहिये" आप हमसब पाण्डवों के स्वामी हैं और हमसब आपके अधीन अर्थात् आज्ञाकारी हैं ॥

निहतश्च जरासन्धो मोक्षिताश्च महीक्षितः ।
राजसूयश्च मे लब्धो निदेशे तव तिष्ठतः ॥२९॥
त्रिभिर्भवाद्भिर्हि विना नाहं जीवितुमुत्सहे ।
धर्मार्थकामरहितो रोगार्त्त इव दुःखितः ॥३०॥

अर्थ–तुम्हारी आज्ञा में रहने से जरासन्ध मर गया, राजा लोगों का छुटकारा होगया और मेरा राजसूययज्ञ भी समाप्त हुआ समझना चाहिये, तुम तीनों के विना मेरा जीवन इस प्रकार दुःखित है जैसे कि धर्म, अर्थ और काम इन तीनों के विना मनुष्य रोगग्रस्त के तुल्य दुःखी रहता है ॥

न शौरिणा विना पार्थो न शौरिः पाण्डवं विना ।
नाजेयोस्त्यनयोर्लोके कृष्णयोरिति मे मतिः ॥३१॥
अयं च बलिनां श्रेष्ठः श्रीमानपि वृकोदरः ।
युवाभ्यां सहितो वीरः किं न कुर्यान्महायशाः ॥३२॥

अर्थ–कृष्ण के विना अर्जुन और अर्जुन के विना कृष्ण नहीं जीसकता और यह भी मेरी सम्मति है कि संसार में कोई ऐसा वीर नहीं जिसे यह दोनों कृष्ण और अर्जुन न जीत सकें तथा यह बलवानों में श्रेष्ठ श्रीमान् महाप्रतापी वीर भीमसेन भी तुम दोनों के साथ रहकर क्या कुछ नहीं करसकता ॥

तस्मान्नयविधानज्ञं पुरुषं लोकविश्रुतम् ।
वयमाश्रित्य गोविन्दं यतामः कार्यसिद्धये ॥३३॥

एवमेव यदुश्रेष्ठ यावत् कार्यार्थसिद्धये ।
अर्जुनः कृष्णमन्वेतु भीमोऽन्वेतु धनञ्जयम् ।
नयो जयो बलं चेति विक्रमे सिद्धिमेष्यति ॥३४॥

अर्थ—इस लिये हमलोग, नीति के उपाय जानने वाले, लोक प्रसिद्ध, गोरक्षक कृष्ण जी का आश्रय लेकर कार्य की सिद्धि के लिये यत्न करेंगे, हे यदुकुल श्रेष्ठ ! जो कुछ कार्य सिद्धि का तुमने उपाय बताया, वह मुझे स्वीकृत है, सो अर्जुन कृष्ण का, और भीमसेन अर्जुन का साथ देवे, तब इसप्रकार नीति, विजय तथा बल यह तीनों मिलकर पराक्रम पर विजय पाजायंगे अर्थात् नीतीयुक्त कृष्ण, विजययुक्त अर्जुन और बलयुक्त भीमसेन यह तीनो मिलकर पराक्रमयुक्त जरासन्ध को जीतलेंगे ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तास्ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः ।
वार्ष्णेयः पाण्डवेयौ च प्रतस्थुर्मागधं प्रति ॥३५॥
वर्चस्विनां ब्राह्मणानां स्नातकानां परिच्छदम् ।
आच्छाद्य सुहृदां वाक्यैर्मनोज्ञैरभिनन्दिताः ॥३६॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! युधिष्ठिर के इसप्रकार कहने के पश्चात् वे महाप्रतापी तीनों भाई=कृष्ण, अर्जुन और भीमसेन मगधदेश=विहारप्रदेश की ओर चलदिये, उन तीनों ने तेजस्वी स्नातक ब्राह्मणों का भेप बनाया, और वह मित्रों के मधुरवचनों से आनन्दि होते हुए यात्रा करने लगे ॥

अमर्षादभितप्तानां ज्ञात्यर्थं मुख्यतेजसाम् ।
रविसोमाग्निवपुषां दीप्तमासीत् तदा वपुः ॥३७॥

अर्थ–वह महातेजस्वी अपने ज्ञाति के निमित्त क्रोध से प्रदीप्त हो रहे थे और उन तीनों का शरीर उससमय सूर्य, चन्द्रमा तथा अग्नि के समान प्रज्वलित हो रहा था ॥

कुरुभ्यः प्रस्थितास्ते तु मध्येन कुरुजाङ्गलम् ।
रम्यं पद्मसरो गत्वा कालकूटमतीत्य च ॥३५॥
गण्डकीं च महाशोणं सदानीरां तथैव च ।
एकपर्वतके नद्यः क्रमेणैत्याव्रजन्त ते ॥३९॥

अर्थ–वह तीनों कुरुदेश से चलकर कुरुजाङ्गलप्रदेश के बीच में होते हुए, रमणीय = शोभायमान "पद्मसर" नामी झील पर पहुंचे और वहां से कालकूट पर पहुंचकर, एक ही पर्वतपर बहने वालीं गण्डकी, महाशोण तथा सदानीर, इन तीनों नदियों को क्रम से लांघकर आगे को चले ॥

उत्तीर्य सरयूं रम्यां दृष्ट्वा पूर्वांश्च कोशलान् ।
अतीत्य जग्मुर्मिथिलां मालां चर्मण्वतीं नदीम् ॥४०॥
अतीत्य गङ्गां शोणं च त्रयस्ते प्राङ्मुखास्तदा ।
कुशचीरच्छदा जग्मुर्मागधं क्षेत्रमच्युताः ॥४१॥
ते शश्वद्गोधनाकीर्णमम्बुमन्तं शुभद्रुमम् ।
गोरथं गिरिमासाद्य ददृशुर्मागधं पुरम् ॥४२॥

अर्थ–रमणीय सरयूनदी को लांघकर पूर्वीकोशल=अवध-प्रदेश को देखते हुए मिथिलापुरी में पहुंचे, पुनः वहां से माला, चर्मण्वती, गङ्गानदी तथा शोणनद को पार करके, कर्तव्य से विचलित न होने वाले वे तीनों, कुशा तथा मृगचर्म आदि के

वस्त्र पहने हुए पूर्व दिशा की ओर मगधदेश को चलदिये, उनतीनों ने गोरथ नामक पर्वत पर पहुंचकर "जो कि सदा गोरूपी धन से परिपूर्ण, उत्तमजलयुक्त तथा उत्तम वृक्षों से सम्पन्न था" वहां से मगधदेश के राजधानी नगर को देखा ॥

इति अष्टमोऽध्यायः समाप्तः

अथ नवमोऽध्यायः प्रारभ्यते

वासुदेव उवाच

एष पार्थ महान् भाति पशुमान् नित्यमम्बुमान् ।
निरामयः सुवेश्माढ्यो निवेशो मागधः शुभः ॥१॥
वैहारो विपुलः शैलो वराहो वृषभस्तथा ।
तथा ऋषिगिरिस्तात शुभाश्चैत्यकपञ्चमाः ॥२॥
एते पञ्च महाशृङ्गाः पर्वताः शीतलद्रुमाः ।
रक्षन्तीवाभिसंहत्य संहताङ्गा गिरिव्रजम् ॥३॥

अर्थ—श्रीकृष्णजी बोले कि हे अर्जुन! यहां से महान् मागधनगर दिखाई दे रहा है जिसमें कि बहुत से उत्तमोत्तम गौ, भैंस, घोड़े आदि पशु हैं तथा जिसमें सदा उत्तमजल बहता है, यह उत्तम नगर रोगरहित, सुन्दरभवनों से संपन्न और उत्तमोत्तम प्रकार की रचनाओं से युक्त है, हे प्यारे! यहां पांच बड़े २ उत्तम पर्वत हैं=(१) वैहार (२) वराह (३) वृषभ (४) ऋषिगिरि और पांचवां (५) चैत्यक, ये पांचो बड़ी ऊंची चोटिओं वाले, शीतल वृक्षयुक्त

पर्वत, मानो परस्पर एक दूसरे से अड़े हुए अपने दृढ़ अङ्गों से अन्य पर्वतसमूह की रक्षा कर रहे हैं ॥

एवं प्राप्य पुरं रम्यं दुराधर्षं समन्ततः ।
अर्थसिद्धिं त्वनुपमां जरासन्धोऽभिमन्यते ।
वयमासादने तस्य दर्पमद्य हरेमहि ॥४॥

अर्थ—इसप्रकार चारों ओर से सुरक्षित इस रमणीय नगर को पाकर जरासन्ध अपनी पूर्णतया कार्यसिद्धि मान बैठा है, परंतु हमलोग उसके समीप पहुंचकर उसके घमंड को दूर करेंगे ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः ।
वार्ष्णेयः पाण्डवौ चैव प्रतस्थुर्मागधं पुरम् ॥५॥
ततो द्वारं समासाद्य पुरस्य गिरिमुच्छ्रितम् ।
मागधानां तु रुचिरं चैत्यकान्तरमाद्रवन् ॥६॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे जनमेजय ! कृष्ण जी के ऐसा कहने पर, तीनो महातेजस्वी भाई अर्थात् वृष्णिवंशी कृष्ण तथा पाण्डु के दोनों पुत्र = भीमसेन और अर्जुन, मागधनगर को चले, तब ऊंचे पर्वत समान नगर के द्वार में प्रवेश कर मगधवासिओं के सुन्दर यज्ञभवन में जा पहुंचे, और :—

भंक्त्वा भेरीत्रयं तेऽपि चैत्यप्राकारमाद्रवन् ।
द्वारतोऽभिमुखाः सर्वे ययुर्नानायुधास्तदा ॥७॥
स्थिरं सुविपुलं शृङ्गं सुमहत्तत् पुरातनम् ।

विपुलैर्बाहुभिर्वीरास्तेऽभिहत्याभ्यपातयन् ।
ततस्ते मागधं हृष्टाः पुरं प्रविविशुस्तदा ॥८॥

अर्थ—उन्हों ने वहां यज्ञभवन में रक्खे हुए तीन नगारे तोड़ फोड़ डाले तथा उस यज्ञशाला से मिले हुए नगर के कोट को उलांघ कर नानाप्रकार के शस्त्र अस्त्र युक्त द्वार के सन्मुख जा पहुंचे, वहां पर एक पर्वत का शिखर जो कि दृढ़, विस्तृत तथा प्राचीन था और नगर के भीतर जाने को रोकता था, उसे उन वीर-पुरुषों ने अपनी बड़ी २ दृढ़ भुजाओं के आघात से गिरा दिया, इसके पश्चात् वे लोग निर्विघ्नरूप से मागधनगर के भीतर प्रविष्ट होगये और उसको देखते भालते हुए आगे बढ़े ॥

स्नातकव्रतिनस्ते तु बाहुशस्त्रा निरायुधाः ।
युयुत्सवः प्रविविशुर्जरासन्धेन भारत ॥९॥
भक्ष्यमाल्यापणानां च ददृशुः श्रियमुत्तमाम् ।
स्फीतां सर्वगुणोपेतां सर्वकामसमृद्धिनीम् ॥१०॥
तां तु दृष्ट्वा समृद्धिं ते वीथ्यां तस्यां नरोत्तमाः ।
निवेशनमथाजग्मुर्जरासन्धस्य धीमतः ॥११॥

अर्थ—हे भारतीय राजन् ! वहां से फिर उन्हों ने स्नातक-ब्रह्मचारियों का भेष बदल लिया और शस्त्रहीन होकर केवल भुजारूपी शस्त्रों द्वारा ही जरासन्ध के साथ युद्ध करने की इच्छा से भीतर प्रविष्ट हुए, उन्हों ने नगर के भीतर जाते हुए खाद्य-वस्तुओं तथा माला आदि सब पदार्थों के उत्तम शोभायमान, विस्तृत, सर्वगुणसम्पन्न, सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले बाजारों

का अवलोकन किया, तब वह महान् पुरुष बाज़ार की उस उत्तम शोभा का अवलोकन करने के अनन्तर बुद्धिमान् राजा जरासन्ध के भवन पर जा पहुंचे ॥

शालस्तम्भनिभास्तेषां चन्दनागुरुरूषिताः ।
अशोभन्त महाराज बाहवो युद्धशालिनाम् ॥१२॥
तान् दृष्ट्वा द्विरदप्रख्यान् शालस्कन्धानिवोद्गतान् ।
व्यूढोरस्कान् मागधानां विस्मयः समपद्यत ॥१३॥

अर्थ—हे महाराज ! उन युद्धशील वीरपुरुषों की साल के खम्बों के समान मोटी, दृढ़ तथा चन्दन और अगर से सुगन्धित भुजाएं परम शोभायमान प्रतीत होती थीं, हाथी के समान महाकाय तथा सालवृक्ष के तनों के समान ऊंचे दृढ़ शरीर और चौड़ी छाती वाले, उन वीरपुरुषों को देखकर मगधनिवासियों को आश्चर्य उत्पन्न हुआ ॥

ते त्वतीत्य जनाकीर्णाः कक्ष्यास्तिस्रो नरर्षभाः ।
अहङ्कारेण राजानमुपतस्थुर्गतव्यथाः ॥१४॥
प्रत्युत्थाय जरासन्ध उपतस्थे यथाविधि ।
उवाच चैतान्राजासौ स्वागतं वोऽस्त्विति प्रभुः ॥१५॥

अर्थ—वे उत्तम पुरुष मनुष्यों से घिरे हुए तीन कक्ष्याओं = कोटों को लांघकर, अहंकार के साथ निःशंक होकर राजा जरासन्ध के समीप जा पहुंचे, तब प्रभावशील राजा जरासन्ध विधिपूर्वक उनका सत्कार करने के लिये उठकर समीप गया, और कहा कि आपका स्वागत हो ॥

तांस्त्वपूर्वेण वेशेन दृष्ट्वा स नृपसत्तमः ।
उपतस्थे जरासन्धो विस्मितश्चाभवत्तदा ॥१६॥
ते तु दृष्ट्वैव राजानं जरासन्धं नरर्षभाः ।
इदमूचुरमित्रघ्नाः सर्वे भरतसत्तम ।
स्वस्त्यस्तु कुशलं राजन्निति तत्र व्यवस्थिताः॥१७॥

अर्थ—हे महाराज ! तब राजा जरासन्ध उनका अपूर्व भेष देखकर उनके समीप खड़े रहे और आश्चर्ययुक्त हो गये, हे भरतकुलश्रेष्ठ ! वे तीनो शत्रुनाशक महात्मा पुरुष, राजा जरासन्ध को देखते ही नियमानुसार बोले कि हे राजन् ! तुम्हारा कल्याण हो ॥

तानब्रवीज्जरासन्धस्तथा पाण्डवयादवान् ।
आस्यतामिति राजेन्द्र ब्राह्मणच्छद्मसंवृतान् ॥१८॥
अथोपविविशुः सर्वे त्रयस्ते पुरुषर्षभाः ।
तानुवाच जरासन्धः सत्यसन्धो नराधिपः ।
विगर्हमाणः कौरव्य वेशग्रहणवैकृतान् ॥१९॥

अर्थ—हे राजेन्द्र ! इसके पश्चात् जरासन्ध ने ब्राह्मण के भेष से छिपे हुए उन भीमसेन,अर्जुन तथा कृष्ण के प्रति कहा कि आप लोग बैठ जाइये, हे कुरुवंशी ! जब वे तीनो महात्मा बैठ गये, तब सत्यप्रतिज्ञ राजा जरासन्ध उनके अनुचित भेष बनाने की निन्दा करता हुआ, उन से यह कहने लगा कि :—

न स्नातकव्रता विप्रा बहिर्माल्यानुलेपनाः ।
भवन्तीति नृलोकेऽस्मिन् विदितं मम सर्वशः ॥२०॥

के यूयं पुष्पवन्तश्च भुजैर्ज्याकृतलक्षणैः ।
बिभ्रतः क्षात्रमोजश्च ब्राह्मण्यं प्रति जानथ ॥२१॥

अर्थ–मुझे यह बात भलेप्रकार विदित है कि बनावटी पुष्प माला तथा चन्दनादि धारण करने वालेलोग इस मनुष्यलोक में स्नातकब्राह्मण नहीं होसकते, तुम फूलों की माला धारणकिये हुए हो,किन्तु तुम्हारी भुजाओं में धनुष के चिल्ले के चिह्न पड़े हुए हैं और तुम में क्षत्रियों का तेज प्रतीत होता है,परन्तु तुम अपने आप को ब्राह्मण स्वीकार करते हो,सो बताओ कि तुम कौन हो ? ॥

एवं विरागवसना बहिर्माल्यानुलेपनाः ।
सत्यं वदत के यूयं सत्यं राजसु शोभते ॥२२॥
चैत्यकस्य गिरेः शृङ्गं भित्त्वा किमिह छद्मना ।
अद्वारेण प्रविष्टाःस्थ निर्भया राजकिल्बिषात् ॥२३॥
एवं च मामुपास्थाय कस्माच्च विधिनार्हणाम् ।
प्रणीतां नानुगृह्णीत कार्यं किं वास्मदागमे ॥२४॥

अर्थ–इसप्रकार तुमलोग वैरागिओं कैसे वस्त्र धारण कर बाहर फूल चन्दन आदि धाणर किये हुए क्षत्रिय प्रतीत होते हो, तुम सत्य बताओ कि कौन हो ? क्योंकि राजाओं के लिये सत्य-भाषण शोभित है,तुम लोग छल–कपट से चैत्यक पर्वत के शिखर को तोड़ फोड़ कर राजदण्ड से निर्भय हुए २ द्वार से भिन्न मार्ग अर्थात् दीवार फलांगकर नगर में क्यों प्रविष्ट हुए हो ? और इसप्रकार मेरे समीप आकर भी, मेरे विधिपूर्वक किये हुए पूजन-सत्कार को क्यों ग्रहण नहीं करते हो ? अथवा यही बताओ कि मेरे समीप आने का तुम्हारा प्रयोजन ही क्या है ? ॥

एवमुक्ते ततः कृष्णः प्रत्युवाच महामनाः ।
स्निग्धगम्भीरया वाचा वाक्यं वाक्यविशारदः ॥२५॥
स्नातकान् ब्राह्मणान् राजन् विद्ध्यस्मांस्त्वं नराधिप ।
स्नातकव्रतिनो राजन् ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ॥२६॥

अर्थ—जरासन्ध के ऐसा कहने पर, बोलने में चतुर, महाधैर्य-वान् कृष्ण स्नेहयुक्त गम्भीरवाणी से इसप्रकार कहने लगे, कि हे-राजन् ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, यह तीनों स्नातक होसकते हैं, सो तुम हमें स्नातकब्राह्मण समझो ॥

विशेषनियमाश्चैषामविशेषाश्च सन्त्युत ।
विशेषवांश्च सततं क्षात्रियः श्रियमृच्छति ॥२७॥
क्षत्रियो बाहुवीर्यस्तु न तथा वाक्यवीर्यवान् ।
तद्दिदृक्षसि चेद्राजन् द्रष्टास्यद्य न संशयः ॥२८॥

अर्थ—इन तीनो स्नातकवर्णों के विशेष और साधारण नियम हैं, इनमें विशेष नियमों का पालन करने वाला क्षत्रिय सदा लक्ष्मी को प्राप्त करता है, क्षात्रिय के भुजाओं में पराक्रम रहता है नकि बचनों में, सो हे राजन् ! यदि तुम उस पराक्रम को देखना चाहते हो, तो आज देख लोगे, इस में सन्देह नहीं ॥

अद्वारेण रिपोर्गेहं द्वारेण सुहृदो गृहान् ।
प्रविशन्ति नरा धीरा द्वाराण्येतानि धर्मतः ॥२९॥
कार्यवन्तो गृहान्येत्य शत्रुतो नार्हणां वयम् ।
प्रतिगृह्णीम तद्विद्धि एतन्नःशाश्वतं व्रतम् ॥३०॥

अर्थ–हे राजन् ! धीर पुरुष, शत्रु के घरमें द्वारमार्ग से नहीं घुसते, किन्तु अन्य मार्ग बनाकर प्रविष्ट होते हैं, और मित्र के घरमें द्वार मार्ग से प्रविष्ट होते हैं, यही धर्मानुकूल द्वार कहाते हैं, हे राजन् ! हम शत्रुओं के घर में किसी अन्य प्रयोजन से आकर शत्रुके पूजनसत्कार को ग्रहण नहीं करते हैं यह आप हमारा सदा का व्रत समझिये ॥

इति नवमोऽध्यायः समाप्तः

अथ दशमोऽध्यायः प्रारभ्यते

जरासन्ध उवाच

न स्मराभि कदा वैरं कृतं युष्माभिरित्युत ।
चिन्तयंश्च न पश्यामि भवतां प्रति वैकृतम् ॥१॥
वैकृते वाऽसाति कथं मन्यध्वं मामनागसम् ।
अरिं वै ब्रूत हे विप्राः सतां समय एष हि ॥२॥

अर्थ–जरासन्ध बोला कि हे ब्राह्मणो ! मुझे स्मरण नहीं है कि मैंने तुम लोगों के साथ कब वैर किया था, और ना ही मुझे यह स्मरण आता है कि मैंने आप लोगों का कुछ भी विगाड़ किया है जब मैं ने तुमलोगों का कोई भी अपकार नहीं किया, तो तुम मुझ निरपराध को क्यों शत्रु मानते और कहते हो ? हे विप्रो ! क्या सत्पुरुषों का यही नियम है ? ॥

अर्थधर्मोपघाताद्धि मनः समुपतप्यते ।
योऽनागसि प्रसजति क्षत्रियो हि न संशयः ॥३॥

त्रैलोक्ये क्षत्रधर्मो हि श्रेयान्वै साधुचारिणाम् ।
नान्यं धर्मं प्रशंसन्ति ये च धर्मविदो जनाः ॥४॥
तस्य मेऽद्य स्थितस्येह स्वधर्मे नियतात्मनः ।
अनागसं प्रजानां च प्रमादादिव जल्पथ ॥५॥

अर्थ–जो क्षत्रिय निरपराध पर अत्याचार करता है उसके अर्थ और धर्म का नाश होजाता तथा वह पीछे मनमें सन्ताप करता है इस में सन्देह नहीं, धर्मज्ञ पुरुष, सदाचारियों के लिये क्षत्रिय-धर्म अर्थात् राजनीति को ही तीनों लोकों में श्रेष्ठ धर्म बताते हैं अन्य धर्म को नहीं, सो मैं उस स्वकीय क्षत्रियधर्म में दृढ़रूप से स्थिर तथा प्रजाओं पर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं करता हूं, तो भी तुम मेरे विषय में अज्ञान से उक्त बातें कह रहे हो ॥

कृष्ण उवाच

कुलकार्यं महाबाहो कश्चिदेकः कुलोद्वहः ।
वहते यस्तन्नियोगाद्वयमभ्युद्यतास्त्वयि ॥६॥
त्वया चोपहृता राजन् क्षत्रिया लोकवासिनः ।
तदागः क्रूरमुत्पाद्य मन्यसे किमनागसम् ॥७॥

अर्थ–कृष्ण जी बोले कि हे महाबाहु ! कुल अर्थात् जाति के निमित्त, कोई एक विरला ही कुलभूषणपुरुष कर्तव्यभार को धारण करता है, उसी कर्तव्य को लक्ष्य करके हम ने तुम पर आक्रमण किया है, तात्पर्य यह है कि यद्यपि तुमने हमारा निज का कोई विगाड़ नहीं किया, परन्तु तुम ने जातिद्रोह किया है, इसी का प्रत्युपाय करने केलिये हमलोग तुम्हारे साथ युद्ध करने

को उद्यत हुए हैं, हे राजन् ! तुम ने स्वदेशवासी क्षत्रियों को काट २ कर अपने कल्पितदेवता के निमित्त बलिदान = कुर्बान किया है, सो इस महाघोरपाप को करके भी अपने आपको निरपराध कैसे समझते हो ? ॥

राजा राज्ञः कथं साधून् हिंस्यान्नृपतिसत्तम ।
तद्राज्ञः सन्निगृह्य त्वं रुद्रायोपजिहीर्षसि ॥८॥
अस्मांस्तदेनोपगच्छेत् कृतं बार्हद्रथ त्वया ।
वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्मचारिणः ॥९॥

अर्थ—हे महाराज ! राजा के लिये यह किस प्रकार उचित हो सकता है कि वह सत्पुरुषराजाओं को मारे, परन्तु तुम राजाओं को पकड़ २ कर शिव की मूर्त्ति के आगे बलिदेने की चेष्टा करते हो, हे बृहद्रथ के पुत्र जरासन्ध ! यह तुम्हारा किया हुआ पाप हमें भी लगता है, क्योंकि हम धर्मचारी वीरक्षत्रिय धर्म की रक्षा करने में समर्थ हैं, तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य पापिओं को पाप से हटाने में समर्थ हैं उन्हे उचित है कि पापिओं को दण्ड देकर धर्म की रक्षा करें, यदि वह ऐसा नहीं करते तो उस पापी का किया हुआ पाप उन्हें भी लगता है ॥

मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कदाचन ।
स कथं मानुषैर्देवं यष्टुमिच्छसि शङ्करम् ॥१०॥
सवर्णो हि सवर्णानां पशुसंज्ञां करिष्यसि ।
कोऽन्य एवं यथा हि त्वं जरासन्ध वृथामतिः ॥११॥

अर्थ—हे जरासन्ध ! यह बात कभी नहीं देखी गई कि मनुष्यों

का बलिदान किया जाय, परन्तु तू मनुष्यों की बलिद्वारा कैसे अपने रुद्रदेवता की पूजा करना चाहता है, हे जरासन्ध ! तू अपनी जाति के क्षत्रियों का "पशु" नाम रखकर उनकी बलि देता है तो तू भी उसी जाति का होने से पशु ही रहा, भला तुझ जैसा वृथाबुद्धि और कौन होगा ॥

यस्यां यस्यामवस्थायां यद्यत् कर्म करोति यः ।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत्फलं समवाप्नुयात् ॥१२॥
ते त्वां ज्ञातिक्षयकरं वयमार्त्तानुसारिणः ।
ज्ञातिवृद्धिनिमित्तार्थं विनिहन्तुमिहागताः ॥१३॥

अर्थ—मनुष्य जिस २ दशा में जैसा २ उपकार वा अपकार करता है वह स्वयं उस २ दशा में होकर अपने उस २ कर्म का फल प्राप्त करता है, तात्पर्य यह है कि तू राजाओं को पशुओं की भांति काट २ कर बलि देता है सो इसलिये तू भी पशु की भांति ही काटा जावेगा, हम लोग जो दुःखी पुरुषों के सहायक हैं अपनी जाति उन्नति के निमित्त, तुझ जाती का नाश करने वाले पापी को मारने के लिये यहां आये हैं, और :—

नास्ति लोके पुमानन्यः क्षत्रियेष्विति चैव तत् ।
मन्यसे सच ते राजन् सुमहान् बुद्धिविप्लवः ॥१४॥
को हि जानन्नभिजनमात्मवान् क्षत्रियो नृप ।
नाविशेत स्वर्गमतुलं रणानन्तरमव्ययम् ॥१५॥
स्वर्गं ह्येव समास्थाय रणयज्ञेषु दीक्षिताः ।
जयन्ति क्षत्रियालोकांस्तद्विद्धि मनुजर्षभ ॥१६॥

अर्थ–हे राजन् ! तू जो समझता है कि क्षत्रियों में मेरे समान अन्य कोई वीर नहीं सो तेरी बुद्धि में भारी भ्रम है, कौन ऐसा धीरवीर क्षत्रिय राजा है जो अपनी कुलीनता का विचार करता हुआ भी तुझ जैसों के साथ युद्ध करके चिरस्थायी अनुपम स्वर्ग सुख को प्राप्त न हो, हे महात्मन् ! स्वर्ग अर्थात् सुख को लक्ष्य करके ही क्षत्रियवीर संग्रामयज्ञ की दीक्षा लेकर देशदेशान्तरों पर विजय पाते हैं, सो तू इस बात पर ध्यान दे ॥

स्वर्गयोनिर्महद्ब्रह्म स्वर्गयोनिर्महद्यशः ।
स्वर्गयोनिस्तपो युद्धे मृत्युः सोऽव्यभिचारवान् ।
स्वर्गमार्गाय कस्य स्याद्विग्रहो वै यथा तव ॥१७॥

अर्थ–हे राजन् ! यह महती वेदविद्या, बड़ायश, तप और युद्ध में होने वाली मृत्यु, यह सब कार्य स्वर्ग की प्राप्ति के साधन हैं, इनके होने पर स्वर्ग की प्राप्ति होना आवश्यक है, और हे राजन् ! जैसा तेरे साथ युद्ध करना स्वर्ग का साधन है वैसा अन्य किसके साथ होगा ॥

मागधैर्विपुलैःसैन्यैः बाहुल्यबलदर्पितः ।
मावमंस्थाः परान्राजन्नस्ति वीर्यं नरे नरे ।
समं तेजस्त्वया चैव विशिष्टं वा नरेश्वर ॥१८॥
यावदेतदसंबुद्धं तावदेव भवेत्तव ।

विषह्यमेतदस्माकमतो राजन् ब्रवीमि ते ॥१९॥

अर्थ–हे राजन् ! तू मगधवासी भारी सेनाओं की अधिकता के बल पर घमंड करके दूसरों का अपमान मत कर, क्योंकि

मनुष्य २ में तेरे समान वा तुझ से भी अधिक बल दृष्टिगोचर होता है, परन्तु तुम इस बात को जब तक नहीं जानते हो, तब तक ही तुम अपना बल सबसे अधिक मान रहे हो, हे राजन् ! हमें तुम्हारा यह वर्त्ताव सहन नहीं हो सकता, इसीलिये तुम से हम यह हित की बात कहते हैं कि :—

जहि त्वं सदृशेष्वेव मानं दर्पं च मागध ।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥२०॥
युयुक्षमाणास्त्वत्तो हि न वयं ब्राह्मणा ध्रुवम् ।
शौरिरस्मि हृषीकेशो नृवीरौ पाण्डवाविमौ ॥२१॥
त्वामाह्वयामहे राजन् स्थिरो युध्यस्व मागध ।
मुञ्च वा नृपतीन् सर्वान् गच्छ वा त्वं यमक्षयम्॥२२॥

अर्थ—हे जरासन्ध ! तुम्हें अपने समान प्रतिष्ठा वाले पुरुषों के साथ तो अभिमान तथा घमंड न करना ही उचित है, तुम अपने पुत्र, मन्त्री और सेनासमेत मृत्यु के घरको मत जाओ, हे राजन् ! हमलोग तुम से युद्ध करना चाहते हैं, सो तुम यह निश्चय समझो कि हम ब्राह्मण नहीं हैं, किन्तु मैं शूरसेन की सन्तान कृष्ण हूं, और ये दोनों वीरपुरुष पाण्डु के पुत्र हैं, हे जरासन्ध राजन् ! हम तुम्हें आह्वान करते हैं कि तुम हमारे सामने दृढ़ता के साथ स्थिर होकर युद्ध करो, अथवा तुम सब क़ैदी राजाओं को छोड़ दो, अन्यथा स्वयम् मौत के मुख में जाओ ॥

जरासन्ध उवाच

नाजितान् वै नरपतीनहमादद्मि कांश्चन ।
अजितः पर्यवस्थाता कोऽत्र यो न मया जितः॥२३॥

क्षत्रियस्यैतदेवाहुर्धर्म्यं कृष्णोपजीवनम् ।
विक्रम्य वशमानीय कामतो यत्समाचरेत् ॥२४॥

अर्थ—जरासन्ध बोला कि हे कृष्ण ! मैं विना विजय किये किसी राजा को नहीं पकड़ता, ऐसा कौन क्षत्रिय है जिसको मैंने जीता न हो और वह यहां ठहर सकता हो, क्षत्रिय का जीवनरूप यही धर्म कहा गया है, कि वह अपने पराक्रम से अन्य क्षत्रियों को वश में लाकर उनके साथ चाहे जैसा वर्ताव करे ॥

देवतार्थमुपाहृत्य राज्ञः कृष्ण कथं भयात् ।
अहमद्य विमुच्येयं क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ॥२५॥
सैन्यं सैन्येन व्यूढेन एक एकेन वा पुनः ।
द्वाभ्यां त्रिभिर्वा योत्स्येहं युगपत् पृथगेव वा ॥२६॥

अर्थ—हे कृष्ण ! मैं कैदी राजाओं को अपने देवता के लिये वलिदान देने का संकल्प = प्रण कर चुका हूं, अब मैं अपने क्षात्रधर्म का स्मरण रखता हुआ तुम लोगों के भय से उन राजाओं को कैसे छोड़ सकता हूं, सो यदि तुम युद्ध करना चाहते हो तो तुम्हारी सेना के साथ अपनी नियमयन्त्रित सेना द्वारा युद्ध करूंगा अथवा यदि तुम में से एक, दो वा तीनों ही युद्ध करना चाहें, तो मैं अकेला ही तुम सब के साथ एकही वार वा एक २ के साथ युद्ध करूंगा ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा जरासन्धः सहदेवाभिषेचनम् ।
आज्ञापयत्तदा राजा युयुत्सुर्भीमकर्मभिः ॥२७॥

स तु सेनापतिं राजा सस्मार भरतर्षभ ।
कौशिकं चित्रसेनं च तस्मिन् युद्धे उपस्थिते ॥२८॥
ययोस्ते नामनी राजन् हंसेति डिम्भकेति ।
पूर्वं संकथितं पुंभिर्नृलोके लोकसत्कृते ॥२९॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे जनमेजय! जरासन्ध ने ऐसा कहकर भयानक उपायों द्वारा युद्ध करने की इच्छा से प्रथम अपने पुत्र सहदेव को राज्याभिषेक = राज्यतिलक देने की आज्ञा अर्थात् घोषणा कर दी, हे भरतकुल श्रेष्ठ राजन् ! उस युद्ध के अवसर पर राजा जरासन्ध अपने मृत सेनापतिओं अर्थात् कौशिक और चित्रसेन "जिनके मनुष्यलोक में आदरणीय नाम "हंस" और "डिम्भक" हम पहले बता चुके हैं" उनका स्मरण करने लगा ॥

ततस्तं निश्चितात्मानं युद्धाय यदुनन्दनः ।
उवाच वाग्मी राजानं जरासन्धमधोक्षजः ॥३०॥
त्रयाणां केन ते राजन् योद्धुमुत्सहते मनः ।
अस्मदन्यतमेनेह सज्जी भवतु को युधि ॥३१॥

अर्थ—हे राजा जनमेजय ! इसप्रकार राजा जरासन्ध के युद्ध निमित्त तैयार होजाने पर, बोलने में चतुर यदुवंशी कृष्ण उस से यह कहने लगे, कि हे राजन् ! हम में से किसके साथ युद्ध करने का तुम्हारे चित्त में उत्साह है ? अर्थात् हम तीनों में से कौन एकपुरुष तुम्हारे साथ युद्ध करनेके लिये तैयार होजावे ? ॥

एवमुक्तः स नृपतिर्युद्धं वव्रे महाद्युतिः ।
जरासन्धस्ततो राजा भीमसेनेन मागधः ॥३२॥

आदाय रोचनां माल्यं मङ्गल्यान्यपराणि च ।
धारयन्नगदान् मुख्यान् निर्वृतीर्वेदनानि च ।
उपतस्थे जरासन्धं युयुत्सुं वै पुरोहितः ॥३३॥

अर्थ—कृष्णजी के ऐसा कहने पर उस महातेजस्वी मगध-वंशी राजा जरासन्ध ने भीमसेन के साथ युद्ध करना स्वीकार किया, इसके अनन्तर जब जरासन्ध युद्ध की तैयारी करने लगा तब उसका पुरोहित समयानुकूल शिष्टाचार के अनुसार गोरोचन, फूल तथा अन्य मङ्गलीकवस्तुएं, मुख्य २ औषधिएं, और सुख तथा चैतन्य=होश में लाने के अन्यान्य साधन लिये हुए वहां आ पहुंचा ॥

कृतस्वस्त्ययनो राजा ब्राह्मणेन यशस्विना ।
समनह्यज्जरासन्धः क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥३४॥
अवमुच्य किरीटं स केशान् समनुगृह्य च ।
उदतिष्ठज्जरासन्धो वेलातिग इवार्णवः ॥३५॥

अर्थ—जब यशस्वी ब्राह्मण स्वस्तिवाचन आदि शिष्टाचार करचुका, तब जरासन्ध अपने क्षत्रियधर्म का स्मरण करता हुआ युद्ध के लिये तैयार होने लगा, और राजा जरासन्ध अपने मुकुट को उतार के बिखरे हुए बालों को संभालकर, भिन्नमर्यादा वाले समुद्र के समान बड़े वेग से युद्ध के लिये आखड़ा हुआ ॥

ततः सम्मन्त्र्य कृष्णेन कृतस्वस्त्ययनो बली ।
भीमसेनो जरासन्धमाससाद युयुत्सया ॥३६॥

ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुशस्त्रौ समीयतुः ।
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकांक्षिणौ ॥३७॥

अर्थ—तब बलवान् भीमसेन भी कृष्णजी के साथ कुछ गुप्त सलाह करके स्वस्तिवाचन आदि शिष्टाचार करने के पश्चात् युद्ध की इच्छा से जरासन्ध के सामने आगया, तब वह दोनों सिंह-पुरुष केवल भुजारूपी शस्त्रों वाले वीर परमहर्षयुक्त परस्पर एक दूसरे को विजय करने के इच्छुक हुए २ आपस में भिड़गये ॥

करग्रहणपूर्वं तु कृत्वा पादाभिवन्दनम् ।
कक्षैः कक्षां विधुन्वाना वास्फोटं तत्र चक्रतुः ॥३८॥
स्कन्धे दोर्भ्यां समाहत्य निहत्य मुहुर्मुहुः ।
अंगमंगैः समाश्लिष्य पुनरास्फालनं विभो ॥३९॥

अर्थ—उन्होंने नियमानुसार पहले हाथ से हाथ मिलाया, पश्चात् अपने २ गुरुओं को लक्ष्य करके प्रणाम किया, तदनन्तर कक्षा से कक्षा टकराकर पटापट शब्द किया, हे राजन् ! कन्धों पर भुजाओं से आघात करके बार २ एक दूसरे को धक्का देकर परस्पर प्रत्येक अङ्ग टकराते हुए पुनः उसी प्रकार अव्यक्त शब्द करने लगे ॥

चित्रहस्तादिकं कृत्वा कक्षाबन्धं च चक्रतुः ।
गलगण्डाभिघातेन सस्फुलिंगेन चाशनिम् ॥४०॥
बाहुपाशादिकं कृत्वा पादाहताशिरावुभौ ।
उरोहस्तं ततश्चक्रे पूर्णकुम्भौ प्रयुज्य तौ ॥४१॥

अर्थ—इसके पश्चात् उन दोनों ने " चित्रहस्त, कक्षाबन्ध "

ज्वालासहित वज्रपात के समान "गलगण्ड" तथा "बाहुपाश" आदि मल्लयुद्ध के प्रयोग करके पैरों द्वारा शिर को आघात पहुंचाते हुए "उरोहस्त" तथा "पूर्णकुम्भ" नामक प्रयोग किये ॥

करसम्पीडनं कृत्वा गर्जन्तौ वारणाविव ।
नर्दन्तौ मेघसङ्काशौ बाहुप्रहरणावुभौ ॥४२॥
तलेनाहन्यमानौ तु अन्योन्यं कृतवीक्षणौ ।
सिंहाविव सुसंक्रुद्धावाकृष्याकृष्य युध्यताम् ॥४३॥

अर्थ—केवल भुजारूपी शस्त्रों वाले वह दोनों वीर हाथियों के समान चिंघाड़ते तथा मेघ के सामान गर्जते हुए हाथ से हाथ दबाकर लात से एक दूसरे को मारते और परस्पर क्रोधयुक्त सिंह के समान घूर २ कर देखते हुए एक दूसरे को खैंच २ कर मल्लयुद्ध करने लगे ॥

सर्वातिक्रान्तमर्यादं पृष्ठभङ्गं च चक्रतुः ।
सम्पूर्णमूर्छां बाहुभ्यां पूर्णकुम्भं प्रचक्रतुः ॥४४॥
तृणपीडं यथाकामं पूर्णयोगं समुष्टिकम् ।
एवमादीनि युद्धानि प्रकुर्वन्तौ परस्परम् ॥४५॥

अर्थ—तदनन्तर वह दोनों सब मर्यादाओं को उल्लङ्घन करके "पृष्ठभङ्ग, संपूर्णमूर्छा" भुजाओं द्वारा "पूर्णकुम्भ, तृणपीड" तथा यथेष्टरूप से "पूर्णयोग" और "मुष्टिक" इत्यादि प्रयोग करते हुए परस्पर मल्लयुद्ध में रत होगये ॥

तयोर्युद्धं ततो द्रष्टुं समेताः पुरवासिनः ।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वणिजश्च सहस्रशः ॥४६॥

शूद्राश्च नरशार्दूल स्त्रियो वृद्धाश्च सर्वशः ।
निरन्तरमभूत्तत्र जनौघैरभिसंवृतम् ॥४७॥

अर्थ-हे नरशार्दूल राजन् ! उस समय उन दोनों का युद्ध देखने के लिये सहस्रों पुरवासी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्रियें और वृद्धपुरुष भी इतने एकत्रित हुए कि मनुष्यसमुदाय की भीड़ के कारण स्थान का अवकाश न रहा ॥

तयोरथ भुजाघातान्निग्रहप्रग्रहात्तथा ।
आसीत्सुभीमसंपातो वज्रपर्वतयोरिव ॥४८॥
उभौ परमसंहृष्टौ बलेन बलिनां वरौ ।
अन्योन्यस्यान्तरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ ॥४९॥
प्रकर्षणाकर्षणाभ्यामनुकर्षविकर्षणैः ।
आकर्षतुरन्योन्यं जानुभिश्चावजघ्नतुः ॥५०॥

अर्थ-उन दोनों के भुजाओं के आघात तथा एक दूसरे की धक्का मुक्की के कारण वज्र और पर्वत के पतन के समान शब्द होता था, वह दोनो बलवानों में श्रेष्ठ, परस्पर जीतने के इच्छुक, परम हर्षसम्पन्न एक दूसरे को गिराने का अवकाश चाहते हुए प्रकर्षण = दूर फेंकते, आकर्षण = नीचे गिराते, अनुकर्षण = अपनी ओर खेंचते और विकर्षण = तिरछा फेंकते हुए एक दूसरे को घुटनों द्वारा ठोकर लगाते थे ॥

ततः शब्देन महता भर्त्सयन्तौ परस्परम् ।
पाषाणसंघातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ॥ ५१ ॥

व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ ।
बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव ॥ ५२ ॥

अर्थ—तब वह दोनों ऊंचे शब्द द्वारा एक दूसरे को धिक्कारने और पत्थरों के समान कठोर मुक्कों से मारने पीटने लगे, विशाल छाती वाले मल्लयुद्ध में कुशल, महाबाहु वह दोनों वीर लोहे के हथौड़े के समान कठोर भुजाओं द्वारा मल्लयुद्ध में आसक्त होगये ॥

कार्त्तिकस्य तु मासस्य प्रवृत्तं प्रथमेऽहनि ।
अनाहारं दिवारात्रमविश्रान्तमवर्त्तत ॥ ५३ ॥
तद्वृत्तं तु त्रयोदश्यां समवेतं महात्मनोः ।
चतुर्दश्यां निशायां तु निवृत्तो मागधः क्लमात् ॥५४॥

अर्थ—उन दोनों महात्माओं का मल्लयुद्ध कार्त्तिकमास के प्रथम दिन अर्थात् प्रतिपदा से आरम्भ होकर दिनरात लगातार विना खाये पिये, त्रयोदशी तक उसी प्रकार प्रवृत्त रहा परन्तु चतुर्दशी अर्थात् चौदहवीं रात मगधराज जरासन्ध थककर युद्ध से निवृत्त होगया ॥

तं राजानं तथा क्लान्तं दृष्ट्वा राजन् जनार्दनः ।
उवाच भीमकर्माणं भीमं संबोधयन्निव ॥५५॥
क्लान्तः शत्रुर्न कौन्तेय लभ्यः पीडयितुं रणे ।
पीड्यमानो हि कार्त्स्न्येन जह्याज्जीवितमात्मनः॥५६॥

अर्थ—राजा जरासन्ध को इसप्रकार थका हुआ देखकर भयानककर्मकर्त्ता भीमसेन को संबोधन करके कृष्णजी यह

कहने लगे कि हे भीमसेन! युद्ध में थका हुआ शत्रु पीड़ा दिये जाने योग्य नहीं, क्योंकि पीड़ित होकर वह सर्वथा ही अपने प्राणों को त्याग सक्ता है ॥

तस्मात्ते नैव कौन्तेय पीडनीयो जनाधिपः।
सममेतेन युध्यस्व बाहुभ्यां भरतर्षभ ॥५७॥
एवमुक्तः स कृष्णेन पाण्डवः परवीरहा ।
जरासन्धस्य तद्रूपं ज्ञात्वा चक्रे मतिं बधे ॥५८॥
ततस्तमजितं जेतुं जरासन्धं वृकोदरः ।
संरम्भं बलिनां श्रेष्ठो जग्राह कुरुनन्दनः ॥५९॥

अर्थ—हे भरतकुलश्रेष्ठ कुन्ती के पुत्र भीमसेन! तुम इस राजा को पीड़ा मत दो, किन्तु समानभाव से भुजाओं द्वारा इसके साथ युद्ध करो, तब उस शत्रुघाती वीर भीमसेन ने कृष्णजी के ऐसा कहते ही "गुप्त संकेत द्वारा" जरासन्ध का वैसा रूप समझकर उसके बध करने का दृढ़ संकल्प किया, तब उस अजय जरासन्ध को जीतने के लिये बलवानों में श्रेष्ठ भीमसेन ने बड़े वेग से भयानक क्रोधरूप को धारण करलिया ॥

इति दशमोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकादशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्तदा कृष्णमुवाच यदुनन्दनम् ।
बुद्धिमास्थाय विपुलां जरासन्धवधेप्सया ॥१॥

नायं पापो मया कृष्ण युक्तः स्यादनुरोधितुम् ।
प्राणेन यदुशार्दूल बद्धकक्षेण वाससा ॥२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे जनमेजय! तब भीमसेन ने जरासन्ध को मारने की इच्छा से दृढ़ बुद्धि स्थिर करके यदुकुलनन्दन कृष्णजी को यह उत्तर दिया कि हे यदुकुलश्रेष्ठ कृष्ण! मैं इससमय कमर कसे हुए युद्ध में तत्पर हूं और इस पापी जरासन्ध को जीता नहीं छोडुंगा ॥

एवमुक्तस्ततः कृष्णः प्रत्युवाच वृकोदरम् ।
त्वरयन् पुरुषव्याघ्रो जरासन्धवधेप्सया ॥३॥
यत्ते दैवं परं सत्त्वं यच्च ते मातरिश्वनः ।
बलं भीम जरासन्धे दर्शयाशु तदद्य वै ॥४॥

अर्थ–भीमसेन के ऐसा कहने पर सिंहपुरुष कृष्ण जरासन्ध के बध के लिये शीघ्रता करते हुए इसप्रकार भीमसेन से फिर बोले कि हे भीमसेन! तुम में जो परम दिव्य पराक्रम और वायु के समान बल है सो आज तुम शीघ्र ही जरासन्ध पर उस अपने महाबल को अवश्य दिखाओ ॥

एवमुक्तस्तदा भीमो जरासन्धमरिन्दमः ।
उत्क्षिप्य भ्रामयामास बलवन्तं महाबलः ॥५॥
भ्रामयित्वा शतगुणं जानुभ्यां भरतर्षभ ।
बभञ्ज पृष्ठं संक्षिप्य निष्पिष्य विननाद च ।
करे गृहीत्वा चरणं द्वेधा चक्रे महाबलः ॥६॥

तस्य निष्पिष्यमाणस्य पाण्डवस्य च गर्जतः ।
अभवत्तुमुलो नादः सर्वप्राणिभयङ्करः ॥७॥

अर्थ–हे शत्रुविजयी राजा जनमेजय ! कृष्णजी के ऐसा कहते ही महाबली भीमसेन ने बलवान् जरासन्ध की टांगें पकड़ कर ऊपर उठाके सौवार घुमाया पश्चात् अधोमुख नीचे पटककर अपने घुटनों की चोट से उसकी कमर तोड़ डाली, पुनः पृथ्वी पर उसे रगड़कर गर्जने लगा, अन्त में महाबली भीमसेन ने उसकी एक टांग को अपने पांव से दबाया और दूसरी टांग को हाथ से ऊपर उठाके बीच से चीरकर उसके दो टुकड़े करडाले, जिससमय जरासन्ध को भीमसेन ने अपने घुटने से दबाया उस समय वह बड़ा भयानक शब्द करने लगा और इधर भीमसेन भी गर्जने लगा, एवं उन दोनों का किया हुआ घोर कोलाहल सब प्राणियों के लिये भयप्रद था ॥

ततो राज्ञः कुलद्वारि प्रसुप्तमिव तं नृपम् ।
रात्रौ गतासुमुत्सृज्य निश्चक्रमुररिन्दमाः ॥८॥
जरासन्धरथं कृष्णो योजयित्वा पताकिनम् ।
आरोप्य भ्रातरौ चैव मोक्षयामास बान्धवान् ॥९॥

अर्थ–तब वह शत्रुदमनकर्त्ता कृष्ण और पाण्डव राजा जरासन्ध के मृतशरीर को राजमहल के द्वार पर लिटाकर रात में ही उसे छोड़ बाहर आगये, तत्पश्चात् कृष्णजी ने जरासन्ध के ध्वजायुक्त रथ को जुतवाया, पुनः दोनों भाइयों सहित उस पर चढ़कर कैदी राजाओं के समीप गये और उन सब बन्धुओं का छुटकारा कर दिया ॥

ते वै रत्नभुजं कृष्णं रत्नार्हाः पृथिवीश्वराः ।
राजानश्चक्रुरासाद्य मोक्षिता महतो भयात् ॥१०॥
अक्षतः शस्त्रसंपन्नो जितारिः सह राजभिः ।
रथमास्थाय तं दिव्यं निर्जगाम गिरिव्रजात् ॥११॥

अर्थ–बड़े भारी भय से छुटकारा पाये हुए उन रत्नयोग्य राजाओं ने कृष्णजी के शरण आकर उनको बड़े २ रत्न भेट में दिये, इसप्रकार कृष्णजी स्वयं हानि न उठाके शत्रु को जीतकर शस्त्र धारण किये हुए उस दिव्य रथ पर चढ़ उन सब राजाओं को साथ लिये हुए पर्वतसमूह से अर्थात् जरासन्ध के देश से कुरुक्षेत्र जाने के लिये तैयार होगये ॥

यःससोदर्यवान्नाम द्वियोधी कृष्णसारथिः ।
अभ्यासघाती संदृश्यो दुर्जयः सर्वराजभिः ॥१२॥
भीमार्जुनाभ्यां योधाभ्यामास्थितः कृष्णसारथिः ।
शुशुभे रथवर्योऽसौ दुर्जयः सर्वधन्विभिः ॥१३॥

अर्थ–जरासन्ध का वह "सोदर्यवान्" नामक रथ जिस पर कृष्ण तथा पाण्डव चढ़े थे और दोनों हाथों से युद्ध करने वाले, समीप घात करने वाले, सुन्दररूपवान् तथा सब राजाओं और धनुर्धारियों से न जीते जाने वाले कृष्णजी उस रथपर सारथि बनकर बैठे तथा भीमसेन और अर्जुन यह दोनों योधा सवार हुए, इसप्रकार वह श्रेष्ठ रथ परम शोभायमान हुआ ॥

ततः कृष्णं महाबाहुं भ्रातृभ्यां सहितं तदा ।
रथस्थं मागधा दृष्ट्वा समपद्यन्त विस्मिताः ॥१४॥

हयैर्दिव्यैः समायुक्तो रथो वायुसमो जवे ।
अधिष्ठितः स शुशुभे कृष्णेनातीव भारत ॥१५॥
असङ्गो देवविहितस्तस्मिन्रथवरे ध्वजः ।
योजनाद्ददृशे श्रीमानिन्द्रायुधसमप्रभः ॥१६॥

अर्थ–उससमय महाबाहु कृष्ण को दोनों भाइयों अर्थात् पाण्डवों समेत रथपर बैठे हुए देखकर मगधदेशनिवासीलोग अचम्भित होगये, हे भारतीय राजन् ! दिव्य घोड़ों से युक्त वायु समान वेग वाला वह रथ कृष्णजी के बैठने से अत्यन्त सुहावना प्रतीत होता था, उस रथ पर जो देव = विद्वान् पुरुषों ने ध्वजा बनाई थी, वह रथ से न छूकर पृथक् ही उसपर स्थिर रहती हुई इन्द्रधनुष के समानप्रभा धारण किये हुए एक योजन = चारकोस की दूरी से ही सुशोभित दिखाई देती थी ॥

न स सज्जति वृक्षेषु शस्त्रैश्चापि न विध्यते ।
दिव्यो ध्वजवरो राजन् दृश्यते चेह मानुषैः ॥१७॥
तमास्थाय रथं दिव्यं पर्जन्यसमनिःस्वनम् ।
निर्ययौ पुरुषव्याघ्रः पाण्डवाभ्यां सहाच्युतः ॥१८॥

अर्थ–हे राजन् ! वह ध्वजा इसप्रकार की विचित्र बनाई गई थी कि न तो वह वृक्षों में ही अटकती और नाही शस्त्रों से विंध सकती थी किन्तु मनुष्यों को केवल दिव्यरूप श्रेष्ठध्वजा दिखाई अवश्य देती थीं, वज्र के समान ध्वनि करने वाले उस दिव्य रथ पर बैठकर अच्युत = अपने कर्तव्य से विचलित न होने वाले सिंहपुरुष कृष्णजी पाण्डवों समेत वहां से चल दिये ॥

स निर्याय महाबाहुः पुण्डरीकेक्षणस्ततः ।
गिरिब्रजाद्बहिस्तस्थौ समदेशे महायशाः ॥१९॥
तत्रैनं नागराः सर्वे सत्कारेणाभ्ययुस्तदा ।
ब्राह्मणप्रमुखा राजन् विधिदृष्टेन कर्मणा ॥२०॥

अर्थ–तब महाबाहु, महाप्रतापी, कमलनेत्र कृष्णजी पर्वतों की ऊंची नीची भूमी से निकलके समधरातलस्थान में पहुंचकर शान्तिपूर्वक ठहरगये, हे राजन् ! नगरवासीब्राह्मण आदि चारो वर्णों के मनुष्य विधि = शिष्टाचार के अनुसार कृष्णजी का सत्कार करने केलिये उस स्थान पर एकत्रित हुए, और :—

बन्धनाद्विप्रमुक्ताश्च राजानो मधुसूदनम् ।
पूजयामासुरूचुश्च स्तुतिपूर्वमिदं वचः ॥२१॥
नतच्चित्रं महाबाहो त्वयि देवकिनन्दने ।
भीमार्जुनबलोपेते धर्मस्य प्रतिपालनम् ॥२२॥
जरासन्धह्रदे घोरे दुःखपङ्के निमज्जताम् ।
राज्ञां समभ्युद्धरणं यदिदं कृतमद्य वै ॥२३॥

अर्थ–जिन राजाओं का कृष्णजी ने छुटकारा किया था वह लोग भी मधुराक्षस का नाश करने वाले कृष्णजी का सत्कार करके स्तुतिपूर्वक यह वचन बोले कि हे महाबाहु देवकीपुत्र कृष्ण ! आपके लिये यह आश्चर्य की बात नहीं कि आप भीमसेन और अर्जुन के बल से युक्त होकर धर्म की रक्षा करें, जैसाकि आपने आज दुःखरूपी कीचड़ से पूर्ण जरासन्धरूपी भयंकर तालाव में डूबते हुए हम सब राजा लोगों का उद्धार किया है ॥

विषणो समवसन्नानां गिरिदुर्गे सुदारुणे ।
दिष्ट्या मोक्षाद्यशोदीप्तमाप्तं ते यदुनन्दन ॥२४॥
किं कुर्मः पुरुषव्याघ्र शाधि नः प्रणतिस्थितान् ।
कृतमित्येव तद्विद्धि नृपैर्यद्यपि दुष्करम् ॥२५॥

अर्थ–हे यदुकुलश्रेष्ठ कृष्ण ! अहोभाग्य है कि पर्वत के भयानक दुर्ग में क़ैद हुए २ दुःखग्रस्त हमलोगों का छुटकारा करके आपने प्रदीप्यमान यश प्राप्त किया, हे पुरुषसिंह ! अब आप कृपाकरके हम सब आज्ञाकारियों को आज्ञा दीजिये कि हम-लोग इसके प्रत्युपकार में आपकी क्या सेवा करें? चाहे वह कार्य कठिन से कठिन भी हो परन्तु आप हम राजा लोगों से वह किया हुआ ही समझिये ॥

तानुवाच हृषीकेशः समाश्वास्य महामनाः ।
युधिष्ठिरो राजसूयं क्रतुमाहर्तुमिच्छति ॥२६॥
तस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
सर्वैर्भवद्भिर्विज्ञाय साहाय्यं क्रियतामिति ॥२७॥

अर्थ–महाधैर्यवान् जितेन्द्रिय कृष्णजी उन सब राजाओं को धैर्य देकर बोले कि राजा युधिष्ठिर राजसूययज्ञ करना चाहते हैं सो उस धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर को चक्रवर्ती राजा बनाने में आप सब लोगों को सहायता करना उचित है ॥

ततः सुप्रीतमनसस्ते नृपा नृपसत्तम ।
तथेत्येवाब्रुवन् सर्वे प्रतिगृह्यास्य तां गिरम् ॥२८॥

रत्नभाजश्च दाशार्ह चक्रुस्ते पृथिवीश्वराः ।
कृच्छ्राज्जग्राह गोविन्दस्तेषां तदनुकम्पया ॥२९॥

अर्थ—हे राजोत्तम जनमेजय ! तब वह सब राजा लोग प्रसन्न चित्त से कृष्णजी की उस बात को स्वीकार करके बोले कि "बहुत अच्छा" इसके पश्चात् उन राजाओं ने गोरक्षक कृष्णजी को बड़े २ रत्न भेट किये और कृष्णजी ने बड़े आग्रहपूर्वक उन राजाओं को प्रसन्न करने के लिये उनकी भेटें लीं ॥

जरासन्धात्मजश्चैव सहदेवो महामनाः ।
निर्ययौ सजनामात्यः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ॥३०॥
स नीचैः प्रणतो भूत्वा बहुरत्नपुरोगमः ।
सहदेवो नृणां देवं वासुदेवमुपस्थितः ॥३१॥

अर्थ—तब जरासन्ध का पुत्र महाचेता सहदेव भी अपने पुरोहित को आगे करके भाई बन्धुओं तथा मन्त्रियों समेत कृष्णजी के समीप गया और वह बहुत से रत्नों की भेटें आगे किये हुए अत्यन्त नम्रतापूर्वक मनुष्यों में देवता कृष्णजी की सेवा में आ उपस्थित हुआ ॥

भयार्त्ताय ततस्तस्मै कृष्णो दत्त्वाभयं तदा ।
आददेऽस्य महार्हाणि रत्नानि पुरुषोत्तमः ॥३२॥
अभ्यषिञ्चत तत्रैव जरासन्धात्मजं मुदा ।
गत्वैकत्वं च कृष्णेन पार्थाभ्यां चैव सत्कृतः ॥३३॥
विवेश राजा द्युतिमान् वार्हद्रथपुरं नृप ।
अभिषिक्तो महाबाहुर्जरासन्धिर्महात्मभिः ॥३४॥

अर्थ–तत्र पुरुषोत्तम कृष्णजी ने उस शरणागत आये हुए भयभीत राजकुमार को अभयदान देकर उसकी उत्तमोत्तम रत्नों की भेंट स्वीकार कीं तथा कृष्णजी ने जरासन्ध के पुत्र सहदेव को उसी स्थान में प्रसन्नतापूर्वक मगधदेश का राज्याभिषेक=राज्यतिलक दिया, तत्पश्चात् वह महाबाहु तेजस्वी राजा सहदेव कृष्णजी और पाण्डवों के साथ मेल करके उनसे सत्कार पाया हुआ जरासन्ध के नगर अर्थात् मगध की राजधानी में प्रविष्ट हुआ और वहां पर शिष्टाचार के अनुसार अन्य महात्माओं ने उसको विधिवत् राज्याभिषेक दिया ॥

कृष्णस्तु सह पार्थाभ्यां श्रिया परमया युतः ।
रत्नान्यादाय भूरीणि प्रययौ पुरुषर्षभः ॥३५॥
इन्द्रप्रस्थमुपागम्य पाण्डवाभ्यां सहाच्युतः ।
समेत्य धर्मराजानं प्रीयमाणोऽभ्यभाषत ॥३६॥

अर्थ–तदनन्तर श्रेष्ठपुरुष कृष्णजी भी असंख्य रत्नों को ग्रहण करके परम लक्ष्मी सहित दोनों पाण्डवों को साथ लिये हुए इन्द्रप्रस्थ को चले गये, पश्चात् इन्द्रप्रस्थ में पहुंच दोनो पाण्डवों समेत धर्मराज युधिष्ठिर के समीप जाकर प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार बोले कि :—

दिष्ट्या भीमेन बलवान् जरासन्धो निपातितः ।
राजानो मोक्षिताश्चैव बन्धनान्नृपसत्तम ॥३७॥
दिष्ट्या कुशलिनौ चेमौ भीमसेनधनञ्जयौ ।
पुनः स्वनगरं प्राप्तावक्षताविति भारत ॥३८॥

अर्थ–हे भारतीय राजन् युधिष्ठिर! तुम्हें वधाई है कि तुम्हारा बलवान् शत्रु राजा जरासन्ध भीमसेन से मारा गया और कैद से राजा लोग छूट गये तथा यह दोनों भीमसेन और अर्जुन विना कुछ हानि उठाये कुशलपूर्वक फिर अपने नगर में लौट आये॥

ततो युधिष्ठिरः कृष्णं पूजयित्वा यथार्हतः।
भीमसेनार्जुनौ चैव प्रहृष्टः परिषस्वजे ॥३९॥
ततः क्षीणे जरासन्धे भ्रातृभ्यां विहितं जयम्।
अजातशत्रुरासाद्य मुमुदे भ्रातृभिः सह ॥४०॥

अर्थ–इसके अनन्तर युधिष्ठिर ने विधिपूर्वक कृष्णजी का पूजन करके भीमसेन तथा अर्जुन को बड़े हर्ष के साथ आलिङ्गन किया, इस प्रकार जरासन्ध के नष्ट होजाने पर अपने भाइयों द्वारा मगधदेश पर विजय पाकर युधिष्ठिर ने सब भाइयों समेत आनन्द मनाया॥

यथावयः समागम्य भ्रातृभिः सह पाण्डवः।
सत्कृत्य पूजयित्वा च विससर्ज नराधिपान् ॥४१॥
युधिष्ठिराभ्यनुज्ञातास्ते नृपा हृष्टमानसाः।
जग्मुः स्वदेशांस्त्वरिता यानैरुच्चावचैस्ततः ॥४२॥

अर्थ–तदनन्तर भाइयों समेत युधिष्ठिर कैद से छूटे हुए राजा लोगों के साथ उनकी आयु के अनुसार अभिवादन, आलिङ्गन वा आशीर्वाद की रीति से मिले, पश्चात् उन सब राजाओं का यथोचित सत्कार करके उनको विदा किया, युधिष्ठिर की अनुमति पाकर वह सब राजा लोग प्रसन्नचित्त हुए २ विविध प्रकार की सवारियों द्वारा शीघ्र ही अपने २ देश को चले गये॥

एवं पुरुषशार्दूलो महाबुद्धिर्जनार्दनः ।
पाण्डवैर्घातयामास जरासन्धमरिं तदा ॥४३॥
घातयित्वा जरासन्धं बुद्धिपूर्वमरिन्दमः ।
धर्मराजमनुज्ञाप्य पृथां कृष्णां च भारत ।
धौम्यमामन्त्रयित्वा च प्रययौ स्वां पुरीं प्रति ॥४४॥

अर्थ–इस प्रकार सिंहपुरुष महाबुद्धिमान् कृष्णजी ने पाण्डवों द्वारा अपने शत्रु जरासन्ध को मरवा दिया, हे भारतीय राजन् ! शत्रुदमनकर्ता कृष्णजी बुद्धि के बल से जरासन्ध को मरवाकर पश्चात् धर्मराज युधिष्ठिर अपनी बुआ कुन्ती तथा द्रौपदी और पाण्डवों के पुरोहित धौम्य, इन सब से अनुमति लेकर अपनी नगरी द्वारका को चले गये ॥

ततो गते भगवति कृष्णे देवकिनन्दने ।
जयं लब्ध्वा सुविपुलं राज्ञां दत्त्वाभयं तदा ॥४५॥
संवर्द्धितं यशोभूयः कर्मणा तेन भारत ।
द्रौपद्याः पाण्डवा राजन् परां प्रीतिमवर्द्धयन् ॥४६॥
तस्मिन् काले तु यद्युक्तं धर्मकामार्थसंहितम् ।
तद्राजा धर्मतश्चक्रे प्रजापालनकीर्त्तनम् ॥४७॥

अर्थ–हे भारतीय राजन् ! तब देवकीपुत्र भगवान् कृष्णजी के चले जाने पर पाण्डव लोग बड़ी भारी विजय को पाकर और सब राजाओं को अभयदान देकर उस कर्मद्वारा अधिकाधिक यश बढ़ाते गये और इसप्रकार स्वयं आनन्द भोगते हुए अपनी भार्या

द्रौपदी की प्रसन्नता को भी उन्नत करते गये, उस समय राजा युधिष्ठिर धर्म, काम और अर्थ के साथ २ यथायोग्य प्रजा की रक्षा धर्मपूर्वक करने लगे ॥

अर्जुन उवाच

धनुरस्त्रं शरावीर्यं पक्षोभूमिर्यशो बलम् ।
प्राप्तमेतन्मया राजन् दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ॥४८॥
तत्र कृत्यमहं मन्ये कोषस्य परिवर्द्धनम् ।
करमाहारयिष्यामि राज्ञः सर्वान्नृपोत्तम ॥४९॥

अर्थ—तब कुछ काल बीतने के अनन्तर एक समय अर्जुन युधिष्ठिर के प्रति कहने लगे कि हे राजन् ! मेरा महापराक्रमी धनुष और अस्त्र मेरा पक्ष अर्थात् सहायक है इनकी ही सहायता से मैंने भूमि, यश, बल वा सेना आदि दुर्लभ से दुर्लभ जो वस्तु चाही सो पाई, सो अब मैं अपना यह कर्तव्य समझता हूं कि कोष=ख़ज़ाने की बढ़ती कीजाय, हे महाराज ! इस आवश्यकता को पूर्ण करने के लिये मैं सब राजाओं को विजय करके उन पर कर नियत करूंगा ॥

वैशम्पायन उवाच

धनञ्जयवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
स्निग्धगम्भीरनादिन्या तं गिरा प्रत्यभाषत ॥५०॥
स्वस्तिवाच्यार्हतो विप्रान् प्रयाहि भरतर्षभ।
दुर्हृदामप्रहर्षाय सुहृदां नन्दनाय च ।
विजयस्ते ध्रुवं पार्थ प्रियं काममवाप्स्यसि ॥५१॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे जनमेजय ! अर्जुन का उक्त वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर स्नेह तथा गम्भीरतायुक्त वाणी द्वारा बोले कि हे भरतकुलश्रेष्ठ ! तुम योग्य विप्रलोगों से स्वस्तिवाचन तथा शिष्टाचार की रीति कराकर शत्रुओं को पीड़ित तथा मित्रों को आनन्दित करने के लिये जाओ, हे अर्जुन ! तुम्हें अवश्य विजय की प्राप्ति होकर तुम्हारा अभीष्ट मनोरथ पूर्ण होगा ॥

इत्युक्तः प्रययौ पार्थः सैन्येन महतावृतः ।
तथैव भीमसेनोऽपि यमौ च पुरुषर्षभौ ।
ससैन्याः प्रययुः सर्वे धर्मराजेन पूजिताः ॥५२॥

अर्थ–युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर अर्जुन बड़ी भारी सेना लिये हुए चल दिया, इसीप्रकार भीमसेन, दोनों जोड़ले भाई अर्थात् श्रेष्ठपुरुष नकुल और सहदेव भी युधिष्ठिर से सत्कार पाकर अपनी सेनायें लेकर चले गये ॥

दिशं धनपतेरिष्टामजयत् पाकशासनिः ।
भीमसेनस्तथा प्राचीं सहदेवस्तु दक्षिणाम् ।
प्रतीचीं नकुलो राजन् दिशं व्यजयतास्त्रवित् ॥५३॥
खाण्डवप्रस्थमध्यस्थो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
आसीत् परमया लक्ष्म्या सुहृद्गणवृतः प्रभुः ॥५४॥

अर्थ–अर्जुन ने कुबेर की प्रिय उत्तरदिशा को विजय किया, अस्त्रवेत्ता भीमसेन ने पूर्वदिशा को, सहदेव ने दक्षिणदिशा को और नकुल ने पश्चिमदिशा को विजय किया, हे राजन ! इसप्रकार

प्रभावशाली धर्मराज युधिष्ठिर अपने बन्धुओं समेत इन्द्रप्रस्थ में बैठे हुए ही परम संपत्तिसम्पन्न होगये ॥

इति एकादशोऽध्यायः समाप्तः

अथ द्वादशोऽध्यायः प्रारभ्यते

जनमेजय उवाच

दिशामभिजयं ब्रह्मन् विस्तरेणानुकीर्त्तय ।
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥ १ ॥

अर्थ–जनमेजय ने कहा कि हे विप्र वैशम्पायन! आप इनके दिग्विजय की कथा कृपाकरके विस्तारपूर्वक वर्णन करें, क्योंकि अपने पूर्वपुरुषाओं का महान्जीवनचरित्र सुनने से मेरी तृप्ति नहीं होती ॥

वैशम्पायन उवाच

धनञ्जयस्य वक्ष्यामि विजयं पूर्वमेव ते ।
यौगपद्येन पार्थैर्हि निर्जितेयं वसुन्धरा ॥२॥
पूर्वं कुलिन्दविषये वशे चक्रे महीपतीन् ।
धनञ्जयो महाबाहुर्नातितीव्रेण कर्मणा ॥३॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे जनमेजय ! मैं प्रथम अर्जुन के उत्तरदिग्विजय का वर्णन करता हूं, क्योंकि चारो पाण्डवों ने एक ही समय में एक २ दिशा जीतकर सारी पृथ्वी को विजय किया था और महाबाहु अर्जुन ने सबसे पहले कुलिन्द प्रदेश के सब राजाओं को सहज ही में वश कर लिया था ॥

आनर्त्तान् कालकूटांश्च कुलिन्दांश्च विजित्य सः ।
सुमण्डलं चावजितं कृतवान् सहसैनिकम् ॥ ४ ॥
स तेन सहितो राजन् सव्यसाची परन्तपः ।
विजिग्ये शाकलं द्वीपं प्रतिविन्ध्यं च पार्थिवम् ॥५॥

अर्थ–इस प्रकार नर्त्त और कालकूटदेश तक कुलिन्द-प्रदेश के सब राजाओं को जीतकर सेना समेत "सुमण्डल" राजा को भी अपने अधीन कर लिया, हे राजन् ! तब शत्रुसंतापकारी अर्जुन ने उस विजित राजा सुमण्डल को अपना साथी बना लिया, पुनः दोनों ने मिलकर "शाकलद्वीप" तथा वहां के राजा "प्रतिविन्ध्य" को भी पराजित किया ॥

शाकलद्वीपवासाश्च सप्तद्वीपेषु ये नृपाः ।
अर्जुनस्य च सैन्यैस्तैर्विग्रहस्तुमुलोऽभवत् ॥ ६ ॥
स तानपि महेष्वासान् विजिग्ये भरतर्षभ ।
तैरेव सहितः सर्वैः प्राग्ज्योतिषमुपाद्रवन् ॥ ७ ॥

अर्थ–शाकलद्वीप के निवासी जो कि अन्य सातद्वीपों में वास करते थे वह सब युद्ध के लिये इकट्ठे हुए और अर्जुन की सेनाओं के साथ उनका घोर संग्राम हुआ, हे भरतकुल श्रेष्ठ-राजन् ! वीर अर्जुन ने उन सब महाधनुर्धारी राजाओं को भी विजय करलिया और उन सबको सहायकरूप में अपने साथ लेकर "प्राग्ज्योतिष"=कामरूप देश पर चढ़ाई की ॥

तत्र राजा महानासीद् भगदत्तो विशाम्पते ।
तेनासीत् सुमहद्युद्धं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ८ ॥

स किरातैश्च चीनैश्च वृतः प्राग्ज्योतिषोऽभवत् ।
अन्यैश्च बहुभिर्योधैः सागरानूपवासिभिः ॥९॥
ततः स दिवसानष्टौ योधयित्वा धनञ्जयम् ।
प्रहसन्नब्रवीद्राजा संग्रामविगतक्लमम् ॥१०॥

अर्थ–हे राजन् ! वहां प्राग्ज्योतिषप्रदेश में "भगदत्त" नामक एक बड़ा राजा राज्य करता था उसके साथ महात्मा अर्जुन का महासंग्राम हुआ प्राग्ज्योतिषाधिपति राजा भगदत्त के उस युद्ध में किरात, चीन तथा समुद्र के आस पास रहने वाले अन्य बहुत से वीर राजा सहायक होगये. तब राजा भगदत्त ने आठ दिन तक लगातार युद्ध करके भी जब अर्जुनको कुछ भी युद्ध की थकावट हुई न देखी तब वह हंसता हुआ अर्जुन से बोला कि :–

अहं सखा महेन्द्रस्य शक्रादनवरो रणे ।
न शक्ष्यामि च ते तात स्थातुं प्रमुखतो युधि ॥११॥
त्वमीप्सितं पाण्डवेय ब्रूहि किं करवाणि ते ।
यद् वक्ष्यसि महाबाहो तत्करिष्यामि पुत्रक ॥१२॥

अर्थ–हे महाबाहु पुत्र अर्जुन ! मैं इन्द्र का मित्र हूं और युद्ध में इन्द्र से कम नहीं हूं तो भी युद्ध में तुम्हारे सामने नहीं ठहर सकता, हे प्यारे पाण्डुपुत्र ! तुम अपना मनोरथ बताओ मैं तुम्हारे लिये क्या करूं ? जो तुम कहो वही मैं करने को तैयार हूं ॥

अर्जुन उवाच

कुरूणामृषभो राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च यज्वा विपुलदक्षिणः ॥१३॥

तस्य पार्थिवतामीप्से करस्तस्मै प्रदीयताम् ।
भवान् पितृसखा चैव प्रीयमाणो मयापि च ।
ततो नाज्ञापयामि त्वां प्रीतिपूर्वं प्रदीयताम् ॥१४॥

अर्थ–तब अर्जुन ने कहा कि हे मान्यवर राजन् ! कुरुवंशियों में श्रेष्ठ धर्मात्मा पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर बड़ी दाक्षिणा वाले राजसूययज्ञ को करना चाहते हैं सो मेरा मनोरथ यह है कि आप उन्हें चक्रवर्त्ती राजा स्वीकार करके कर देना स्वीकार करलें, आप मेरे पिता के मित्र थे और मुझ से भी प्रसन्न हुए हैं, इसलिये मैं आपको आज्ञा तो नहीं देसकता किन्तु आप प्रसन्नता वा प्रीतिपूर्वक कर अवश्य दिया करें ॥

भगदत्त उवाच

कुन्तीमातर्यथा मे त्वं तथा राजा युधिष्ठिरः ।
सर्वमेतत् करिष्यामि किं चान्यत् करवाणि ते ॥१५॥

अर्थ–राजा भगदत्त ने कहा कि हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन ! जैसे आप मुझे प्रिय हैं वैसे ही राजा युधिष्ठिर भी हैं, सो मैं यह सब कुछ करूंगा, इसके अतिरिक्त और जो कुछ कहो वह भी करने को उद्यत हूं ॥

इति द्वादशोऽध्यायः समाप्तः

अथ त्रयोदशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच भगदत्तं धनञ्जयः ।
अनेनैव कृतं सर्वं भविष्यत्यनुजानता ॥१॥

तं विजित्य महाबाहुः कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ।
प्रययावुत्तरां दस्माद्दिशं धनदपालिताम् ॥२॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! भगदत्त के ऐसा कहने पर अर्जुन बोला कि आपने जो मेरे कथन को स्वीकार किया है इससे ही हमारा सब कार्य पूर्ण होजायगा, तब महाबाहु कुन्तीपुत्र अर्जुन उस भगदत्त राजा को जीतकर उससे भी आगे बड़े २ धनाढ्य राजाओं से सुरक्षित उत्तरादिशा की ओर बढ़ा ॥

अन्तर्गिरिं च कौन्तेयस्तथैव च बहिर्गिरिम् ।
तथैवोपगिरिं चैव विजिग्ये पुरुषर्षभः ॥३॥

अर्थ-कुन्तीपुत्र श्रेष्ठपुरुष अर्जुन ने पर्वत के भीतरी तथा बाहरी और आस पास के सब देशों को जीतकर अपने वश में करलिया ॥

विजित्य पर्वतान् सर्वान् ये च तत्र नराधिपाः ।
तान् वशे स्थापयित्वा स धनान्यादाय सर्वशः॥४॥
तैरेव सहितः सर्वैरनुरज्य च तान्नृपान् ।
उलूकवासिनं राजन् बृहन्तमुपजग्मिवान् ॥५॥
मृदङ्गवरनादेन रथनेमिस्वनेन च ।
हस्तिनां च निनादेन कम्पयन् वसुधामिमाम् ॥६॥

अर्थ-हे राजा जनमेजय ! अर्जुन ने इसप्रकार सब पर्वती-देशों और वहां के राजाओं को जीत उन्हें अपने वश में कर तथा सम्पूर्ण धन ग्रहण करके सब राजाओं को प्रसन्नतापूर्वक अपने साथ लिये हुए उलूकदेश के राजा " बृहन्त " पर चढ़ाई की, जिससमय इस ठाटबाट के साथ अर्जुन उस ओर चला

उस समय बड़े २ मृदङ्गों के शब्द रथ के पहियों की आहट तथा हाथिओं की चिंघाड़ के कोलाहल से पृथ्वी कांप उठी ॥

ततो बृहन्तस्त्वरितो बलेन चतुरङ्गिणा ।
निष्क्रम्य नगरात्तस्माद्योधयामास फाल्गुनम् ॥७॥
सुमहान् सन्निपातोऽभूद्धनञ्जयबृहन्तयोः ।
न शशाक बृहन्तस्तु सोढुं पाण्डवविक्रमम् ॥८॥

अर्थ–तब राजा बृहन्त भी चतुरङ्गिणी सेना को साथ लिये हुए शीघ्र ही नगर से बाहर निकला और उसने अर्जुन को ललकारा, तदनन्तर अर्जुन और बृहन्तराजा का बड़ा भारी संग्राम हुआ अन्त में राजा बृहन्त अर्जुन के पराक्रम को सहार न सका ॥

सोऽविषह्यतमं मत्वा कौन्तेयं पर्वतेश्वरः ।
उपावर्त्तत दुर्धर्षो धनान्यादाय सर्वशः ॥९॥
स तद्राज्यमवस्थाप्य उलूकसहितो ययौ ।
सेनाविन्दुमथो राजन्राज्यादाशु समाक्षिपत् ॥१०॥

अर्थ–पर्वत का प्रतापी राजा उलूक अर्जुन को अजय समझ-सब प्रकार के रत्नों की भेट लेकर शरण में आगया, तब अर्जुन ने उलूक राजा के राज्य को सुरक्षित करके उसे अपने साथ लिये हुए राजा सेनाविन्दु पर चढ़ाई की और शीघ्र ही उसको राज्य से पृथक् कर दिया ॥

मोदापुरं वामदेवं सुदामानं सुसंकुलम् ।
उलूकानुत्तरांश्चैव तांश्च राज्ञः समानयत ॥११॥

तत्रस्थैः पुरुषैरेव धर्मराजस्य शासनात् ।
किरीटी जितवान् राजन्देशान् पञ्चगणां तः ॥१२॥

अर्थ—तत्पश्चात् अर्जुन ने मोदापुर, वामदेव, सुदामा और संकुल नामक राजाओं को जीतकर उन्हें साथ लिये हुए उलूकदेश के उत्तरी प्रदेशों में जा पहुंचा, हे राजन् ! अर्जुन ने युधिष्ठिर की आज्ञा से उन २ देशों के राजाओं द्वारा ही "पञ्चगण" नामक देशों को भी विजय कर लिया ॥

स देवप्रस्थमासाद्य सेनाविन्दोः पुरं प्रति ।
बलेन चतुरङ्गेण निवेशमकरोत् प्रभुः ॥१३॥
स तैः परिवृतः सर्वैर्विश्वगश्वं नराधिपम् ।
अभ्यगच्छन्महातेजाः पौरवं पुरुषर्षभम् ॥१४॥

अर्थ—तदनन्तर प्रभावशाली अर्जुन ने देवप्रस्थ में पहुंचकर सेनाविन्दुनगर के समीप चतुरङ्गिणी सेना समेत डेरा किया, पुनः महातेजस्वी अर्जुन ने उन सब राजाओं को साथ लिये हुए उत्कृष्ट घोड़े रखने वाले सिंहपुरुष राजा "पौरव" पर चढ़ाई की ॥

विजित्य चाहवे शूरान् पार्वतीयान्महारथान् ।
जिगाय सेनया राजन्पुरं पौरवरक्षितम् ॥१५॥
पौरवं युधि निर्जित्य दस्यून् पर्वतवासिनः ।
गणानुत्सवसङ्केतानजयत् सप्त पाण्डवः ॥१६॥

अर्थ—हे राजा जनमेजय ! अर्जुन ने राजा पौरव के पर्वती महायोद्धाओं को युद्ध में जीतकर पश्चात् सेना द्वारा पौरव की सुरक्षित राजधानी को जीत लिया, इसप्रकार पौरव को युद्ध में

विजय करके पर्वत में रहने वाली दस्यु जाति के सात समुदायों को भी पाण्डुपुत्र अर्जुन ने जीता जो समय २ पर राजा को सहायता देने वाली सेना थी ॥

ततः काश्मीरकान् वीरान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः ।
व्यजयल्लोहितं चैव मण्डलैर्दशभिः सह ॥१७॥
ततस्त्रिगर्त्ताः कौन्तेयं दार्वाः कोकनदास्तथा ।
क्षत्रिया बहवो राजन्नुपावर्त्तन्त सर्वशः ॥१८॥

अर्थ—तत्पश्चात् क्षत्रियश्रेष्ठ अर्जुन ने कश्मीरप्रदेश के वीर क्षत्रियों तथा दशो मण्डलों समेत लोहित देश को भी विजय करलिया, हे राजा जनमेजय ! तब त्रिगर्त्त, दार्व तथा कोकनदवासी बहुत-से क्षत्रियलोग सब ओर से कुन्तीपुत्र अर्जुन की शरण में आगये ॥

अभिसारीं ततो रम्यां विजिग्ये कुरुनन्दनः ।
उरगावासिनं चैव रोचमाणं रणेऽजयत् ॥१९॥
ततः सिंहपुरं रम्यं चित्रायुधसुरक्षितम् ।
प्राधमद् बलमास्थाय पाकशासनिराहवे ॥२०॥

अर्थ—इसके अनन्तर कुरुवंशभूषण अर्जुन ने रमणीय "आभिसारी" नगरी को जीता और पश्चात् "उरगा" नगरी के निवासी राजा "रोचमाण" को युद्ध में परास्त किया, तदनन्तर अर्जुन ने चित्रायुध राजा से सुरक्षित रमणीय "सिंहपुर" नामक नगर को युद्ध में अपनी सेना द्वारा विजय किया ॥

ततः सह्मं सुमालांश्च किरीटी पाण्डवर्षभः ।
सहितः सर्वसैन्येन प्रामथत् कुरुनन्दनः ॥२१॥

ततः परमविक्रान्तो बाह्लीकान् पाकशासनिः ।
महता परिमर्देन वशे चक्रे दुरासदान् ॥२२॥

अर्थ–इसके उपरान्त पाण्डवश्रेष्ठ कुरुवंशभूषण अर्जुन ने अपनी सम्पूर्ण सेना द्वारा "सह्म" तथा "सुमाल" देशों को जीत कर महान् पराक्रमपूर्वक दुर्जय बाह्लीक=बलखवासी लोगों को भी भारी संग्राम करके अपने वश में करलिया ॥

गृहीत्वा तु बलं सारं फाल्गुनः पाण्डुनन्दनः ।
दरदान् सह काम्बोजैरजयत् पाकशासनिः ॥२३॥
प्रागुत्तरां दिशं येच वसन्त्याश्रित्य दस्यवः ।
निवसन्ति वने येच तान् सर्वानजयत्प्रभुः ॥२४॥

अर्थ–पाण्डुपुत्र अर्जुन ने बड़ी बलवान् सेना को साथ लेकर "दरद" तथा "कम्बोज" देशों को विजय किया और जो दस्यु-जाति के मनुष्य पूर्वोत्तर दिशा के ग्राम तथा वनों में रहते थे उन सबको भी उस पराक्रमी ने विजय किया ॥

लोहान् परमकाम्बोजानृषिकानुत्तरानपि ।
सहितांस्तान्महाराज व्यजयत्पाकशासनिः ॥२५॥
ऋषिकेस्वपि सङ्ग्रामो बभूवातिभयङ्करः ।
तारकामयसङ्काशः परस्त्वृषिकपार्थयोः ॥२६॥

अर्थ–हे महाराज ! अर्जुन ने "लोह, परमकाम्बोज, ऋषिक" और इनके उत्तरी देशों को भी विजय किया, ऋषिकदेश में राजा ऋषिक और अर्जुन का बड़ा भयंकर संग्राम हुआ जैसाकि तारकामय का हुआ था ॥

स विजित्य ततो राजन्नृषिकान्रणमूर्धनि ।
शुकोदरसमांस्तत्र हयानष्टौ समानयत् ॥२७॥
मयूरसदृशानन्यानुत्तरानपरानपि ।
जवनानाशुगांश्चैव करार्थं समुपानयत् ॥२८॥
स विनिर्जित्य संग्रामे हिमवन्तं सनिष्कुटम् ।
श्वेतपर्वतमासाद्य न्यविशत् पुरुषर्षभः ॥२९॥

अर्थ–हे राजा जनमेजय ! तब रणभूमी के मस्तक पर ऋषिक लोगों को विजय करके अर्जुन ने कररूप में उनसे आठ घोड़े प्राप्त किये जिनका वर्ण तोते के उदर समान था और मोर के समान विचित्र वर्ण वाले उत्तरीभाग के अनेक अन्य घोड़े जो बड़े शीघ्रगामी थे ग्रहण किये, इसप्रकार सिंहपुरुष अर्जुन ने संग्राम में वन–उपवनों समेत हिमालय को विजय करके "श्वेतपर्वत" की ओर गया ॥

स श्वेतपर्वतं वीरः समतिक्रम्य वीर्यवान् ।
देशं किम्पुरुषावासं द्रुमपुत्रेण रक्षितम् ॥३०॥
महता सन्निपातेन क्षत्रियान्तकरेण ह ।
अजयत्पाण्डवश्रेष्ठः करे चैनं न्यवेशयत् ॥३१॥

अर्थ–वह पराक्रमी वीर श्वेतपर्वत को लांघता हुआ द्रुम राजा के पुत्र से सुरक्षित किम्पुरुष नामक मनुष्यों से बसे हुए दिव्य नगर में पहुंचा और वहां पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन ने क्षत्रियों के नाशक घोर संग्राम द्वारा उस देश को विजय करके "कर" देने वाला बना लिया ॥

तं जित्वा हाटकं नाम देशं गुह्यकरक्षितम् ।
पाकशासनिरव्यग्रः सहसैन्यः समासदत् ॥३२॥
ताँस्तु सान्त्वेन निर्जित्य मानसंसर उत्तमम् ।
ऋषिकुल्यास्तथा सर्वा ददर्श कुरुनन्दनः ॥३३॥

अर्थ–अर्जुन उक्त देश को जीतने के पश्चात् गुह्यक नामक मनुष्यों से सुरक्षित "हाटक" देश में सेना समेत उत्साहपूर्वक जापहुंचा, कुरुवंशभूषण अर्जुन ने उनको साम=सन्धि द्वारा विजय करके उत्तम "मानसरोवर" झील तथा ऋषियों से बसी हुई सब छोटी बड़ी नदियों का अवलोकन किया ॥

सरोमानसमासाद्य हाटकानभितः प्रभुः ।
गन्धर्वरक्षितं देशमजयत् पाण्डवस्ततः ॥३४॥
तत्र तित्तिरिकल्माषान् मण्डूकाख्यान् हयोत्तमान् ।
लेभे स करमत्यन्तं गन्धर्वनगरात्तदा ॥३५॥

अर्थ–प्रभु पाण्डुपुत्र अर्जुन ने मानसरोवर पर पहुंचने के पश्चात् गन्धर्व नामक मनुष्यों से सुरक्षितप्रदेश को भी विजय किया, और गन्धर्वों के नगर से अर्जुन ने कररूप में तीतर के समान चितकबरे रङ्ग वाले "मण्डूक" नामक उत्तम घोड़े अधिकता से ग्रहण किये ॥

एवं स पुरुषव्याघ्रो विजित्य दिशमुत्तराम् ।
संग्रामान् सुबहून् कृत्वा क्षत्रियैर्दस्युभिस्तथा ॥३६॥
स विनिर्जित्य राज्ञस्तान् करे च विनिवेश्य तु ।

धनान्यादाय सर्वेभ्यो रत्नानि विविधानि च ॥३७॥
हयांस्तित्तिरिकल्माषान् शुकपत्रनिभानपि ।
मयूरसदृशानन्यान् सर्वाननिलरंहसः ॥ ३८ ॥
वृतः सुमहता राजन् बलेन चतुरङ्गिणा ।
आजगाम पुनर्वीरः शक्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ॥ ३९ ॥
धर्मराजाय तत् पार्थो धनं सर्वं सवाहनम् ।
न्यवेदयदनुज्ञातस्तेन राज्ञा गृहान् ययौ ॥ ४० ॥

अर्थ–हे राजा जनमेजय ! उस सिंहसमान वीरपुरुष अर्जुन ने इस प्रकार उत्तर दिशा को विजय करके क्षत्रियों तथा दस्यु जाति के पुरुषों को युद्ध द्वारा जीत उन पर कर नियत किया और सब से नानाप्रकार के उत्तमोत्तम रत्न, धन तथा तीतर, तोते और मोर के तुल्य विविध रंग वाले तथा वायु के समान शीघ्रगामी घोड़े ग्रहण करके बड़ी भारी चतुरङ्गिणी सेना को साथ लिये हुए अपनी राजधानी इन्द्रप्रस्थ को लौट आया, तब अर्जुन ने वह धन और बाहन आदि सब सामग्री धर्मराज युधिष्ठिर की सेवा में अर्पण करदी, पुनः उनसे अनुमति पाकर अपने भवन में चलागया ॥

इति त्रयोदशोऽध्यायः समाप्तः

अथ चतुर्दशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु भीमसेनोऽपि वीर्यवान् ।
धर्मराजमनुज्ञाप्य ययौ प्राचीं दिशं प्रति ॥ १ ॥
महता बलचक्रेण परराष्ट्रावमर्दिना ।
हस्त्यश्वरथपूर्णेन दंशितेन प्रतापवान् ॥ २ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे जनमेजय ! जिस समय अर्जुन उत्तरदिशा को गया था उसी समय पराक्रमी भीमसेन भी धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा से शत्रुओं के राज्य को विध्वंस करने वाली हाथी, घोड़े और रथों से परिपूर्ण तथा कवच धारी योद्धाओं से सुसज्जित भारी सेना को साथ लिये हुए पूर्व-दिशा को विजय करने के निमित्त चला ॥

स गत्वा नरशार्दूलः पञ्चालानां पुरं महत् ।
पञ्चालान् विविधोपायैः सान्त्वयामास पाण्डवः ॥३॥
ततः स गण्डकान् शूरो विदेहान् भरतर्षभः ।
विजित्याल्पेन कालेन दशार्णानजयत्प्रभुः ॥४॥

अर्थ—वह पुरुषसिंह पाण्डव भीमसेन सबसे प्रथम अपने सम्बन्धी पाञ्चाल लोगों की राजधानी में गया और उन लोगों को नाना प्रकार के उपायों द्वारा संतुष्ट किया, तत्पश्चात् भरतकुल-भूषण वीर भीमसेन ने गण्डक तथा विदेह लोगों को थोड़े ही समय में विजय करके "दशार्ण" देश को भी जीत लिया ॥

तत्र दाशार्णको राजा सुधर्मा लोमहर्षणम् ।
कृतवान् भीमसेनेन महद्युद्धं निरायुधम् ॥५॥
भीमसेनस्तु तद्दृष्ट्वा तस्य कर्म महात्मनः ।
अधिसेनापतिं चक्रे सुधर्माणं महाबलम् ॥६॥

अर्थ–दशार्ण देश के "सुधर्मा" नामक राजा ने भीमसेन के साथ विना ही शस्त्रों के बड़ा भारी लोमहर्षण युद्ध किया,इसलिये भीमसेन ने उस महात्मा के इस महानकार्य को देखकर महाबली राजा "सुधर्मा" को अपनी सेना का सेनापति बनालिया ॥

ततः प्राचीं दिशं भीमो ययौ भीमपराक्रमः ।
सैन्येन महता राजन् कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥७॥
सोश्वमेधेश्वरं राजन्रोचमानं सहानुगम् ।
जिगाय समरे वीरो बलेन बलिनां वरः ॥८॥

अर्थ–हे राजन् ! इसके पश्चात् भयानकपराक्रमी तथा बलवानों में श्रेष्ठ वीर भीमसेन अपनी भारी सेना द्वारा पृथ्वी को कंपाता हुआ पूर्वदिशा की ओर बढ़ा और उसने अश्वमेध के राजा "रोचमान" को सेना सहायकों समेत युद्ध में विजय किया॥

स तं निर्जित्य कौन्तेयो नातितीव्रेण कर्मणा ।
पूर्वदेशं महावीर्यो विजिग्ये कुरुनन्दनः ॥९॥
ततो दाक्षिणमागम्य पुलिन्दनगरं महत् ।
सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रं च नराधिपम ॥१०॥

अर्थ–महापराक्रमी, कुरुवंशभूषण कुन्तीपुत्र भीमसेन ने उस राजा को सहज में जीतकर उससे आगे के पूर्वीभाग को विजय किया, तत्पश्चात् दाक्षिणीभाग में पुलिन्दलोगों के भारी नगर में आकर वहां के "सुकुमार" तथा "सुमित्र" नामक राजाओं को भी अपने वश में करलिया ॥

ततस्तु धर्मराजस्य शासनाद्भरतर्षभः ।
शिशुपालं महावीर्यमभ्यगाज्जनमेजय॥११॥
चेदिराजोऽपि तच्छ्रुत्वा पाण्डवस्य चिकीर्षितम् ।
उपनिष्क्रम्य नगरात् प्रत्यगृह्णत्परन्तप ॥११॥

अर्थ–हे जनमेजय ! इसके अनन्तर भरतकुलश्रेष्ठ भीमसेन धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा से महापराक्रमी राजा शिशुपाल की ओर गया, शत्रुतापक चंदेरीनरेश राजा शिशुपाल भी पाण्डव भीमसेन का वह संकल्प सुनकर नगर से बाहर आया और भीमसेन को बड़े सत्कारपूर्वक अपनी राजधानी में लेगया ॥

तौ समेत्य महाराज कुरुचेदिवृषौ तदा ।
उभयोरात्मकुलयोः कौशल्यं पर्यपृच्छताम् ॥१३॥
ततो निवेद्य तद्राष्ट्रं चेदिराजो विशाम्पते ।
उवाच भीमं प्रहसन् किमिदं कुरुषेऽनघ ॥१४॥

अर्थ–हे महाराज जनमेजय ! तब कुरुवंशभूषण भीमसेन तथा चन्देरीनरेश शिशुपाल ने प्रीतिपूर्वक परस्पर एक दूसरे के कुल की कुशल पूछी, हे राजन् ! तत्पश्चात् चेदिराज शिशुपाल भीमसेन के आगे अपना राज्य निवेदन करके हंसता हुआ बोला कि हे निष्पाप ! आपने यह क्या संकल्प धारण किया है ? ॥

तस्य भीमस्तदाचख्यौ धर्मराजचिकीर्षितम् ।
स च तं प्रतिगृह्यैव तथा चक्रे नराधिपः ॥१५॥
ततो भीमस्तत्र राजन्नुषित्वा त्रिदशाः क्षपाः ।
सत्कृतः शिशुपालेन ययौ सबलवाहनः ॥१६॥

अर्थ—तब भीमसेन ने युधिष्ठिर के दिग्विजय का संकल्प शिशुपाल से कहा इस पर राजा शिशुपाल ने उनकी आज्ञा ग्रहण करके तदनुसार ही किया अर्थात् युधिष्ठिर की अधीनता स्वीकार की, हे राजा जनमेजय ! तदनन्तर भीमसेन ने वहां तेरह दिन तक विश्राम करके पश्चात् शिशुपाल से सत्कारपूर्वक-विदा होकर अपनी सेना तथा सवारियों समेत आगे गमन किया ॥

ततः कुमारविषये श्रेणिमन्तमथाजयत् ।
कोशलाधिपतिं चैव बृहद्बलमरिन्दमः ॥१७॥
अयोध्यायां तु धर्मज्ञं दीर्घयज्ञं महाबलम् ।
अजयत् पाण्डवश्रेष्ठो नातितीव्रेण कर्मणा ॥१८॥

अर्थ—पाण्डवश्रेष्ठ शत्रुतापक भीमसेन ने वहां से चलकर कुमारदेश के राजा "श्रेणिमान्" तथा कोशलनरेश राजा "बृहद्बल" को विजय किया, तत्पश्चात् अयोध्या के महाबली धर्मात्मा "दीर्घयज्ञ" नामक राजा को भीमसेन ने सहज में ही अपने अधीन कर लिया ॥

ततो गोपालकक्षं च सोत्तरानपि कोशलान् ।
मल्लानामधिपं चैव पार्थिवं चाजयत्प्रभुः ॥१९॥
ततो हिमवतः पार्श्वं समभ्येत्य जलोद्भवम् ।
सर्वमल्पेन कालेन देशं चक्रे वशं बली ॥२०॥

अर्थ–इसके अनन्तर प्रभावशाली भीमसेन ने "गोपालकक्ष" देश तथा कोशलप्रदेश के उत्तरी भागों को जीतकर "मल्ल" नामक पुरुषों के राजा को भी जीता पश्चात् बलवान् भीमसेन ने हिमालय के समीप जलप्राय देश में पहुंचकर उस सम्पूर्ण देश को थोड़े ही समय में अपने वशीभूत कर लिया ॥

भल्लाटमभितो जिग्ये शुक्तिमन्तं च पर्वतम् ।
पाण्डवः सुमहावीर्यो बलेन बलिनां वरः ॥२१॥
स काशिराजं समरे सुबाहुमनिवर्तिनम् ।
वशे चक्रे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ॥२२॥

अर्थ–इसके पश्चात् बलवानों में श्रेष्ठ महापराक्रमी पाण्डुपुत्र भीमसेन ने भल्लाटदेश को दोनों ओर से विजय करके "शुक्तिमान्" पर्वत को विजय किया और भयानकपराक्रमी महाबाहु भीमसेन ने युद्ध से न हटने वाले महाबली राजा काशीनरेश को भी अपने अधीन करलिया ॥

ततः सुपार्श्वमभितस्तथा राजपतिं क्रथम् ।
युध्यमानं बलात् संख्ये विजिग्ये पाण्डवर्षभः॥२३॥
ततो मत्स्यान्महातेजा मलदांश्च महाबलान् ।
अनघानभयांश्चैव पशुभूमिं च सर्वशः ॥२४॥

अर्थ–तदनन्तर पाण्डवश्रेष्ठ भीमसेन ने "सुपार्श्व" देश को दोनों ओर से जीतकर क्रथराज "राजपति" योद्धा को भी युद्ध में जीत लिया, इसके पश्चात् महातेजस्वी भीमसेन ने महाबली राजाओं से युक्त मत्स्य, मलद, अनघ, अभय और पशुभूमि इन सब देशों को भी अपने अधीन करलिया ॥

निवृत्य च महाबाहुर्मदधारं महीधरम् ।
सोमधेयांश्च निर्जित्य प्रययावुत्तरामुखः ॥२५॥
वत्सभूमिं च कौन्तेयो विजिग्ये बलवान्बलात् ।
भर्गाणामाधिपं चैव निषादाधिपतिं तथा ।
विजिग्ये भूमिपालांश्च मणिमत्प्रमुखान् बहून् ॥२६॥

अर्थ-तत्पश्चात् महाबाहु भीमसेन "मदधार" पर्वत को फिर लौटा और "सोमधेय" देश को जीतकर उत्तराभिमुख चलदिया, पुनः बलवान् कुन्तीपुत्र ने "वत्सभूमि" देश को जीतकर भर्गनरेश तथा निषादराज को विजय किया, इनके अतिरिक्त "मणिमान्" आदि बहुत से राजाओं को भी भीमसेन ने अपने अधीन कर लिया ॥

ततो दक्षिणमल्लांश्च भोगवन्तं च पर्वतम् ।
तरसैवाजयद्भीमो नातितीव्रेण कर्मणा ॥ २७ ॥
शर्मकान् वर्मकांश्चैव व्यजयत्सान्त्वपूर्वकम् ।
वैदेहकं च राजानं जनकं जगतीपतिम् ॥ २८ ॥
विजिग्ये पुरुषव्याघ्रो नातितीव्रेण कर्मणा ।
शकांश्च बर्बरांश्चैव अजयच्छद्मपूर्वकम् ॥ २९ ॥

अर्थ-तब भीमसेन ने दक्षिणी "मल्ल" देश तथा "भोगवान्" नामक पर्वत को सहज में ही बलपूर्वक विजय किया, तत्पश्चात् "शर्मक" और "वर्मक" देश को सन्धि द्वारा अपने अधीन करके विदेह=मिथिलाप्रदेश के राजा "जनक" को सिंहपुरुष भीमसेन ने अनायास ही विजय करलिया, इसके अनन्तर "शक"

और "बर्बर" देश को भी राजनीति के अनुसार कूटकपट करके अपने अधीन करलियां ॥

वैदेहस्थस्तु कौन्तेय इन्द्रपर्वतमन्तिकात् ।
किरातानामधिपतीनजयत्सप्त पाण्डवः ॥ ३० ॥
ततः सुह्मान् प्रसुह्मांश्च स्वपक्षानतिवीर्यवान् ।
विजित्य युधि कौन्तेयो मागधानभ्यगाद्बली ॥३१॥

अर्थ–तब कुन्तीपुत्र पाण्डव भीमसेन ने विदेहप्रदेश में ठहर कर इन्द्रपर्वत के समीप रहने वाले किरात लोगों के सात राजाओं को जीता, इसके पश्चात् पराक्रमी भीमसेन ने अपने पक्ष के "सुह्म" तथा "प्रसुह्म" नामक देशों को युद्ध में जीतकर मगध=विहारप्रदेश की ओर चढ़ाई की ॥

दण्डं च दण्डधारं च विजित्य पृथिवीपतीन् ।
तैरेव सहितैः सर्वैर्गिरिव्रजमुपाद्रवत् ॥ ३२ ॥
जरासन्धिं सान्त्वयित्वा करे च विनिवेश्य तु ।
तैरेव सहितैः सर्वैः कर्णमभ्यद्रवद्बली ॥३३॥

अर्थ–बलवान् भीमसेन ने "दण्ड" तथा "दण्डधार" राजाओं को जीता और इनको तथा पूर्वोक्त सब राजाओं को साथ लेकर पर्वतवृन्द की ओर चला, पुनः मगधदेश में जरासन्ध के पुत्र सहदेव से सन्धि तथा उस पर कर नियत करके उन सबको साथ लिये हुए राजा "कर्ण" पर चढ़ाई की ॥

स कम्पयन्निव महीं बलेन चतुरङ्गिणा ।
युयुधे पाण्डवश्रेष्ठः कर्णेनामित्रघातिना ॥३४॥

स कर्णं युधि निर्जित्य वशे कृत्वा च भारत ।
ततो विजिग्ये बलवान् राज्ञः पर्वतवासिनः ॥३५॥

अर्थ–पाण्डवों में श्रेष्ठ भीमसेन ने शत्रुघातक राजा कर्ण के साथ चतुरङ्गिणी सेना द्वारा पृथ्वी को कम्पित करते हुए घोर युद्ध किया, हे भारतीय राजन्! बली भीमसेन ने युद्ध में कर्ण को परास्त करके पश्चात् पर्वत के रहने वाले राजाओं को भी विजय किया ॥

अथ मोदागिरौ चैव राजानं बलवत्तरम् ।
पाण्डवो बाहुवीर्येण निजघान महामृधे ॥३६॥
ततः पुण्ड्राधिपं वीरं वासुदेवं महाबलम् ।
कौशिकीकच्छनिलयं राजानं च महौजसम् ॥३७॥
उभौ बलभृतौ वीरावुभौ तीव्रपराक्रमौ ।
विजित्याजौ महाराज वङ्गराजमुपाद्रवत् ॥३८॥

अर्थ–तत्पश्चात् पाण्डव भीमसेन ने मोदागिरी पर्वत के महाबली राजा को भी महासंग्राम करके मारडाला, हे महाराज जनमेजय ! तदनन्तर "पुण्ड्र" देश के राजा महाबली वीर "वासुदेव" तथा कौशिकी नदी के तटपर रहने वाले "महौजाः" नामक राजा इन दोनों महापराक्रमी वीरपुरुषों को भी युद्ध में जीतकर बङ्गराज = बङ्गालनरेश पर चढ़ाई की ॥

समुद्रसेनं निर्जित्य चन्द्रसेनं च पार्थिवम् ।
ताम्रलिप्तं च राजानं कर्वटाधिपतिं तथा ॥३९॥
सुह्मानामधिपं चैव येच सागरवासिनः ।

सर्वान् म्लेच्छगणांश्चैव ।विजिग्ये भरतर्षभः ।
वसुतेभ्य उपादाय लौहित्यमगमद् बली ॥४०॥

अर्थ–हे भारतीय राजन् ! बलवान् भीमसेन ने समुद्रसेन, चन्द्रसेन, ताम्रलिप्त, कर्वटनरेश तथा सुह्मनरेश, इन सब राजाओं और समुद्र के समीप रहने वाले सब म्लेच्छों को विजय करके उनसे धन ग्रहण किया, पुनः " लौहित्य " देश पर चढ़ाई की ॥

स सर्वान् म्लेच्छनृपतीन् सागरानूपवासिनः ।
करमाहारयामास रत्नानि विविधानि च ॥४१॥
चन्दनागुरुवस्त्राणि मणिमौक्तिककम्बलम् ।
काञ्चनं रजतं चैव विद्रुमं च महाधनम् ॥४२॥
ते कोटिशतसंख्येन कौन्तेयं महता तदा ।
अभ्यवर्षन् महात्मानं धनवर्षेण पाण्डवम् ॥४३॥

अर्थ–भीमसेन ने समुद्र के समीप रहने वाले सब म्लेछ राजाओं पर कर नियत किया और उन लोगों ने भी महात्मा कुन्ती-पुत्र पाण्डव भीमसेन की सेवा में नानाप्रकार के रत्न, चन्दन, अगर, वस्त्र, मणि, मोती, कम्बल, सोना, चांदी तथा मूंगा आदि वस्तुयें और करोड़ों की संख्या में धन वर्षा करने की भांति अर्पण किया ॥

इन्द्रप्रस्थमुपागम्य भीमो भीमपराक्रमः ।
निवेदयामास तदा धर्मराजाय तद्धनम् ॥४४॥

अर्थ–इस प्रकार भयंकर पराक्रमी भीमसेन ने दिग्विजय करके

इन्द्रप्रस्थ में आकर पूर्वोक्त विजय किया हुआ सम्पूर्ण धन धर्मराज युधिष्ठिर की सेवा में अर्पण करदिया ॥

इति चतुर्दशोऽध्यायः समाप्तः

अथ पञ्चदशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

तथैव सहदेवोऽपि धर्मराजेन पूजितः ।
महत्या सेनया राजन् प्रययौ दक्षिणां दिशम् ॥१॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय! पूर्वोक्त प्रकार से सहदेव भी युधिष्ठिर से सत्कार पाकर महती सेना के साथ दक्षिण दिशा की ओर गया ॥

स शूरसेनान् कार्त्स्न्येन पूर्वमेवाजयत्प्रभुः ।
मत्स्यराजं च कौरव्यो वशे चक्रे बलाद्बली ॥२॥
अधिराजाधिपं चैव दन्तवक्रं महाबलम् ।
जिगाय करदं चैव कृत्वा राज्ये न्यवेशयत ॥३॥

अर्थ–प्रभावशाली तथा बलवान कुरुवंशी सहदेव ने सब में प्रथम "शूरसेन" देश को विजय किया, तत्पश्चात् मत्स्यराज, राजा अधिराज और महाबली दन्तवक्र, इन सब राजाओं को जीता तथा इन पर "कर" नियत करके पश्चात् इनको अपने २ राज्य पर नियत करादिया ॥

सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रं च नराधिपम् ।
तथैवापरमत्स्यांश्च व्यजयत स पटच्चरान् ॥ ४ ॥

निषादभूमिं गोशृङ्गं पर्वतं प्रवरं तथा ।
तरसैवाजयद्धीमान् श्रेणिमन्तं च पार्थिवम् ॥ ५ ॥
नवराष्ट्रं च निर्जित्य कुन्तिभोजमुपाद्रवत् ।
प्रीतिपूर्वं च तस्यासौ प्रतिजग्राह शासनम् ॥ ६ ॥

अर्थ-तत्पश्चात् सहदेव ने "सुकुमार" तथा "सुमित्र" नामक राजाओं को जीतकर मत्स्यदेश के पश्चिमी भाग में रहने वाले चोर डाकुओं के समुदाय को विजय किया, पुनः बुद्धिमान् सहदेव ने "निषादभूमि" तथा "गोशृङ्ग" नामक बड़े २ पर्वतों और राजा "श्रेणिमान्" को भी बलपूर्वक अपने अधीन करलिया, इसके पश्चात् सहदेव ने "नवराष्ट्र" देश को जीतकर कुन्ती के पिता राजा "कुन्तिभोज" की ओर प्रस्थान किया तब राजा कुन्तिभोज ने भी प्रसन्नतापूर्वक राजा युधिष्ठिर की अधीनता स्वीकार की ॥

ततश्चर्मण्वतीकूले जम्भकस्यात्मजं नृपम् ।
ददर्श वासुदेवेन शेषितं पूर्ववैरिणा ॥ ७ ॥
चक्रे तेन स संग्रामं सहदेवेन भारत ।
स तमाजौ विनिर्जित्य दक्षिणाभिमुखो ययौ ॥८॥

अर्थ-तदनन्तर सहदेव ने " चर्मण्वती " नदी के किनारे पहुंचकर जम्भक राजा के पुत्र को देखा जोकि कृष्णजी के पहले वैरियों में से शेष था, हे भारतीय राजन् ! उस राजा का सहदेव के साथ महान् युद्ध हुआ, तदनन्तर सहदेव ने उसे भी विजय करके आगे दक्षिण दिशा की ओर प्रस्थान किया ॥

सेकानपरसेकांश्च व्यजयत् सुमहाबलः ।
करं तेभ्य उपादाय रत्नानि विविधानि च ॥ ९॥
ततस्तेनैव सहितो नर्मदामभितो ययौ ।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्येन महतावृतौ ।
जिगाय समरे वीरावाश्विनेयः प्रतापवान् ॥ १० ॥

अर्थ—तब महाबली सहदेव "सेक" तथा "अपरसेक" नामक देशों को जीत और उनसे "कर" तथा नाना प्रकार के रत्न लेकर वहां के राजा को साथ लिये हुए नर्मदानदी की ओर बढ़ा और वहां बड़ी भारी सेना युक्त विन्द, अनुविन्द तथा अवन्ती=मालवदेश के वीर राजाओं को प्रतापी सहदेव ने युद्ध में विजय किया ॥

ततो रत्नान्युपादाय पुरं भोजकटं ययौ ।
तत्र युद्धमभूद्राजन् दिवसद्वयमच्युत ॥ ११ ॥
स विजित्य दुराधर्षं भीष्मकं माद्रिनन्दनः ।
कोशलाधिपतिं चैव तथा वेणातटाधिपम् ।
कान्तारकांश्च समरे तथा प्राक्कोशलान् नृपान् ॥१२॥
नाटकेयांश्च समरे तथा हेरम्बकान् युधि ।
मारुधं च विनिर्जित्य मुञ्जग्राममथो बलात् ॥ १३ ॥
नाचीनानर्बुकांश्चैव राजानश्च महाबलः ।
तांस्तानाटविकान् सर्वानजयत् पाण्डुनन्दनः ॥१४॥

अर्थ—हे कर्तव्य से च्युत न होने वाले राजा जनमेजय! वह। से रत्न ग्रहण करके सहदेव "भोजकट" नगर में गया और वहां "भीष्मक" राजा के साथ दो दिन तक युद्ध होता रहा, तत्पश्चात् महाबली माद्री के पुत्र सहदेव ने दुर्जय राजा भीष्मक को विजय करके कोशल= सरयूतटप्रदेश के राजा तथा कोशलप्रदेश तक वनों के राजाओं और नाटकेय, हेरम्बक, मारुध, मुञ्जग्राम, नाचीन तथा अर्बुक इन देशों और इनसे अतिरिक्त जितने जंगली राजा थे उन सबको अपने बलद्वारा युद्ध में विजय किया ॥

वाताधिपं च नृपतिं वशे चक्रे महाबलः ।
पुलिन्दांश्च रणे जित्वा ययौ दक्षिणतः पुरः ॥१५॥
युयुधे पाण्ड्यराजेन दिवसं नकुलानुजः ।
तं जित्वा स महाबाहुः प्रययौ दक्षिणापथम् ॥१६॥

अर्थ—तदनन्तर महाबली सहदेव वातनरेश और पुलिन्द लोगों को युद्ध द्वारा अपने वश में करके दक्षिण की ओर आगे बढ़ा, पश्चात् महाबाहु सहदेव ने पाण्ड्यनरेश के साथ दिनभर युद्ध करके उसे जीतकर आगे दक्षिण की ओर प्रस्थान किया ॥

गुहामासादयामास किष्किन्धां लोकविश्रुताम् ।
तत्र वानरराजाभ्यां मैन्देन द्विविदेन च ।
युयुधे दिवसान् सप्त न च तौ विकृतिं गतौ ॥१७॥

अर्थ—तत्पश्चात् सहदेव लोकप्रसिद्ध "किष्किन्धा" नामक गुफा तक पहुंचकर वहां वानर जाति के "मन्द" और "द्विविद"

राजाओं के साथ सात दिनतक युद्ध होता रहा पर वह दोनों राजा सहदेव से विजय न हुए, परन्तु :—

ततस्तुष्टौ महात्मानौ सहदेवाय वानरौ ।
ऊचतुश्चैव संहृष्टौ प्रीतिपूर्वमिदं वचः ॥१८॥
गच्छ पाण्डवशार्दूल रत्नान्यादाय सर्वशः ।
अविघ्नमस्तु कार्याय धर्मराजाय धीमते ॥१९॥

अर्थ—वह महात्मा वानरराज सहदेव के पराक्रम से सन्तुष्ट होकर स्वयं प्रसन्नतापूर्वक उससे बोले कि हे पाण्डवश्रेष्ठ ! तुम सब प्रकार के रत्न ग्रहण करके जाओ और ईश्वर करे कि धर्मराज बुद्धिमान् युधिष्ठर का कार्य निर्विघ्नतापूर्वक समाप्त हो ॥

माद्रीसुतस्ततः प्रायाद्विजयी दक्षिणां दिशम् ।
त्रैपुरं स वशे कृत्वा राजानममितौजसम् ।
निजग्राह महाबाहुस्तरसा पौरवेश्वरम् ॥२०॥

अर्थ—तत्पश्चात् महाबाहु विजयी सहदेव दक्षिण की ओर आगे बढ़ा और " त्रिपुर " के महापराक्रमी राजा को वश में करके पौरव लोगों के राजा को भी बलपूर्वक विजय किया ॥

आकृतिं कौशिकाचार्यं यत्नेन महता ततः ।
वशे चक्रे महाबाहुः सुराष्ट्राधिपतिं तदा ॥२१॥

अर्थ—इसके अनन्तर महाबाहु सहदेव ने "आकृति" नामक कौशिकों के आचार्य सुराष्ट्रनरेश को बड़े उद्योग से अपने वश में किया ॥

सुराष्ट्रविषयस्थश्च प्रेषयामास रुक्मिणे ।
राज्ञे भोजकटस्थाय महामात्राय धीमते ॥२२॥
भीष्मकाय स धर्मात्मा साक्षादिन्द्रसखाय वै ।
स चास्य प्रतिजग्राह ससुतः शासनं तदा ॥२३॥

अर्थ–धर्मात्मा सहदेव ने सुराष्ट्रप्रदेश में ठहरकर साक्षात् इन्द्र के मित्र राजा "भीष्मक" और "रुक्मी" तथा इनके बुद्धिमान् महामन्त्री के समीप "भोजकट" नगर में अपना संदेशा भिजवा दिया, तब राजा भीष्मक ने अपने पुत्रसमेत उनकी आज्ञा को स्वीकार करलिया ॥

प्रीतिपूर्वं महाराज वासुदेवमवेक्ष्य च ।
ततः स रत्नान्यादाय पुनः प्रायाद्युधांपतिः ॥२४॥
ततः शूर्पारकं चैव तालाकटमथापि वा ।
वशे चक्रे महातेजा दण्डकांश्च महाबलः ॥२५॥

अर्थ–हे महाराज जनमेजय ! तत्पश्चात् योधराज सहदेव प्रीतिपूर्वक कृष्णजी के दर्शन करके वहां से रत्नादि लिये हुए दक्षिण को बढ़ा और उस महातेजस्वी महाबली ने शूर्पारक, तालाकट तथा दण्डक वन को भी अपने वश में करालिया ॥

सागरद्वीपवासांश्च नृपतीन् म्लेच्छयोनिजान् ।
निषादान् पुरुषादांश्च कर्णप्रावरणानपि ॥२६॥
ये च कालमुखा नाम नरराक्षसयोनयः ।
कृत्स्नं कोलगिरिं चैव सुरभीपट्टनं तथा ॥२७॥

द्वीपं ताम्राह्वयं चैव पर्वतं रामकं तथा ।
तिमिङ्गिलं च स नृपं वशे कृत्वा महामतिः ॥२८॥
नगरीं सञ्जयन्तीं च पाषण्डं करहाटकम् ।
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ॥२९॥

अर्थ—महाबुद्धिमान् सहदेव ने समुद्रीद्वीप के रहने वाले म्लेच्छजाति के राजाओं, निषाद लोगों, मनुष्यभक्षक जंगली लोगों "कर्णप्रावरण" तथा "कालमुख" नामक राक्षसों और सम्पूर्ण कोलपर्वत, सुरभिपट्टन, ताम्रद्वीप, रामक पर्वत तथा "तिमिङ्गिल" राजा को वश में करके "सञ्जयन्ती" नामक नगरी "पाषण्ड" और "करहाकट" इन सब देशों को अपने दूतों द्वारा ही वश में करके इन पर कर नियत किया ॥

पाण्ड्यांश्च द्रविडांश्चैव सहितांश्चोड्रकेरलैः ।
अन्ध्रांस्तालवनांश्चैव कलिङ्गानुष्ट्रकर्णिकान् ॥३०॥
आटवीं च पुरीं रम्यां यवनानां पुरं तथा ।
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ॥३१॥

अर्थ—तदनन्तर सहदेव ने पाण्ड्य, द्रविड़, उड्र=उड़ीसा, केरल, अन्ध्र, ताड़ के वन, कलिङ्ग और "उष्ट्रकार्णिक" इन सब देशों तथा यवन लोगों की रमणीय नगरी "आटवी" को भी अपने दूतों द्वारा ही जीतकर उन पर "कर" नियत किया ॥

एवं निर्जित्य तरसा सान्त्वेन विजयेन च ।
करदान् पार्थिवान् कृत्वा प्रत्यागच्छदरिन्दमः ॥३२॥

धर्मराजाय तत्सर्वं निवेद्य भरतर्षभः ।
कृतकर्मा सुखं राजन्नुवास जनमेजय ॥३३॥

अर्थ—हे राजा जनमेजय! भरतकुलभूषण शत्रुदमनकर्ता सहदेव इसप्रकार पराक्रम तथा सन्धि द्वारा दक्षिणादिशा के सब राजाओं को वश में करके उन्हें "कर" देने वाला बनाकर अपनी राजधानी इन्द्रप्रस्थ में लौट आया और वह सम्पूर्ण सामग्री धर्मराज युधिष्ठिर की सेवा में अर्पण करके कृतकार्य हो सुख से रहने लगा ॥

इति पञ्चदशोऽध्यायः समाप्तः

अथ षोडशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

नकुलस्य तु वक्ष्यामि कर्माणि विजयं तथा ।
वासुदेवजितामाशां यथासावजयत प्रभुः ॥१॥
निर्याय खाण्डवप्रस्थात् प्रतीचीमभितो दिशम् ।
उद्दिश्य मतिमान् प्रायान्महत्या सेनया सह ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे जनमेजय ! अब मैं नकुल के कार्य तथा विजय का वर्णन करता हूं जिस प्रकार उस प्रभावशाली ने कृष्णजी की प्रथम जीती हुई पश्चिम दिशा को फिर से विजय किया था, बुद्धिमान् नकुल भारी सेना को साथ लिये हुए खाण्डवप्रस्थ की राजधानी इन्द्रप्रस्थ से चलकर पश्चिम दिशा को लक्ष्यकर के आगे बढ़ा ॥

ततो बहुधनं रम्यं गवाढ्यं धनधान्यवत् ।
कार्त्तिकेयस्य दयितं रोहीतकमुपाद्रवत् ॥३॥
तत्र युद्धं महच्चासीच्छूरैर्मत्तमयूरकैः ।
मरुभूमिं स कार्त्स्न्येन तथैव बहुधान्यकम् ।
शैरीषकं महेत्थं च वशे चक्रे महद्युतिः ॥४॥

अर्थ–तब नकुल ने बड़े धनाढ्य, रमणीय गौ आदि पशुओं से सम्पन्न तथा सब पदार्थों से परिपूर्ण "रोहीतक" नामक राजा पर चढ़ाई की जो कार्त्तिकेय का प्यारा था, वहां "मत्तमयूरक" नामक बाणों द्वारा उनका बड़ा भारी युद्ध हुआ, और अन्त में महाप्रतापी नकुल ने "मरुदेश" अन्नों के भाण्डाररूप "शैरीषक" तथा "महेत्थ" देश को पूर्णतया अपने वश में किया, और:-

आक्रोशं चैव राजर्षिं तेन युद्धमभून्महत् ।
तान् दशार्णान् स जित्वा च प्रतस्थे पाण्डुनन्दनः॥५॥
शिवींस्त्रिगर्त्तानम्बष्ठान् मालवान् पञ्चकर्पटान् ।
तथा मध्यमकेयांश्च वाटधानान् द्विजानथ ॥ ६ ॥

अर्थ–नकुल का "आक्रोश" नामक राजऋषि के साथ भी भारी युद्ध हुआ किंतु उसे भी नकुल ने विजय किया, इस प्रकार पूर्वोक्त "दशार्ण" देशों को जीतकर आगे पश्चिम दिशा को प्रस्थान किया और क्रमशः शिवि, त्रिगर्त्त, अम्बष्ठ, मालव, पांचो कर्पट, मध्यमकेय तथा वाटधान नामक इन सब द्विजों=क्षत्रियों के देशों को वश में करलिया ॥

पुनश्च परिवृत्याथ पुष्करारण्यवासिनः ।
गणानुत्सवसङ्केतान् व्यजयत्पुरुषर्षभः ॥ ७ ॥

अर्थ–हे राजन् ! पुनः सिंहपुरुष नकुल ने लौटकर पुष्कर वन के रहने वाले "उत्सवसंकेत"=जातिविशेष के समुदायों को भी जीत लिया, और :–

सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबलाः ।
शूद्राभीरगणाश्चैव ये चाश्रित्य सरस्वतीम् ॥ ८ ॥
वर्त्तयन्ति च ये मत्स्यैर्ये च पर्वतवासिनः ।
कृत्स्नं पञ्चनदं चैव तथैवामरपर्वतम् ॥ ९ ॥
उत्तरज्योतिषं चैव तथा दिव्यकटं पुरम् ।
रामठान् हारहूणांश्च प्रतीच्याश्चैव ये नृपाः ।
तान् सर्वान् स वशे चक्रे शासनादेव पाण्डवः ॥१०॥

अर्थ–जो ग्रामीण महाबली पुरुष सिन्धुनदी के किनारे रहते थे उन्हें तथा सरस्वती नदी के समीप रहने वाले शूद्रों, ग्वाले लोगों, पर्वत में रहने वालों, मछली खाने वालों और सम्पूर्ण पंजाब देश "अमर" नामक पर्वत "उत्तरज्योतिष" "दिव्यकट" नामक नगर रामठ, हारहूण=युहूदियों का देश और पश्चिम के रहने वाले अन्य सब राजाओं को सहदेव ने महाराज युधिष्ठिर के शासनपत्र द्वारा ही अपने अधीन करलिया ॥

तत्रस्थः प्रेषयामास वासुदेवाय भारत ।
स चास्य यादवैः सार्द्धं प्रतिजग्राह शासनम् ॥११॥

ततः शाकलमभ्येत्य मद्राणां पुटभेदनम् ।
मातुलं प्रीतिपूर्वेण शल्यं चक्रे वशे बली ॥ १२ ॥
स तेन सत्कृतो राज्ञा सत्कारार्हो विशाम्पते ।
रत्नानि भूरीण्यादाय संप्रतस्थे युधांपतिः ॥ १३ ॥

अर्थ–हे भारतीय राजन् ! तब वीर राजा नकुल ने वहां ठहरकर द्वारकापुरी में कृष्णजी के समीप महाराज युधिष्ठिर का शासनपत्र भेजा और उन्होंने सब यादवों समेत उनकी आज्ञा को ग्रहण किया, तत्पश्चात् महाबली नकुल ने मद्र=मदरास की राजधानी "शाकल" नगर में पहुंचकर अपने मामा शल्य को प्रीति=सन्धि द्वारा वश में करलिया, हे राजा जनमेजय ! वह पूजनीय नकुल राजा शल्य से सत्कार पाकर और वहां से बहुतसे उत्तमोत्तम पदार्थ ग्रहण करके आगे पश्चिम दिशा की ओर बढ़ा ॥

ततः सागरकुक्षिस्थान् म्लेच्छान् परमदारुणान् ।
पल्हवान् बर्वरांश्चैव किरातान् यवनान् शकान् ॥१४॥
ततो रत्नान्युपादाय वशे कृत्वा च पार्थिवान् ।
न्यवर्त्तत कुरुश्रेष्ठो नकुलश्चित्रमार्गवित् ॥ १५ ॥

अर्थ–विचित्रमार्गों का जानने वाला कुरुवंशभूषण नकुल समुद्र के मध्यस्थल में रहने वाले महादुःखदायी म्लेच्छों अर्थात् पल्हव, बर्बर, किरात, यवन तथा शक देशों को जीतकर और उनसे रत्न ग्रहण करके इन्द्रप्रस्थ को लौट चला ॥

करभाणां सहस्राणि कोषं तस्य महात्मनः ।
ऊहुर्दश महाराज कृच्छ्रादिव महाधनम् ॥ १६ ॥

इन्द्रप्रस्थगतं वीरमभ्येत्य स युधिष्ठिरम् ।
ततो माद्रीसुतः श्रीमान् धनं तस्मै न्यवेदयत् ॥१७॥

अर्थ–हे महाराज जनमेजय ! महात्मा नकुल ने इतना धन विजय किया था कि दशहज़ार ऊंट भी कठिनता से उस ख़ज़ाने को लेकर चले थे,इस प्रकार माद्री के पुत्र नकुल ने पश्चिम दिशा से इन्द्रप्रस्थ में पहुंचकर महाराज वीर युधिष्ठिर की सेवा में वह सम्पूर्ण धन अर्पण करादिया ॥

इति षोडशोऽध्यायः समाप्तः

अथ सप्तदशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

रक्षणाद् धर्मराजस्य सत्यस्य परिपालनात् ।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव स्वकर्मनिरताः प्रजाः ॥१॥
बलीनां सम्यगादानाद्धर्मतश्चानुशासनात् ।
निकामवर्षी पर्जन्यः स्फीतो जनपदोऽभवत् ॥२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! महाराज युधिष्ठिर ने इस प्रकार प्रजा की रक्षा, सत्य का पालन तथा शत्रुओं का विध्वंस किया कि उनकी सारी प्रजा अपने २ कर्तव्य में तत्पर रहने लगी, उनके राज्य में उत्तम रीति से बलिवैश्वदेव आदि सम्पूर्ण यज्ञों की विधि तथा धर्मपूर्वक सब प्रकार का राज्य व्यवहार

होने के कारण मेघ भी यथेष्ट वर्षने लगे, एवं उनके राज्य की दिनोदिन उन्नति होती गई ॥

सर्वारम्भाः सुप्रवृत्ता गोरक्षा कर्षणं वणिक् ।
विशेषात् सर्वमेवैतत्संजज्ञे राजकर्मणः ॥ ३ ॥
दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यो वा राजन् प्रति परस्परम् ।
राजवल्लभतश्चैव नाश्रूयन्त मृषा गिरः ॥४॥

अर्थ–राज्यप्रबन्ध की विशेषता से गोरक्षा, कृषि और व्यापार आदि सब व्यवहारों ने वृद्धि पाई, हे राजन् ! महाराज युधिष्ठिर के राज्य में दस्यु जाति तथा धूर्त्त लोगों और राज्याधिकारियों के मुख से भी कभी झूठ बातें सुनने में नहीं आती थीं ॥

अवर्षं चातिवर्षं च व्याधिपावकमूर्छनम् ।
सर्वमेतत् तदा नासीद्धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥५॥
प्रियं कर्त्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वभावजम् ।
अभिहर्त्तुं नृपा जग्मुर्नान्यैः कार्यैः कथंचन ॥६॥

अर्थ–महाराज युधिष्ठिर इतने धर्मनिष्ठ राजा थे कि उनके राज्य में वर्षा का अभाव, अतिवर्षा, रोगविस्तार वा अग्नि से दाह आदि सब उत्पात सर्वथा अस्त होगये थे, अन्य राजा लोग महाराज युधिष्ठिर की सेवा में हितकारी कार्य करने,उपस्थिति = हाज़िरी देने वा नियत किया हुआ उनका "कर" चुकाने के लिये ही जाते थे अन्य विद्रोह आदि प्रयोजन के लिये कभी जाने की आवश्यकता नहीं होती थी ॥

धर्म्यैर्धनागमैस्तस्य ववृधे निचयो महान् ।
कर्त्तुं यस्य न शक्येत क्षयो वर्षशतैरपि ॥७॥
स्वकोष्ठस्य परीमाणं कोषस्यैव महीपतिः ।
विज्ञाय राजा कौन्तेयो यज्ञायैव मनो दधे ॥८॥

अर्थ—धर्मपूर्वक धन की आमदनी से महाराज युधिष्ठिर का कोष इतना बढ़गया कि जो सैकड़ों वर्षों तक व्यय करने पर भी नष्ट नहीं होसकता था, कुन्ती के पुत्र राजा युधिष्ठिर ने अपने देश और कोष का विस्तार देखकर पूर्वोक्त राजसूययज्ञ करने का दृढ़ संकल्प करलिया ॥

सुहृदश्चैव ये सर्वे पृथक् च सहिताब्रुवन् ।
यज्ञकालस्तव विभो क्रियतामत्र साम्प्रतम् ॥९॥
अथैवं ब्रुवतामेव तेषामभ्याययौ हरिः ।
बलाधिकारे निक्षिप्य सम्यगानकदुन्दुभिम् ॥१०॥

अर्थ—महाराज युधिष्ठिर के सब मित्र तथा बन्धुओं ने भी एक स्वर से यही सम्मति दी कि हे राजन् ! यह समय आपके यज्ञ करने का है सो आप उसको आरम्भ कीजिये, जिस समय सभा में इस विषय की बातचीत होरही थी उसी समय महाराज कृष्णजी भी अपने पिता वसुदेव को सेना के अधिकार पर नियत करके सभा में पधारे ॥

कृष्णेन समुपेतेन जहृषे भारतं पुरम् ।
तं मुदाभिः समागम्य सत्कृत्य च यथाविधि ॥११॥

स पृष्ट्वा कुशलं चैव सुखासीनं युधिष्ठिरः ।
धौम्यद्वैपायनमुखैर्ऋत्विग्भिः पुरुषर्षभः ।
भीमार्जुनयमैश्चैव सहितः कृष्णमब्रवीत् ॥१२॥

अर्थ—कृष्णजी के आने से भारतवर्ष की राजधानी इन्द्रप्रस्थ नगरी में सर्वत्र हर्ष फैल गया, श्रेष्ठ पुरुष महाराज युधिष्ठिर ने आनन्द के साथ उनसे भेट की और उनके सुखपूर्वक बैठ जाने पर यथोचित सत्कार तथा कुशलप्रश्न करके "धौम्य" तथा "व्यास" आदि ऋत्विजों और भीम, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव इन चारो भाइयों समेत युधिष्ठिर कृष्णजी से इस प्रकार बोले कि :—

त्वत्कृते पृथिवी सर्वा मद्वशे कृष्ण वर्त्तते ।
धनं च बहु वार्ष्णेय त्वत्प्रसादादुपार्जितम् ॥१३॥
तदहं यष्टुमिच्छामि दाशार्ह सहितस्त्वया ।
अनुजैश्च महाबाहो तन्मानुज्ञातुमर्हसि ॥१४॥

अर्थ—हे कृष्ण ! मेरे अधीन जितनी पृथ्वी है वह सब तुम्हारे लिये है और हे यदुवंशी ! तुम्हारी ही कृपा से मैंने असंख्य धन उपार्जन किया है, सो हे महाबाहु कृष्ण ! अब मैं आपकी तथा अपने चारो छोटे भाइयों की सहायता से राजसूययज्ञ करना चाहता हूं सो आप मुझे अनुमति दें, और :—

तद्दीक्षापय गोविन्द त्वमात्मानं महाभुज ।
त्वयीष्टवति दाशार्ह विपाप्मा भविता ह्यहम् ॥१५॥

मां वाप्यभ्यनुजानीहि सहैभिरनुजैर्विभो ।
अनुज्ञातस्त्वया कृष्ण प्राप्नुयां क्रतुमुत्तमम् ॥१६॥

अर्थ–हे गोरक्षक महाबाहु कृष्ण ! आप स्वयं इस यज्ञ की दीक्षा लें, क्योंकि तुम्हारे यज्ञकर्ता होने से मैं निष्पाप होजाउंगा अर्थात् तुम्हारे उपकार का ऋण निवट जायगा, हे स्वामिन्! यदि आपको यह इष्ट न हो तो आप मुझे इस महान् यज्ञ करने की आज्ञा दीजिये, क्योंकि आपकी आज्ञा पाकर ही मैं अपने इन भाइयों समेत इस यज्ञ को करसकता हूं ॥

वैशम्पायन उवाच

तं कृष्णः प्रत्युवाचेदं वर्णयन् गुणविस्तरम् ।
त्वमेव राजशार्दूल सम्राडर्हो महाक्रतुम् ॥१७॥
संप्राप्नुहि त्वया प्राप्ते कृतकृत्यास्ततो वयम् ।
नियुङ्क्ष्व त्वं च मां कृत्ये सर्वं कर्त्तास्मि ते वचः॥१८॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! तब कृष्णजी युधिष्ठिर के गुण वर्णन करते हुए उनके कथन का इस प्रकार उत्तर देने लगे कि हे राजराजेश्वर ! आपही चक्रवर्ती राजा होने योग्य हैं, इसलिये आप इस महान् यज्ञ का आरम्भ करें तब हम सब अपने आपको कृतकृत्य समझेंगे और हे राजन् ! आप मुझे भी यज्ञ के संबन्ध में जो आज्ञा देंगे मैं भी उसका पालन करूंगा ॥

युधिष्ठिर उवाच

सफलः कृष्ण संकल्पः सिद्धिश्च नियता मम ।
यस्य मे त्वं हृषीकेश यथेप्सितमुपस्थितः ॥१९॥

अर्थ—तब युधिष्ठिर बोले कि हे जितेन्द्रिय कृष्ण ! मेरा संकल्प अवश्य सफल होगा और निश्चित मेरे कार्य की सिद्धि होगी, जब कि आप इस प्रकार मेरी यथेष्ट सहायता करने को उद्यत हैं॥

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातस्तु कृष्णेन पाण्डवो भ्रातृभिः सह ।
ईजितुं राजसूयेन साधनान्युपचक्रमे ॥२०॥
ततस्त्वाज्ञापयामास पाण्डवोरिनिवर्हणः ।
सहदेवं युधांश्रेष्ठं मन्त्रिणश्चैव सर्वशः ॥२१॥
अस्मिन् क्रतौ यथोक्तानि यज्ञाङ्गानि द्विजातिभिः ।
समानयन्तु पुरुषा यथायोगं यथाक्रमम् ॥२२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय! तब पाण्डुपुत्र महाराज युधिष्ठिर कृष्णजी से अनुमति पाकर अपने भाइयों समेत राजसूययज्ञ की तैयारी करने लगे, शत्रुविजयी युधिष्ठिर ने श्रेष्ठ योद्धा सहदेव तथा सब मन्त्रियों को आज्ञा दी कि इस यज्ञ के लिये विद्वान् ब्राह्मणों ने जो २ सामग्री बताई है वह सब यथायोग्य क्रमपूर्वक भृत्यों से मंगाओ, और :—

सर्वकामाश्च कार्यन्तां रसगन्धसमन्विताः ।
मनोहराः प्रीतिकरा द्विजानां कुरुसत्तम ॥२३॥

अर्थ—हे कुरुओं में श्रेष्ठ सहदेव ! यज्ञ में सम्मिलित होने वाले द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिये यथारुचि मनोहर तथा आह्लादकारी रस और सुगन्ध से पूर्ण भोजन भी तैयार कराओ ॥

तद्वाक्यसमकालं तु कृतं सर्वं न्यवेदयत् ।
सहदेवो युधांश्रेष्ठो धर्मराजे युधिष्ठिरे ॥२४॥

अर्थ–तब महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा पाते ही वीर सहदेव ने सब कार्य अत्यन्त शीघ्रता से पूर्ण करके धर्मराज युधिष्ठिर को सूचना दे दी ॥

ततो द्वैपायनो राजन्नृत्विजः समुपायनत् ।
वेदानिव महाभागान् साक्षान्मूर्त्तिमतो द्विजान्॥२५॥
स्वयं ब्रह्मत्वमकरोत्तस्य सत्यवतीसुतः ।
धनञ्जयानामृषभः सुसामा सामगोऽभवत् ॥२६॥
याज्ञवल्क्यो बभूवाथ ब्रह्मिष्ठोऽध्वर्युसत्तमः ।
पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत्॥२७॥
एतेषां शिष्यवर्गाश्च पुत्राश्च भरतर्षभ ।
बभूवुर्होत्रगाः सर्वे वेदवेदांगपारगाः ॥ २८ ॥

अर्थ–हे राजा जनमेजय ! तब महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ के लिये व्यासजी ने चार महाभाग्यवान् श्रेष्ठ ब्राह्मण ऋत्विज् = यज्ञ कराने वाले नियत किये जो चार मूर्त्तिमान् वेदों के तुल्य थे, उनमें से सत्यवती के पुत्र व्यासजी स्वयं उस यज्ञ में "ब्रह्मा" बने, धनञ्जय नामक ब्राह्मणों में मुख्य " सुसामा " उद्गाता नियत हुए, ब्रह्मवेत्ता "याज्ञवल्क्य" अध्वर्यु तथा "वसु" के पुत्र "पैल" जो व्यासजी के शिष्य थे "धौम्य" ऋषि समेत होता बनाये गये, हे भरतकुलश्रेष्ठ राजन् ! इन पूर्वोक्त ऋत्विजों के शिष्यगण तथा

पुत्र लोग जो वेदवेदाङ्गों के पारदर्शी थे उस यज्ञ में होत्रग = मन्त्रगान करने वाले नियत किये गये ॥

ते वाचयित्वा पुण्याहमूहयित्वा च तं विधिम् ।
शास्त्रोक्तं पूजयामासुस्तद्देवयजनं महत् ॥ २९ ॥
तत्र चक्रुरनुज्ञाताः शरणान्युत शिल्पिनः ।
गन्धवन्ति विशालानि वेश्मानीव दिवौकसाम् ॥ ३० ॥

अर्थ–प्रथम उन ऋषियों ने वेदोक्त विधि से स्वस्तिवाचन किया, पुनः शास्त्रोक्त राजसूय महायज्ञ का विचार निश्चित करके पश्चात् शिल्पी = कारीगर लोगों ने महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर बड़े २ भवन = महल तैयार किये जिनमें सुगन्धित वृक्षादि लगाये गये जो देवताओं के भवन समान शोभायमान थे ॥

तत आज्ञापयामास स राजा राजसत्तमः ।
सहदेवं तदा सद्यो मन्त्रिणं पुरुषर्षभः ।
आमन्त्रणार्थं दूतांस्त्वं प्रेषयस्वाशुगान् द्रुतम् ॥ ३१ ॥

अर्थ–तत्पश्चात् पुरुषश्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर ने अपने मन्त्री सहदेव को आज्ञा दी कि यज्ञ में बाहर के पुरुषों को बुलाने के लिये तुम शीघ्रगामी दूतों को भेजो ॥

उपश्रुत्य वचो राज्ञः स दूतान् प्राहिणोत्तदा ।
आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान् भूमिपानथ ।
विशश्च मान्यान् शूद्रांश्च सर्वानानयतेति च ॥ ३२ ॥

अर्थ–तब राजा की आज्ञा पाते ही सहदेव ने दूतों को भेजा और आज्ञा दी कि देश विदेश में जितने माननीय ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं उन सब को यज्ञ में आने के लिये निमन्त्रित करो ॥

वैशम्पायन उवाच

समाज्ञप्तास्ततो दूताः पाण्डवेयस्य शासनात् ।
आमन्त्रयांबभूवुश्च आनयंश्चापरान् द्रुतम् ।
तथापरानपि नरानात्मनः शीघ्रगामिनः ॥ ३३ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! तब वह दूत पाण्डुपुत्र सहदेव की आज्ञा पाकर यज्ञ में आने वाले पुरुषों को निमन्त्रित करने गये और उन्होंने अपने से भी अधिक शीघ्र चलने वाले अन्य दूतों को अन्यान्य स्थानों में निमन्त्रण देने के लिये भेजा ॥

ततस्ते तु यथाकालं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
दीक्षयाञ्चक्रिरे विप्रा राजसूयाय भारत ॥ ३४ ॥

अर्थ–हे भारतीय राजन् ! तब उन पूर्वोक्त ऋत्विजों ने यथासमय युधिष्ठिर को राजसूययज्ञ की दीक्षा दी ॥

दीक्षितः स तु धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
जगाम यज्ञायतनं वृतो विप्रैः सहस्रशः ॥ ३५ ॥
भ्रातृभिर्ज्ञातिभिश्चैव सुहृद्भिः सचिवैः सह ।
क्षत्रियैश्च मनुष्येन्द्रैर्नानादेशसमागतैः ।
अमात्यैश्च नरश्रेष्ठो धर्मो विग्रहवानिव ॥ ३६ ॥

अर्थ–तत्पश्चात् धर्मात्मा युधिष्ठिर ने, यज्ञ के लिये दीक्षा पाकर सहस्रों ब्राह्मणों, सब भाइयों, सम्बन्धियों, मित्रों, मन्त्रियों, नाना देशों से आये हुए बड़े २ क्षात्रिय राजाओं तथा प्रधान सहायकों समेत मूर्त्तिमान् धर्म के समान यज्ञमण्डप में प्रवेश किया॥

आजग्मुर्ब्राह्मणास्तत्र विषयेभ्यस्ततस्ततः ।
सर्वविद्यासु निष्णाता वेदवेदाङ्गपारगाः ॥३७॥
तेषामावसथांश्चक्रुर्धर्मराजस्य शासनात् ।
सर्वर्त्तुगुणसंपन्नान् शिल्पिनोऽथ सहस्रशः ॥३८॥
तेषु ते न्यवसन्राजन् ब्राह्मणा नृपसत्कृताः ।
कथयन्तः कथा बह्वीः पश्यन्तो नटनर्त्तकान् ॥३९॥

अर्थ–महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ में देशदेशान्तरों से सर्व-विद्यानिपुण वेदवेदाङ्गों के पारगामी ब्राह्मण लोग पधारे, जिनके लिये धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा से शिल्पी लोगों ने उत्तमोत्तम सहस्रों महल तैयार किये जो सब ऋतुओं में सुखदायी थे, हे राजन् ! महाराज युधिष्ठिर से सत्कार पाये हुए वह ब्राह्मण लोग उन महलों में ठहरे, वह प्रतिदिन अनेक प्रकार के उपदेश तथा कथाओं द्वारा सबको लाभ पहुंचाने लगे और यथासमय सब लोग नट नर्तक लोगों के कौतुक = तमाशे भी देखते थे ॥

प्रावर्त्ततैवं यज्ञः स पाण्डवस्य महात्मनः ।
ततो युधिष्ठिरो राजा प्रेषयामास पाण्डवम् ।
नकुलं हास्तिनपुरं भीष्माय पुरुषर्षभः ॥४०॥

द्रोणाय धृतराष्ट्राय विदुराय कृपाय च ।
भ्रातॄणां चैव सर्वेषा येऽनुरक्ता युधिष्ठिरे ॥४१॥

अर्थ–इस प्रकार महात्मा युधिष्ठिर का जब यज्ञ होना प्रारम्भ होगया तब महाराज युधिष्ठिर ने भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र, विदुर, कृपाचार्य और दुर्योधन आदि सब भाइयों तथा अपने इष्ट मित्रों को यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये पाण्डुपुत्र नकुल को हस्तिनापुर में भेजा ॥

इति सप्तदशोऽध्यायः समाप्तः

अथ अष्टादशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

स गत्वा हास्तिनपुरं नकुलः समितिञ्जयः ।
भीष्ममामन्त्रयांचक्रे धृतराष्ट्रं च पाण्डवः ॥१॥
सत्कृत्यामन्त्रितास्तेन आचार्यप्रमुखास्ततः ।
प्रययुः प्रीतमनसो यज्ञं ब्रह्मपुरःसराः ॥ २ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! युद्धविजयी पाण्डव नकुल हस्तिनापुर पहुंचा और उसने भीष्मपितामह, धृतराष्ट्र तथा द्रोणाचार्य आदि सब को सत्कारपूर्वक यज्ञ में आने के लिये निमन्त्रण दिया, तब सब लोग प्रसन्न हो आचार्य को आगे करके युधिष्ठिर के यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये इन्द्रप्रस्थ को चलदिये ॥

संश्रुत्य धर्मराजस्य यज्ञं यज्ञविदस्तदा ।
अन्ये च शतशस्तुष्टैर्मनोभिर्भरतर्षभ ॥३॥
द्रष्टुकामाः सभांचैव धर्मराजं च पाण्डवम् ।
दिग्भ्यः सर्वे समापेतुः क्षत्रियास्तत्र भारत ।
समुपादाय रत्नानि विविधानि महान्ति च ॥४॥

अर्थ–हे भरतकुलभूषण राजा जनमेजय ! तब धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ का वृतान्त सुनकर यज्ञ की महिमा जानने वाले सैकड़ों अन्य क्षत्रिय भी प्रसन्नतापूर्वक महाराज युधिष्ठर के दर्शन तथा उनके सभाभवन को अवलोकन करने के लिये नाना प्रकार के रत्नों की भेट लिये हुए देशदेशान्तरों से इन्द्रप्रस्थ में आये॥

धृतराष्ट्रश्च भीष्मश्च विदुरश्च महामतिः ।
दुर्योधनपुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव ते ॥५॥
गान्धारराजः सुबलः शकुनिश्च महाबलः ।
अचलो वृषकश्चैव कर्णश्च रथिनां वरः ॥६॥
तथा शल्यश्च बलवान् बाल्हिकश्च महाबलः ।
सोमदत्तोऽथ कौरव्यो भूरिर्भूरिश्रवाः शलः ॥७॥
अश्वत्थामा कृपो द्रोणः सैन्धवश्च जयद्रथः ।
यज्ञसेनः सपुत्रश्च शाल्वश्च वसुधाधिपः ॥८॥
प्राग्ज्योतिषश्च नृपतिर्भगदत्तो महारथः ॥
स तु सर्वैः सह म्लेच्छैः सागरानूपवासिभिः ॥९॥

पार्वतीयाश्च राजानो राजा चैव बृहद्बलः ।
पौण्ड्रको वासुदेवश्च वङ्गः कालिङ्गकस्तथा ॥१०॥
आकर्षाः कुन्तलाश्चैव गालवाश्चान्ध्रकास्तथा ।
द्राविड़ाः सिंहलाश्चैव राजा काश्मीरकस्तथा ॥११॥
कुन्तिभोजो महातेजाः पार्थिवो गौरवाहनः ।
वाह्लिकाश्चापरे शूरा राजानः सर्व एव ते ॥१२॥
विराटः सह पुत्राभ्यामावेल्लश्च महाबलः ।
राजानो राजपुत्राश्च नानाजनपदेश्वराः ॥१३॥
शिशुपालो महावीर्यः सह पुत्रेण भारत ।
आगच्छत् पाण्डवेयस्य यज्ञं समरदुर्मदः ॥१४॥

अर्थ—हे राजन् ! पाण्डुपुत्र महाराज युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ में निम्नलिखित राजालोग एकत्रित हुए जिनके नाम यह हैं :—

धृतराष्ट्र, भीष्मपितामह, महाबुद्धिमान् विदुर, दुर्योधन आदिक सब "सौ" भाई, गान्धार=कंधार देश का राजा सुबल, महाबली शकुनि, अचल, वृषक, योद्धाओं में श्रेष्ठ कर्ण, बलवान् शल्य, महाबली वाल्हिक, सोमदत्त, कौरव्य, भूरि, भूरिश्रवा, शल, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, सैन्धव जयद्रथ, अपने पुत्र धृष्टद्युम्न समेत यज्ञसेन=द्रुपद, राजा शाल्व, समुद्र के जलप्राय भाग में रहने वाले सब दस्यु राजाओं को साथ लिये हुए "प्राग्ज्योतिष" प्रदेश का राजा भगदत्त, पर्वतों के राजा लोग, राजा बृहद्बल, पुण्ड्रराज वासुदेव, बङ्ग = बङ्गाल का राजा, कलिङ्ग देश का राजा, आकर्ष, कुन्तल, गालव तथा अन्ध्रकवंशी राजालोग, द्राविड़राज, सिंहल = लंका

का राजा, कश्मीरनरेश, महाप्रतापी कुन्तिभोज, राजा गौरवाहन तथा बाल्हिक देश के सब वीरराजा लोग, अपने दोनों पुत्रों समेत विराट, महाबली आवेल्ल, तथा भिन्न २ देश देशान्तरों के राजा और राजकुमार, युद्ध से न हटने वाला महापराक्रमी राजा शिशुपाल तथा उसका पुत्र भी सम्मिलित हुआ ॥

रामश्चैवानिरुद्धश्च कङ्कश्च सहसारणः ।
गदप्रद्युम्नसाम्बाश्च चारुदेष्णश्च वीर्यवान् ॥१५॥
उल्मुको निशठश्चैव वीरश्चांगावहस्तथा ।
वृष्णयो निखिलाश्चान्ये समाजग्मुर्महारथाः ॥१६॥
एते चान्ये च बहवो रजानो मध्यदेशजाः ।
आजग्मुः पाण्डुपुत्रस्य राजसूयं महाक्रतुम् ॥१७॥

अर्थ—पूर्वोक्त राजाओं के अतिरिक्त यह वृष्णिवंशी वीर भी महाराज युधिष्ठिर के राजसूययज्ञ में पधारे थे :—

बलराम, अनिरुद्ध, कंक, सारण, गद, प्रद्युम्न, साम्ब, महाबली चारुदेष्ण, उल्मुक, निशठ, वीर अङ्गावह तथा अन्यान्य सब महायोद्धा वृष्णिवंशी और मध्यप्रदेश के बहुत से राजा लोग भी सम्मिलित हुए ॥

ददुस्तेषामावसथान् धर्मराजस्य शासनत् ।
बहुभक्ष्यान्वितान् राजन् दीर्घिकावृक्षशोभितान्॥१८॥

अर्थ—हे राजन् ! धर्मराज युधिष्ठिर की आज्ञा से पूर्वोक्त सब राजाओं को ठहरने के लिये उत्तमोत्तम स्थान दिये गये जिनमें

सब प्रकार के खानपान आदि का सामान संचित. था और जो बावली तथा वृक्षों से सुशोभित थे ॥

तथा धर्मात्मजः पूजां चक्रे तेषां महात्मनाम् ।
सत्कृताश्च यथोद्दिष्टान् जग्मुरावसथान्नृपाः ॥१९॥
कैलासशिखरप्रख्यान् मनोज्ञान्द्रव्यभूषितान् ।
सर्वतः संवृतानुच्चैः प्राकारैः सुकृतैः सितैः ॥२०॥
सुवर्णजालसंवीतान् मणिकुट्टिमभूषितान् ।
सुखारोहणसोपानान् महासनपरिच्छदान् ॥२१॥
स्रग्दामसमवच्छन्नानुत्तमागुरुगान्धिनः ।
हंसेन्दुवर्णसदृशानायोजनसुदर्शनान् ॥२२॥
असम्बाधान् समद्वारान् युतानुच्चावचैर्गुणैः ।
बहुधा तु निबद्धाङ्गान् हिमवच्छिखरानिव ॥२३॥

अर्थ—सबसे प्रथम महाराज युधिष्ठिर ने उन सब आये हुए महात्मा राजा लोगों का यथायोग्य सत्कार किया, तत्पश्चात् वह लोग अपने २ नियत किये हुए भवनों में यथायोग्य ठहर गये, वह भवन कैलास पर्वत के शिखर समान ऊंचे, श्वेतवर्ण, तथा अनेक मनोहर द्रव्यों से अलंकृत और जो श्वेतवर्ण के सुन्दर ऊंचे कोट से घिरे हुए थे, उनमें स्थान २ पर सुवर्ण की जालियें लगी हुई थीं, और भूमी मणियों की पच्चीकारी से सुशोभित थी, स्थान २ पर सुख से चढ़ने योग्य सीढ़ियें लगी थीं तथा बड़े २ आसन आदि सामान विद्यमान थे, सब ओर पुष्पमालायें लटकाई हुई थीं, वह महल अगर आदि पदार्थों से सुगन्धित तथा उनका रंग हंस और

चन्द्रमा के समान उज्वल था और इतने ऊंचे थे कि एक योजन = चारकोस की दूरी से भली भांति दीख पड़ते थे, वह भवन भीतर से सुविस्तृत = खुले हुए और उनके द्वार एक समान बने हुए थे, इस प्रकार अनेक गुणों से सुशोभित हुए वह भवन ऐसे प्रतीत होते थे जैसे विविध प्रकार के रंग विरंगे धातुओं से परिपूर्ण हिमालय पर्वत के शिखर दृष्टिगोचर होते हैं ॥

विश्रान्तास्ते ततोऽपश्यन् भूमिपा भूरिदक्षिणम् ।
वृतं सदस्यैर्बहुभिर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥२४॥

अर्थ—वह सब राजा लोग अपने २ भवन में विश्राम करने के पश्चात् सभाभवन में अनेक सभासदों से सुशोभित हुए २ बहुदक्षिणा देने वाले धर्मराज युधिष्ठिर के दर्शन को गये ॥

इति अष्टादशोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकोनविंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

पितामहं गुरुञ्चैव प्रत्युद्गम्य युधिष्ठिरः ।
अभिवाद्य ततो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥१॥
भीष्मं द्रोणं कृपं द्रौणिं दुर्योधनविविंशती ।
अस्मिन् यज्ञे भवन्तो मामनुगृह्णन्तु सर्वशः॥२॥
इदं वः सुमहच्चैव यदिहास्ति धनं मम ।
प्रणयन्तु भवन्तो मां यथेष्टमभिमन्त्रिताः ॥३॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! सभाभवन में सब राजा आदिकों के आने के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर अपने पितामह भीष्म और द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, दुर्योधन, विविंशति तथा अन्य मान्य पुरुषों का अभिवादन आदि से यथायोग्य सत्कार करके बोले कि आप सब लोग इस यज्ञ में मेरी सहायता करके मुझ पर अनुग्रह करें, आप सब निमन्त्रित हुए हैं और मेरा जो कुछ यह महत् धन यहां विद्यमान है वह सब आप लोगों का ही है, आप लोग यज्ञ के संबन्ध में इसको यथायोग्य व्यय करके मुझे अपने प्रेम का परिचय दें ॥

एवमुक्त्वा स तान्सर्वान् दीक्षितः पाण्डवाग्रजः ।
युयोज स यथायोगमधिकारेष्वनन्तरम् ॥४॥

अर्थ–यज्ञ में दीक्षित हुए २ पाण्डवों में ज्येष्ठ महाराज युधिष्ठिर ने पूर्वोक्त वचन कहकर सब बन्धुओं को यथायोग्य अधिकारों पर इसप्रकार नियुक्त किया कि :—

भक्ष्यभोज्याधिकारेषु दुःशासनमयोजयत् ।
परिग्रहे ब्राह्मणानामश्वत्थामानमुक्तवान् ॥५॥
राज्ञां तु प्रतिपूजार्थं सञ्जयं संन्ययोजयत् ।
कृताकृतपरिज्ञाने भीष्मद्रोणौ महामती ॥६॥
हिरण्यस्य सुवर्णस्य रत्नानां चान्ववेक्षणे ।
दक्षिणानां च वै दाने कृपं राजा न्ययोजयत् ।
तथान्यान् पुरुषव्याघ्रांस्तस्मिंस्तस्मिन्न्ययोजयत् ॥७॥

अर्थ-भोजन के प्रबन्ध पर दुःशासन, ब्राह्मणों के सत्कारार्थ अश्वत्थामा, राजाओं के सत्कार के लिये सञ्जय, सब कार्यों की भलाई बुराई वा न्यूनाधिकता का निरीक्षण करने के लिये महाबुद्धिमान् भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य, धन, सुवर्ण तथा रत्नों की देखभाल और दक्षिणायें देने पर कृपाचार्य तथा अन्य उद्योगी सिंहपुरुषों को यथायोग्य भिन्न २ कार्यों के प्रबन्ध पर नियुक्त किया गया ॥

बाल्हिको धृतराष्ट्रश्च सोमदत्तो जयद्रथः ।
नकुलेन समानीताः स्वामिवत्तत्र रेमिरे ॥८॥
क्षत्ता व्ययकरस्त्वासीद्विदुरः सर्वधर्मवित् ।
दुर्योधनस्त्वर्हणानि प्रतिजग्राह सर्वशः ॥९॥
चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत् ।
सर्वलोकसमावृत्तः पिप्रीषुः फलमुत्तमम् ॥१०॥

अर्थ-बाल्हिक, धृतराष्ट्र, सोमदत्त और जयद्रथ इन मान्य पुरुषों को नकुल उत्तम भवनों में लेगया और वह गृहस्वामियों के समान रहने लगे अर्थात् उनको कोई कार्य करने का कष्ट न दिया, सम्पूर्ण कर्तव्य के ज्ञाता विदुरजी यज्ञ में व्यय करने वाले नियत हुए और दुर्योधन को सब राजाओं की भेटें ग्रहण करने का कार्य सौंपा गया, विद्वान्, तपस्वी तथा धर्मात्मा ब्राह्मणों के चरण धोने के कार्य पर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं नियत हुए, क्योंकि वह चाहते थे कि जो उत्तम फल=यश पूर्वोक्त सब मनुष्यों को प्राप्त नहीं होसकता वह मुझे हो ॥

द्रष्टुकामः सभां चैवं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
न कश्चिदाहरत्तत्र सहस्रावरमर्हणम् ॥११॥
कथं तु मम कौरव्यो रत्नदानैः समाप्नुयात् ।
यज्ञमित्येव राजानः स्पर्द्धमाना ददुर्धनम् ॥१२॥

अर्थ–महाराज युधिष्ठिर तथा उनके सभाभवन के दर्शनार्थ वहां जो कोई भी आया उनमें ऐसा कोई मनुष्य न था जिसने कम से कम सहस्र मुद्रा भेट न किये हों, सब राजा लोग इस स्पर्द्धा = ईर्षा के साथ अपना २ धन पहिले भेट करने को उत्सुक थे कि किसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर मेरे धन को यज्ञ में उपयुक्त करके सफल करें ॥

षडग्निनाथ यज्ञेन सोऽयजद्दक्षिणावता ।
सर्वान् जनान्सर्वकामैः समृद्धैः समतर्पयत् ॥१३॥
अन्नवान् बहुभक्ष्यश्च भुक्तवज्जनसंवृतः ।
रत्नोपहारसम्पन्नो बभूव स समागमः ॥ १४ ॥

अर्थ–पूर्वोक्त सब कार्य हो चुकने पर अर्थात् राजा लोगों की भेटें ग्रहण करने के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने छः प्रकार की अग्नियें* विधिपूर्वक नियत करके प्रधान यज्ञ संबन्धी हवन किया और सब सत्पात्र अधिकारियों को दक्षिणायें देकर उनके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण किये, इस प्रकार इस यज्ञ महोत्सव के सम्मेलन पर अन्न तथा नाना प्रकार के भोजन वितरण किये गये और शिष्टाचार के अनुसार यथायोग्य रत्नों की भेटें भी दीगई ॥

---

* (१) आरम्भणीय (२) क्षत्रधृति (३) व्युष्टि (४) द्विरात्र (५) दशपेय (६) सप्तपेय ॥

तिलाज्यहोमाहुतिभिर्मन्त्रशिक्षाविशारदैः ।
तस्मिन्हि तत्पुर्देवास्तते यज्ञे महर्षिभिः ॥१५॥
यथा देवास्तथा विप्रा दक्षिणान्नमहाधनैः ।
ततृपुः सर्ववर्णाश्च तस्मिन्यज्ञे मुदान्विताः ॥१६॥

अर्थ—वेदमन्त्रों की शिक्षा में निपुण महर्षियों ने उस विस्तृत यज्ञ में शास्त्रोक्त विधि से तिल, घृत, आदि सब हवन सामग्री की आहुतियों द्वारा वायु, जल आदि देवताओं को तृप्त किया तथा विद्वान् ब्राह्मणों को दक्षिणा,अन्न आदि महाधन से सन्तुष्ट किया गया, उस यज्ञ में केवल ब्राह्मण ही नहीं किन्तु सब वर्ण अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी परम आनन्द के साथ सन्तुष्ट और प्रसन्न किये गये ॥

इति एकोनविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ विंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततोऽभिषेचनीयेऽह्नि ब्राह्मणा राजभिः सह ।
अन्तर्वेदीं प्रविविशुः सत्कारार्हा महर्षयः ॥१॥
नारदप्रमुखास्तस्यामन्तर्वेद्यां महात्मनः ।
समासीनाः शुशुभिरे सह राजर्षिभिस्तदा ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! पूर्वोक्त यज्ञ के अन्त में जब अभिषेक का दिन आया तो पूजनीय महर्षि,

ब्राह्मण तथा राजा लोग वेदी स्थान के भीतर चलेगये, उस समय वेदी के भीतर सुखपूर्वक बैठे हुए महात्मा नारद आदि विप्र तथा राजर्षिलोग परम सुशोभित होते थे ॥

सा वेदिर्वेदसम्पन्नैर्देवद्विजमहर्षिभिः ।
आबभासे समाकीर्णा नक्षत्रैर्द्यौरिवायता ॥३॥
तां तु लक्ष्मीवतो लक्ष्मीं तदा यज्ञविधानजाम् ।
तुतोष नारदः पश्यन् धर्मराजस्य धीमतः ॥४॥
तस्मिन् धर्मविदां श्रेष्ठो धर्मराजस्य धीमतः ।
महाध्वरे महाबुद्धिस्तस्थौ स बहुमानतः ॥५॥

अर्थ—वेदि के सुशोभित करने वाले देव अर्थात् राजालोग, ब्राह्मण और महर्षियों से परिपूर्ण वह विशाल वेदी ऐसी शोभायमान प्रतीत होती थी जैसे तारागणों से परिपूर्ण आकाशमण्डल सुशोभित होता है, इस प्रकार यज्ञ के विधान से प्राप्त हुई २ बुद्धिमान् युधिष्ठिर की राज्यलक्ष्मी को देखकर नारद परम संतुष्ट हुए और महाबुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर के उस महान् राजसूययज्ञ में धर्मज्ञ पुरुषों में श्रेष्ठ नारदजी बड़े गौरव के साथ विराजमानरहे॥

ततो भीष्मोऽब्रवीद्राजन् धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
क्रियतामर्हणं राज्ञां यथार्हमिति भारत ॥६॥
आचार्यमृत्विजं चैव संयुजं च युधिष्ठिर ।
स्नातकं च प्रियं प्राहुःषडर्घार्हान नृपं तथा ॥७॥
एषामेकैकशो राजन्नर्घ आनीयतामिति ।
अथ चैषां वरिष्ठाय समर्थायोपनीयताम् ॥८॥

अर्थ–हे राजा जनमेजय! अभिषेक के पश्चात् भीष्मपितामह धर्मराज युधिष्ठिर से बोले कि हे भारतीय राजन्! अब आप राजा लोगों का यथायोग्य सत्कार कीजिये, हे युधिष्ठिर! आचार्य, ऋत्विज्=यज्ञ कराने वाला, संयुक्=श्वशुर, स्नातक, लोक प्रिय पुरुष और राजा, यह छः अर्घ्य=पूजन=सत्कार के अधिकारी बताये गये हैं, सो हे राजन्! इनमें से एक २ का पृथक् २ पूजन कीजिये अथवा इन सब में जो श्रेष्ठ और समर्थ हो उस एक का सन्मानपूर्वक प्रथम पूजन करें॥

युधिष्ठिर उवाच

कस्मै भवान् मन्यतेऽर्घमेकस्मै कुरुनन्दन।
उपनीयमानं युक्तं च तन्मे ब्रूहि पितामह॥ ९॥

अर्थ–तब युधिष्ठिर ने कहा कि हे कुरुवंश के आनन्दकारी पितामहजी! आपकी सम्मति में किस एक के लिये अर्घप्रदान करना उचित है सो आप बतावें॥

वैशम्पायन उवाच

ततो भीष्मः शान्तनवो बुद्ध्या निश्चित्य वीर्यवान्।
वार्ष्णेयं मन्यते कृष्णमर्हणीयतमं भुवि॥ १०॥
एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः॥११॥
असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः॥१२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! युधिष्ठिर के पूछने पर पराक्रमी शन्तनुपुत्र भीष्मजी ने बुद्धिद्वारा निश्चय किया कि वृष्णिवंशी कृष्णजी ही भूमण्डल पर सब से अधिक पूजनीय हैं, क्योंकि इन सब राजा आदिकों में कृष्णजी ही तेज, बल और पराक्रम से इस प्रकार देदीप्यमान हैं जैसे ग्रह नक्षत्रादिकों के मध्य भास्कर=सूर्य देदीप्यमान प्रतीत होता है, देखो हमारी यह सभा भी कृष्णजी के प्रताप से ऐसी प्रकाशित और आह्लादित हुई है जैसे अन्धकारमय स्थान सूर्य से प्रकाशित तथा वायुरहित स्थान वायु से आनन्दमय होजाता है ॥

तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान् ।
उपजह्रेऽथविधिवद् वार्ष्णेयायार्घमुत्तमम् ।
प्रतिजग्राह तत् कृष्णः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा ॥१३॥

अर्थ–इस प्रकार विचार करने के पश्चात् भीष्मजी ने प्रतापी सहदेव को वैसा करने की अनुमति दी और उसने विधिपूर्वक उत्कृष्टरूप से कृष्णजी को अर्घ्य प्रदान किया जिसको कृष्णजी ने शास्त्रोक्त रीति से स्वीकार किया ॥

शिशुपालस्तु तां पूजां वासुदेवे न चक्षमे ।
स उपालभ्य भीष्मं च धर्मराजं च संसदि ।
अपाक्षिपद्वासुदेवं चेदिराजो महाबलः ॥१४॥

अर्थ–इस प्रकार कृष्णजी का पूजन हुआ देखकर महाबली चन्देरीनरेश राजा शिशुपाल न सह सका और वह सभा में खड़ा होकर भीष्मपितामह तथा धर्मराज युधिष्ठिर पर कटाक्ष

करता हुआ वासुदव=श्रीकृष्ण पर इस प्रकार आक्षेप करने लगा कि:-

शिशुपाल उवाच

नायमर्हति वार्ष्णेयस्तिष्ठत्स्विह महात्मसु ।
महीपातिषु कौरव्य राजवत् पार्थिवार्हणाम् ॥१५॥
नायं युक्तः समाचारः पाण्डवेषु महात्मसु ।
यत्कामात् पुण्डरीकाक्षं पाण्डवार्चितवानसि ॥१६॥

अर्थ-हे युधिष्ठिर ! हे भीष्म ! इस सभा में ऐसे२ महात्माओं तथा राजाओं के होते हुए यह वृष्णिवंशी कृष्ण इस राजोचित सन्मान का अधिकारी नहीं, हे पाण्डुपुत्र ! तुम धर्मात्मा पाण्डव कहलाते हो तुम्हें यह व्यवहार उचित नहीं कि तुम स्वार्थ अर्थात् सम्बन्ध का विचार करके कृष्ण का पूजन करो ॥

बाला यूयं न जानीध्वं धर्मः सूक्ष्मो हि पाण्डवाः ।
अयं च स्मृत्यतिक्रान्तो ह्यापगेयोऽल्पदर्शनः॥१७॥
त्वादृशो धर्मयुक्तो हि कुर्वाणः प्रियकाम्यया ।
भवत्यभ्यधिकं भीष्म लोकेस्ववमतः सताम् ॥१८॥

अर्थ-हे पाण्डवो ! तुम लोग बालक हो इसलिये धर्म की सूक्ष्मता को नहीं जान सकते, परन्तु शोक है कि यह वृद्ध भीष्म भी अज्ञानी होगया और बूढ़ापे के कारण इसकी स्मृति नष्ट हो गई है, हे भीष्म ! तुझ जैसा धर्मातमा कहलाने वाला पुरुष यदि स्वार्थ की कामना से ऐसा अनुचित व्यवहार करे तो वह संसार में सज्जनों के आगे अत्यन्त निन्दनीय होता है ॥

कथं ह्यराजा दाशार्हो मध्ये सर्वमहीक्षिताम् ।
अर्हणामर्हति तथा यथा युष्माभिरर्चितः ॥१९॥
अथवा मन्यसे कृष्णं स्थविरं कुरुपुङ्गव ।
वसुदेवे स्थिते वृद्धे कथमर्हति तत्सुतः ॥२०॥

अर्थ—यह यदुवंशी कृष्ण राजा न होता हुआ भी इन सब राजाओं के बीच में इस प्रकार के सन्मान का अधिकारी कैसे होसकता है जैसाकि तुम लोगों ने किया, हे कुरुओं में श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! यदि तुम कृष्ण को बड़ा मानकर ऐसा करते हो तो कृष्ण के पिता वसुदेव के यहां होते हुए उनका पुत्र कैसे सन्मान पासकता है ? ॥

अथवा वासुदेवोऽपि प्रियकामोऽनुवृत्तवान् ।
द्रुपदे तिष्ठति कथं माधवोऽर्हति पूजनम् ॥२१॥
आचार्यं मन्यसे कृष्णमथवा कुरुनन्दन ।
द्रोणे तिष्ठति वार्ष्णेयं कस्मादर्चितवानसि ॥२२॥

अर्थ—हे कुरुवंश के आनन्दकारी युधिष्ठिर ! यदि तुम समझते हो कि कृष्ण ने तुम्हारे साथ सम्बन्ध किया हुआ है तो इससे बड़े सम्बन्धी "द्रुपद" के होते हुए कृष्ण कैसे पूजन का अधिकारी है ? और हे युधिष्ठिर ! यदि तुम वृष्णिवंशी कृष्ण को अपना आचार्य मानते हो तो द्रोणाचार्य की उपस्थिति में तुमने उनका सन्मान क्यों किया, क्योंकि बड़े आचार्य तो वही हैं ॥

ऋत्विजं मन्यसे कृष्णमथवा कुरुनन्दन ।
द्वैपायने स्थिते वृद्धे कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया ॥२३॥

भीष्मे शान्तनवे राजन् स्थिते पुरुषसत्तमे ।
स्वच्छन्दमृत्युके राजन् कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया ॥२४॥

अर्थ—हे कुरुनन्दन युधिष्ठिर! यदि तुम कृष्ण को ऋत्विज् मानते हो तो सब से बड़े ऋत्विज् वृद्ध व्यासजी की उपस्थिति में तुमने कृष्ण का क्यों पूजन किया, हे राजन्! यदि उत्तम पुरुष मानकर ऐसा किया गया है तो शन्तनु पुत्र पुरुषोत्तम भीष्मपितामह के होते हुए "जिन्होंने अपनी इच्छानुसार प्राणत्याग का सामर्थ्य प्राप्त किया हुआ है" कृष्ण का तुम ने क्यों सन्मान किया ? ॥

अश्वत्थाम्नि स्थिते वीरे सर्वशास्त्रविशारदे ।
कथं कृष्णस्त्वया राजन्नर्चितः कुरुनन्दन ॥२५॥
द्रुमं किंपुरुषाचार्यमतिक्रम्य त्वयार्चितः ।
भीष्मके चैव दुर्धर्षे पाण्डुवत्कृतलक्षणे ॥२६॥
नृपे च रुक्मिणि श्रेष्ठे एकलव्ये तथैव च ।
शल्ये मद्राधिपे चैव कथं कृष्णस्त्वयार्चितः ॥२७॥

अर्थ—हे कुरुनन्दन राजा युधिष्ठिर ! यदि तुमने वीरता के विचार से ऐसा किया है तो सम्पूर्ण युद्धशास्त्र में निपुण वीर "अश्वत्थामा" किन्नर जाति के आचार्य "द्रुम" राजा पाण्डु के समान विद्यानिधान दुर्जय वीर "भीष्मक" श्रेष्ठ राजा "रुक्मी" वीर "एकलव्य" तथा "मद्रनरेश" और वीर "शल्य" इन सब वीर पुरुषों के होते हुए तुमने कृष्ण का सन्मान क्यों किया जब कि उसमें वीरता का लेश भी नहीं ॥

अयं च सर्वराज्ञां वै बलश्लाघी महाबलः ।
जामदग्न्यस्य दयितः शिष्यो विप्रस्य भारत॥२८॥
येनात्मबलमाश्रित्य राजानो युधि निर्जिताः ।
तं च कर्णमतिक्रम्य कथं कृष्णस्त्वयार्चितः ॥२९॥

अर्थ–हे भरतवंशी राजन् ! यह सब राजाओं में श्रेष्ठ महाबली विप्र परशुराम का प्यारा शिष्य भी यहां विद्यमान है, जिस वीर ने केवल अपने बल के ही आश्रय पर सब राजाओं को युद्ध में विजय किया था उस वीर कर्ण का उल्लङ्घन करके तुमने कृष्ण का पूजन क्यों किया ? ॥

नैव ऋत्विङ् न चाचार्यो न राजा मधुसूदनः ।
अर्चितश्च कुरुश्रेष्ठ किमन्यत् प्रियकाम्यया ॥३०॥
अथवाभ्यर्चनीयोऽयं युष्माकं मधुसूदनः ।
किं राजभिरिहानीतैरवमानाय भारत॥३१॥

अर्थ–हे कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिर ! यह कृष्ण न ऋत्विज्, न आचार्य और नाही कोई राजा है तो फिर तुमने अपना क्या लाभ समझकर इसका सर्वोत्कृष्ट पूजन किया है, हे भारतीय राजन् ! यदि तुमने यह निश्चय ही ठान लिया था कि कृष्ण का पूजन अवश्य करना है तो इन राजा लोगों को अपने यहां बुलाकर सबका क्यों अपमान किया ? ॥

वयं तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः ।
प्रयच्छामः करान् सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनात्॥३२॥

अस्य धर्मे प्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः ।
करानस्मै प्रयच्छामः सोऽयमस्मान्न मन्यते ॥३३॥

अर्थ—हम सब राजा लोग इस कृष्ण के भय वा किसी लालच अथवा किसी प्रकार की सन्धि से राजा को "कर" नहीं देते किन्तु इस महात्मा कुन्तिपुत्र युधिष्ठिर के भय से कर देते हैं, या यों कहो कि हम सब राजा लोग इस महात्मा युधिष्ठिर के भय से वा किसी प्रकार के लोभ अथवा सन्धि के वश होकर "कर" नहीं देते, किन्तु हम लोग इस धर्मनिष्ठ राजा युधिष्ठिर को सम्राट् बनाने के लिये "कर" देते हैं, परन्तु यह हम लोगों को कुछ समझता ही नहीं अर्थात् हम सब राजा लोग इसको धर्मात्मा राजा समझकर ही अपना सम्राट् बनाना चाहते और "कर" देते हैं इसके भय से भयभीत होकर नहीं, इसलिये इसको भी हम राजा लोगों का सन्मान करना उचित है ॥

किमन्यदवमानाद्धि यदेनं राजसंसदि ।
अप्राप्तलक्षणं कृष्णमर्घेणार्चितवानसि ॥ ३४ ॥
अकस्माद्धर्मपुत्रस्य धर्मात्मेति यशो गतम् ।
को हि धर्मच्युते पूजामेवं युक्तां नियोजयेत् ॥३५॥

अर्थ—इससे बढ़कर राजा लोगों का और क्या अपमान होगा कि राजसभा में सब राजाओं को त्यागकर कुलक्षणी कृष्ण का अर्घ द्वारा पूजन कियागया, शोक है कि बिना कारण ही धर्मपुत्र युधिष्ठिर का धर्मात्मापन का प्रसिद्ध यश जाता रहा, कौन ऐसा बुद्धिमान् पुरुष है जो धर्मच्युत पुरुष का इस प्रकार पूजन करे ॥

योऽयं वृष्णिकुले जातो राजानं हतवान् पुरा ।
जरासन्धं महात्मानमन्यायेन दुरात्मवान् ॥ ३६ ॥
अद्य धर्मात्मता चैव व्यपकृष्टा युधिष्ठिरात् ।
दर्शितं कृपणत्वं च कृष्णोऽर्घस्य निवेदनात् ॥३७॥

अर्थ—यह वही दुष्टात्मा कृष्ण है जिसने वृष्णिवंश में जन्म लेकर भी पहले महात्मा जरासन्ध राजा को अन्याय = छल से मारा था, आज इसने युधिष्ठिर का धर्मात्मापन भी दूर करदिया, क्योंकि कृष्ण को अर्घदान करने से इसने आज अपनी नीचता पूर्ण रूप से दिखलादी है ॥

यदि भीताश्च कौन्तेयाः कृपणाश्च तपस्विनः ।
ननु त्वयापि बोद्धव्यं यां पूजां माधवार्हसि ॥३८॥
अथवा कृपणैरेतामुपनीतां जनार्दन ।
पूजामनर्हः कस्मात्त्वमभ्यनुज्ञातवानसि ॥ ३९ ॥

अर्थ—हे कृष्ण! माना कि यह कुन्ती के पुत्र विचारे डरपोक और नीच हैं पर तुझे भी तो यह सोचना चाहिये था कि तू किस प्रकारकी पूजा के योग्य है, हे जनार्दन! जब तू इस पूजा के योग्य नहीं तो इन नीच पुरुषों के किये पूजन को तैंने कैसे स्वीकार करलिया ? ॥

अयुक्तामात्मनः पूजां त्वं पुनर्बहु मन्यसे ।
हविषः प्राप्य निस्यन्दं प्राशिता श्वेव निर्जने॥४०॥
न त्वयं पार्थिवेन्द्राणामपमानः प्रयुज्यते ।
त्वामेव कुरवो व्यक्तं प्रलम्भन्ते जनार्दन ॥ ४१ ॥

अर्थ–हे कृष्ण ! वास्तव में बात यह है कि तू अयोग्य होकर भी इस पूजन से अपने को धन्य २ मानता है जैसे सूने वन में हवि का भाग पाकर कुत्ता प्रसन्न होता है,हे जनार्दन ! तू यह मत समझ कि यह राजा लोगों का अपमान कियागया है किंतु सब कुरुवंशी भी खुल्लमखुल्ला तुझे ही दोषी ठहराते हैं ॥

क्लीबे दारक्रिया यादृगन्धे वा रूपदर्शनम् ।
अराज्ञो राजवत्पूजा तथा ते मधुसूदन ॥ ४२ ॥
दृष्टो युधिष्ठिरो राजा दृष्टो भीष्मश्च यादृशः ।
वासुदेवोऽप्ययं दृष्टः सर्वमेतद्यथातथम् ॥ ४३ ॥

अर्थ–हे कृष्ण ! जैसे नपुंसक के साथ विवाह करना और अन्धे को रूप का दर्शन कराना व्यर्थ है वैसे ही राजा न होते हुए तेरा राजा की भांति पूजन करना भी वृथा है, राजा युधिष्ठिर, भीष्म तथा कृष्ण भी जैसे हैं देखे गये, यह सब जैसे सुने थे वैसे ही निकले ॥

इत्युक्त्वा शिशुपालस्तानुत्थाय परमासनात् ।
निर्ययौ सदसस्तस्मात्सहितो राजभिस्तदा ॥४४॥

अर्थ–राजा शिशुपाल उन सब के प्रति इस प्रकार के वचन कहकर अपने साथी राजाओं समेत उत्तम आसन से उठकर सभाभवन से चलदिया ॥

इति विंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकविंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा शिशुपालमुपाद्रवत् ।
उवाच चैवं मधुरं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥१॥
नेदं युक्तं महीपाल यादृशं वै त्वमुक्तवान् ।
अधर्मश्च परो राजन् पारुष्यं च निरर्थकम् ॥२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय! तत्पश्चात् महाराज युधिष्ठिर शीघ्र ही शिशुपाल के समीप पहुंचे और सान्त्वनापूर्वक इसप्रकार मधुर वचन बोले कि हे राजन्! आपने जिस प्रकार भाषण किया है सो ठीक नहीं, यह बड़े अधर्म की बात और वृथा की कठोरता है॥

न हि धर्मं परं जातु नावबुध्येत पार्थिवः ।
भीष्मःशान्तनवस्त्वेनं मावमंस्थाः कदाचन ॥३॥
पश्य चैतान्महीपालान् त्वत्तो वृद्धतरान् बहून् ।
मृष्यन्ते चार्हणां कृष्णे तद्वत् त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥४॥
वेद तत्त्वेन कृष्णं हि भीष्मश्चेदिपते भृशम् ।
न ह्येनं त्वं तथा वेत्थ यथैनं वेद कौरवः ॥५॥

अर्थ–हे राजन्! यह बात कभी नहीं होसकती कि शन्तनु-पुत्र भीष्मपितामहजी धर्म का ज्ञान न रखते हों, सो आप इनका

कदापि अपमान न करें, हे पार्थ ! देखो आपसे बहुत बड़े २ राजा लोगों को कृष्ण का पूजन स्वीकृत है सो तुम्हें भी क्षमा करना योग्य है, हे चन्देरीनरेश ! कृष्ण के विषय में कुरुवंशी भीष्मपितामह जितना कुछ यथार्थ ज्ञान रखते हैं उतना आप नहीं जानते ॥

भीष्म उवाच

नास्मै देयो ह्यनुनयो नायमर्हति सान्त्वनम् ।
लोकवृद्धतमे कृष्णे योऽर्हणां नाभिमन्यते ॥६॥

अर्थ—भीष्मपितामह बोले कि हे युधिष्ठिर ! इस शिशुपाल की अनुनय=विनति मत करो यह अनुनय के योग्य नहीं जो भूमण्डल में ज्ञानवृद्ध श्रीकृष्णजी जैसे पुरुष को सहन नहीं करसकता, और:—

क्षत्रियः क्षत्रियं जित्वा रणकृतां वरः ।
यो मुञ्चति वशे कृत्वा गुरुर्भवति तस्य सः ॥७॥
अस्यां हि समितौ राज्ञामेकमप्यजितं युधि ।
न पश्यामि महीपालं सात्त्वतीपुत्र तेजसा ॥८॥

अर्थ—यह सिद्धान्त है कि जो श्रेष्ठ युद्धवीर क्षत्रिय किसी क्षत्रिय को युद्ध में जीत अपने अधीन करके छोड़देता है वह उससे बड़ा होता है, मैं इस राजसभा में किसी भी राजा को ऐसा नहीं देखता जिसको सात्वतीपुत्र युधिष्ठिर ने युद्ध में न जीता हो, इसलिये युधिष्ठिर ही इन सब का विजयी और बड़ा है ॥

न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः ।
त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः ॥९॥

कृष्णेन हि जिता युद्धे बहवः क्षत्रियर्षभाः ।
जगत्सर्वं च वार्ष्णेये निखिलेन प्रतिष्ठितम् ॥१०॥
तस्मात् सत्स्वपि वृद्धेषु कृष्णमर्चाम नेतरान् ।
एवं वक्तुं न चार्हस्त्वं माभूत्ते बुद्धिरीदृशी ॥११॥

अर्थ–यह महाबाहु अच्युत कृष्ण केवल हम लोगों के ही परम पूजनीय नहीं किन्तु यह तीनों लोकों के पूज्य हैं, देखो कृष्णजी ने बहुत से क्षत्रिय वीरों को युद्ध में विजय करने के कारण सारा संसार वृष्णिवंशी कृष्ण की पूर्णतया प्रतिष्ठा करता है इस कारण अन्य वृद्ध पुरुषों के होते हुए भी मैं कृष्णजी का पूजन करता हूं ओरों का नहीं, सो तुम्हें इस प्रकार के वचन कहने योग्य नहीं और न तुम्हें ऐसा विचार ही उत्पन्न होना चाहिये था ॥

ज्ञानवृद्धा मया राजन् बहवः पर्युपासिताः ।
तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान् ॥१२॥
समागतां नामश्रौषं बहून् बहुमतान् सताम् ।
कर्माण्यपि हि यान्यस्य जन्मप्रभृति धीमतः ।
बहुशः कथ्यमानानि नरैर्भूय श्रुतानि मे ॥१३॥

अर्थ–हे राजा शिशुपाल ! मैंने बहुत से ज्ञानवृद्ध महात्माओ की सङ्गति की है जो महात्मा मुझे मिले उन सब के मुख से मैंने इस गुणसम्पन्न महाबुद्धिमान् शूरसन्तान कृष्ण के जन्म से लगाकर अब तक के बड़े २ उत्कृष्ट गुण और कर्म जो सज्जनसमाज में परम आदरणीय हैं अनेक बार श्रवण किये हैं ॥

न केवलं वयं कामाच्चेदिराज जनार्दनम् ।
न सम्बन्धं पुरस्कृत्य कृतार्थं वा कथंचन ॥१४॥
अर्चामहेऽर्चितं सद्भिर्भुविभूतसुखावहम् ।
यशः शौर्यं जयं चास्य विज्ञायार्चां प्रयुंज्महे ॥१५॥

अर्थ—हे चन्देरीनरेश ! हम लोग किसी स्वार्थ से वा सम्बन्ध को सामने रखकर अथवा किसी पहले किये हुए उपकार के बदले कृष्ण का सन्मान नहीं करते प्रत्युत हम इनको भूमण्डल भर के विद्वानों से सन्मानित तथा सब प्राणियों के सुखदाई मानकर इनके यश, शूरता और विजय आदि गुणों का विचार करके पूजन करते हैं ॥

न च कश्चिदिहास्माभिः सुबालोऽप्यपरीक्षितः ।
गुणैर्वृद्धानतिक्रम्य हरिरर्च्यतमो मतः ॥१६॥
ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ।
वैश्यानां धान्यधनवान् शूद्राणामेव जन्मतः ॥१७॥
पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ ।
वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा ।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टःकेशवादृते॥१८॥

अर्थ—हे शिशुपाल! तुम यह मत समझो कि हम लोगों ने विना ही परीक्षा किये अन्य गुणवृद्ध पुरुषों को छोड़कर अल्पायु कृष्ण को सबसे अधिक पूजनीय माना है, देखो ब्राह्मणों में ज्ञान से, क्षत्रियों में बल से, वैश्यों में धनधान्य से तथा शूद्रों में जन्म

से बड़प्पन माना जाता है किन्तु गोरक्षक कृष्णजी के पूज्य होने में दोनों हेतु विद्यमान हैं प्रथम वेदवेदाङ्गों का विशेष ज्ञान और दूसरे सब से अधिक बल, इसलिये केशव=कृष्ण से अतिरिक्त संसार में कौन पुरुष सर्वोत्तम है ॥

दानं दाक्ष्यं श्रुतं वीर्यं ह्रीः कीर्त्तिर्बुद्धिरुत्तमा ।
सन्ततिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताऽच्युते॥१९॥
तमिमं लोकसम्पन्नमाचार्यं पितरं गुरुम् ।
अर्घ्यमर्चितमर्चार्हं सर्वे संमन्तुमर्हथ ॥२०॥
ऋत्विग्गुरुर्विवाह्यश्च स्नातको नृपतिः प्रियः ।
सर्वमेतद् हृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः ॥२१॥

अर्थ–दान, सरलता, विज्ञान, पराक्रम, लज्जा, कीर्त्ति, उत्कृष्ट-बुद्धि, नम्रता, लक्ष्मी वा शोभा, धैर्य, संतोष, पुष्टि यह सब गुण कृष्ण में स्वाभाविक हैं, हे राजालोगो ! यह कृष्ण ही संसार का भूषण, आचार्य, पिता, गुरु, माननीय, ऋत्विज, गुरु द्वारा विवाह किये जाने योग्य स्नातक, राजा वा लोकप्रिय आदि सब कुछ यही है और इसीलिये इस हृषीकेश=जितेन्द्रिय तथा अच्युत=कर्तव्य से भ्रष्ट न होने वाले श्रीकृष्ण का यहां पूजन किया गया है सो आप लोगों को यह कार्य स्वीकार करना योग्य है ॥

यो हि धर्मं विचिनुयादुत्कृष्टं मतिमान्नरः ।
स वै पश्येद्यथा धर्मं न तथा चेदिराडयम् ॥२२॥
स वृद्धबालेष्वथवा पार्थिवेषु महात्मसु ।
को नार्हं मन्यते कृष्णं को वाप्येनं पूजयेत्॥२३॥

अथैनां दुष्कृतां पूजां शिशुपालो व्यवस्यति ।
दुष्कृतायां यथान्यायं तथायं कर्तुमर्हति ॥२४॥

अर्थ-जो बुद्धिमान् मनुष्य धर्मसंचय वा अन्वेषण करता रहे वही धर्म के तत्त्व को समझकर उत्कृष्ट होसकता है न कि यह चन्देरीनरेश शिशुपाल, इस सभा में वृद्ध पुरुषों से लगाकर बच्चों तक में कौन ऐसा पुरुष है जो कृष्ण को अयोग्य समझे वा उस का पूजन न करे, अस्तु, यह पूजा तो बुरी वा भली जैसी कुछ हुई सो होचुकी अर्थात् अब यह हट नहीं सकती, यदि शिशुपाल इसको अनुचित समझता है तो न्याय के अनुसार इसको यथेष्ट कार्य करना योग्य है ॥

इति एकविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ द्वाविंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततो भीष्मो विरराम महाबलः ।
व्याजहारोत्तरं तत्र सहदेवोऽर्थवद्वचः ॥१॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! महाबली भीष्मपितामह इतना कहकर चुप होगये, इसके अनन्तर सहदेव इस प्रकार युक्तियुक्त वचन बोला कि :—

केशवं केशिहन्तारमप्रमेयपराक्रमम् ।
पूज्यमानं मया यो वः कृष्णं न सहते नृपाः ॥ २ ॥

सर्वेषां बलिनां मूर्ध्नि मयेदं निहितं पदम् ।
एवमुक्ते मया सम्यगुत्तरं प्रब्रवीतु सः ॥ ३ ॥
मतिमन्तश्च ये केचिदाचार्यं पितरं गुरुम् ।
अर्च्यमर्चितमर्घार्हमनुजानन्तु ते नृपाः ॥ ४ ॥

अर्थ–"केशी" नामक दस्यु के मारने वाले महान् पराक्रमी कृष्णजी के मुझसे किये हुए पूजन को यदि तुम लोगों में से कोई राजा सहन नहीं करसकता तो मैं सब बलवानों के सिर पर यह अपनी लात रखता हूं और वह पुरुष मेरी बात का उत्तर दे, किंतु जो राजा लोग आप लोगों में बुद्धिमान् हैं वह पूजनीय कृष्णजी को ही आचार्य, पिता और गुरु के समान मानकर उनके पूजन को स्वीकार करें ॥

ततो न व्याजहारैषां कश्चिद्‌बुद्धिमतां सताम् ।
मानिनां बलिनां राज्ञां मध्ये वै दर्शिते पदे ।
ततोऽपतत् पुष्पवृष्टिः सहदेवस्य मूर्धनि ॥ ५ ॥

अर्थ–सहदेव ने पूर्वोक्त वचन कहकर अपना पांव अभिमानी बलवान् राजाओं के मध्य में स्थापित कर दिखाया, परंतु बुद्धिमान् सज्जन राजाओं के मध्य में से किसी राजा ने खड़े होकर उत्तर न दिया तब सहदेव के मस्तक पर पुष्पों की वर्षा होने लगी ॥

सर्वसंशयनिर्मोक्ता नारदः सर्वलोकवित् ।
उवाचाखिलभूतानां मध्ये स्पष्टतरं वचः ॥ ६ ॥

कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः ।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचन ॥७॥

अर्थ—तत्पश्चात् सम्पूर्ण लोकों का वृत्तान्त जानने वाले तथा सब संशयों को दूर करने वाले नारदमुनि सब मनुष्यों के बीच में खड़े होकर सहदेव के वचनों की पुष्टि में बोले कि कमल के समान सुन्दर नेत्रों वाले कृष्ण भगवान् का पूजन जो मनुष्य न करेंगे वह जीते ही मृतक के समान हैं और उनसे सम्भाषण करना भी योग्य नहीं ॥

वैशम्पायन उवाच

पूजयित्वा च पूजार्हान् ब्रह्मक्षत्रविशेषवित् ।
सहदेवो नृणां देवः समापयत कर्म तत् ॥ ८ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! तदनन्तर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि की विशेषता समझने वाले मनुष्यों में देवसमान सहदेव ने सबका यथायोग्य सन्मान करके राजसूययज्ञ के कार्य को समाप्त किया ॥

तस्मिन्नभ्यर्चिते कृष्णे सुनीथः शत्रुकर्षणः ।
अतिताम्रेक्षणः कोपादुवाच मनुजाधिपान् ॥ ९ ॥
स्थितः सेनापतिर्योऽहं मन्यध्वं किन्तु सांप्रतम् ।
युधि तिष्ठाम सन्नह्य समेतान् वृष्णिपाण्डवान् ॥१०॥

अर्थ—तत्पश्चात् उस यज्ञ में कृष्ण के पूजन को देखकर अत्यन्त लाल २ आखें किये हुए शत्रुघातक "सुनीथ" ने क्रोधित होकर राजाओं से कहा कि हे राजाओ ! मैं सेनापति युद्ध के

लिये खड़ा हूं आप लोग क्या देख रहे हैं ? अब हमें आवश्यक है कि वृष्णिवंशियों तथा पाण्डवों को आह्वान करके उन सबके साथ युद्ध के लिये तैयार होजावें ॥

इति सर्वान् समुत्साह्य राज्ञस्तान् चेदिपुङ्गवः ।
यशोऽपघाताय ततः सोऽमन्त्रयत राजभिः ॥ ११ ॥
तत्राहूता गताः सर्वे सुनीथप्रमुखा गणाः ।
सम दृश्यन्त संक्रुद्धा विवर्णवदनास्तथा ॥ १२ ॥

अर्थ—चन्देरीनरेश राजा शिशुपाल ने इस प्रकार सब राजाओं को उत्तेजित करके कृष्ण और पाण्डवों का यश दूर करने के लिये सब राजाओं को बुलवाकर मन्त्रणा=सलाह की, राजा शिशुपाल के बुलाने पर सुनीथ आदि सब सभा में जा बिराजे, उस समय क्रोध के मारे उन सब राजाओं के मुखों का रंग विगड़ गया था ॥

युधिष्ठिराभिषेकं च वासुदेवस्य चार्हणम् ।
न स्याद्यथा तथा कार्यमेवं सर्वे तदाब्रुवन् ॥ १३ ॥
निष्कर्षान्निश्चयात्सर्वे राजानः क्रोधमूर्छिताः ।
अब्रुवंस्तत्र राजानो निर्वेदादात्मनिश्चयात् ॥१४॥

अर्थ—तब राजसभा में सब राजाओं ने खड़े होकर एक स्वर से कहा कि जिस उपाय से युधिष्ठिर का राज्याभिषेक तथा कृष्ण का पूजन न हो वही उपाय करना आवश्यक है, क्रोध के मारे बेसुध से हुए २ राजा लोगों ने विश्वास और निश्चय के साथ तथा स्वावलम्बन को ग्रहण करके खेदयुक्त उपरोक्त वचन कहे ॥

सुहृद्भिर्वार्यमाणानां तेषां हि वपुराबभौ ।
आमिषादपकृष्टानां सिंहानामिव गर्जताम् ॥१५॥
तं बलौघमपर्यन्तं राजसागरमक्षयम् ।
कुर्वाणं समयं कृष्णो युद्धाय बुबुधे तदा ॥१६॥

अर्थ—उन राजा लोगों के बुद्धिमान् मित्र उन्हें रोकते थे परन्तु उनका शरीर और भी अधिक क्रोधपूर्ण होता जाता था, जैसे मांस से हटाकर दूर किये गर्जते हुए सिंहों का क्रोध अधिक बढ़ता है, जब कृष्णजी ने देखा कि यह असंख्य सेनाओं का समूह और महान् राजसागर=राजाओं का समुदाय हमारे विरुद्ध उपस्थित है तब उनके नाश का समय समझकर युद्ध करना ही उचित समझा ॥

इति द्वाविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ त्रिविंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

ततः सागरसङ्काशं दृष्ट्वा नृपतिमण्डलम् ।
संवर्त्तवाताभिहतं भीमं क्षुब्धमिवार्णवम् ॥१॥
रोषात्प्रचलितं सर्वमिदमाह युधिष्ठिरः ।
भीष्मं मतिमतां मुख्यं वृद्धं कुरुपितामहम् ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय! महाराज युधिष्ठिर ने जब देखा कि वह राजमण्डल प्रलयकाल की तीव्रवायु से चलायमान भयानक

समुद्र के समान क्रोध के वेग से विचलित होचला तब वह कुरुओं के वृद्ध पितामह बुद्धिमानों में श्रेष्ठ भीष्मजी से बोले कि :—

असौ रोषात् प्रचलितो महान्नृपतिसागरः ।
अत्र यत्प्रतिपत्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥३॥
यज्ञस्य च न विघ्नः स्यात्प्रजानां च हितं भवेत् ।
यथा सर्वत्र तत्सर्वं ब्रूहि मेऽद्य पितामह ॥४॥

अर्थ--हे पितामह ! यह महान् राजसमुदायरूपी समुद्र क्रोध से चलायमान होगया है सो इस विषय में हमें जो कुछ कर्तव्य हो वह आप बताइये, हे पितामह ! ऐसा उपाय कीजिये जिससे यज्ञ में विघ्न न हो और न प्रजाओं की भी किञ्चिन्मात्र हानि हो प्रत्युत हित हो ॥

इत्युक्तवति धर्मज्ञे धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
उवाचेदं वचो भीष्मस्ततः कुरुपितामहः॥५॥
माभैस्त्वं कुरुशार्दूलश्वा सिंहं हन्तुमर्हति ।
शिवः पन्थाः सुनीतोऽत्र मया पूर्वतरंकृतः ॥६॥

अर्थ—धर्मराज युधिष्ठिर के उक्त प्रकार पूछने पर पितामह भीष्मजी ने कहा कि हे कुरुवंशियों में श्रेष्ठ राजन्! तुम घबराओ मत क्या कुत्ता भी सिंह को मारसक्ता है, मैंने इसका उपाय पहले ही विचारकर स्थिर किया हुआ है ॥

प्रसुप्ते हि यथा सिंहे श्वानस्तस्मिन् समागताः ।
भषेयुः सहिताः सर्वे तथेमे वसुधाधिपाः ॥७॥

वृष्णिसिंहस्य सुप्तस्य तथामी प्रमुखे स्थिताः ।
भषन्ते तात संक्रुद्धाः श्वानः सिंहस्य संनिधौ ॥८॥

अर्थ—हे राजन् ! जैसे सोते हुए सिंह के समीप कुत्ते इकट्ठे होकर भोंकने लगें, ठीक वैसे ही "इन राजाओं का हाल है" वृष्णिवंशी सिंह कृष्णजी अभी तक क्रोध न आने से सोये हुए के समान शान्त हैं उनके सन्मुख यह क्रोधित राजा लोग कुत्तों के समान भोंक रहे हैं ॥

न हि सम्बुध्यते यावत् सुप्तः सिंह इवाच्युतः ।
तेन सिंहीकरोत्येतान् नृसिंहश्चेदिपुङ्गवः ॥ ९ ॥
पार्थिवान् पार्थिवश्रेष्ठः शिशुपालोऽप्यचेतनः ।
सर्वान् सर्वात्मना तात नेतुकामो यमक्षयम् ॥१०॥

अर्थ—हे वत्स युधिष्ठिर ! जब तक सोये हुए सिंह के समान कृष्णजी नहीं चेतते तब तक ही यह सिंहपुरुष चंदेरीनरेश राजा शिशुपाल अन्यान्य राजाओं को भड़काकर सिंह बना रहा है, परंतु उसे भी यह ज्ञान नहीं है कि वह सब राजाओं को मौत के घर लेजाने का यत्न कर रहा है ॥

नूनमेतत्समादातुं पुनरिच्छत्यधोक्षजः ।
यदस्य शिशुपालस्य तेजस्तिष्ठति भारत ॥ ११ ॥
विप्लुता चास्य भद्रं ते बुद्धिर्बुद्धिमतांवर ।
चेदिराजस्य कौन्तेय सर्वेषां च महीक्षिताम् ॥ १२ ॥

अर्थ—हे बुद्धिमानों में श्रेष्ठ भारतीय राजन् युधिष्ठिर ! तुम निश्चय जानो कि शिशुपाल जो अभी तक अपना प्रताप दिखा

रहा है इससे अनुमान होता है कि कृष्णजी अवश्य ही इसका संहार करेगें, हे कुन्तीपुत्र ! तुम्हारा कल्याण हो, देखो इस चंदेरीनरेश शिशुपाल तथा इसके सब साथी राजाओं की बुद्धि भ्रष्ट होरही है ॥

वैशम्पायन उवाच

इति तस्य वचः श्रुत्वा ततश्चेदिपतिर्नृपः ।
भीष्मंरूक्षाक्षरावाचः श्रावयामास भारत ॥ १३ ॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे भारतीय राजा जनमेजय ! तब चेदिराज शिशुपाल भीष्मपितामह के पूर्वोक्त वचन सुनकर उनको इस प्रकार कठोर वचन सुनाने लगा ॥

शिशुपाल उवाच

बिभीषिकाभिर्बह्वीभिर्भीषयन्सर्वपार्थिवान् ।
नव्यपत्रपसेकस्माद् वृद्धः सन् कुलपांसन ॥१४॥
युक्तमेतत् तृतीयायां प्रकृतौ वर्त्तता त्वया ।
वक्तुं धर्मादपेतार्थं त्वं हि सर्वकुरूत्तमः ॥१५॥

अर्थ-शिशुपाल बोला कि हे कुल को कलंकित करने वाले भीष्म! तू वृद्ध होकर सब राजाओं को अनेक प्रकार के वृथा डरावे दिखाकर भयभीत करना चाहता है क्या तुझे लज्जा नहीं आती, आयु के तीसरे भाग अर्थात् बुढ़ापे में पहुंचकर तुझे ऐसा धर्मविरुद्ध भाषण करना उचित नहीं, क्योंकि तू ही सब कुरुओं में उत्तम है ॥

नावि नौरिव संबद्धा यथान्धोऽवान्धमन्वियात् ।
तथा भूता हि कौरव्या येषां भीष्म त्वमग्रणीः ॥१६॥

पूतनाघातपूर्वाणि कर्माण्यस्य विशेषतः ।
त्वया कीर्त्तयतास्माकं भूयः प्रव्यथितं मनः ॥१७॥

अर्थ—हे भीष्म ! जैसे नाव में बांधी हुई नाव वा अन्धे के पीछे चलने वाला अन्धा बच नहीं सकता, ऐसे ही यह कुरुवंशी लोग हैं, जिनका तू मुखिया है, हे भीष्म ! तैने कृष्ण के "पूतना" नामक राक्षसी के मारने से आरम्भ करके सब कर्म बखानते हुए हमारे मन को बड़ा दुःखित करदिया है ॥

अवलिप्तस्य मूर्खस्य केशवं स्तोतुमिच्छतः ।
कथं भीष्म न ते जिह्वा शतधेयं विदीर्यते ॥१८॥
यत्र कुत्सा प्रयोक्तव्या भीष्म बालतरैर्नरैः ।
तमिमं ज्ञानवृद्धः सन् गोपं संस्तोतुमिच्छसि ॥१९॥

अर्थ—हे भीष्म ! तू मूर्खता और घमण्ड के साथ जो कृष्ण की स्तुति करना चाहता है तो तेरी जिह्वा के सौ २ टुकड़े क्यों नहीं होजाते, हे भीष्म ! जिस कृष्ण की निन्दा बच्चे २ कोकरनी उचित है तू ज्ञानवृद्ध होकर उस ग्वाले की स्तुति करना चाहता है॥

यद्यनेन हता बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्रकिम् ।
तौ वाश्ववृषभौ भीष्म यौ न युद्धविशारदौ ॥२०॥
चेतना रहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम् ।
पादेन शकटं भीष्म तत्र किं कृतमद्भुतम् ॥२१॥
वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः ।
तदा गोवर्द्धनो भीष्म न तच्चित्रं मतं मम ॥२२॥

अर्थ—हे भीष्म ! यदि इसने बालकपन में किसी पक्षी को मारडाला तो इसमें क्या आश्चर्य की बात थी अथवा यदि घोड़े और बैल को मारडाला तो इसमें क्या वीरता हुई, क्योंकि वह पशु युद्ध करना क्या जानें, इसी प्रकार यदि अचेतन गाड़ी को पांव की ठोकर से इसने गिराया था तो इसमें कौन आश्चर्य वा पराक्रम दिखाया और यदि गोवर्द्धन पर्वत का बांबी के समान कोई पत्थर सात दिन तक उठाये रखा तो मैं इसको कोई आश्चर्य की बात नहीं मानता ॥

भुक्तमेतेन बह्वन्नं क्रीडता नगमूर्द्धनि ।
इति ते भीष्म शृण्वानाः परं विस्मयमागताः ॥२३॥
यस्य चानेन धर्मज्ञ भुक्तमन्नं बलीयसः ।
स चानेन हतः कंस इत्येतन्न महाद्भुतम् ॥२४॥

अर्थ—हे भीष्म ! तैने जो यह कहा कि इसने पर्वत के ऊपर खेलते हुए बहुतसा अन्न खाडाला, इसे सुनकर तो हमें बड़ा ही आश्चर्य हुआ, और हे भीष्म ! जिस महाबली कंस राजा का इसने अन्न खाया था उसे ही इसने मारडाला, यह भी क्या आश्चर्य की बात है ॥

न ते श्रुतमिदं भीष्म नूनं कथयतां सताम् ।
यद्वक्ष्ये त्वामधर्मज्ञं वाक्यं कुरुकुलाधम ॥२५॥
स्त्रीषु गोषु न शस्त्राणि पातयेद्ब्राह्मणेषु च ।
यस्य चान्नानि भुञ्जीत यत्र च स्यात्प्रतिश्रयः ॥२६॥

इति सन्तोऽनुशासन्ति सज्जनं धर्मिणः सदा ।
भीष्म लोके हि तत्सर्वं वितथं त्वयि दृश्यते ॥२७॥

अर्थ—हे कुरुवंश में नीच, धर्म से अज्ञात भीष्म ! तैने जिन कथक्कड़ों की सङ्गति करके कृष्ण की प्रशंसा सुनी है उन से वह बातें नहीं सुनी हैं जो मैं तुझे बतलाता हूं, धर्मात्मा सत्पुरुष लोग सदाचारी पुरुष के लिये सदा उपदेश करते हैं कि "स्त्रियों, गौओं, ब्राह्मणों तथा जिसका अन्न खाया हो उस पर शस्त्र नहीं चलाना चाहिये" परन्तु हे भीष्म ! तू सब बातें इससे विरुद्ध ही प्रकट कर रहा है ॥

ज्ञानवृद्धं च वृद्धं च भूयांसं केशवं मम ।
अजानत इवाख्यासि संस्तुवन् कौरवाधम ॥२८॥
संभावयति चाप्येवं तद्वाक्याच्च जनार्दनः ।
एवमेतत्सर्वमिति तत्सर्वं वितथं ध्रुवम् ॥२९॥

अर्थ—हे कुरुवंशियों में अधम भीष्म ! तू मेरे प्रति कृष्ण की प्रशंसा करके उसे बड़ा ज्ञानवृद्ध और बलवृद्ध बतारहा है कि मानो मैं उसके विषय में कुछ जानता ही नहीं, और तेरे वचनों को कृष्ण भी "यह सब ठीक है" ऐसा कहकर अनुमोदन करता जाता है निःसन्देह यह सब झूठ है ॥

को हि धर्मिणमात्मानं जानन् ज्ञानविदांवरः ।
कुर्याद्यथा त्वया भीष्म कृतं धर्ममवेक्षता ॥३०॥
अन्यकामा हि धर्मज्ञा कन्यका प्राज्ञमानिना ।
अम्बा नामेति भद्रं ते कथं सापहृता त्वया ॥३१॥

तां त्वयापिहृतां भीष्म कन्यां नैषितवान्यतः ।
भ्राता विचित्रवीर्यस्ते सतां मार्गमनुष्ठितः ॥३२॥

अर्थ–हे ज्ञानियों में श्रेष्ठ भीष्म ! कौन ऐसा पुरुष है जो अपने आपको ज्ञानी मानता हुआ ऐसा कार्य करेगा जैसा तैने धर्म का विचार करते हुए किया था "अम्बा" नामक धर्मज्ञ कन्या जो अन्य पुरुष से विवाह करना चाहती थी तैने अपने को पण्डित मानते हुए भी उसे क्यों हरण किया ? तेरा भला हो परन्तु हे भीष्म ! तेरा भाई विचित्रवीर्य जो सत्पुरुषों के मार्ग पर चलने वाला था उसने तुझसे हरण कीहुई कन्या को ग्रहण नहीं किया और उसको उसके अभीष्ट पति के पास भेजदिया अर्थात् तुझ से किये अधर्म को उसने भी स्वीकार नहीं किया था ॥

दारयोर्यस्य चान्येनमिषतः प्राज्ञमानिनः ।
तवजातान्यपत्यानि सज्जनाचरिते पथि ॥३३॥
को हि धर्मोस्ति ते भीष्म ब्रह्मणचर्यमिदं वृथा ।
यद्धारयसि मोहाद्वाल्कीबत्वाद्वा न संशयः॥३४॥

अर्थ–हे भीष्म ! तेरा कौनसा धर्म है, तेरा यह ब्रह्मचर्य वृथा है जिसे तैने अज्ञान से वा नपुंसक होने के कारण धारण किया हुआ है, इसमें सन्देह नहीं कि तू अपने को बड़ा पराक्रमी, पण्डित और सत्पुरुषों के आचार पर चलने वाला समझता है परन्तु शोक है कि तैने मृत विचित्रवीर्य की दोनों स्त्रियों में अन्य पुरुष से ही आपद्धर्म नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न कराये तुझमें स्वयं सन्तानोत्पत्ति की सामर्थ्य न थी ॥

नत्वहं तव धर्मज्ञ पश्याम्युपचयं क्वचित् ।
न हिते सेविता वृद्धा य एवं धर्ममब्रवीः ॥३५॥
इष्टं दत्तमधीतं च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
सर्वमेतदपत्यस्य कलां नार्हति षोडशीम् ॥३६॥
सोऽनपत्यश्चवृद्धश्च मिथ्याधर्मानुसारकः ।
हंसवत्त्वमपीदानीं ज्ञातिभ्यः प्राप्नुयावधम् ॥३७॥

अर्थ—हे धर्मज्ञ भीष्म ! मैं तेरी किसी बात में भी उन्नति हुई नहीं देखता और नाही तैने महात्माओं की संगति की है जैसाकि तैने धर्म का उपदेश किया है, हवन, दान, अध्ययन और बड़ी २ दक्षिणाओं वाले यज्ञ, यह सब धर्म सन्तानोत्पत्ति की अपेक्षा सोलहवां अंश भी नहीं, परन्तु हे भीष्म ! तू सन्तानरहित बूढ़ा और मिथ्या धर्म पर चलने वाला है सो तेरी अपने भाइयों के हाथ से ही मौत होगी, जैसाकि एक कहानी में हंस की मौत हुई थी ॥

वृद्धः किल समुद्रान्ते कश्चिद्धंसोऽभवत्पुरा ।
धर्मवागन्यथा वृत्तः पक्षिणः सोऽनुशास्ति च ॥३८॥
धर्मं चरत माधर्ममिति तस्य वचः किल ।
पक्षिणः शुश्रुवुर्भीष्म सततं सत्यवादिनः ॥३९॥

अर्थ—हे भीष्म ! वह हंस की कहानी इस प्रकार है कि समुद्र के किनारे एक बूढ़ा हंस धर्म का उपदेशक किन्तु स्वयं अधर्माचारी बना हुआ वहां रहता था, वह पक्षियों को उपदेश किया करता था कि हे पक्षियो ! तुम धर्म का आचरण करो अधर्म का नहीं

और सब पक्षी उसको सत्यवादी मानकर सदा उसका उपदेश सुना करते थे ॥

अथास्य भक्ष्यमाजह्रुः समुद्रजलचारिणः ।
अण्डजा भीष्म तस्यान्ये धर्मार्थमिति शुश्रुम॥४०॥
ते च तस्य समभ्याशे निक्षिप्याण्डानि सर्वशः ।
समुद्राम्भस्यमज्जन्त चरन्तो भीष्म पक्षिणः ॥४१॥

अर्थ—हे भीष्म ! कहानी में हमने यह भी सुना है कि समुद्र के जलचर तथा अन्य पक्षी उसे धर्मात्मा समझकर उसके लिये धर्मार्थ खाने की वस्तुयें ला दिया करते थे और उन्हें उस पर इतना विश्वास होगया था कि अपने अण्डे उसके पास रख अर्थात् उसकी रक्षा में छोड़कर समुद्र के जल तथा अन्यान्य स्थानों में निश्चिन्त हो घूमा करते थे ॥

तेषामण्डानि सर्वेषां भक्षयामास पापकृत् ।
स हंसः सम्प्रमत्तानाम प्रमत्तः स्वकर्मणि ॥४२॥
ततः प्रक्षीयमाणेषु तेषुतेष्वण्डजो परः ।
अशङ्कत महाप्राज्ञः स कदाचिद्ददर्श ह ॥४३॥

अर्थ—परन्तु वह पापी हंस जो अपने स्वार्थ में सावधान था उन सब प्रमादी पक्षियों के अण्डे खाने लगा, जब वह अण्डे प्रतिदिन घटने लगे तो एक बुद्धिमान् पक्षी को शंका उत्पन्न होगई और उसने हंस को अण्डे खाते देख भी लिया ॥

ततः स कथयामास दृष्ट्वा हंसस्य किल्विषम् ।
तेषां परमदुःखार्त्तः सपक्षी सर्वपक्षिणाम् ॥४४॥

ततः प्रत्यक्षतो दृष्ट्वा पक्षिणस्ते समीपगा ।
निजघ्नुस्तं तदाहंसं मिथ्यावृत्तं कुरुत्तम ॥४५॥

अर्थ—हे कुरुओं में श्रेष्ठ भीष्म ! तब उस पक्षी ने दुःखी होकर सब पक्षियों को उस हंस का दुराचार कह सुनाया और जब उन पक्षियों ने स्वयं भी उसे वैसा करते प्रत्यक्ष देख लिया तब उसके समीप पहुंचकर उस पाखण्डी हंस को मारडाला ॥

ते त्वां हंस स धर्माणमपीमे वसुधाधिपाः ।
निहन्युर्भीष्म संक्रुद्धाः पक्षिणस्तमिवाण्डजम् ॥४६॥

अर्थ—हे भीष्म ! तू भी उस हंस के समान पाखण्डी है, इस लिये यह सब राजा लोग क्रुद्ध हुए तुझे मारडालेंगे, जैसे पक्षियों ने हंस को मारा था ॥

इति चतुर्विंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ पंचविंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

शिशुपाल उवाच

स मे बहुमतो राजा जरासन्धो महाबलः ।
योऽनेन युद्धं नेयेषदासोऽयमिति संयुगे ॥१॥
केशवेन कृतं कर्म जरासन्ध वधे तदा ।
भीमसेनार्जुनाभ्यां च कस्तत्साध्विति मन्यते ॥२॥

अर्थ—शिशुपाल फिर बोला कि महाबली राजा जरासन्ध का मैं बड़ा मान करता था, उसने कृष्ण को दास=गवाला समझकर इसके साथ युद्ध करने की इच्छा नहीं की थी, इसके पश्चात् कृष्ण, इसके साथी भीमसेन और अर्जुन ने जरासन्ध को मारने के लिये जो कार्य्यवाही की थी उसे कौन बुद्धिमान् अच्छा कहेगा ॥

अद्वारेण प्रविष्टेन च्छद्मना ब्रह्मवादिनाः ।
दृष्टः प्रभावः कृष्णेन जरासन्धस्य भूपतेः ॥३॥
येन धर्मात्मनात्मानं ब्रह्मण्यमविजानता ।
नेषितं पाद्यमस्मै तद्दातुमग्रे दुरात्मने ॥४॥

अर्थ—छल के साथ द्वार से भिन्न मार्ग द्वारा नगर में घुस और ब्राह्मण का वेश बनाकर कृष्ण ने जरासन्ध को अच्छी बहादुरी दिखलाई थी, परन्तु जब इस दुष्टात्मा को ब्राह्मण समझकर धर्मात्मा जरासन्ध ने इसके चरण धोने चाहे तो इसने मन में अपने आपको ब्राह्मण न समझकर अनिच्छा प्रकट की ॥

भुज्यतामिति तेनोक्ताः कृष्णभीमधनञ्जयाः।
जरासन्धेन कौरव्य कृष्णेन विकृतंकृतम् ॥ ५ ॥
इदं त्वाश्चर्यभूतं मे यदीमे पाण्डवास्त्वया ।
अपकृष्टाः सतां मार्गान् मन्यन्ते तच्च साध्विति॥६॥
अथवा नैतदाश्चर्यं येषां त्वमसि भारत ।
स्त्रीसधर्मा च वृद्धश्च सर्वार्थानां प्रदर्शकः ॥७॥

अर्थ—हे कुरुवंशी भीष्म ! जब जरासन्ध ने कृष्ण, भीमसेन और अर्जुन को ब्राह्मण मानकर कहा कि आप लोग भोजन करें

तो कृष्ण ने झूठा बहाना बना दिया, मुझे सबसे अधिक आश्चर्य तो इस बात का है कि इन पाण्डवों को भी तैने धर्ममार्ग से गिरा दिया, क्योंकि यह लोग तेरे कहने को अच्छा मानते हैं,हे भरत-वंशी भीष्म! यह भी कैसा आश्चर्य है कि जिन पाण्डवों का तू स्त्रीसमान=नपुंसक बूढ़ा पाखण्डी सब धर्मों का प्रदर्शक बना हुआ है वह लोग तो ऐसा ही करेंगे ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रूक्षं रूक्षाक्षरं बहु ।
चुकोप बलिनां श्रेष्ठो भीमसेनः प्रतापवान् ॥८॥
तथा पद्मप्रतीकाशे स्वभावायत विस्तृते ।
भूयः क्रोधाभिता म्राक्षेरक्तनेत्रे बभूवतुः ॥९॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! शिशुपाल के रूखे तथा अत्यन्त कठोर बचन सुनकर महाबली प्रतापी भीमसेन को क्रोध आगया और उसके कमल समान स्वभाव से विस्तृत दोनों नेत्र क्रोध के कारण अत्यन्त लाल होगये ॥

त्रिशिखां भ्रुकुटीं चास्य ददृशुः सर्वपार्थिवाः ।
ललाटस्थां त्रिकूटस्थां गङ्गां त्रिपथगामिव ॥ १० ॥
दन्तान् सन्दशतस्तस्य कोपाद्ददृशुराननम् ।
युगान्ते सर्वभूतानि कालस्येव जिघत्सतः ॥ ११ ॥

अर्थ—सब राजाओं ने देखा कि भीमसेन की भौहें तीन शिखा वाली होगईं, जैसे त्रिकूट पर्वत पर गङ्गा की तीन धारायें होजाती हैं, क्रोध के कारण दांत पीसता हुआ उसका मुख ऐसा

दिखलाई देता था जैसे प्रलयकाल में सब प्राणियों को भक्षण करने के इच्छुक मृत्यु का मुख होता है ॥

तस्य भीमस्य भीष्मेण वार्यमाणस्य भारत ।
गुरुणा विविधैर्वाक्यैः क्रोधः प्रशममागतः ॥ १२ ॥
नाति चक्राम भीष्मस्य स हि वाक्यमरिन्दमः ।
समुद्वृत्तो घनापाये वेलामिव महोदधिः ॥ १३ ॥

अर्थ–हे भरतवंशी राजन् ! पूजनीय भीष्मपितामह ने विविध वाक्यों द्वारा भीमसेन को समझाया तब उसका क्रोध शान्त होगया, वह शत्रुनाशक भीमसेन भीष्मपितामह के वचन को लांघ न सका, जैसे वर्षा के अन्त में उमड़ा हुआ महासागर अपने किनारों से वाहर नहीं जाता ॥

शिशुपालस्तु संक्रुद्धे भीमसेने जनाधिप ।
नाकम्पत तदा वीर पौरुषेस्वेव्यवस्थितः ॥ १४ ॥
उत्पतन्तं तु वेगेना पुनः पुनररिन्दम ।
न सतं चिन्तयामास सिंहः क्रुद्धो मृगं यथा ॥१५॥

अर्थ–हे राजा जनमेजय ! भीमसेन के क्रोधातुर होने से वीर शिशुपाल जो अपने पुरुषार्थ का अवलम्बन किये हुए था घबराया नहीं, हे राजन् ! वार २ क्रोध से उछलते कूदते हुए भीमसेन की उसने कुछ पर्वाह न की, जैसे क्रोध में आया हुआ सिंह मृग की पर्वाह नहीं करता ॥

प्रहसंश्चाब्रवीद् वाक्यं चेदिराजः प्रतापवान् ।
भीमसेनमतिक्रुद्धं दृष्ट्वा भीमपराक्रमम् ॥ १६ ॥

मुञ्चैनं भीष्म पश्यन्तु यावदेनं जनाधिपाः ।
मत्प्रभावाविनिर्दग्धं पतङ्गमिव वह्निना ॥ १७ ॥
ततश्चेदिपतेर्वाक्यं श्रुत्वा तत्कुरुसत्तमः ।
भीमसेनमुवाचेदं भीष्मो मतिमतांवरः ॥ १८ ॥

अर्थ–प्रतापी चंदेरीनरेश शिशुपाल भयानक पराक्रमी भीमसेन को अत्यन्त क्रोध में भरा हुआ देखकर हंसता हुआ बोला कि हे भीष्म ! तुम भीमसेन को छोड़दो, सब राजाओं के देखते २ यह मेरे प्रताप से अभी भस्म हुआ जाता है, जैसे अग्नि से पतङ्ग जल जाते हैं, चेदिराज शिशुपाल का उक्त वचन सुनकर बुद्धिमानों में श्रेष्ठ कुरुवंशभूषण भीष्मपितामह भीमसेन को संबोधन करके बोले किः–

नैषा चेदिपतेर्बुद्धिर्यया त्वाह्वयतेऽच्युतम् ।
नूनमेष जगद्भर्त्तुः कृष्णस्यैव विनिश्चयः ॥ १९ ॥
कोहि मां भीमसेनाद्य क्षितावर्हति पार्थिवः ।
क्षेप्तुं कालपरीतात्मा यथैष कुलपांसनः ॥ २० ॥
येनैष कुरुशार्दूल शार्दूल इव चेदिराट् ।
गर्जत्यतीव दुर्बुद्धि सर्वानस्मानचिन्तयन् ॥ २१ ॥

अर्थ–हे भीमसेन ! राजा शिशुपाल जो कृष्ण को आह्वान कर रहा है यह इसकी अपनी समझ नहीं है प्रत्युत यह महाराज कृष्णजी का ही निश्चय है कि इसकी मृत्यु होजाय, हे भीमसेन! कौन पृथ्वी पर ऐसा राजा है जो मुझपर आक्षेप करसके जैसे मौत से घिरा हुआ यह कुलकलंकी शिशुपाल कर रहा है, हे कुरुओं

में श्रेष्ठ भीमसेन ! यही कारण है कि यह दुर्बुद्धि चन्देरीनरेश हम सब लोगों की उपेक्षा करके सिंह समान गर्ज रहा है ॥

शिशुपाल उवाच

द्विषतां नोऽस्तु भीष्मैष प्रभावः केशवस्य यः ।
यस्य संस्तववक्ता त्वं वन्दिवत्सततोत्थितः ॥२२॥
संस्तवे च मनो भीष्म परेषां रमते यदि ।
तदा संस्तौषि राज्ञस्त्वमिमं हित्वा जनार्दनम् ॥२३॥

अर्थ-शिशुपाल बोला कि हे भीष्म ! जिस कृष्ण के प्रभाव की स्तुति तुम बन्दीजनों की तरह करते हो वह कृष्ण का प्रभाव मुझ द्वेषी पर प्रकट होना चाहिये, हे भीष्म ! यदि तुम्हारा मन दूसरों की ही स्तुति में लगता है तो इस कृष्ण को छोड़कर अन्य राजाओं की स्तुति क्यों नहीं करते ॥

दरदं स्तुहि बाह्लीकमिमं पार्थिवसत्तमम् ।
जायमानेन येनेयमभवद्दारिता मही ॥ २४ ॥
स्तुहि कर्णमिमं भीष्म महाचाप विकर्षणम् ।
द्रोणं द्रौणिं च साधु त्वं पितापुत्रो महारथौ ॥२५॥
द्रोणस्य हि समं युद्धे न पश्यामि नराधिपम् ।
नाश्वत्थाम्नः समंभीष्म नच तौस्तोतुमिच्छसि ॥२६॥

अर्थ-हे भीष्म ! तुम सर्वोत्तम राजा दरद बाह्लीकनरेश की स्तुति करो जिसके उत्पन्न होने पर भय से पृथ्वी विदीर्ण

होगई थी, हे भीष्म ! बड़े भारी धनुष के चढ़ाने वाले इस वीर कर्ण की स्तुति करो अथवा द्रोणाचार्य वा उनके पुत्र अश्वत्थामा इन दोनों महारथी पिता पुत्रों की भलीभांति स्तुति करो, हे भीष्म ! द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा के समान युद्ध में पराक्रमी मैं यहां किसी राजा को नहीं देखता परन्तु तुम उनकी स्तुति करना नहीं चाहते हो ॥

पृथिव्यां सागरान्तायां यो वै प्रतिसमो भवेत् ।
दुर्योधनं तं राजेन्द्रमतिक्रम्य महाभुजम् ॥२७॥
जयद्रथं च राजानं कृतास्त्रं दृढविक्रमम् ।
द्रुमं किम्पुरुषाचार्यं लोके प्रथित विक्रमम् ॥२८॥
वृद्धं च भारताचार्यं तथा शरद्वतं कृपम् ।
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥२९॥

अर्थ–हे भीष्म ! तुम महाबाहु राजेन्द्र "दुर्योधन" जो समुद्र पर्य्यन्त पृथ्वी पर राज्य करता है, शस्त्रविद्या में निपुण दृढ़ पराक्रमी राजा " जयद्रथ " संसार में विख्यात किन्नर लोगों का आचार्य "द्रुम" और भारतीय राजाओं के वृद्ध गुरु शरद्वत के पुत्र महापराक्रमी कृपाचार्य,इन सब योग्य पुरुषों का उल्लङ्घन करके कृष्ण की क्यों प्रशंसा करते हो ॥

भीष्मकं च महावीर्यं दन्तवक्रं च भूमिपम् ।
भगदत्तं यूपकेतुं जयत्सेनं च मागधम् ॥३०॥
विराटद्रुपदौ चोभौ शकुनिं च बृहद्बलम् ।

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पांण्डं श्वेतमथोत्तमम् ।
शङ्खं च सुमहावीर्यं वृषसेनं च मानिनम् ॥३१॥
एकलव्यं च विक्रान्तं कालिङ्गं च महारथम् ।
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केवशम् ॥३२॥
शल्यादीनपि कस्मात्त्वं न स्तौषि वसुधाधिपान् ।
स्तवाय यदि ते बुद्धिर्वर्त्तते भीष्म सर्वदा ॥३३॥

अर्थ—हे भीष्म ! महापराक्रमी भीष्मक, राजा दन्तवक्र, भगदत्त, यूपकेतु, जयत्सेन, मगधनरेश, विराट, द्रुपद, शकुनि, बृहद्बल, उज्जैन का राजा विन्द और अनुविन्द, पाण्डय, श्वेत, भाग्यशाली शङ्ख, मानसम्पन्न वृषसेन, महापराक्रमी एकलव्य, महारथी कलिङ्ग नरेश, इन सब योग्य राजाओं का उल्लङ्घन करके तुम कृष्ण की क्यों प्रशंसा कर रहे हो, हे भीष्म ! यदि स्तुति करना तुम्हारा स्वभाव ही है तो तुम पूर्वोक्त राजाओं या इनके अतिरिक्त शल्य आदि राजाओं की स्तुति क्यों नहीं करते ॥

यदस्तव्यमिमं शश्वन्मोहात्संस्तौषिभक्तितः ।
केशवं तच्च ते भीष्म न कश्चिदनुमन्यते ॥३४॥
इच्छतां भूमिपालानां भीष्मजीवस्य संशयम् ।
लोकविद्धिष्टकर्मा हि नान्योस्ति भवता समः॥३५॥

अर्थ—हे भीष्म ! तू अज्ञान से वा भक्ति से जो स्तुति के अयोग्य इस कृष्ण की स्तुति कर रहा है इस बात को यहां कोई भी अनुमोदन नहीं करता, हे भीष्म ! संसार से विरुद्ध कर्म करने

वाला तुझसा अन्य कोई भी नहीं तो भी तू इन राजाओं के अनुग्रह से ही अभीतक जीता बचा हुआ है.इसमें संशय नहीं ॥

वैशम्पायन उवाच

ततश्चेदिपतेः श्रुत्वा भीष्मः सकटुकं वचः ।
उवाचेदं वचो राजंश्चेदिराजस्य शृण्वतः ॥३६॥
इच्छतां किल नामाहं जीवाम्येषां महीक्षिताम् ।
सोऽहं न गणयाम्येतांस्तृणेनापि नराधिपान्॥३७॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे जनमेजय ! तब चन्देरीनरेश शिशुपाल के कटु वचन सुनकर उसके प्रति भीष्मजी ने कहा कि यदि तुम्हारी बुद्धि में मैं इन सब राजाओं के अनुग्रह से अभीतक जीवित हूं तो लो मैं कहता हूं कि इन सब राजाओं को मैं तृण के समान भी नहीं समझता ॥

एवमुक्ते तु भीष्मेण ततः संचुक्रुशुर्नृपाः ।
केचिज्जहर्षिरेतत्र केचिद्भीष्मं जगर्हिरे॥३८॥
केचिदूचुर्महेष्वासाः श्रुत्वा भीष्मस्य तद्वचः ।
पापो वृद्धोऽवलिप्तश्च नायंभीष्मोऽर्हति क्षमाम्॥३९॥
हन्यतां दुर्मतिर्भीष्मः पशुवत्साध्वयं नृपाः ।
सर्वैः समेत्य संरब्धै दह्यतां वा कटाग्निना ॥४०॥

अर्थ—भीष्म के ऐसा कहते ही राजसभा में कोलाहल होगया उनमें से कितने ही राजा प्रसन्न हुए किन्तु कितने ही भीष्म की निन्दा करने लगे, कितने ही बड़े २ बाण चलाने वाले वीर राजा

लोग भीष्म के पूर्वोक्त बचनों को सुनकर कहने लगे कि यह भीष्म पापी वृद्ध बड़ा घमंडी है इसे क्षमा करना योग्य नहीं, प्रत्युत हे राजाओ ! इस दुर्बुद्धि को पशु के समान मारडालो अथवा इस अभिमानी को फूस की आग से जलादो ॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा ततः कुरुपितामहः ।
उवाच मतिमान् भीष्मस्तानेव वसुधाधिपान्॥४१॥
उक्तस्योक्तस्य नेहान्तमहं समुपलक्षये ।
यत्तु वक्ष्यामि तत्सर्वं शृणुध्वं वसुधाधिपाः ॥४२॥

अर्थ–इस प्रकार उन राजाओं का कथन सुनकर बुद्धिमान् भीष्मपितामह उनके प्रति कहने लगे कि मैं इस सभा में सब की बातचीत का अन्त होता नहीं देखता, इसलिये हे राजाओ ! मैं जो कुछ निवेदन करता हूं उसे आप लोग पूर्णतया सुनें ॥

पशुवद्घातनं वा मे दहनं वा कटाग्निना ।
क्रियतां मूर्ध्नि वोन्यस्तं मयेदं सकलं पदम् ॥४३॥
एष तिष्ठति गोविन्दः पूजितोऽस्माभिरच्युतः ।
यस्य वा त्वरते बुद्धिर्मरणाय स माधवम् ।
कृष्णमाह्वयतामद्य युद्धे चक्रगदाधरम् ॥४४॥

अर्थ–मेरा चाहे पशु के समान बध किया जाय, चाहे मुझे फूस की अग्नि द्वारा जला दिया जाय, मैं तुम्हारी सब प्रकार की ठोकर अपने मस्तक पर सहने के लिये उद्यत हूं परन्तु हम लोगों ने जिन गो भक्त, कर्तव्य से पतित न होने वाले भगवान् कृष्ण का पूजन किया है वह यहां उपस्थित हैं सो जिस

मनुष्य की मौत आपहुंची हो वह चक्र गदाधारी कृष्णजी को युद्ध के लिये आह्वान करे ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः श्रुत्वैव भीष्मस्य चेदिराडुरुविक्रमः ।
युयुत्सुर्वासुदेवेन वासुदेवमुवाच ह ॥४५॥
आह्वयेत्वां रणं गच्छ मया सार्द्धं जनार्दनः ।
यावदद्य निहन्मित्वां सहितं सर्व पाण्डवैः ॥४६॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! भीष्मजी का बचन सुनते ही महापराक्रमी चन्देरी-नरेश शिशुपाल ने युद्ध की इच्छा से कृष्णजी के प्रति कहा कि हे कृष्ण ! मैं तुझे युद्ध के लिये ललकारता हूं तू मेरे साथ युद्ध करने के लिये तैयार हो, और देख तुझे तेरे साथी पाण्डवों समेत अभी मारता हूं ॥

सह त्वया हि मे बध्याः सर्वथा कृष्ण पाण्डवाः ।
नृपतीन् समतिक्रम्य यैरराजा त्वमर्चितः ॥ ४७ ॥
ये त्वां दासमराजानं बाल्यादर्चन्ति दुर्मतिम् ।
अनर्हमर्हवत् कृष्ण बध्यास्त इति मे मतिः ।
इत्युक्त्वा राजशार्दूल तस्थौ गर्जन्नमर्षणः ॥ ४८ ॥

अर्थ—हे कृष्ण ! मैं तुझे ही नहीं वरन् इन पाण्डवों का भी बध करुंगा जिन्होंने सब राजाओं का निरादर करके राजा न होने पर भी तेरा पूजन किया है, हे कृष्ण ! मेरा यह निश्चय है कि जो लोग मूर्खता से तुझ शूद्र, राज्यहीन, निर्बुद्धि तथा अयोग्य

को योग्य मानकर तेरा पूजन करते हैं उनको मार डालना आवश्यक है, हे महाराज जनमेजय ! क्रोध में भरा हुआ शिशुपाल पूर्वोक्त वचन कहकर गर्जता हुआ युद्ध के लिये खड़ा होगया ॥

एवमुक्तस्ततः कृष्णो मृदुपूर्वमिदं वचः ।
उवाच पार्थिवान् सर्वान् तत्समक्षं च पाण्डवान् ॥४९॥
एष नः शत्रुरत्यन्तं पार्थिवाः सात्वतीसुतः ।
सात्वतानां नृशंसात्मा न हितोऽनपकारिणाम् ॥५०॥

अर्थ–शिशुपाल के ऐसा कहने पर भगवान् कृष्ण उसके सन्मुख सब राजाओं तथा पाण्डवों को संबोधन करके मुसकराते हुए बोले कि हे राजाओ ! यह सात्वती का पुत्र शिशुपाल हम यदुवंशियों का "जो किसी का अपकार नहीं करना चाहते" अत्यन्त शत्रु तथा महाक्रूर हृदय और हानिकारक बना हुआ है ॥

प्राग्ज्योतिषपुरं यातानस्मान् ज्ञात्वा नृशंसकृत् ।
अदहद्द्वारकामेष स्वस्रीयः सन्नराधिपाः ॥५१॥
क्रीडतो भोजराजस्य एष रैवतके गिरौ ।
हत्वा बध्वा च तान्सर्वानुपायात्स्वपुरं पुरा ॥ ५२ ॥
अश्वमेधे हयं मेध्यमुत्सृष्टं रक्षिभिर्वृतम् ।
पितुर्मे यज्ञविघ्नार्थमहरत्पापनिश्चयः ॥ ५३ ॥
सौवीरान् प्रतियातां च बभ्रोरेष तपस्विनः ।
भार्यामभ्यहरन् मोहादकामां तामितो गताम् ॥५४॥

एष मायाप्रतिच्छन्नः कारूषार्थे तपस्विनीम् ।
जहार भद्रां वैशालीं मातुलस्य नृशंसकृत् ॥ ५५ ॥

अर्थ–हे राजाओ ! इस दुष्टात्मा शिशुपाल ने जो २ दुष्ट कर्म किये ह उनका नमूना सुनो–(१) हम लोग जब द्वारका नगरी से प्राग्ज्योतिष नगर की ओर गये हुए थे तो इसने बहिन का लड़का होते हुए भी अपनी रुष्टता का अवसर अच्छा समझकर पीछे द्वारका नगरी में आग लगाई थी (२) रैवतक पर्वत पर क्रीडा के लिये आये हुए भोजराज और उनके साथियों को यह दुष्ट मार पीट तथा बांधकर अपने नगर में लेगया था (३) इस दुष्टबुद्धि ने हमारे पिता के अश्वमेध यज्ञ में छोड़े हुए सिपाहियों से सुरक्षित पवित्र घोड़े को यज्ञ में विघ्न डालने के लिये हरण किया था (४) यहां से सौवीर देश की ओर गई हुई तपस्वी बभ्रु की पतिव्रता भार्या को इसी दुष्ट ने हरण किया था (५) इसी दुष्टात्मा ने छल कपट से अपना रूप छिपाते हुए कारूष देश में अपने मामा की तपस्विनी धर्मात्मा वैशाली को भी हरण किया था, यह वही शिशुपाल है जो इस प्रकार के अनेक पाप और अपराध करचुका है ॥

पितृष्वसुः कृते दुःखं सुमहन्मर्षयाम्यहम् ।
दिष्ट्या हीदं सर्वराज्ञां सन्निधावद्य वर्त्तते ॥ ५६ ॥
पश्यन्ति हि भवन्तोऽद्य मय्यतीव व्यतिक्रमम् ।
कृतानि तु परोक्षं मे यानि तानि निबोधत ॥५७॥
इमं त्वस्य न शक्ष्यामि क्षन्तुमद्य व्यतिक्रमम् ॥
अवलेपाद्वधार्हस्य समग्रे राजमण्डले ॥ ५८ ॥

अर्थ-हे राजाओ ! मैं इसे अपनी बूआ का लड़का समझकर अपनी बूआ के लिये ही इसके यह बड़े २ अपराध सहन करता रहा हूं, अहोभाग्य है कि आज आप सब राजाओं के समक्ष भी इसका अपराध विद्यमान है. आज इसने जो मुझपर अत्यन्त अपमानपूर्ण आक्षेप किये हैं वह सब आप लोग देख ही रहे हैं और आप लोगों के परोक्ष में इसने जो २ अपराध किये हैं उन का भी विचार कीजिये, पहले अपराध तो मैंने क्षमा करदिये थे परंतु आज इसने सम्पूर्ण राजसभा में अभिमान के साथ मेरा अपमान किया है इससे अब यह वध किये जाने योग्य है.इसलिये मैं इसके इस अपराध को क्षमा नहीं करसकता, और :-

रुक्मिण्यामस्य मूढस्य प्रार्थनासीन्मुमूर्षतः ।
न च तां प्राप्तवान् मूढः शूद्रो वेदश्रुतीमिव ॥५९॥

अर्थ-हे राजाओ ! इस मूढ अनधिकारी की यह भी इच्छा थी कि मेरा रुक्मिणी के साथ विवाह हो,परंतु यह उसे नपासका. जैसे अनधिकारी शूद्र वेद की श्रुति को नहीं पासकता, अभिप्राय यह है कि रुक्मिणी इसे प्राप्त न होकर मुझे प्राप्त हुई, इसलिये भी यह मुझसे जला रहता है और अब प्रतीत होता है कि इसकी मृत्यु आपहुंची है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमादि ततः सर्वे सहितास्ते नराधिपाः ।
वासुदेव वचः श्रुत्वा चेदिराजं व्यगर्हयन् ॥६०॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शिशुपालः प्रतापवान् ।
जहासस्वनवद्धासं वाक्यं चेदमुवाच ह ॥६१॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! कृष्ण के पूर्वोक्त वचन सुनकर सब राजा लोग एक स्वर से शिशुपाल की निन्दा करने लगे, इधर प्रतापी शिशुपाल भी कृष्ण का कथन सुनते ही खिलखिलाकर हंसते हुए बोला कि :—

मत्पूर्वां रुक्मिणीं कृष्ण संसत्सु परिकीर्त्तयन् ।
विशेषतः पार्थिवेषु व्रीड़ां न कुरुषे कथम् ॥६२॥
मन्यमानो हि कः सत्सुपुरुषः परिकीर्त्तयेत् ।
अन्यपूर्वां स्त्रियं जातु त्वदन्यो मधुसूदन ॥६३॥

अर्थ—हे कृष्ण ! जिस रुक्मिणी का विवाह पहले मेरे लिये निश्चित होचुका था उसे तू चुराकर ले भगा, इस बात को तू सभा में विशेषकर राजसभा में स्वयं कहता हुआ लजाता नहीं, हे कृष्ण ! तेरे सिवाय और कौन पुरुष होगा जो अपने को सत्पुरुषों में गिनता हुआ भी इसप्रकार दूसरे के साथ विवाही जाती हुई स्त्री को चुराकर लेजाय और फिर अपने ही मुख से इस बात का कथन करे ॥

क्षम वा यदि ते श्रद्धा मावा कृष्णममक्षम ।
क्रुद्धाद्वापि प्रसन्नाद्वा किं मे त्वत्तो भविष्यति॥६४॥

अर्थ—हे कृष्ण ! तू क्षमाकर चाहे न कर तेरे क्रोध और प्रसन्नता से मुझे क्या हानि वा लाभ होसकता है ॥

एतास्मिन्नेव काले तु चक्रे हस्तगते सति ।
व्यापहरत् शिरः क्रुद्धश्चक्रेणामित्रकर्षणः ।
स पपात महाबाहुर्वज्राहत इवाचलः ॥६५॥

ततः केचिन्महीपाला नाब्रुवंस्तत्र किंचन ।
अतीतवाक्पथे काले प्रेक्षमाणा जनार्दनम् ॥६६॥

अर्थ–शिशुपाल यह कह ही रहा था कि उसी समय शत्रु-घाती कृष्ण ने क्रुद्ध होकर अपना "चक्र" नामक शस्त्र हाथ में ले उस शिशुपाल का सिर काट डाला और महाबाहु शिशुपाल वज्र से आघात हुए पर्वत के समान सभा में ही गिरपड़ा, इस घटना के पश्चात् कृष्णजी के बचनातीत पराक्रम को देखते हुए कितने ही राजा उस समय कुछ न बोल सके, और :—

हस्तैर्हस्ताग्रमपरे प्रत्यपिंषन्नमर्षिताः ।
अपरे दशनैरोष्ठानदशन् क्रोधमूर्छिताः ॥६७॥
रहश्च केचिद्वार्ष्णेयं प्रशशंसुर्नराधिपाः ।
केचिदेव सुसंरब्धा मध्यस्थस्त्वपरेऽभवन् ॥६८॥
ब्राह्मणाश्च महात्मानः पार्थिवाश्च महाबलः ।
शशंसुर्निर्वृता सर्वे दृष्ट्वा कृष्णस्य विक्रमम् ॥६९॥

अर्थ–कितने ही क्रोध के मारे हाथ मलने लगे, कितने ही दांतों से होठ काटने लगे, बहुत से राजा एकान्त में कृष्णजी की प्रशंसा करने लगे, बहुत से क्रुद्ध हुए और बहुत से उदासीन रहे, वहां पर जो महात्मा=सज्जन ब्राह्मण तथा महाबली सज्जन राजा थे वह कृष्णजी के पराक्रम को देखकर प्रसन्न हुए और सब उनकी प्रशंसा करने लगे ॥

पाण्डवस्त्वब्रवीद्भ्रातॄन् सत्कारेण महीपतिम् ।
दमघोषात्मजं वीरं संस्कारयत माचिरम् ॥७०॥

तथा च कृतवन्तस्ते भ्रातुर्वै शासनं तदा ।
चेदीनामाधिपत्ये च पुत्रमस्य महीपतेः ।
अभ्यषिञ्चत् तदा पार्थः सहैतैर्वसुधाधिपैः ॥७१॥

अर्थ–तत्पश्चात् पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर ने अपने भाइयों को आज्ञा दी कि दमघोष के पुत्र राजा शिशुपाल का सत्कारपूर्वक शीघ्र ही अन्त्येष्टि-संस्कार करो, बड़े भाई की आज्ञा पाते ही उन्होंने वैसा ही किया और चन्देरी के राज्य पर राजा शिशुपाल के पुत्र को महाराज युधिष्ठिर ने सब राजाओं के साथ मिलकर राज्यतिलक देदिया ॥

ततः स कुरुराजस्य क्रतुः सर्वसमृद्धिमान् ।
यूनां प्रीतिकरो राजन् स बभौ विपुलौजसः॥७२॥
शान्तविघ्नः सुखारंभः प्रभूतधनधान्यवान् ।
अन्नवान् बहुभक्ष्यश्च केशवेन सुरक्षितः ।
समापयामास च तं राजसूयं महाक्रतुम् ॥७३॥

अर्थ–हे राजन् ! महातेजस्वी कुरुराज महाराज युधिष्ठिर का वह " राजसूय " यज्ञ भगवान् कृष्ण के संरक्षण में सम्पूर्ण समृद्धियों से पूर्ण, नवयुवकों को आह्लादित करने वाला, निर्विघ्न, सुख पूर्वक आरम्भ हुआ २ असंख्य प्रकार के धन, धान्य, अन्न और भक्ष्य पदार्थों से परिपूर्ण रहा और पूर्वोक्त कार्यवाही के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर ने यज्ञ को समाप्त करादिया ॥

तं तु यज्ञं महाबाहुरासमाप्तेर्जनार्दनः ।
ररक्ष भगवाञ्छौरिः शार्ङ्गचक्रगदाधरः ॥७४ ॥

अर्थ–शार्ङ्ग धनुष, चक्र और गदा के धारण करने वाले महाबाहु भगवान् कृष्णजी ने उस यज्ञ की आरम्भ से समाप्ति-पर्यन्त रक्षा की ॥

ततस्त्ववभृथस्नातं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ।
समस्तं पार्थिवं क्षत्रमुपगम्येदमब्रवीत् ॥७५॥
दिष्ट्या वर्द्धसि धर्मज्ञ साम्राज्यं प्राप्तवानसि ।
अजमीढाजमीढानां यशः संवर्द्धितं त्वया॥७६॥
कर्मणैतेन राजेन्द्र धर्मश्च सुमहान् कृतः ।
आपृच्छामो नरव्याघ्र सर्वकामै सुपूजिताः ।
स्वराष्ट्राणि गमिष्यामस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥७७॥

अर्थ–इसके पश्चात् जब धर्मात्मा युधिष्ठिर यज्ञ के अन्त का "अवभृथ" नामक स्नान करके निवृत्त होगये तब पृथ्वीभर का सब राजमण्डल उनके पास आकर कहने लगा कि हे धर्मज्ञ ! आपने साम्राज्य प्राप्त किया, इसलिये आपको बधाई है, हे राजेन्द्र ! आपने इस कर्म द्वारा भूतपूर्व महाराज अजमीढ तथा उनकी सन्तानों अर्थात् अपने पुरुषाओं की कीर्त्ति बढ़ादी और महान् धर्म का आचरण किया, हे सिंहपुरुष ! हमारे सब मनोरथ पूर्ण हुए अब हम सब राजा लोग अपने २ देशों को जाने की आज्ञा चाहते हैं सो आप आज्ञा दीजिये ॥

श्रुत्वा तु वचनं राज्ञां धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
यथार्हं पूज्यनृपतीन् भ्रातॄन् सर्वानुवाच ह ।
राजानः सर्व एवैते प्रीत्यास्मान् समुपागताः॥७८॥

प्रस्थिताः स्वानिराष्ट्राणि मामापृच्छ्यपरन्तपाः ।
तेऽनुव्रजत भद्रं वो विषयानां नृपोत्तमान् ॥७९॥

अर्थ-तब धर्मराज युधिष्ठिर सब राजाओं का निवेदन सुन और उनका यथायोग्य सत्कार कर अपने सब भाइयों को संबोधन करके कहा कि हे शत्रुदमनकर्ता भाइयो ! देखो यह सब राजा लोग प्रेमपूर्वक हमारे यज्ञ में पधारे हैं और अब अपने २ देशों को जाने के लिये मेरी अनुमति चाहते हैं सो आप लोग इन सज्जन राजाओं को इनके देश की सीमा तक पहुंचा आओ आपका कल्याण हो ॥

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय पाण्डवा धर्मचारिणः ।
यथार्हं नृपतीन् सर्वानेकैकं समनुव्रजन् ॥ ८० ॥
विराटमन्वयात्तूर्णं धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् ।
धनञ्जयो यज्ञसेनं महात्मानं महारथम् ॥ ८१ ॥
भीष्मं च धृतराष्ट्रं च भीमसेनो महाबलः ।
द्रोणं तु ससुतं वीरं सहदेवो युधांपतिः ॥ ८२ ॥
नकुलः सुवलं राजन् सहपुत्रं समन्वयात् ।
द्रौपदेयाः ससौभद्राः पार्वतीयान्महारथान् ।
अन्वगच्छंस्तथैवान्यान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभाः ॥८३॥

अर्थ-धर्मात्मा पाण्डव लोग बड़े भाई की आज्ञा पाते ही सब राजाओं को पहुंचाने के लिये यथायोग्य एक २ के साथ एक २ चलदिया, राजा विराट के साथ प्रतापी धृष्टद्युम्न, महारथी महात्मा यज्ञसेन=द्रुपद के साथ अर्जुन, भीष्म और धृतराष्ट्र के

साथ महाबली भीमसेन, वीर द्रोणाचार्य और उनके पुत्र अश्वत्थामा के साथ महायोद्धा सहदेव, सुबल और उसके पुत्र शकुनि के साथ नकुल, पर्वती राजाओं के साथ द्रौपदी और सुभद्रा के पुत्र तथा इसी प्रकार अन्य राजाओं के साथ अन्यान्य क्षत्रिय वीर पहुंचाने को गये ॥

एवं सुपूजिताः सर्वे जग्मुर्विप्राः सहस्रशः ।
गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु सर्वेषु ब्राह्मणेषु च ॥ ८४ ॥
युधिष्ठिरमुवाचेदं वासुदेवः प्रतापवान् ।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि द्वारकां कुरुनन्दन ।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं दिष्ट्या त्वं प्राप्तवानसि ॥ ८५ ॥

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकार से ही सहस्रों ब्राह्मण लोग जो सभा में सम्मिलित हुए थे सत्कारपूर्वक विदा होकर चले गये, सब राजा महाराजाओं तथा ब्राह्मणों के चले जाने पर प्रतापी कृष्णजी युधिष्ठिर से बोले कि हे कुरुवंश भूषण राजन् ! अहोभाग्य है कि आपने राजसूय महायज्ञ को निर्विघ्न समाप्त किया, अब मैं द्वारका जाने के लिये आज्ञा चाहता हूं ॥

तमुवाचैवमुक्तस्तु धर्मराजो जनार्दनम् ।
तव प्रसादाद्गोविन्द प्राप्तः क्रतुवरो मया ॥ ८६ ॥
क्षत्रं समग्रमपि च त्वत्प्रसादाद्वशे स्थितम् ।
उपादाय बलिं मुख्यं मामेव समुपस्थितम् ॥८७॥

अर्थ—कृष्णजी के इस प्रकार कहने पर धर्मराज युधिष्ठिर उनसे बोले कि हे गोविन्द ! मैंने तुम्हारे अनुग्रह से ही इस महान्

यज्ञ को पूर्ण किया, और तुम्हारी ही कृपा से यह सम्पूर्ण राज-मण्डल मेरे वश में हुआ २ प्रधान रत्नों की भेटें ले २ कर मेरी सेवा में उपस्थित हुआ ॥

कथं तद्गमनार्थं मे वाणी वितरतेऽनघ ।
न ह्यहं त्वामृते वीर रतिं प्राप्नोमि कर्हिचित् ।
अवश्यं चैव गन्तव्या भवता द्वारकापुरी ॥ ८८ ॥

अर्थ—हे निष्पाप ! मैं अपनी वाणी द्वारा आपको जाने के लिये कैसे कहूं, हे वीर ! तुम्हारे विना मुझे कभी शान्ति नहीं मिलेगी परंतु आपने द्वारकापुरी में भी अवश्य जाना है ॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा युधिष्ठिर सहायवान् ।
अभिगम्याब्रवीत् प्रीतः पृथां पृथुयशा हरिः ॥८९॥
साम्राज्यं समनुप्राप्ताः पुत्रास्तेऽद्य पितृष्वसः ।
सिद्धार्था वसुमंतश्च सात्वं प्रीतिमवाप्नुहि ॥९०॥
अनुज्ञातस्त्वया चाहं द्वारकां गन्तुमुत्सहे ।
सुभद्रां द्रौपदीं चैव सभाजयत केशवः ॥९१॥

अर्थ—युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर महा यशस्वी धर्मात्मा कृष्णजी युधिष्ठिर को साथ ले बूआ कुन्ती के पास जाकर प्रसन्नता पूर्वक बोले कि हे बूआ ! तुम्हारे पुत्र साम्राज्य को प्राप्त हो-गये और अब यह कृतार्थ तथा धनधान्य से पूर्ण हैं सो अब तुम आनन्द मनाओ और मुझे द्वारका जाने की अनुमति दें, ऐसा कहकर कृष्णजी ने सुभद्रा और द्रौपदी को भी आनन्दित किया ॥

ततो मेघवपुः प्रख्यं स्यन्दनं च सुकल्पितम् ।
योजयित्वा महाबाहुर्दारुकः समुपस्थितः ॥९२॥
प्रययौ पुण्डरीकाक्षस्ततो द्वारवतीं पुरीम् ।
तं पद्भ्यामनुवव्राज धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान्वासुदेवं महाबलम् ॥९३॥

अर्थ—इसके पश्चात् कृष्णजी का सारथि महाबाहु दारुक मेघ के सामान शोभायमान सजा रथ जोतकर वहां आ उपस्थित हुआ और कृष्णजी द्वारका नगरी को चल दिये श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर प्रेम के कारण अपने भाइयों समेत महाबली कृष्णजी के रथ के साथ २ पैदल चलने लगे ॥

ततो मुहूर्त्तं संगृह्य स्यन्दनप्रवरं हरिः ।
अब्रवीत् पुण्डरीकाक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥९४॥
अप्रमत्तः स्थितो नित्यं प्रजाः पाहि विशाम्पते ।
कृत्वा परस्परेणैव संविदं कृष्णपाण्डवौ ।
अन्योऽन्यं समनुज्ञाप्य जग्मतुः स्वगृहान्प्रति ॥९५॥

अर्थ—तब कमलनेत्र कृष्णजी ने थोड़ी देर के लिये अपना श्रेष्ठ रथ रोककर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर को उपदेश किया कि हे प्रजानाथ ! अब आप सदा सावधानी के साथ रहकर अपनी प्रजाओं का पालन करते रहें, इस प्रकार कृष्णजी और पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर आपस में संवाद करके एक दूसरे की अनुमति ले अपने २ घर को चले गये ॥

गते द्वारवतीं कृष्णे सात्वतप्रवरे नृप ।
एको दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः ।
तस्यां सभायां दिव्यायामूषतुस्तौ नरर्षभौ ॥ ९६ ॥

अर्थ—हे राजा जनमेजय ! यदुवंशियों में श्रेष्ठ कृष्णजी के द्वारका चले जाने पर महाराज युधिष्ठिर के दिव्य सभाभवन में केवल दुर्योधन और सुबल का पुत्र शकुनि यह दोनों महात्मा ही शेष रहगये ॥

इति पंचविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ षट्‌विंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

समाप्ते राजसूये तु क्रतुश्रेष्ठे सुदुर्लभे ।
शिष्यैः परिवृतो व्यासः पुरस्तात्समपद्यत ॥ १ ॥
सोऽभ्ययादासनात्तूर्णं भ्रातृभिः परिवारितः ।
पाद्येनासनदानेन पितामहमपूजयत् ॥ २ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! इस प्रकार महान् दुर्लभ उत्तम "राजसूय" यज्ञ के समाप्त होने पर व्यासजी अपने शिष्यों सहित युधिष्ठिर के सन्मुख आये, व्यासजी को देखते ही युधिष्ठिर अपने भाइयों सहित शीघ्र ही उठ खड़े हुए,और उन्होंने अपने पितामह व्यासजी के चरण धोकर आदरपूर्वक आसन पर बैठाया ॥

अथोपविश्य भगवान् काञ्चने परमासने ।
आस्यतामिति चोवाच धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥
अथोपविष्टं राजानं भ्रातृभिः परिवारितम् ।
उवाच भगवान् व्यासस्तत्तद्वाक्य विशारदः ॥४॥

अर्थ-भगवान् व्यासजी सुवर्ण के उत्तम आसन पर बैठकर धर्मराज युधिष्ठिर से बोले कि आपभी बैठ जाइये, जब राजा युधिष्ठिर भाइयों सहित बैठ गये तब सब प्रकार के वार्त्तालाप में निपुण भगवान् व्यासजी उनसे इस प्रकार बोले कि :-

दिष्ट्यावर्द्धसि कौन्तेय साम्राज्यं प्राप्य दुर्लभम् ।
वर्द्धिताः कुरवः सर्वे त्वया कुरुकुलोद्वह ॥ ५ ॥
आपृच्छेत्वांगमिष्यामिपूजितोऽस्मिविशाम्पते ।
एवमुक्तः स कृष्णेन धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अभिवाद्योपसंगृह्य पितामहमथाब्रवीत् ॥ ६ ॥

अर्थ-हे कुरुवंशधर कुन्तीपुत्र राजन् ! अहोभाग्य कि आपने दुर्लभ साम्राज्य पाकर सब कुरुवंशियों की वृद्धि की, तुम्हें बधाई है, अब मैं भी सत्कार ग्रहण किये हुए आपसे जाने की अनुमति चाहता हूं, कृष्णद्वैपायन=व्यासजी के ऐसा कहने पर धर्मराज युधिष्ठिर ने पितामह को अभिवादन किया और चरण छूकर बोले कि:-

संशयो द्विपदां श्रेष्ठ ममोत्पन्नः सुदुर्लभः ।
तस्य नाऽन्योऽस्ति वक्ता वै त्वामृते द्विजपुङ्गव ॥७॥
उत्पातांस्त्रिविधान् प्राह नारदो भगवानृषिः ।

दिव्यांश्चैवान्तरीक्षांश्च पार्थिवांश्च पितामह ।
अपिचैद्यस्य पतनाच्छन्नमौत्पातिकं महत् ॥ ८ ॥

अर्थ–हे मनुष्यों में श्रेष्ठ विप्र ! मुझे एक बड़ा दुस्तर संदेह उत्पन्न हुआ है और आपसे भिन्न उसका समाधान करने वाला कोई नहीं, हे पितामह ! भगवान् ऋषि नारदजी ने तीन प्रकार के उत्पात बताये हैं (१) "दिव्य"=दैवीशक्ति अर्थात् ईश्वरीय नियम से होने वाला (२) "आन्तरिक्ष"=आसमानी पदार्थों के संबन्ध से होने वाला (३) "पार्थिव"=पृथिवी के पदार्थों वा मनुष्यादि प्राणियों से होने वाला, सो हे पितामह ! आप यह बतावें कि शिशुपाल की हत्या करने के कारण इन उत्पातों में से तो कोई गुप्त उत्पात होने वाला नहीं है ? ॥

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा पराशरसुतः प्रभुः ।
कृष्णद्वैपायनो व्यास इदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥
त्रयोदश समा राजन्नुपातानां फलं महत् ।
सर्वक्षत्रविनाशाय भविष्यति विशाम्पते ॥ १० ॥
त्वामेकं कारणं कृत्वा कालेन भरतर्षभ ।
समेतं पार्थिवं क्षत्रं क्षयं यास्यति भारत ।
मा तत्कृते ह्यनुध्याहि कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ११ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! राजा युधिष्ठिर का कथन सुनकर प्रभावशाली=दूरदर्शी व्यासजी ने यह उत्तर दिया कि हे राजा युधिष्ठिर ! तेरह वर्षों के भीतर २ बड़ा

भयानक उत्पात होगा जिससे सब क्षत्रियों का नाश होजायगा, और हे भरतकुलश्रेष्ठ ! तुम्हीं अकेले उस उत्पात के कारणभूत बनाये जाओगे, और समय पाकर सब राजा लोग तथा क्षत्रिय समुदाय संग्राम-भूमी में अस्त होजायगा, परंतु आप समझलें कि काल को कोई टाल नहीं सकता अर्थात् होनहार अमिट है, इस लिये तुम इस बात की चिन्ता मत करना ॥

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि कैलासंपर्वतं प्रति ।
अप्रमत्तः स्थितो दान्तः पृथिवीं परिपालय ॥१२॥

अर्थ—हे युधिष्ठिर ! तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं कैलास पर्वत की ओर जाता हूं, तुम सावधान तथा जितेन्द्रिय रहकर पृथिवी का पालन करो ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् कैलासंपर्वतं ययौ ।
कृष्णद्वैपायनो व्यासः सहशिष्यै श्रुतानुगैः॥१३॥
गते पितामहे राजा चिन्ताशोकसमन्वितः ।
निश्वसन्नुष्णमसकृत्तमेवार्थं विचिन्तयन् ॥१४॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! भगवान् व्यासजी अपने विद्वान् शिष्यों समेत कैलाश पर्वत को चले गये, इधर पितामह के चले जाने पर राजा युधिष्ठिर उसी बात को सोचते हुए चिन्तातुर हो शोक से बार २ गर्म सांस भरने लगे ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजाः सर्वान् भ्रातॄन् युधिष्ठिरः ।
श्रुतं वै पुरुषव्याघ्रा यन्मां द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥१५॥

सर्वक्षत्रस्य निधने यद्यहं हेतुरीप्सितः ।
कालेन निर्मितस्तात को ममार्थोऽस्ति जीवतः॥१६॥

अर्थ—पश्चात् महातेजस्वी युधिष्ठिर अपने चारो भाइयों से बोले कि हे सिंहपुरुषो ! तुमने व्यासजी का कथन सुना, यदि कालबली ने मुझे ही सब क्षत्रियों के नाश का कारण बनाया है तो मेरे जीवन से क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ॥

एवं ब्रुवन्तं राजानं फाल्गुनः प्रत्यभाषत ।
मा राजन् कश्मलं घोरं प्रविशो बुद्धिनाशनम् ।
संप्रधार्य महाराज यत्क्षमं तत्समाचर ॥१७॥

अर्थ—राजा युधिष्ठिर के ऐसा कहने पर अर्जुन ने उत्तर दिया कि हे राजन् ! तुम इस बुद्धिनाशक भयानक शोक में मत पड़ो प्रत्युत विचारपूर्वक जो कुछ इसका उचित उपाय हो सो करो ॥

ततोऽब्रवीत् सत्यधृतिर्भ्रातॄन् सर्वान्युधिष्ठिरः ।
द्वैपायनस्य वचनं तत्रैव समचिन्तयन् ॥१८॥
अद्यप्रभृति भद्रं वः प्रतिज्ञां मे निबोधत ।
न प्रवक्ष्यामि पुरुषं भ्रातॄनन्यांश्च पार्थिवान् ।
स्थितो निदेशे ज्ञातीनां योक्ष्ये तत्समुदाहरन्॥१९॥

अर्थ—तब सच्चे धैर्यवान् युधिष्ठिर व्यासजी की बात का विचार करते हुए अपने सब भाइयों से कहने लगे कि आप लोगों का कल्याण हो, देखो मैं यह प्रतिज्ञा करता हूं सो आप लोग स्मरण रक्खें कि मैं आज से भाइयों, अन्य राजाओं तथा

किसी पुरुष को भी कटु वचन वा अनुचित बात न कहुंगा, प्रत्युत अपने बन्धुओं की आज्ञा में रहकर उनके वचन का पालन किया करुंगा ॥

एवं मे वर्त्तमानस्य स्वसुतेष्वितरेषु च ।
भेदो न भविता लोके भेदमूलो हि विग्रहः ॥२०॥
विग्रहं दूरतो रक्षन् प्रियाण्येव समाचरन् ।
वाच्यतां न गमिष्यामि लोकेषु मनुजर्षभाः ॥२१॥

अर्थ–हे सिंहपुरुष भाइयो ! मैं इस प्रतिज्ञा के अनुसार ही अपने पुत्रों तथा अन्य सबों के साथ प्रीतिपूर्वक वर्ताव रखुंगा तो देश में विरोध न बढ़ने से लड़ाई झगड़े भी न होंगे, क्योंकि विरोध ही लड़ाई की जड़ है, लड़ाई झगड़ों से दूर बचता हुआ और सबका हित ही करता हुआ मैं मनुष्यों की दृष्टि में निन्दनीय न होऊंगा ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य वचनं पाण्डवाः सन्निशम्य तत् ।
तमेव समवर्त्तन्त धर्मराज हिते रताः ॥२२॥
संसत्सु समयं कृत्वा धर्मराट् भ्रातृभिःसह ।
कृतमङ्गलकल्याणो भ्रातृभिः परिवारितः ।
युधिष्ठिरः सहामात्यः प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥२३॥

अर्थ–चारो पाण्डव अपने बड़े भाई धर्मराज युधिष्ठिर की बात सुनकर उनके हित में लगे हुए उनकी बात का अनुमोदन करने लगे, इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिर ने सभा में उक्त प्रतिज्ञा कर

अपने भाइयों के साथ आनन्दोत्सव मनाके मन्त्रियों समेत उत्तम राजधानी " इन्द्रप्रस्थ " में प्रवेश किया ॥

दुर्योधनो महाराज शकुनिश्चापि सौबलः ।
सभायां रमणीयायां तत्रैवास्ते नराधिप ॥२४॥

अर्थ—हे महाराज जनमेजय! इस समय तक भी दुर्योधन और सुबल का पुत्र शकुनि यह दोनों उस रमणीय सभाभवन में ही रहते रहे॥

इति षड्विंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ सप्तविंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

वसन् दुर्योधनस्तस्यां सभायां पुरुषर्षभ ।
शनैर्ददर्श तां सर्वां सभांशकुनिना सह ॥१॥
तस्यां दिव्यानभिप्रायान् ददर्श कुरुनन्दनः ।
न दृष्टपूर्वा ये तेन नगरे नागसाह्वये ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे जनमेजय! राजा दुर्योधन ने उस सभाभवन में रहते हुए शकुनि को साथ लेकर उस सारे सभा भवन को धीरे २ देखभाल लिया, कुरुवंशी दुर्योधन ने उस भवन में वह २ अद्भुत बातें देखीं जो उसने अपने " हस्तिनापुर " नगर में कभी न देखीं न सुनी थीं ॥

स कदाचित् सभामध्ये धार्त्तराष्ट्रो महीपतिः ।
स्फाटिकं स्थलमासाद्य जलमित्यभिशङ्कया ॥३॥

स्ववस्त्रोत्कर्षणं राजा कृतवान् बुद्धिमोहितः ।
दुर्मना विमुखश्चैव परिचक्राम तां सभाम् ।।४।।
ततः स्थले निपतितो दुर्मना व्रीडितो नृपः ।
निःश्वसन्विमुखश्चापि परिचक्रामतां सभाम् ।।५।।

अर्थ–एक समय धृतराष्ट्र का पुत्र राजा दुर्योधन सभाभवन की सैर कर रहा था कि स्फटिक पत्थर की बनी हुई भूमी उसे जल दिखाई दी और उसने भ्रम में पड़कर अपने कपड़े भीग जाने की शंका से उन्हें शरीर से उतारकर ऊपर को उठालिया और वह घबराया हुआ सा ज्यों ही सभाभवन के उस स्थल में पहुंचा त्यों ही वह उस स्थल में धडाम से गिरपड़ा और वहां उसे बडी लज्जा उठानी पड़ी, निदान वह उठकर फिर ठंडी सांस भरता हुआ उस भवन की सैर करने के लिये आगे बढ़ा ॥

ततः स्फाटिक तोयां वै स्फाटिकाम्बुजशोभिताम् ।
वापीं मत्वा स्थलमिव सवासाः प्रापतज्जले ॥ ६ ॥
जले निपतितं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।
जहास जहसुश्चैव किङ्कराश्च सुयोधनम् ॥ ७ ॥
वासांसि च शुभान्यस्मै प्रददू राजशासनात् ।
तथागतं तु तं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ।
अर्जुनश्च यमौ चोभौ सर्वे ते प्राहसंस्तदा ॥ ८ ॥

अर्थ–इस समय राजा दुर्योधन ने अपने सब वस्त्र फिर से पहन लिये थे, वह उस सभाभवन में आगे बढ़कर क्या देखता

है कि एक बावड़ी जिसमें स्फटिक के बने हुए कमल शोभायमान थे और उसमें भरा हुआ जल स्फटिक पत्थर सा प्रतीत होता था अर्थात् पहले भ्रम से यहां भी दुर्योधन ने बावड़ी के सच्चे जल को सूखा स्थल समझा, किंतु ज्यों ही उसने उसमें बेपर्वाही से पैर रखा त्यों हीं वस्त्रों समेत जल में गोते खाने लगा, उसका जल में गिरना था कि इधर महाबली भीमसेन और उनके नौकर लोग दुर्योधन को हंसने लगे, और जब वह बावड़ी से निकलकर वैसी दशा में राजा युधिष्ठिर के पास तक पहुंचा तो महाबली भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव यह सब लोग खिलखिलाकर हंस पड़े अन्त में महाराज युधिष्ठिर की आज्ञा से दुर्योधन को और उत्तम वस्त्र पहरने के लिये दिये गये ॥

नामर्षयत्ततस्तेषामवहासममर्षणः ।
आकारं रक्षमाणस्तु न स तान् समुदैक्षत ॥९॥

पुनर्वसनमुत्क्षिप्य प्रतरिष्यन्निव स्थलम् ।
आरुरोह ततः सर्वे जहसुश्च पुनर्जनाः ॥१०॥

द्वारं तु पिहिताकारं स्फाटिकं प्रेक्ष्य भूमिपः ।
प्रविशन्नाहतो मूर्ध्नि व्याघूर्णित इव स्थितः ॥११॥

तादृशं चापरं द्वारं स्फाटिकोरुकपाटकम् ।
विघट्टयन कराभ्यां तु निष्क्रम्याग्रे पपात ह ॥१२॥

द्वारं तु वितताकारं समापेदे पुनश्च सः ।
तद्वृत्तं चेति मन्वानो द्वारस्थानादुपारमत् ॥१३॥

अर्थ–अभिमानी दुर्योधन अपने इस अपमान को सह न सका, परन्तु अपने गुप्त सन्ताप को छिपाने के लिये उसने मुख उठाकर अपना आकार उनके सामने बिगाड़कर नहीं दिखाया, इतने पर भी दुर्योधन को आगे का सूखा स्थल जल जान पड़ा और उसने अपने कपड़े उतारकर ज्यों ही वहां डरते हुए तैरने के लिये पांव रखा तो फिर सब लोग हंसने लगे, इतना ही नहीं वरन् राजा दुर्योधन को स्फटिक के बने हुए बन्द द्वार में किवाड़ें दीखीं और वह वहां पोला स्थान समझकर ज्यों ही वेग से घुसा कि उसके शिर में किवाड़ की ठोकर लगी और उसका शिर चकराने लगा, इसके पश्चात् दूसरे स्थान में स्फटिक का बना हुआ दूसरा द्वार जिसमें झूठे ही बड़े २ किवाड़ बन्द किये जान पड़ते थे, दुर्योधन ने पहले ही भ्रम से उन्हें खोलने के लिये दोनों हाथों से धक्का दिया पर वहां पोल होने के कारण वह आप ही द्वार से बाहर निकलकर सामने गिरपड़ा, इसके पश्चात् इसी प्रकार का द्वार जो बन्द किया हुआ था सामने आया परन्तु दुर्योधन पहली घटना का विचार करके उस द्वार तक न पहुंचकर पीछे लौट आया ॥

एवं प्रलम्भान् विविधान् प्राप्य तत्र विशाम्पते ।
पाण्डवेयाभ्यनुज्ञातस्ततो दुर्योधनो नृपः ॥१४॥
अप्रहृष्टेन मनसा राजसूये महाक्रतौ ।
प्रेक्ष्य तामद्भुतामृद्धिं जगामगजसाह्वयम् ॥१५॥

अर्थ–हे राजा जनमेजय ! तब राजा दुर्योधन वहां इस तरह कई प्रकार से अपमानित होकर महाराज युधिष्ठिर के राजसूय महायज्ञ तथा सभाभवन की उत्कृष्ट समृद्धि को देखभालकर

पाण्डवों से अनुमति ले शोक में डूबे हुए मन से अपने "हस्तिनापुर" नगर को लौट आया ॥

पाण्डवश्रीप्रतप्तस्य ध्यायमानस्य गच्छतः ।
दुर्योधनस्य नृपतेः पापामतिरजायत ॥१६॥
पार्थान् सुमनसो दृष्ट्वा पार्थिवांश्च वशानुगान् ।
कृत्स्नं चापि हितं लोकमाकुमारं कुरुद्वह ॥१७॥
महिमानं परं चापि पाण्डवानां महात्मनाम् ।
दुर्योधनो धार्त्तराष्ट्रो विवर्णः समपद्यत ॥१८॥

अर्थ—पाण्डवों की राज्यलक्ष्मी को देखकर जले हुए चिन्ताग्रस्त राजा दुर्योधन की बुद्धि में पाप समा गया, हे कुरुवंश के वंशधर राजन् ! धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन पाण्डवों को प्रसन्नतापूर्ण देख तथा सब राजाओं को उनके अधीन हुए २ जान और बूढ़े से बच्चे तक सारे देश को उनका पक्षपाती समझ महात्मा पाण्डवों की परम महिमा को सोच सोचकर पीला पड़गया ॥

स तु गच्छन्ननेकाग्रः सभामेकोऽन्वचिन्तयत ।
श्रियं च तामनुपमां धर्मराजस्य धीमतः ॥१९॥
प्रमत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनस्तदा ।
अनेकाग्रं तु तं दृष्ट्वा शकुनिः प्रत्यभाषत ।
दुर्योधन कुतोमूलं निःश्वसन्निव गच्छसि ॥२०॥

अर्थ—जब राजा दुर्योधन शकुनि के साथ अपने नगर को जा रहा था उस समय उसका चित्त डामाडोल और वह बार २ बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर के अद्भुत सभाभवन तथा अनुपम

राज्यलक्ष्मी की चिन्ता करता २ बावला सा होगया था, उसने अपने साथी शकुनि के साथ जो बार २ उससे बातचीत करना चाहता था एक बात भी न की वरन् चुपचाप रहा शकुनि ने उसे डामाडोल हुआ देखकर अन्त में पूछा कि हे दुर्योधन ! तुम बड़ी सांस भरते हुए शोक में जारहे हो सो तुम्हें यह दुःख किस कारण हुआ है ॥

दुर्योधन उवाच

दृष्ट्वेमां पृथिवीं कृत्स्नां युधिष्ठिरवशानुगाम् ।
जितामस्त्रप्रतापेन श्वेताश्वस्य महात्मनः ॥२१॥
तं च यज्ञं तथाभूतं दृष्ट्वा पार्थस्य मातुल ।
यथा शक्रस्य देवेषु तथाभूतं महाद्युतेः॥२२॥
अमर्षेण तु सम्पूर्णो दह्यमानो दिवानिशम् ।
शुचिशुक्रागमे काले शुष्येत्तोयमिवाल्पकम् ॥२३॥

अर्थ–दुर्योधन बोला कि हे मामाजी ! श्वेत घोड़े रखने वाले महात्मा युधिष्ठिर ने अपने शस्त्रों के प्रताप से इस सारी पृथ्वी को जीतकर अपने वश में करलिया है और उसने वह महान् राजसूय यज्ञ करादिखाया है जैसाकि महाप्रतापी इन्द्र ने देवताओं के बीच किया था, सो मैं उसकी यह सारी विभूति देख ईर्षा से रात दिन जलकर राख हुआ जाता हूं और मैं शीघ्र ही सूखकर नाश को प्राप्त होजाउंगा, जैसे गरमी की ऋतु में थोड़े पानी का तालाब शुष्क होकर नष्ट होजाता है ॥

पश्य सात्वतमुख्येन शिशुपालो निपातितः ।
नच तत्र पुमानासीत्कश्चित्तस्य पदानुगः ॥२४॥

दह्यमाना हि राजानः पाण्डवोत्थेन वह्निना ।
क्षान्तवन्तोऽपराधं ते कोहि तत्क्षन्तुमर्हति ॥२५॥
वासुदेवेन तत्कर्म यथाऽयुक्तं महत् कृतम् ।
सिद्धं च पाण्डुपुत्राणां प्रतापेन महात्मनाम् ॥२६॥

अर्थ–हे मामाजी ! देखिये यदुवंशियों के मुखिया कृष्ण ने भरी सभा के बीच राजा शिशुपाल को मार डाला परन्तु वहां कोई भी मनुष्य शिशुपाल का सहायक न निकला, पाण्डवों के प्रताप की अग्नि से सब राजा लोग घबराये हुए थे और इसीलिये उन्हें कृष्ण का वह अपराध भी क्षमा करना पड़ा, नहीं तो भला कौन उसे क्षमा करसकता था, वसुदेव के पुत्र कृष्ण ने वह बड़ा भारी अनुचित कार्य किया और महात्मा पाण्डवों के प्रताप से वह निर्विघ्न पूर्ण भी होगया ॥

तथा हि रत्नान्यादाय विविधानि नृपानृपम् ।
उपतिष्ठन्त कौन्तेयं वैश्या इव करप्रदाः ॥२७॥
श्रियं तथागतां दृष्ट्वा ज्वलन्तीमिव पाण्डवे ।
अमर्षवशमापन्नो दह्यामि न तथोचितः ॥२८॥

अर्थ–युधिष्ठिर के प्रताप पर दृष्टि तो दीजिये कि सारे भूमण्डल के राजा कर=टैक्स देनेवाले बनियों के समान उत्तमोत्तम विविध प्रकार के रत्नादि पदार्थ लेकर उसकी सेवा में आ खड़े हुए, पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर की ऐसी बढ़ी चढ़ी समृद्धि को देखकर ईर्षा से मैं जल रहा हूं किन्तु मेरे लिये ऐसा दुःख होना उचित न था ॥

एवं स निश्चयं कृत्वा ततो वचनमब्रवीत् ।
पुनर्गान्धार नृपतिं दह्यमान इवाग्निना ॥ २९ ॥
वह्निमेव प्रवेक्ष्यामि भक्षयिष्यामि वा विषम् ।
अपो वापि प्रवेक्ष्यामि न हि शक्ष्यामि जीवितुम् ॥३०॥

अर्थ–दुर्योधन इस प्रकार सोच विचारकर और निश्चय करके आग से जला भुना सा हुआ २ फिर गान्धार के राजा शकुनि से बोला कि हे मामाजी ! मैंने तो यह निश्चय किया है कि या तो मैं आग में प्रवेश करके जल मरुंगा वा विष खालूंगा अथवा जल में डूब जाउंगा, अब मैं जीवित नहीं रह सकता ॥

को हि नाम पुमान् लोके मर्षयिष्यति सत्त्ववान् ।
सपत्नानृध्यतो दृष्ट्वा हीनमात्मानमेव च ॥३१॥
सोऽहं न स्त्री न चाप्यस्त्री न पुमान्नापुमानपि ।
योऽहं तां मर्षयाम्यद्य तादृशीं श्रियमागताम् ॥३२॥

अर्थ–संसार में कौन ऐसा मनुष्य है जो कुछ भी पुरुषार्थ रखता हुआ अपने शत्रुओं की बढ़ती और अपनी घटती देखकर क्षमा करजाय, बस यदि मैं पाण्डवों की उस विशाल राज्यलक्ष्मी को देखता हुआ भी चुप हो रहता हूं तो आप समझलें कि मैं न स्त्री, न पुरुष और नाही नपुंसक हूं अर्थात् कुछ भी नहीं ॥

ईश्वरत्वं पृथिव्याश्च वसुमत्तां च तादृशीम् ।
यज्ञं च तादृशं दृष्ट्वा मादृशः को न संज्वरेत् ॥३३॥
अशक्तश्चैक एवाहं तामाहर्त्तुं नृपश्रियम् ।
सहायांश्च न पश्यामि तेन मृत्युं विचिन्तये ॥३४॥

अर्थ–राजा युधिष्ठिर का भूमण्डल पर राज्य, इस प्रकार धन की बढ़ती और उस राजसूय जैसे यज्ञ को देखकर मेरे जैसा कौन पुरुष संतप्त न होगा, हे मामाजी! राजा युधिष्ठिर की उस राज्यलक्ष्मी को छीनने की मुझ अकेले में तो सामर्थ्य नहीं और सहायक मेरा कोई है नहीं, इसलिये मैंने मरने की ठानली है ॥

दैवमेव परं मन्ये पौरुषं च निरर्थकम् ।
दृष्ट्वा कुन्तीसुते शुद्धां श्रियं तां महतां यथा॥३५॥
कृतो यत्नो मया पूर्वं विनाशे तस्य सौबल ।
तच्च सर्वमतिक्रम्य संवृद्धोऽप्स्विव पङ्कजम् ॥३६॥
तेन दैवं परं मन्ये पौरुषं च निरर्थकम् ।
धार्त्तराष्ट्रा हि हीयन्ते पार्था वर्द्धन्ति नित्यशः॥३७॥

अर्थ–कुन्ती के पुत्र की बड़े पुरुषों के समान उस प्रकाशमान राज्यलक्ष्मी को देखकर मैं भाग्य को बड़ा और पुरुषार्थ को व्यर्थ समझता हूं, हे मामाजी! मैंने युधिष्ठिर के मारने का पहले बहुत कुछ उपाय किया था पर उसमें उसका बाल भी बांका न हुआ और वह जल में कमल के समान फिर से बढ़गया, इसलिये मैं समझता हूं कि भाग्य ही बड़ी वस्तु है पुरुषार्थ कुछ नहीं, यही कारण है कि हम धृतराष्ट्र के पुत्र दिनोदिन घटते जाते और पाण्डव लोग बढ़रहे हैं ॥

सोऽहं श्रियं च तां दृष्ट्वा सभां च तथा विधाम् ।
रक्षिभिश्चावहासं तं परितप्ये यथाग्निना ॥३८॥

स मामभ्यनुजानीहि मातुलाद्य सुदुःखितम् ।
अमर्षं च समाविष्टं धृतराष्ट्रे निवेदय ॥३९॥

अर्थ–सो मैं युधिष्ठिर की उस राज्यलक्ष्मी तथा सभाभवन को देखकर और सभाभवन में नौकरों से ऐसा अपमान पाकर मानो आग से जला जारहा हूं, हे मामाजी ! अब आप मुझ दुखिया को मेरे मन की बात पूरी करने दीजिये और मेरे इस भीतरी जलन की बात पिता धृतराष्ट्र को भी बतादीजिये ॥

इति सप्तविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ अष्टविंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

शकुनि उवाच

दुर्योधन न तेऽमर्षः कार्यं प्रति युधिष्ठिरम् ।
भागधेयानि हि स्वानि पाण्डवा भुञ्जते सदा ॥१॥
विधानं विविधाकारं परं तेषां विधानतः ।
अनेकैरभ्युपायैश्च त्वया न शकिताः पुरा ॥२॥

अर्थ–शकुनि बोला कि हे दुर्योधन ! तुम्हें युधिष्ठिर से ईर्षा बनी उचित नहीं, देखते हैं कि पाण्डव लोग सदा अपने प्रारब्ध ही सुख भोगते रहे हैं, वह लोग नाना प्रकार के उपायों से करते रहते हैं, और तुम भी उनके नाश के बहुत से उपाय कर २ हार बैठे हो पर उनकी कुछ भी हानि न हुई ॥

आरब्धापि महाराज पुनः पुनररिन्दम ।
विमुक्ताश्च नरव्याघ्रा भागधेय पुरस्कृताः ॥ ३ ॥
तैर्लब्धा द्रौपदी भार्या द्रुपदश्च सुतैः सह ।
सहायः पृथिवीलाभे वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ ४ ॥

अर्थ-हे शत्रुनाशक राजन् ! आपने वार २ उनके मारने का उपाय आरम्भ किया, परंतु वह सिंहपुरुष अपने अच्छे भाग्य के कारण बचे रहे, देखो उन्होंने द्रुपद की पुत्री "द्रौपदी" को अपनी भार्या बनाया और इसी कारण राजा द्रुपद भी अपने पुत्रों समेत उनका साथी बनगया, इसके अतिरिक्त पराक्रमी कृष्ण भी पृथ्वी के विजय करने में उनका सहायक रहा ॥

लब्धश्चानभिभूतार्थैः पित्र्योंशः पृथिवीपते ।
विवृद्धस्तेजसा तेषां तत्र का परिदेवना ॥ ५ ॥
अग्निदाहान्मयं चापि मोक्षयित्वा स दानवम् ।
सभां तां कारयामास सव्यसाची परन्तपः ॥ ६ ॥

अर्थ-हे राजन् ! उन्हें तुम्हारा दबाया हुआ अपने पिता का दायभाग भी पूरा २ नहीं मिला किंतु उन्होंने अपने प्रताप से उस छोटे से भाग को भी इतना बढ़ा लिया, अब इसमें शोक क्या करना, शत्रुदमनकर्त्ता वीर अर्जुन ने "मय" नामक कारीगर दानव को अग्नि में जलने से बचाया था इसी उपकार के बदले में उसने वह अद्भुत सभाभवन बनादिया जिसको देखकर तुम्हें डाह हुआ है. और :-

यच्चासहायतां राजन्नुक्तवानसि भारत ।
तन्मिथ्या भ्रातरो हीमे तव सर्वे वशानुगाः ॥ ७ ॥
द्रोणस्तव महेष्वासः सह पुत्रेण वीर्यवान् ।
सूतपुत्रश्च राधेयो गौतमश्च महारथः ॥ ८ ॥
अहं च सह सोदर्यैः सोमदत्तिश्च पार्थिवः ।
एतैस्त्वं सहितः सर्वैर्जय कृत्स्नां वसुन्धराम् ॥ ९ ॥

अर्थ–हे भारतीय राजन्! आपने जो यह कहा कि हमारा कोई सहायक नहीं, यह बात असत्य है, क्योंकि प्रथम तो तुम्हारे सब भाई ही तुम्हारे आज्ञाकारी हैं, इनके सिवाय बाणविद्या में निपुण वीर द्रोणाचार्य्य, उनका पुत्र अश्वत्थामा, सूत का पुत्र कर्ण, गौतम का पुत्र महारथी कृपाचार्य, मैं, मेरे सब भाई और सोमदत्त का पुत्र, इन सब सहायकों के साथ तुम सारे भूमण्डल को जीत लो॥

दुर्योधन उवाच

त्वया च सहितो राजन्नेतैश्चान्यैर्महारथैः ।
एतानेव विजेष्यामि यदि त्वमनुमन्यसे ॥ १० ॥
एतेषु विजितेष्वद्य भविष्यति मही मम ।
सर्वे च पृथिवीपालाः सभा सा च महाधना ॥११॥

अर्थ–तब दुर्योधन बोला कि हे राजन्! यदि तुम्हारी सम्मति हो तो मैं तुम्हारे और इन सब तुम्हारे बताये हुए वीर योधाओं के साथ मिलकर पहले इन पाण्डवों को ही जीतलूं, मैं समझता हूं कि इनको जीत लेने पर सारी पृथ्वी, सब राजा लोग और वह सभाभवन जिसमें इतना धन लगा है यह सब मेरे हाथ में आजायंगे ।।

शकुनि उवाच

धनञ्जयो वासुदेवो भीमसेनो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च द्रुपदश्च सहात्मजैः ॥ १२ ॥
नैते युधि पराजेतुं शक्यादेवगणैरपि ।
महारथाः महेष्वासाः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ॥ १३ ॥
अहं तु तद्विजानामि विजेतुं येन शक्यते ।
युधिष्ठिरः स्वयं राजंस्तन्निबोध जुषस्व च ॥१४॥

अर्थ–शकुनि बोला कि हे दुर्योधन ! अर्जुन, कृष्ण, भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, द्रुपद और उसके पुत्र, यह सब लोग ऐसे नही हैं जो युद्ध में देवता लोगों से भी जीते जासकें, क्योंकि यह बड़े २ रथों वाले, बड़े बाण चलाने वाले, शस्त्रविद्या में सुशिक्षित और युद्ध से न हटने वाले हैं, परंतु हे राजन् ! मैं एक ऐसा उपाय जानता हूं जिससे बिना युद्ध किये ही युधिष्ठिर स्वयं हारजायगा, उसे तुम भी जानलो और वैसा ही करो॥

दुर्योधन उवाच

अप्रमादेन सुहृदामन्येषां च महात्मनाम् ।
यदि शक्या विजेतुं ते तन्ममाचक्ष्व मातुल ॥१५॥

अर्थ–दुर्योधन बोला कि हे मामाजी ! यदि उस उपाय से मेरे मित्रों और अन्य महात्माओं को कोई हानि नहीं पहुंचती और पाण्डव लोग पराजित होसकते हैं तो ऐसा उपाय मुझे अवश्य बताइये ॥

शकुनि उवाच

द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न स जानाति देवितुम् ।
समाहूतश्च राजेन्द्रो न शक्ष्यति निवर्त्तितुम् ॥१६॥
देवने कुशलश्चाहं न मेऽस्ति सदृशो भुवि ।
त्रिषु लोकेषु कौरव्य तं त्वं द्यूते समाह्वय ॥१७॥

अर्थ—शकुनि बोला कि हे दुर्योधन ! युधिष्ठिर को जुआ खेलने का शौक है परन्तु वह खेलना नाममात्र ही जानता है, सो तुम यदि उसको जूए के लिये आह्वान करोगे तो वह निषेध नहीं करसकेगा, क्योंकि उसे अपने राजराजेश्वर होने का अभिमान है, और हे कुरुवंशी ! मैं जुआ खेलने में बड़ा चतर हूं, मेरे समान खिलाड़ी इस पृथ्वी पर तो क्या तीनो लोकों में भी नहीं. बस तुम उसे जुआ खेलने के लिये आह्वान करो॥

तस्याक्षकुशलो राजन्नादास्येऽहमसंशयम् ।
राज्यं श्रियं च तां दीप्तां त्वदर्थं पुरुषर्षभ ॥ १८ ॥
इदं तु सर्वं त्वं राज्ञे दुर्योधन निवेदय ।
अनुज्ञातस्तु ते पित्रा विजेष्ये तान्न संशयः ॥ १९॥

अर्थ—हे पुरुषों में श्रेष्ठ राजा दुर्योधन ! मैं पासे फेंकने की चालाकी से तुम्हारी भलाई के लिये युधिष्ठिर का राजपाट और चमकती हुई इस राजलक्ष्मी को छीन लूंगा, इसमें कुछ भी संदेह नहीं, परंतु हे दुर्योधन ! तुम यह सब बात अपने पिता राजा धृतराष्ट्र को समझादो, उनकी अनुमति मिलते ही मैं पाण्डवों को निःसन्देह जीतलूंगा ॥

दुर्योधन उवाच

त्वमेव कुरुमुख्याय धृतराष्ट्राय सौबल ।
निवेदय यथान्यायं नाहं शक्ये निवेदितुम् ॥२०॥

अर्थ–दुर्योधन बोला कि हे शकुनि ! कुरुवंशियों के प्रधान राजा धृतराष्ट्र को तुम्हीं चतुराई से अपने मन की बात समझादो मैं नहीं समझासकुंगा ॥

इति अष्टविंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकोनत्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

वैशम्पायन उवाच

अनुभूय च राज्ञस्तं राजसूयं महाक्रतुम् ।
युधिष्ठिरस्य नृपतेर्गान्धारी पुत्रसंयुतः ॥ १ ॥
प्रियकृन्मतमाज्ञाय पूर्वं दुर्योधनस्य तत् ।
प्रज्ञाचक्षुषमासीनं शकुनिः सौवलस्तदा ॥ २ ॥
दुर्योधन वचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रं जनाधिपम् ।
उपगम्य महाप्राज्ञं शकुनिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ३ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! महाराज युधिष्ठिर का राजसूय-महायज्ञ गान्धारी के पुत्र दुर्योधन और शकुनि इन दोनों को ही खटकता था. इस पर भी जब सुवल के पुत्र शकुनि को उसकी मनचाही सम्मति दुर्योधन से मिलगई तो

वह दुर्योधन को अपने साथ ले प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्र के पास पहुंचा और उन्हें इस प्रकार समझाने लगा कि :-

शकुनि उवाच

दुर्योधनो महाराज विवर्णो हरिणः कृशः ।
दीनश्चिन्तापरश्चैव तं विद्धि मनुजाधिप ॥ ४ ॥
न वै परीक्षसे सम्यगसह्यं शत्रुसम्भवम् ।
ज्येष्ठपुत्रस्य हृच्छोकं किमर्थं नावबुध्यसे ॥ ५ ॥

अर्थ—हे राजन् ! दुर्योधन पीला पड़गय है तथा प्रति दिन दुबला होता जाता है,और आपको यह भी ज्ञात हो कि वह चिन्तातुर हुआ दुःखी रहता है, हे महाराज ! आपके बड़े पुत्र के चित्त को यह असह्य शोक शत्रुओं की ओर से उत्पन्न हुआ है, आप इसकी परीक्षा नहीं करते और न जाने इस ओर क्यों ध्यान नहीं देते हैं ॥

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन कुतो मूलं भृशमार्त्तोऽसि पुत्रक ।
श्रोतव्यश्चेन्मया सोऽर्थो ब्रूहि मे कुरुसत्तम ॥ ६ ॥
अयं त्वां शकुनिः प्राह विवर्णं हरिणं कृशम् ।
चिन्तयश्च न पश्यामि शोकस्य तव संभवम् ॥ ७ ॥

अर्थ—धृतराष्ट्र बोला कि हे बेटा दुर्योधन ! तुम बड़े दुःखी हो सो इसका क्या कारण ? यदि मेरे सुनाने की बात हो तो मुझसे कहो, यह शकुनि कहता है कि तुम बड़े दुबले तथा पीले पड़गये हो, मैं जहां तक सोचता हूं तुम्हारे शोक का कारण मेरी समझ में नहीं आता ॥

ऐश्वर्यं हि महत्पुत्र त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
भ्रातरः सुहृदश्चैव नाचरन्ति तवाप्रियम् ॥ ८ ॥
शयनानि महार्हाणि योषितश्च मनोरमाः ।
गुणवन्ति च वेश्मानि विहाराश्च यथासुखम् ॥ ९ ॥
देवानामिव ते सर्वं वाचिबद्धं न संशयः ।
स दीन इव दुर्धर्ष कस्माच्छोचसि पुत्रक ॥ १० ॥

अर्थ–हे बेटा दुर्योधन ! देख यह सब बड़ा भारी ऐश्वर्य तेरा ही है, तेरे भाई और मित्र बन्धु सब तेरे अनुकूल रहते हैं, उत्तमोत्तम सेज, मनोहर स्त्रियें, गुणयुक्त महल तथा सुखदायक क्रीड़ा के स्थान, यह सब वस्तुयें तुम्हारे पास हैं और यह सब प्रजा तुम्हें देवताओं के समान समझकर सदा तुम्हारे कहने में रहती है, इस में सन्देह नहीं, फिर क्या कारण है कि तुम एक दीन पुरुष के समान शोक में रहते हो ? तुम्हें तो कोई दबा ही नहीं सकता ॥

दुर्योधन उवाच

अश्नाम्याच्छादये चाहं यथा कुपुरुषस्तथा ।
अमर्षं धारये चोग्रं निनीषुः कालपर्ययम् ॥ ११ ॥
अमर्षणः स्वाः प्रकृतीरभिभूय परं स्थितः ।
क्लेशान्मुमुक्षुः परमात् स वै पुरुष उच्यते ॥ १२ ॥

अर्थ–दुर्योधन बोला कि हे पिताजी ! यह ठीक है कि मैं एक नीच पुरुष के समान खाता पिता तथा वस्त्र भी पहनता हूं परन्तु अब तो मैं भीतर ही भीतर जलता रहता और बुरे दिन काटता हूं " पुरुष " कहलाने योग्य वही है जो शत्रु को क्षमा

न करे, अपनी प्रजा को सर्वथा अपने अधीन रखे और सदा बड़े से बड़े क्लेश से बचन का उपाय करे ॥

सन्तोषो वै श्रियं हन्ति ह्यभिमानश्च भारत ।
अनुक्रोशभये चोभे यैर्वृतो नाश्नुते महत् ॥१३॥
न मां प्रीणाति मद्भुक्तं श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे ।
अभिज्वलन्तीं कौन्तेये विवर्णकरणीं मम ॥१४॥

अर्थ–हे भारतीय राजन् ! आप जानते हैं कि सन्तोष कर लेने पर मनुष्य का धन और अभिमान दोनों नाश होजाते हैं, और दया तथा भय यह दोनों ऐसे पदार्थ हैं जिनके कारण मनुष्य आगे उन्नति नहीं करसकता, कुन्ती के पुत्र युधिष्ठिर की चमकती हुई राजलक्ष्मी को देखकर मुझे खाना पीना कुछ भी अच्छा नहीं लगता और इसीसे मैं पीला पड़गया हूं ॥

सपत्नानृध्यतोऽत्मानं हीयमानं निशम्य च ।
अदृश्यामपि कौन्तेयश्रियं पश्यन्निवोद्यतां ।
तस्मादहं विवर्णश्च दीनश्च हरिणः कृशः ॥१५॥

अर्थ–जब मैं किसी के मुख से सुनता हूं कि मेरे शत्रु बढ़ रहे हैं और मैं गिरा हुआ हूं तो उस समय युधिष्ठिर की राजलक्ष्मी मेरी आंखों के सामने खड़ी दीख पडती है, इसीसे मेरा रंग पीला पड़गया और मैं दिन पर दिन दुःखी रहकर निर्बल होता जाता हूं॥

पृथग्विधानि रत्नानि पार्थिवाः पृथिवीपते ।
आहरन् क्रतुमुख्येऽस्मिन् कुन्तीपुत्रायभूरिशः॥१६॥

न क्वचिद्धि मया तादृग्दृष्टपूर्वो नच श्रुतः ।
यादृग्धनागमो यज्ञे पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥१७॥

अर्थ—हे महाराज ! देखिये उस महान् राजसूय यज्ञ में सब राजा लोग नाना प्रकार के असंख्य रत्न तथा अन्य पदार्थ युधिष्ठिर की भेट करने को लाये थे, बुद्धिमान् पांडवों के यहां यज्ञ में जैसी धन की आमद हुई है वैसी मैंने पहले कहीं न देखी न सुनी थी ॥

अपर्यन्तं धनौघं तं दृष्ट्वा शत्रोरहं नृप ।
शर्मनैवाधिगच्छामि चिन्तयानो विशाम्पते ॥१८॥
दृष्ट्वा च मम तत् सर्वं ज्वररूपमिवाभवत् ।
गृहीत्वा यत्तु गच्छन्ति समुद्रौ पूर्वदक्षिणौ ।
तथैव पश्चिमं यान्ति गृहीत्वा भरतर्षभ ॥१९॥

अर्थ—हे प्रजानाथ ! मैं अपने शत्रु के असंख्य धन को देख कर सदा चिन्ता में रहता हूं, मुझे कभी शान्ति नहीं होती, हे भरतवंशभूषण पिताजी ! मैंने जब देखा कि पाण्डव लोग पूर्वी, दक्षिणी और पश्चिमी समुद्र की सारी संपत्ति अपने घर में समेट रहे हैं तब से मुझे ज्वर सा चढ़ा हुआ है ॥

उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात पतत्रिणः ।
तत्र गत्वाऽर्जुनो दण्डमाजहारामितं धनम् ॥२०॥

अर्थ—हे पिताजी ! उत्तर दिशा में जहां पक्षियों के सिवाय कोई मनुष्य पहले नहीं जाता था, अर्जुन उतनी दूर तक भी जा पहुंचा और वहां से वह असंख्य धन दण्डरूप में लाया ॥

पार्थिवैर्बहुभिः कीर्णमुपस्थानं दिदृक्षुभिः ।
अशोभत महाराज नक्षत्रैर्द्यौरिवामला ॥२१॥
सर्वरत्नान्युपादाय पार्थिवा वै जनेश्वर ।
यज्ञे तस्य महाराज पाण्डुपुत्रस्य धीमतः॥२२॥
तां दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रस्य श्रियं परमिकां महत् ।
शान्ति न परिगच्छामि दह्यमाने न चेतसा ॥२३॥

अर्थ–हे महाराज ! राजा युधिष्ठिर के दरबार में बड़े २ असंख्य राजा दर्शन के लिये आये थे, और उसका दरबार उस समय ताराओं से निर्मल आकाशमण्डल के समान शोभायमान था, हे राजन् ! देखिये बुद्धिमान् पाण्डवों के यज्ञ में सब राजा लोग बड़े २ रत्नादि पदार्थ भेट लेकर उपस्थित हुए थे, बस पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर की इस बढ़ीचढ़ी राज्यलक्ष्मी को देखकर ही मेरा मन जल रहा है और मुझे शान्ति नहीं होती ॥

शकुनि उवाच

यामेतामतुलांलक्ष्मीं दृष्टवानासि पाण्डवे ।
तस्या प्राप्तावुपायं मे शृणुसत्यपराक्रम॥२४॥
अहमक्षेष्वभिज्ञातः पृथिव्यामपि भारत ।
हृदयज्ञः पणज्ञश्च विशेषज्ञश्च देवते ॥२५॥
द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न च जानाति देवितुम् ।
आहूतश्चैष्यति व्यक्तं द्यूतादपिरणादपि ॥२६॥

नियतं तं विजेष्यामि कृत्वा तु कपटं विभो ।
आनयामि समृद्धिं तां दिव्यां चोपाह्वयस्वतम् ॥२७॥

अर्थ—तब पास बैठा हुआ शकुनि बोला कि हे सच्चे पराक्रमी दुर्योधन ! आपने जो पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर की अतुल सम्पत्ति देखी है उसके मिलने का मैं तुम्हें उपाय बतलाता हूं सो तुम सुनो, हे भरतवंशी ! सारा संसार जानता है कि मैं जुआ खेलने में बड़ा निपुण हूं, जुए का तत्व और विशेषतायें मैं सब कुछ जानता हूं और मुझे उलटा सीधा पासा फेंकना भी अच्छा आता है, और युधिष्ठिर को जुआ खेलने का शौक तो है पर वह खेलने में अनाड़ी है, वह इतना अभिमान अवश्य रखता है कि जुए और युद्ध के लिये उसे ललकारा जावे तो वह अवश्य ही आ पहुंचता है, बस हे राजन् ! तुम निश्चय समझो कि मैं छल कपट करके उसे अवश्य जीत लूंगा और फिर उसकी अद्भुत राजलक्ष्मी तो तुम अपने पास आई हुई ही समझो, इसलिये अब युधिष्ठिर को जुए के लिये आह्वान करो ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः शकुनिना राजादुर्योधनस्ततः ।
धृतराष्ट्रमिदंवाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ॥२८॥
अयमुत्सहते राजन् श्रियमाहर्त्तुमक्षवित् ।
द्यूतेषु पाण्डुपुत्रस्य तदनुज्ञातुमर्हसि ॥२९॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! शकुनि का यह कहना था कि दुर्योधन झट से बोल उठा कि हे पिताजी ! यह हमारे मामाजी जुआ खेलना बहुत अच्छा जानते हैं और

युधिष्ठिर की लक्ष्मी को जुए में जीतने का उत्साह करते हैं सो आप इन्हें आज्ञा दीजिये ॥

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्ता मन्त्री महाप्राज्ञः स्थितो यस्यास्मिशासने ।
तेन सङ्गम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम्॥३०॥
स हि धर्मं पुरस्कृत्य दीर्घदर्शी परं हितम् ।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं वक्ष्यत्यर्थं विनिश्चयम् ॥३१॥

अर्थ—धृतराष्ट्र बोले कि हे दुर्योधन ! तुम जानते हो कि महाबुद्धिमान् विदुर मेरा मन्त्री है जिसका कहना मैं मानता हूं, उसके साथ सलाह करके इस काम के लिये निश्चय करूंगा, क्योंकि वह बड़ा दीर्घदर्शी है, वह धर्म का विचार करके ऐसी निश्चित सम्मति देगा जिसमें दोनो पक्षों का हित हो ॥

दुर्योधन उवाच

निवर्त्तयिष्यति त्वासौ यदि क्षत्ता समेष्यति ।
निवृत्ते त्वयि राजेन्द्र मरिष्येऽहं न संशयः ॥३२॥
स त्वं मयि मृते राजन् विदुरेण सुखी भव ।
भोक्ष्यसे पृथिवीं कृत्स्नां किं मयात्वं करिष्यसि॥३३॥

अर्थ—दुर्योधन बोला कि हे राजेन्द्र ! यदि विदुर इस बीच में पड़ेगा तो वह तुम्हें इससे निषेध करेगा और यह निश्चय रखिये कि यदि तुम इस बात को स्वीकार न करोगे तो मैं अवश्य मर जाउंगा, हे राजन् ! अच्छा है कि मैं मरजाऊं तुम विदुर को साथ लेकर सुखी रहो और सारी पृथ्वी का राज्य करो, मुझसे तुम्हें क्या लेना है ॥

वैशम्पायन उवाच

आर्त्तवाक्यं तु तत्तस्य प्रणयोक्तं निशाम्य च ।
धृतराष्ट्रोऽब्रवीत् प्रेष्यान् दुर्योधनमतेस्थितः ॥३४॥
स्थूणासहस्रैर्बृहतीं शतद्वारां सभां मम ।
मनोरमां दर्शनीयामाशु कुर्वन्तु शिल्पिनः ॥३५॥
ततः संस्तीर्य रत्नैस्तां तक्षण आनाप्य सर्वशः ।
सुकृतां सुप्रवेशां च निवेदयत मे शनैः ॥ ३६ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! दुर्योधन के दुःख से भरे वचन सुनकर धृतराष्ट्र को उसकी बात स्वीकार करनी पड़ी, और जूआ खेलने का सभाभवन बनवाने के लिये अपने नौकरों को आज्ञा दी कि कारीगर लोग एक बड़ा मनोहर दर्शनीय सभा-भवन बनावें, जिसमें हज़ार खंभे लगाये जावें और सौ द्वार रक्खे जायं, जहां तक हो इस सभाभवन को बहुत शीघ्र तैयार करें, पीछे सब ओर रत्न जड़ दियेजायं, प्रवेश का द्वार अच्छा रक्खा जावे और जब पूर्णरूप से तैयार होजाय तब मुझे सूचना दें ॥

दुर्योधनस्य शान्त्यर्थमिति निश्चित्य भूमिपः ।
धृतराष्ट्रो महाराज प्राहिणोद्विदुराय वै ॥ ३७ ॥
अपृष्ट्वा विदुरं स्वस्य नासीत्कश्चिद्विनिश्चयः ।
द्यूते दोषांश्च जानन्स पुत्रस्नेहादकृष्यत ॥ ३८ ॥

अर्थ—हे महाराज जनमेजय ! राजा धृतराष्ट्र ने दुर्योधन की शान्ति के लिये ऐसा निश्चय करके पीछे अपने मन्त्री विदुर को बुला भेजा, यद्यपि धृतराष्ट्र मन्त्री विदुर से बिना पूछे कोई

काम नहीं करता था और वह जूए की बुराइयों को भी भले प्रकार समझता था, परंतु पुत्र के मोह ने उसे पाप की ओर खेंच लिया ॥

तच्छ्रुत्वा विदुरो धीमान् कलिद्वारमुपस्थितम् ।
विनाशमुखमुत्पन्नं धृतराष्ट्रमुपाद्रवत् ॥ ३९ ॥
सोऽभिगम्य महात्मानं भ्राता भ्रातरमग्रजम् ।
मूर्ध्ना प्रणम्य चरणाविदं वचनमब्रवीत् ॥ ४० ॥

अर्थ—जब बुद्धिमान् विदुर ने सुना कि अब नाशकारक कलह का द्वार खुलने वाला है तब वह शीघ्र ही धृतराष्ट्र के पास आया, और अपने बड़े भाई महात्मा धृतराष्ट्र के चरणों में शिर रखकर बोला कि :—

नाभिनन्दामि ते राजन् व्यवसायमिमं प्रभो ।
पुत्रैर्भेदो यथा न स्यात् द्यूतहेतोस्तथा कुरु ॥४१॥

अर्थ—हे राजन् ! मैं तुम्हारे इस विचार का अनुमोदन नहीं करसकता परन्तु आपको ऐसा उपाय अवश्य करना उचित है जिससे तुम्हारे बेटे और भतीजों में जुए के कारण विरोध न बढ़े ॥

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्तः पुत्रेषु पुत्रैर्मे कलहो न भविष्यति ।
यदि देवाः प्रसादं नः करिष्यन्ति न संशयः ॥४२॥

अर्थ—धृतराष्ट्र बोला कि हे विदुर ! यदि देवता लोग मुझ पर अनुग्रह करेंगे तो इसमें संदेह नहीं कि मेरे बेटों और भतीजों में कभी विरोध न बढ़ेगा ॥

अशुभं वा शुभं वापि हितं वा यदि वाऽहितम् ।
प्रवर्त्ततां सुहृद्द्यूतं दिष्टमेतन्न संशयः ॥ ४३ ॥
मयि सन्निहिते द्रोणे भीष्मे त्वयि च भारत ।
अनयोर्दैवविहितो न कथंचिद् भविष्यति ॥४४॥

अर्थ–हे मित्र विदुर ! चाहे जुआ बुरा हो वा भला, लाभकारक हो वा हानिकारक, अब तो यह करना ही पड़ेगा, मैंने सब सोच विचार लिया है तुम भी इसमें कुछ संदेह न करो, हे भरतवंशी ! जूआ खेलने के स्थान में मैं, द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह और तुम भी उपस्थित रहोगे तब ईश्वर के अनुग्रह से इन लोगों में कभी विरोध न होगा ॥

गच्छ त्वं रथमास्थाय हयैर्वातसमैर्जवे ।
खाण्डवप्रस्थमद्यैव समानय युधिष्ठिरम् ॥ ४५ ॥
न वाच्यो व्यवसायो मे विदुरैतद्ब्रवीमिते ।
दैवमेव परं मन्ये येनैतदुपपद्यते ॥४६॥
इत्युक्तो विदुरो धीमान्नेदमस्तीति चिन्तयन् ।
आपगेयं महाप्राज्ञमभ्यगच्छत्सुदुःखितः ॥४६॥

अर्थ–सो तुम वायुगामी घोड़ों वाले रथ पर बैठकर खाण्डवप्रस्थ=इन्द्रप्रस्थ को जाओ और आज ही युधिष्ठिर को यहां लिवा लाओ, परन्तु हे विदुर ! एक बात तुमसे मैं कहे देता हूं कि तुम मेरे इस संकल्प को वहां जाकर किसी से न कहना, मैं समझता हूं कि कोई प्रारब्ध ही ऐसा बलवान् आपड़ा है जिससे ऐसा करना

पड़ा, धृतराष्ट्र के ऐसा कहने पर बुद्धिमान् विदुर ने सोचा कि ऐसा तो नहीं होना चाहिये और वह अत्यन्त दुःखी होकर महाविद्वान् भीष्मपितामह के पास गया ॥

इति एकोनत्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ त्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

जनमेजय उवाच

कथं समभवद्द्यूतं भ्रातॄणां तन्महात्ययम् ।
यत्र तद्व्यसनं प्राप्तं पाण्डवैर्मे पितामहैः ॥१॥
केच तत्र सभास्तारा राजानो ब्रह्मवित्तम ।
केचैनमन्वमोदन्त केचैनं प्रत्यषेधयन् ॥२॥
विस्तरेणैतदिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज ।
मूलं ह्येतद्विनाशस्य पृथिव्या द्विजसत्तम ॥३॥

अर्थ—राजा जनमेजय बोला कि हे ब्रह्मवेत्ता विप्र वैशम्पायन! उन पाण्डव और कौरव भाई भाइयों में महाहानिकारक जूए का व्यवहार कैसे होगया, जिससे मेरे दादा पाण्डवों को बड़ा दुःख उठाना पड़ा, जूआ खेलने के सभाभवन में कौन २ राजा सभासद हुए और किन २ लोगों ने इसका निषेध किया था ? हे द्विजों में उत्तम ! मैं चाहता हूं कि आप इस वृत्तान्त को विस्तारपूर्वक वर्णन करें, क्योंकि यह महाभारत का युद्ध भारतवर्ष ही नहीं किन्तु सारे भूगोल के सत्यानाश की जड़ है ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु मे विस्तरेणेमां कथां भारतसत्तम ।
भूय एव महाराज यदि ते श्रवणे मतिः ॥ ४ ॥
विदुरस्य मतं ज्ञात्वा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ।
दुर्योधनमिदं वाक्यमुवाच विजने पुनः ॥ ५ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे भारतीय राजन् ! यदि इस कथा को विस्तारपूर्वक सुनने की रुचि है तो मैं फिर से तुम्हें सुनाता हूं, अम्बिका के पुत्र राजा धृतराष्ट्र ने जब विदुर की सम्मति जानली तब वह दुर्योधन को एकान्त में बुलाकर फिर से समझाने लगे कि :–

अलं द्यूतेन गान्धारे विदुरो न प्रशंसति ।
न ह्यसौ सुमहाबुद्धिरहितं नो वदिष्यति ॥ ६ ॥
हितं हि परमं मन्ये विदुरो यत्प्रभाषते ।
क्रियतां पुत्र तत्सर्वमेतन्मन्ये हितं तव ॥ ७ ॥

अर्थ–हे गान्धारी के पुत्र दुर्योधन ! तुम जूए का विचार त्यागदो, देखो विदुर इसकी निन्दा करता है, वह महाबुद्धिमान् होने से हमारी बुराई की बात कभी नहीं करसकता, हे पुत्र ! विदुर जो कुछ कहता है मैं उसको परम हितकारी मानता हूं, तुम भी वैसा ही करो, मैं इसी में तुम्हारी भलाई देखता हूं ॥

देवर्षिर्वासवगुरुर्देवराजाय धीमते ।
यत् प्राह शास्त्रं भगवान् बृहस्पतिरुदारधीः ॥ ८ ॥

तद्वेद विदुरः सर्वं सरहस्यं महाकविः ।
स्थितस्तु वचने तस्य सदाहमपि पुत्रक ॥ ९ ॥
विदुरोवापि मेधावी कुरूणां प्रवरो मतः ।
उद्धवो वा महाबुद्धिर्वृष्णीनामर्च्चितो नृप ॥ १० ॥

अर्थ–हे दुर्योधन ! देख इन्द्र के गुरु देवऋषि महाबुद्धिमान् भगवान् बृहस्पतिजी ने जिस नीतिशास्त्र का उपदेश बुद्धिमान् राजा इन्द्र को किया था उस सारे नीतिशास्त्र का रहस्य विदुर जानता है और बड़ा ही विद्वान् है, हे पुत्र ! इसीलिये मैं भी सदा उसके कहने में ही रहता हूं, हे पुत्र ! यह मानी हुई बात है कि कुरुवंशियों में "विदुर" और यदुवंशियों में "उद्धव" यह दोनों ही महाज्ञानी, महाबुद्धिमान् और प्रतिष्ठित श्रेष्ठ पुरुष हैं ॥

तदलं पुत्र द्यूतेन द्यूते भेदो हि दृश्यते ।
भेदे विनाशो राज्यस्य तत्पुत्र परिवर्जय ॥ ११ ॥
पित्रा मात्रा च पुत्रस्य यद्वै कार्यं परं स्मृतम् ।
प्राप्तस्त्वमासि तन्नाम पितृपैतामहं पदम् ॥ १२ ॥

अर्थ–हे बेटा दुर्योधन ! बस जूए को जाने दो, क्योंकि जूए से फूट बढ़ती देखी गई है और फूट से राज्य का नाश होजाता है इसलिये इसे त्यागदो, और देख पिता माता की ओर से जितना पुत्र का हित होसकता है वह सब तेरे लिये किया ही गया है जो तू अपने पिता-पितामह के राज्यपद को प्राप्त होचुका है ॥

अधीतवान् कृतीशास्त्रे लालितः सततं गृहे ।
भ्रातृज्येष्ठःस्थितोराज्येविन्दसे किं न शोभनं॥१३॥

पृथग्जनैरलभ्यं यद्भोजनाच्छादनं परम् ।
तत्प्राप्तोऽसि महाबाहौ कस्माच्छोचसि पुत्रक ॥१४॥

अर्थ–हे श्रेष्ठ पुत्र ! तू सब कुछ पढ़ा लिखा, शास्त्र में निपुण सदा प्यार के साथ घर में पला हुआ और सब भाइयों में बड़ा होने से राज्य पर विराजमान है, बता तुझे किस बात की कमी है ? हे पुत्र ! जिस प्रकार का भोजन वस्त्र आदि सर्वसाधारण को नहीं मिलसकता वह तेरे लिये उपस्थित रहता है, हे महाबाहु ! फिर तुझे किस बात की चिन्ता है ॥

स्फीतं राष्ट्रं महाबाहो पितृपैतामहं महत् ।
नित्यमाज्ञापयन् भासि दिवि देवेश्वरो यथा ॥१५॥
तस्य ते विदितप्रज्ञ शोकमूलमिदं कथम् ।
समुत्थितं दुःखकरं तन्मे शंसितुमर्हसि ॥ १६ ॥

अर्थ–हे महाबाहु दुर्योधन ! अपने बाप-दादाओं के बड़े विस्तृत राज्य का तू नित्य शासन करता और आकाश में सूर्य के समान प्रकाशमान है, तू तो बड़ा बुद्धिमान् है तुझे यह दुःख का कारण शोक कैसे हुआ ? सो तू मुझे स्पष्टतया बता ॥

दुर्योधन उवाच

अश्नाम्याच्छादयामीति प्रपश्यन् पापपूरुषः ।
नामर्षं कुरुते यस्तु पुरुषः सोऽधमः स्मृतः ॥१७॥
न मां प्रीणाति राजेन्द्र लक्ष्मीः साधारणी विभो ।
ज्वलितामिव कौन्तेये श्रियं दृष्ट्वा च विव्यथे ॥१८॥

अर्थ–दुर्योधन बोला कि हे राजन् ! जो पापी मनुष्य यह समझकर कि "मुझे खाने पहरने को मिलजाता है" ईर्षा नहीं रखता वह नीच बताया गया है, हे राजेन्द्र ! जब मैं युधिष्ठिर की चमकती हुई राज्यलक्ष्मी को देखता हूं तब मुझे बड़ी पीड़ा होती है और मेरी यह साधारण संपत्ति मुझे प्रसन्न नहीं करसकती ॥

सर्वां च पृथिवीं चैव युधिष्ठिर वशानुगाम् ।
स्थिरोऽस्मि योऽहं जीवामि दुःखादेतद्ब्रवीमिते ॥१९॥

अर्थ–हे पिता ! मुझे आपसे दुःख के साथ कहना पड़ता है कि सारी पृथ्वी को युधिष्ठिर के अधीन देखकर जो मैं अब-तक जीवित रहा हूं सो बहुत ही कठोर हूं, और :—

आवर्जिता इवाभान्तिनीपाश्चित्रककौकुराः ।
कारस्कारा लोहजङ्घा युधिष्ठिरनिवेशने ॥२०॥
हिमवत्सागरानूपा सर्वेरत्नाकरास्तथा ।
अन्त्याः सर्वे पर्युदस्ता युधिष्ठिर निवेशने ॥२१॥

अर्थ–हे राजन् ! युधिष्ठिर के भवन में नीप, चित्रक, कौकुर, कारस्कर और लोहजङ्घ आदि उत्कृष्ट जाति के वृक्ष मानो दास लोगों की भांति सेवा के लिये खड़े हुए हैं, युधिष्ठिर के भवन में इतना धन धान्य है कि हिमालय पर्वत, समुद्री जलप्रायः प्रदेश तथा भारतवर्षीय सीमान्त के सब रत्नों की कानें और समुद्र यह सब तिरस्कार के साथ दूर फेंके हुए हैं ॥

ज्येष्ठोऽयमिति मां मत्वा श्रेष्ठश्चेति विशाम्पते ।
युधिष्ठिरेण सत्कृत्य युक्तो रत्नपरिग्रहे ॥२२॥

उपस्थितानां रत्नानां श्रेष्ठानामर्घ हारिणाम् ।
नादृश्यतपरः पारो नापरस्तत्र भारत ॥२३॥
न मे हस्तः समभवद्वसु तत्प्रतिगृह्णतः ।
अतिष्ठन्त मयि श्रान्ते गृह्यदूराहृतं वसु ॥२४॥

अर्थ—हे राजन् ! युधिष्ठिर ने मुझे बड़ा और श्रेष्ठ समझकर सत्कार के साथ रत्नों की भेंटे लेने के काम पर नियत किया था, भेट देने वालों ने इतने उत्तम २ रत्न भेट में दिये कि मुझे उनका वारापार दिखलाई नहीं दिया, हे भारतीय राजन् ! उन रत्नों को लेते २ मेरा हाथ काम का न रहा और जब मैं थककर हट गया तब भेट चढ़ाने वाले भी अपना दूर से लाया हुआ धन लेकर चले गये ॥

कृतं विन्दुसरो रत्नैर्मयेन स्फाटिकच्छदाम् ।
अपश्यन्नलिनीं पूर्णामुदकस्येव भारत ॥२५॥
वस्त्रमुत्कर्षति मयि प्राहसत्सवृकोदरः ।
शत्रोर्ऋद्धिविशेषेण विमूढं रत्नवर्जितम् ।
तत्रस्म यदिशक्तःस्यां पातयेहं वृकोदरम् ॥२६॥

अर्थ—हे भारतीय नरेश ! सभाभवन में "मय" नामक असुर ने रत्नों द्वारा एक विन्दुसर नामक कमलों वाला तालाव बनाया है जिसका ऊपरी भाग स्फटिक का बना हुआ है, मुझे वह जल से भरा हुआ जान पड़ा और उसमें पार होने के लिये ज्यों ही मैंने अपने वस्त्र उतारे तो भीमसेन ने मेरी हंसी की, देखिये यदि

मुझमें कुछ सामर्थ्य होती तो शत्रु की सम्पत्ति से मतवाले हुए २ उस रत्नहीन भीमसेन को उसी समय मारडालता ॥

यदि कुर्यां समारम्भं भीमं हन्तुं नराधिप ।
शिशुपाल इवास्माकं गतिः स्यान्नात्र संशयः ।
सपत्नेनावहासो मे स मां दहति भारत ॥२७॥

अर्थ–हे भारतीय नरेश ! यदि मैं वहां भीमसेन के मारने का यत्न करता तो इसमें सन्देह नहीं कि वहां मेरी गति शिशुपाल के समान ही होती, वह शत्रु की कीहुई हंसी मुझे जला रही है ॥

पुनश्च तादृशीमेव वापीं जलजशालिनीम् ।
मत्वा शिलासमां तोये पतितोऽस्मि नराधिप॥२८॥
तत्र मां प्राहसत्कृष्णः पार्थेन सह सुस्वरम् ।
द्रौपदी च सह स्त्रीभिर्व्यथयन्ती मनोमम ॥२९॥
क्लिन्नवस्त्रस्य तु जले किङ्करा राजनोदिताः ।
ददुर्वासांसि मेऽन्यानि तच्चदुःखं परं मम ॥३०॥

अर्थ–हे राजन् ! इसके पश्चात् सभाभवन में कुछ आगे चलकर वैसी ही एक दूसरी सच्ची बावड़ी जो कि कमलों से शोभायमान थी देखी,जिसको मैंने पहली बावड़ी के समान ही पत्थर की बनी हुई समझा और मैं ज्यों ही उसके ऊपर से चलने लगा कि जल में गिरपड़ा, इस पर कृष्ण और अर्जुन खिलखिलाकर हंसने लगे और द्रौपदी भी सखियों समेत मेरे चित्त को दुःखाने लगी, मेरे सब वस्त्र जल में भीग गये थे उनके बदले राजा

युधिष्ठिर की आज्ञा से सेवक लोगों ने मुझे दूसरे वस्त्र दिये, यह मुझे बड़ा ही दुःख पहुंचा है ॥

प्रलम्भं च शृणुष्वान्यद्वदतो मे नराधिप ।
अद्वारेण विनिर्गच्छन्द्वारसंस्थान रूपिणा ।
अभिहत्य शिलां भूयो ललाटेनास्मि विक्षतः ॥३१॥
तत्र मां यमजौ दूरादालोक्याभिहतं तदा ।
बाहुभिःपरिगृह्णीतां शोचन्तौ सहितावुभौ ॥३२॥

अर्थ—हे राजन् ! इतना ही नहीं किन्तु और भी मेरा वहां अपमान किया गया सो मैं कहता हूं सुनिये द्वार के आकार वाले बनावटी स्थान से जो वास्तव में द्वार नहीं था, मैं बाहर निकलने लगा और मेरे माथे पर पथरीली दीवार की टक्कर से बड़ी चोट लगी, तब वहां मुझे चोट लगी देखकर नकुल और सहदेव दोनों शोक के साथ दूर से दौड़े आये और मेरी भुजायें पकड़कर मुझे नीचे गिरने से बचाया ॥

उवाच सहदेवस्तु तत्र मां विस्मयन्निव ।
इदं द्वारमितो गच्छ राजन्निति पुनः पुनः ॥३३॥
भीमसेनेन तत्रोक्तो धृतराष्ट्रात्मजेति च ।
संबोध्य प्रहसित्वा च इतो द्वारं नराधिप ॥३४॥

अर्थ—हे राजन् ! तब सहदेव ने अचम्भे में होकर बार २ कहा कि द्वार इधर है आप इधर से चलिये " परन्तु मैं फिर आगे न बढ़ा" हे राजन् ! इतना ही नहीं किन्तु भीमसेन ने हंसकर

संबोधन करके यह भी कहा कि हे धृतराष्ट्र (अन्धे) की सन्तान देख द्वार इधर है ॥

नामधेयानि रत्नानां पुरस्तान्न श्रुतानि मे ।
यानि दृष्टानि तस्यां मनस्तपति तच्च मे ॥३५॥

अर्थ—हे पिताजी ! पाण्डवों की सम्पत्ति इतनी है कि जितने मैंने वहां रत्न देखे उनके पहले कभी नाम तक नहीं सुने थे, यह बात भी मेरे चित्त को जला रही है ॥

इति त्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकत्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

दुर्योधन उवाच

यन्मया पाण्डवेयानां दृष्टं तच्छृणु भारत ।
आहृतं भूमिपालैर्हि वसुमुख्यं ततस्ततः ॥१॥
नाविदं मूढमात्मानं दृष्ट्वाहं तदरेर्धनम् ।
फलतो भूमितो वापि प्रतिपद्यस्व भारत ॥२॥

अर्थ—दुर्योधन फिर बोला कि हे भारतवंशी राजन् ! पाण्डवों के यहां देश देशान्तरों से आये हुए राजाओं ने जो उत्तमोत्तम रत्न आदि धन भेट किया था वह जहां तक मैंने देखा सो मैं बतलाता हूं आप सुनें—मैंने शत्रु का वह धन देखा अवश्य था परन्तु मुझे यह पूर्णतया ज्ञात न हुआ कि उसकी संख्या कितनी थी और वह किस २ देश से लाया गया था तथापि जितना कुछ मुझे ज्ञात हुआ वह आप सुनें :—

और्णान् बैलान् वार्षदंशान् जातरूपपरिष्कृतान् ।
प्रावाराजिनमुख्यांश्च काम्बोजः प्रददौ बहून् ॥३॥
अश्वांस्तित्तिरिकल्माषांस्त्रिशतं शुकनासिकान् ।
उष्ट्रवामीस्त्रिशतं च पुष्टाः पीलुशमींगुदैः ॥४॥

अर्थ—हे राजन् ! काम्बोज देश के राजा ने महाराज युधिष्ठिर को ऊनी वस्त्र, बिल के चूहों के रोमों से बने हुए वस्त्र, बिल्ली के रोमों से बने हुए वस्त्र तथा सुनहरी कामदार दुशाले, उत्तम २ मृगचर्म, तीतर जैसे चितकबरे रंग वाले तथा तोते जैसी नाक वाले तीनसौ घोड़े और पीलु, शमी तथा गोंदनी के खाने से पुष्ट हुए तीनसौ ऊंट तथा खिच्चरें भेट दीं, और :—

बलिं च कृत्स्नमादाय मरुकच्छनिवासिनः ।
उपनिन्युर्महाराज हयान् गान्धारदेशजान् ॥५॥

अर्थ—हे महाराज ! मरुकच्छ के निवासियों ने सब प्रकार की भेट तथा कन्धारी घोड़े भी महाराज युधिष्ठिर की सेवा में अर्पण किये ॥

इन्द्रकृष्टैर्वर्त्तयन्ति धान्यैर्येच नदीमुखैः ।
समुद्रनिष्कुटे जाताः पारे सिन्धु च मानवाः ॥६॥
ते वैरामाः पारदाश्च आभीराः कितवैः सह ।
विविधं बलिमादाय रत्नानि विविधानि च ॥७॥
अजाविकं गोहिरण्यं खरोष्ट्रं फलजं मधु ।
कम्बलान् विविधांश्चैव द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः॥८॥

अर्थ–जो मनुष्य वर्षा से खेती करके निर्वाह करते हैं और जो नदी के जल से खेती करते हैं तथा समुद्र के बनों में रहने वाले और सिन्धु के उस पार रहने वाले, यह सब बैराम, पारद, आभीर और कितव जाति के मनुष्य महाराज युधिष्ठिर की भेट के लिये नाना प्रकार के रत्न तथा अपने २ देश में होने वाली उत्तम २ बकरियें, भेड़, गायें, सुवर्ण, खिच्चर, ऊंट, फलों से बनने वाला मधु तथा नाना प्रकार के उत्तम कंबल आदि लेकर इन्द्रप्रस्थ में आये परन्तु सभाभवन के द्वार पर इतनी भीड़ थी कि वह लोग वहीं द्वारपरही रोक दिये गये अर्थात् ऐसी २ बस्तुओं को तो वहां पूछता ही कौन था ॥

प्राग्ज्योतिषाधिपः शूरो म्लेच्छानामधिपो बली ।
यवनैः सहितो राजा भगदत्तो महारथः ॥ ९ ॥
आजानेयान् हयान् शीघ्रानादायानिलरंहसः ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठति वारितः ॥१०॥
अश्मसारमयं भाण्डं शुद्धदन्तत्सरूनसीन् ।
प्राग्ज्योतिषाधिपो दत्त्वा भगदत्तोऽव्रजत्तदा ॥११॥

अर्थ–देखिये "प्राग्ज्योतिष" देश का महारथी शूरवीर बली म्लेच्छराज राजा भगदत्त यवनों को साथ लिये हुए वायु के समान वेगवाले शीघ्रगामी उत्तम जाति के घोड़े तथा अन्य अनेक प्रकार की भेटें लेकर वहां आया परंतु उसकी यह भेट अपर्याप्त समझकर उसे भी द्वार पर ही रोका गया, अन्त में प्राग्ज्योतिषनरेश राजा भगदत्त ने अश्मसार=नीलम तथा मणियों

का बड़ा धन और शुद्ध हाथीदांत की मूठ वाली तलवारें भेट दीं तब उसे सभाभवन में प्रवेश मिला ॥

राजानो बलिमादाय नानावर्णाननेकशः ।
कृष्णग्रीवान् महाकायान्रासभान् दूरपातिनः ॥१२॥
आजह्रुर्दशसाहस्रान् विनीतान् दिक्षुविश्रुतान् ।
प्रमाणरागसंपन्नान् वंक्षुतीरसमुद्भवान् ॥ १३ ॥
बल्यर्थं ददतस्तस्मै हिरण्यं रजतं बहु ।
दत्त्वा प्रवेशं प्राप्तास्ते युधिष्ठिरनिवेशने ॥ १४ ॥

अर्थ-हे राजन् ! बहुत से राजा लोग भेट के लिये रंग बिरंगे अनेक "रासभ" जाति के घोड़े लेकर आये जिनके बड़े २ शरीर तथा काली गर्दन थी और वह बहुत दूर तक चल सकते थे, वह अच्छे सिखाये हुए पृथ्वी पर विख्यात थे और उनके शरीर पर यथोचित प्रमाण से राग=लाली भी थी, इस प्रकार के वंक्षु नामक नदी के किनारे पर होने वाले दशहज़ार घोड़े तथा बहुतसा सोना चांदी भेट में देने पर उन राजाओं को युधिष्ठिर के सभा-भवन में प्रवेश मिला, और :-

चीनान् शकांस्तथाओड्रान् बर्वरान् वनवासिनः ।
वार्ष्णेयान् हारहूणांश्च कृष्णान् हैमवतांस्तथा ।
नीपानूपानधिगतान् विविधान्द्वारिवारितान् ॥१५॥

अर्थ-हे राजन् ! केवल यही नहीं चीन तथा शक जाति के लोग, उड़िया के रहने वाले, बर्बर प्रान्त के निवासी, वनवासी,

वृष्णिवंशी, हारहूण जाति के मनुष्य, काले मनुष्य, हिमालय के रहने वाले पहाड़ी, नीप और अनूप प्रान्त के रहने वाले इत्यादि बहुत प्रकार के मनुष्यों को मैंने द्वार पर रोके गये देखा ॥

बल्यर्थं ददतस्तस्य नानारूपाननेकशः ।
कृष्णग्रीवान् महाकायान्रासभान् शतपातिनः ॥१६॥
अहार्षुर्दशसाहस्रान् विनीतान् दिक्षु विश्रुतान् ।
प्रमाणरागसम्पन्नान् वङ्क्षूतीर निवासिनः ॥१७॥
और्णं च राङ्कवं चैव कीटजं पट्टजं तथा ।
कुटीकृतं तथैवात्र कमलाभं सहस्रशः ॥ १८ ॥
श्लक्ष्णं वस्त्रमकार्पासमाविकं मृदु चाजिनम ।
निशितांश्चैव दीर्घासीनृष्टिशक्तिपरश्वधान् ॥१९॥
अपरान्तसमुद्भूतांस्तथैव परशून् शितान् ।
रसान् गन्धांश्च विविधान् रत्नानि च सहस्रशः ॥२०॥

अर्थ—हे राजन् ! तब मैंने देखा कि उन राजाओं ने महाराज युधिष्ठिर की भेट के निमित्त भिन्न २ रंग के अनेक "रासभ" नामक घोड़े दिये जिनकी काली गर्दन, बड़े २ शरीर और जो सौ योजन तक दौड़ सकते थे, इनके अतिरिक्त बंक्षूनदी के तीर पर होने वाले, दिशाओं में विख्यात, सुशिक्षित तथा यथोचित लाल रंग से शोभित दशहज़ार घोड़े और भी उन्होंने दिये, केवल यही नहीं ऊनी वस्त्र, मृग के रोमों, कीड़े से पट्टी और कुट्टी से बनने वाले वस्त्र जो कमल के समान शोभायमान थे, और कपास से भिन्न वस्तुओं के बने हुए कोमल वस्त्र तथा भेड़ की ऊन और

मृगचर्म के वस्त्र भी सहस्रों भेट में दिये गये, इनके अतिरिक्त बड़ी २ तेज़ तलवारें, ऋषि शस्त्र, शक्ति शस्त्र, परसे तथा पश्चिम के अन्त में बनने वाले तेज़ परसे यह सब शस्त्र और नाना प्रकार के रसीले तथा गन्धयुक्त पदार्थ और हज़ारों रत्न भी उन्होंने भेट में दिये ॥

बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ।
शकास्तुषाराः कङ्काश्च रोमाश्च शृङ्गिणो नराः ॥२१॥
महागजान् दूरगमान् गणितानर्बुदान्हयान्
शतशश्चैव बहुशः सवर्णं पद्मसंमितम् ॥२२॥
बलिमादाय विविधं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ।
आसनानि महार्हाणि यानानि शयनानि च॥२३॥
मणिकाञ्चनचित्राणि गजदन्त मयानि च ।
कवचानि विचित्राणि शस्त्राणि विविधानि च ॥२४॥
रथांश्च विविधाकारान् जातरूपपरिष्कृतान् ।
हयैर्विनीतैः सम्पन्नान् वैयाघ्रपरिवारितान् ॥२५॥
विचित्रांश्च परिस्तोमान् रत्नानि विविधानि च ।
नाराचानर्द्धनाराचान् शस्त्राणि विविधानि च ॥२६॥
एतद्दत्त्वा महद्द्रव्यं पूर्वदेशाधिपा नृपाः ।
प्रविष्टा यज्ञसदनं पाण्डवस्य महात्मनः ॥२७॥

अर्थ—हे राजन् ! मैंने शक, तुषार, कंक, रोम और शृङ्गी जाति के राजा लोगों को भी सब प्रकार की भेट लिये हुए द्वार

पर रोके गये देखा, वह लोग दूर २ जाने वाले बड़े २ हाथी, अनेक घोड़े, एक पद्म भांति २ की सोने की मोहरें, भेट के लिये लाये थे और अन्य राजा लोग भी नाना प्रकार की भेटें लेकर आये किन्तु द्वार पर रुके हुए खड़े रहे, जैसे कि बहुमूल्य आसन, सवारियें, सेज जो मणि और सुवर्ण से चित्रित किये हुए तथा हाथी दांत के बने हुए थे और विचित्र प्रकार के कवच, नाना प्रकार के शस्त्र, अनेक आकार और सुवर्ण से अलङ्कृत रथ जिनमें सिखाये हुए घोड़े जुते हुए थे और जो भेड़िये की खाल से मढ़े हुए थे, विचित्र प्रकार की हाथियों की झूलें तथा नाना भांति के रत्न, लोहे के बाण, अधलोहे के बाण और विविध प्रकार के शस्त्र, यह सब महान् धन भेट में देने पर पूर्वदेश के राजा लोग महात्मा पाण्डुपुत्र महाराज युधिष्ठिर के यज्ञभवन में प्रविष्ट होने पाये थे ॥

इति एकत्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ द्वात्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

दुर्योधन उवाच

दायन्तु विविधं तस्मै शृणुमेगदतोऽनघ ।
यज्ञार्थं राजभिर्दत्तं महान्तं धनसंचयम् ॥१॥

अर्थ—दुर्योधन फिर बोला कि हे निष्पाप! उक्त लोगों के अतिरिक्त जिन २ राजाओं ने युधिष्ठिर के यज्ञ में बड़ा भारी कररूप जो २ धन दिया उसका भी वृतान्त कहता हूं आप सुनें :—

खसा एकासनाह्यर्हाः प्रदरादीर्घवेणवः ।
पारदाश्च कुलिंदाश्च तंगणाः परतंगणाः ॥२॥
मेरुमंदरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीं ।
येते कीचक वेणूनां छायां रम्यामुपासते ॥३॥
तद्वैपिपीलिकं नाम उद्धृतं यत् पिपलिकैः ।
जातरूपं द्रोणमेय महार्षुः पुंजशोनृपाः ॥४॥
कृष्णान् ललामांश्चमरान् शुक्लांश्चान्यान् शशिप्रभान् ।
हिमवत्पुष्पजं चैव स्वादुक्षौद्रं तथा बहु ॥५॥
उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्चाप्यपोढं माल्यमंबुभिः ।
उत्तरादपि कैलासादोषधीः सुमहाचलाः ॥६॥
पार्वतीया बलिं चान्यमाहृत्य प्रणताः स्थिताः ।
अजातशत्रोर्नृपतेर्द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥७॥

अर्थ—खस, एकासन, अर्ह, प्रदर, दीर्घवेणु, पारद, कुलिन्द, तंगण तथा परतंगण नामक पहाड़ी देशों के असंख्य राजा लोग जो मेरु और मंदर पर्वतों के बीच शैलोदा नदी के तट पर कीचक अर्थात् गूंजने वाले बांसों के वृक्षों की सुहावनी छाया में बसते हैं वह सब नम्रतापूर्वक युधिष्ठिर को भेट देने के लिये एक द्रोण, पिपीलक जाति का सुवर्ण और काले तथा शुक्ल रंग के सुन्दर चमर जिनका प्रकाश चन्द्रमा के समान था, हिमालय पर्वत के पुष्पों का स्वादिष्ट मधु=शहद, उत्तरी कुरु प्रान्त के जल में उगे हुए फूल, कैलाश पर्वत के उत्तर ओर की बड़ी बलकारक

ओषधियां और अन्यान्य अनेक प्रकार के पर्वतीय पदार्थों की भेटें लेकर आये किन्तु द्वार पर ही रोके जाने के कारण वह सब पदार्थ लिये हुए वहीं खड़े रहे ॥

ये परार्धे हिमवतः सूर्योदयगिरौ नृपाः ।
कारूषे च समुद्रांते लौहित्यमभितश्च ये ॥८॥
फलमूलाशनायेच किराताश्चर्मवाससः ।
क्रूरशस्त्राः क्रूरकृतस्तांश्च पश्याम्यहं प्रभो ॥९॥

अर्थ–हे राजन् ! हिमालय पर्वत के पूर्वी अर्द्धभाग अर्थात् उदयाचल में तथा समुद्री प्रान्त के कारूषदेश और लौहित्य नदी के आसपास रहने वाले राजा लोग जो फल मूल खाते, चमड़े के वस्त्र पहिनते और क्रूरशस्त्रधारी तथा क्रूरकर्मा कहलाते हैं उनको भी मैंने देखा कि :—

चन्दनागुरुकाष्ठानां भारान्कालीयकस्य च ।
चर्मरत्नसुवर्णानां गंधानां चैव राशयः ॥१०॥
कैरातकीनामयुतं दासीनां च विशाम्पते ।
आहृत्यरमणीयार्थान दूरजान्मृग पक्षिणः ॥११॥
नीचितं पर्वतेभ्यश्च हिरण्यं भूरिवर्चसं ।
बलिं च कृत्स्नमादय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥१२॥

अर्थ–वह चन्दन, अगर, काला अगर आदि काष्ठों के भार तथा चर्म, रत्न, सुवर्ण, अनेक प्रकार के सुगन्धित पदार्थ और हे राजन् ! किरातों की दशसहस्र दासियां, दूर २ के मृग, पक्षी, पर्वतों की कानों से इकट्ठा किया हुआ चमकता हुआ सुवर्ण,

तथा अन्य अनेक प्रकार के रमणीक पर्वतीय पदार्थों की भेट लिये हुए पहाड़ी राजे युधिष्ठिर के द्वार पर रोके हुए खड़े थे, और:-

कैराता दरदा दर्वाः शूरा वैयमकास्तथा ।
औदुंवरा दुर्विभागाः पारदा वाह्लिकैः सह ॥१३॥
काश्मीराश्च कुमाराश्च घोरका हंसकायनाः ।
शिबित्रिगर्त्तयौधेया राजन्या मद्रकेकयाः ॥१४॥
अंबष्ठाः कौकुरास्तार्क्ष्या वस्त्रपाः पह्लवैः सह ।
वशातश्च मौलेयाः सहक्षुद्रकमालवैः ॥ १५ ॥
पौंड्रिकाः कुक्कुराश्चैव शकाश्चैव विशांपते ।
अंगावंगाश्च पुंड्राश्च शाणवत्या गयास्तथा ॥१६॥
सुजातयः श्रेणिमंतः श्रेयांसः शस्त्रधारिणः ।
अहार्षुः क्षत्रियावित्तं शतशोऽजातशत्रवे ॥१७॥

अर्थ—हे राजन् ! कैरात, दरद, दर्व, शूर, वैयमक, औदुम्बर, दुर्विभाग, पारद, वाह्लिक, काश्मीर, कुमार, घोरक, हंसकायन, शिबि, त्रिगर्त्त, यौधेय, मद्र, कैकेय, अम्बष्ठ, कौकुर, तार्क्ष्य, वस्त्रप, पह्लव, वशाति, मौलेय, क्षुद्रक, मालव, पौंड्रिक, कुक्कुर, शक, अंग, बंग, पुंड्र, शाणवत्य तथा गय आदि देशों के कुलीन और शस्त्रधारी योग्य क्षत्रियों ने सैकड़ों प्रकार के धन यज्ञ में युधिष्ठिर को भेट किये ॥

वंगाः कलिंगा मगधास्ताम्रलिप्ताः सपुंड्रकाः ।
दौवालिकाः सागरकाः पत्रोर्णाः शैशवास्तथा ॥१८॥

कर्णप्रावरणाश्चैव बहवस्तत्र भारत ।
तत्रस्था द्वारपालैस्ते प्रोच्यन्ते राजशासनात् ।
कृतकालाः सुबलयस्ततो द्वारमवाप्स्यथ ॥१९॥
ईषादन्तान् हेमकक्षान् पद्मवर्णान् कुथावृतान् ।
शैलाभान्नित्यमत्तांश्चाप्यभितः काम्यकंसरः ॥२०॥
दत्वैकैको दशशतान् कुंजरान् कवचावृतान् ।
क्षमावन्तः कुलीनाश्च द्वारेण प्राविशंस्तथा ॥२१॥

अर्थ–हे राजन् ! वंगाल, कलिंग, मगध, ताम्रलिप्त, पुंड्रक, दौवालिक, सागरक, पत्रौर्ण,शैशव,कर्ण और प्रावरण आदि देशों के बहुतसे राजा युधिष्ठिर के द्वार पर आकर खड़े रहे, पुनः युधिष्ठिर ने उन सबको एक २ कर द्वारपालों से बुलवाया और वह लोग अपने २ अवसर पर एक २ सहस्र हाथी जिनके बड़े दांत और जो सुनहरी डोरियों से कसे हुए तथा कमल के समान रंग वाली झूलों से सुशोभित, पहाड़ के समान ऊंचे और सदा मतवाले हाथी जो "काम्यकसर" के समीपवर्ती देश के थे और जिनपर कवच पड़े हुए थे उनको भेट दे २ कर वह क्षमाशील कुलीन राजालोग सभा के भीतर गये ॥

एते चान्ये च बहवो गणा दिग्भ्यः समागताः ।
अन्यैश्चोपाहृतान्यत्र रत्नानीह महात्मभिः ॥२२॥
राजा चित्ररथो नाम गन्धर्वो वासवानुगः ।
शतानि चत्वार्यददद्धयानां वातरंहसाम् ॥२३॥

अर्थ-इनके अतिरिक्त और भी बहुत देशदेशान्तरों से आये हुए महात्मा राजाओं ने युधिष्ठिर को रत्नों की भेटें दीं, और चित्ररथ नाम गन्धर्वों के राजा ने जो इन्द्र का अनुयायी है, वायु के समान वेगवाले चारसहस्र घोड़े भेट किये ॥

तुंबुरुस्तु प्रमुदितो गन्धर्वो वाजिनां शतम् ।
आम्रपत्रसवर्णानामदद्धेममालिनाम् ॥२४॥
कृती राजा च कौरव्य शूकराणां विशांपते ।
अददद्गजरत्नानां शतानि सुबहून्यथ ॥२५॥

अर्थ-तुंबुरु नामक गन्धर्व ने सौ घोड़े जिनका रंग आम के पत्तों के समान और जिनके गले में एक २ सोने का हार पड़ा हुआ था प्रसन्नता से युधिष्ठिर को भेट किये और हे राजन् ! शूकर देश के बुद्धिमान् राजा ने कई सौ उत्तम हाथी अर्पण किये ॥

विराटेन तु मत्स्येन बल्यर्थं हेममालिनाम् ।
कुंजराणां सहस्रे द्वे मत्तानां समुपाहृते ॥२६॥
पांशुराष्ट्राद्वसुदानो राजा षड्विंशतिं गजान् ।
अश्वानां च सहस्रे द्वे राजन् कांचनमालिनाम् ॥२७॥
जवसत्वोपपन्नानां वयस्थानां नराधिप ।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवेभ्यो न्यवेदयत् ॥२८॥

अर्थ-हे राजन् ! विराट और मत्स्य देश के राजाओं ने एक २ सहस्र मतवाले हाथी जिनके गले में सोने की माला पड़ी हुई थीं महाराज युधिष्ठिर को भेट देकर प्रसन्न किया और

पांशु देश के वसुदान नामक राजा ने छब्बीस हाथी और कांचन की मालाओं से सुशोभित दो सहस्र घोड़े जो जवान, बलवान् और शीघ्रगामी थे पाण्डवों को भेट किये ॥

यज्ञसेनेन दासीनां सहस्राणि चतुर्दश ।
दासानामयुतं चैव सदाराणां विशांपते ॥२९॥
गजयुक्ता महाराज रथाः षड्विंशतिस्तथा ।
राज्यं च कृत्स्नं पार्थेभ्यो यज्ञार्थं वै निवेदितम् ॥३०॥
वासुदेवोपि वार्ष्णेयो मानं कुर्वन् किरीटिनः ।
अददद्गजमुख्यानां सहस्राणि चतुर्दश ॥३१॥
आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनंजयः ।
यद्ब्रूयादर्जुनः कृष्णं सर्वं कुर्यादसंशयम् ॥३२॥
कृष्णो धनंजयस्यार्थे स्वर्गलोकमपि त्यजेत् ।
तथैव पार्थः कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजेत् ॥३३॥

अर्थ—हे राजन् ! उस यज्ञ में राजा द्रुपद ने चारसहस्र दासी, दश सहस्र दास जिनके स्त्रियां भी थीं, और हाथियों से जुते हुए छब्बीस रथ युधिष्ठिर को भेट किये और कहा कि पाण्डवों के इस यज्ञ के निमित्त मैं अपना सब राज्य देता हूं, और अर्जुन का मान रखने के लिये श्रीकृष्ण ने भी चौदह सहस्र हाथी दिये, क्योंकि कृष्ण और अर्जुन परस्पर एक दूसरे की आत्मा होने के कारण आपस में प्राणों से अधिक प्रीति रखते हैं, और इसमें संदेह नहीं कि अर्जुन कृष्ण से जो काम कहे वह करने को तैय्यार हैं, अर्जुन के

लिये कृष्ण स्वर्ग भी छोड़ सक्ते हैं और अर्जुन भी उनके अर्थ प्राण देने को उद्यत है ॥

सुरभींश्चन्दनरसान् हेमकुंभसमास्थितान् ।
मलयाद्दर्दुराच्चैव चन्दनागुरुसंचयान् ।
मणिरत्नानि भास्वंति कांचनं सूक्ष्मवस्त्रकम् ॥३४॥

अर्थ–मलयगिरि और दर्दुर पर रहने वाले क्षत्रियों ने सुगन्धित चन्दन के रसों से भरे हुए सुवर्ण के कलश, चन्दन और अगर के भार, प्रकाशयुक्त मणि, सुवर्ण तथा सुन्दर सूक्ष्म=महीन वस्त्र युधिष्ठिर को भेट किये, और :–

चोलपांड्यावपि द्वारं न लेभाते ह्युपस्थितौ ।
समुद्रसारं वैदूर्यं मुक्तासंघांस्तथैव च ॥ ३५ ॥
शतशश्च कुथांस्तत्र सिंहलाः समुपाहरन् ।
संवृतामणिचीरैस्तु श्यामास्ताम्रांतलोचनाः ।
ता गृहीत्वा नरास्तत्र द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः॥३६॥

अर्थ–चोल तथा पांड्य देश के राजे द्वार पर भी न पहुंचने पाये और सिंहलदेश के क्षत्रियों ने समुद्र में उत्पन्न होने वाली चीज़ें वैदूर्यमणि, मोतियों के ढेर, सैकड़ों झूलें भेट कीं तथा अन्य लोग मणि और सुन्दर वस्त्र धारण कीहुई दासियां लाकर द्वार पर ही खड़े रहे ॥

प्रीत्यर्थं ब्राह्मणाश्चैव क्षत्रियाश्च विनिर्जिताः ।
उपाजह्रुर्विशश्चैव शूद्राः शुश्रूषवस्तथा ॥ ३७ ॥

प्रीत्या च बहुमानाच्चाप्युपागच्छन्युधिष्ठिरम् ।
सर्वे म्लेच्छाः सर्ववर्णा आदिमध्यान्तजास्तथा ॥३८॥

अर्थ–युधिष्ठिर की प्रसन्नता के लिये ब्राह्मण, अधीन हुए क्षत्रिय, वैश्य और सेवक शूद्रों ने भी भेट दीं तथा सब म्लेछ और उत्तम मध्यम अधम सब वर्ण, प्रीति और मानपूर्वक युधिष्ठिर को आकर प्राप्त हुए ॥

नानादेशसमुत्थैश्च नानाजातिभिरेव च ।
पर्यस्त इव लोकोयं युधिष्ठिरनिवेशने ॥३९॥
उच्चावचानुपग्राहान् राजभिः प्रापितान् बहून् ।
शत्रूणां पश्यतो दुःखान्मुमूर्षा मे व्यजायत ।
भृत्यास्तु ये पाण्डवानां तांस्ते वक्ष्यामि पार्थिव ॥४०॥

अर्थ–नाना देशों तथा नाना जाति के मनुष्य और उत्तमोत्तम पदार्थ उस यज्ञ में आये जिनके आने से युधिष्ठिर का वह यज्ञस्थान एक छोटे ब्रह्माण्ड के तुल्य होगया था, मेरे शत्रु पाण्डवों के लिये उन लोगों और राजाओं की लाई हुई नाना प्रकार की असंख्य भेटों को देखकर दुःख से मेरे मन में प्राणत्याग की इच्छा होगई थी, हे राजन् ! मैं आपसे युधिष्ठिर का वैभव कहां तक कहूं, कुछ उनके दासों का भी वर्णन करता हूं, आप सुनें :–

येषामामं च पक्वं च संविधत्ते युधिष्ठिरः ।
अयुतं त्रीणि पद्मानि गजारोहाः ससादिनः ॥४१॥
रथानामर्बुदं चापि पादाता बहवस्तथा ।
प्रमीयमाणमामं च पच्यमानं तथैव च ॥ ४२ ॥

विसृज्यमानं चान्यत्र पुण्याह स्वन एव च ।
अपश्यं सर्ववर्णानां युधिष्ठिरनिवेशने ।
नाभुक्तवन्तं नापीतं नालंकृतमसत्कृतम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर के यहां तीन पद्म और दश सहस्र तो केवल हाथी और घोड़ों पर नियत रहने वाले दास हैं जिनको वह कच्चा और पक्का दोनों प्रकार का भोजन देता है, और एक अर्बुद=दस करोड़ रथ तथा अनगिनत प्यादे हैं, जिनके भोजन का प्रबन्ध यह है कि तुला हुआ अन्न=सीधे, पक्क भोजन एक स्थान पर इकट्ठा किया हुआ रहता है, और दूसरे स्थान में उन लोगों को अन्न मिलता है, अन्न के बांटने समय "पुण्याह" शब्द किया जाता है, मैंने वहां किसी वर्ण के किसी आदमी को ऐसा नहीं देखा जिसने भोजन और पान न किया हो अथवा जो सत्कृत और अलंकृत न हो ॥

अष्टाशीति सहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ।
त्रिंशद्दासीकएकैको यान् विभर्त्ति युधिष्ठिरः ।
सुप्रीताः परितुष्टाश्च ते ह्याशंसंत्यरिक्षयम् ॥ ४४ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर अठासीसहस्र स्नातक गृहस्थ ब्राह्मणों को नित्य भोजन देता है और उसने प्रत्येक की सेवा के लिये तीस२ दासी नियत कर रखी हैं, वह ब्राह्मण भोजन करके नित्य युधिष्ठिर को शत्रुनाश होने का आशीर्वाद देते हैं, और:—

दशान्यानि सहस्राणि यतीनामूर्ध्वरेतसाम् ।
भुंजते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥४५॥

अभुक्तं भुक्तवद्वापि सर्वमाकुब्जवामनम् ।
अभुंजाना याज्ञसेनी प्रत्यवैक्षद्विशांपते ॥४६॥
द्वौ करौ न प्रयच्छेतां कुन्तीपुत्राय भारत ।
सांबान्धिकेन पांचालाः सख्येनांधकवृष्णयः ॥४७॥

अर्थ–दशसहस्र ऊर्ध्वरेता यती लोग युधिष्ठिर के घर में नित्यप्रति सुवर्ण के पात्रों में भोजन करते हैं, हे राजन् ! और द्रौपदी अच्छे मनुष्यों से लगाकर कुबड़े, वामन आदि दीन मनुष्यों तक के भोजन करने न करने की ख़बर रखती तथा जब-तक वह सब भोजन नहीं करलेते तबतक आप भोजन नहीं करती है, यज्ञ में ऐसा कोई राजा न था जिसने युधिष्ठिर को "कर" न दिया हो, हां पञ्चालनरेश राजा द्रुपद ने सम्बन्ध और यदुवंशी कृष्ण ने मित्रता के कारण "कर" नहीं दिया ॥

इति द्वात्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०–अब दुर्योधन राजाधृतराष्ट्र से युधिष्ठिर के अभिषेक का वर्णन करता है :–

दुर्योधन उवाच

आर्यास्तु ये वै राजानः सत्यसंधा महाव्रताः ।
पर्याप्तविद्यावक्तारो वेदान्तावभृथप्लुताः ॥१॥
धृतिमन्तो ह्रीनिषेवाधर्मात्मानो यशस्विनः ।
मूर्धाभिषिक्तास्ते चैनं राजानः पर्युपासते ॥२॥

दक्षिणार्थं समानीता राजभिः कांस्यदोहनाः ।
आरण्या बहुसाहस्रा अपश्यंस्तत्र तत्रगाः ॥३॥
आजह्रुस्तत्र सत्कृत्य स्वयमुद्यम्य भारत ।
अभिषेकार्थमव्यग्राभांडमुच्चावचं नृपाः ॥४॥

अर्थ–दुर्योधन बोला कि हे पिता! अनेक आर्य=श्रेष्ठ राजा लोग जो सत्यप्रतिज्ञ, महाव्रती, पूर्ण विद्वान् और वेदान्तरूपी यज्ञ के अवभृथ स्नान किये हुए, धृतिमान्, शीलवान्, धर्मात्मा, यशस्वी, मूर्धाभिषिक्त = राज्यतिलक प्राप्त किये हुए क्षत्रिय लोग महाराज युधिष्ठिर की सेवा करते और मैंने उनको दाक्षिणा में देने के लिये कांसी की दोहनी, वन की सहस्रों गौ तथा अभिषेक के लिये सत्कारपूर्वक स्वयं उठाकर छोटे बड़े पात्र लाते और उन्हें प्रसन्नता से युधिष्ठिर को भेट करते हुए देखा है ॥

बाह्लीको रथमाहार्षीज्जांबूनदविभूषितम् ।
सुदक्षिणस्तु युयुजे श्वेतैः कांबोजजैर्हयैः ॥५॥
सुनीथः प्रीतिमांश्चैवह्यनुकर्षं महाबलः ।
ध्वजं चेदिपतिश्चैव महार्षीत्स्वयमुद्यतम् ॥६॥

अर्थ–राजा बाह्लीक ने अभिषेक के लिये सुवर्ण से भूषित रथ भेट किया, राजा सुदक्षिण उस रथ में जोतने के लिये काम्बोज देश के श्वेत घोड़े लाया, बलवान् राजा सुनीथ प्रीतिपूर्वक अनुकर्ष अर्थात् रथ के नीचे का काष्ठ लेकर आया तथा चन्देरी नरेश ने स्वयं अपने हाथ से ध्वजा लाकर दी, और :—

दाक्षिणात्यः सन्नहनं स्रगुष्णीषे च मागधः ।
वसुदानो महेष्वासो गजेन्द्रं षष्टिहायनम् ॥७॥
मत्स्यस्त्वक्षान हेमनद्धानेकलव्य उपानहौ ।
आवंत्यस्त्वभिषेकार्थमापो बहुविधास्तथा ॥८॥
चेकितान उपासंगन्धनुः काश्य उपाहरत् ।
असिं च सुत्सरुंशल्यः शैक्यं कांचनभूषणम् ॥९॥

अर्थ—दक्षिणात्य अर्थात् दक्षिण देश के राजा ने कवच, मगध देश के राजा ने माला तथा पगड़ी, बड़े २ बाण चलाने वाले राजा वसुदान ने साठ वर्ष का हाथी, राजा मत्स्य ने धन से भरे हुए छकड़े, एकलव्य ने जूते, अवन्ती = उज्जैन के राजा ने अभिषेक के लिये अनेक प्रकार के जल, राजा चेकितान ने निषंग = तरकस, काशीनरेश ने धनुष, राजा शल्य ने सुन्दर मूंठ वाली एक तलवार और शिक्य=सिक्के के पात्र पर रक्खे हुए सुनहरी आभूषण अपने हाथों से राजा युधिष्ठिर को भेंट किये ॥

अभ्यषिंचत्ततो धौम्यो व्यासश्च सुमहातपाः ।
नारदं च पुरस्कृत्य देवलं चासितं मुनिम् ॥ १० ॥
प्रीतिसंत उपातिष्ठन्नाभिषेकं महर्षयः ।
जामदग्न्येन सहितास्तथान्ये वेदपारगाः ॥ ११ ॥
अभिजग्मुर्महात्मानो मंत्रवद्भूरिदक्षिणम् ।
महेन्द्रमिव देवेन्द्रं दिवि सप्तर्षयो यथा ॥ १२ ॥

अर्थ—तदनन्तर महातपस्वी व्यासजी सहित धौम्य ऋषि ने युधिष्ठिर

का वेदमन्त्रों से अभिषेक कराया, उस समय उस बड़ी दक्षिणा वाले युधिष्ठिर के सन्मुख देवल, असित, परशुराम और अन्य बड़े २ महात्मा वेदपारगामी तपस्वी ऋषि प्रसन्न हुए २ इस प्रकार आकर खड़े रहे मानो स्वर्ग में महेन्द्र के समीप सप्तऋषि खड़े हुए हैं॥

अधारयच्छत्रमस्य सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
धनंजयश्च व्यजने भीमसेनश्च पाण्डवः ॥ १३ ॥
चामरे चापि शुद्धे द्वे यमौ जगृहतुस्तथा ।
उपागृह्णाद्यमिन्द्राय पुराकल्पे प्रजापतिः ॥ १४ ॥
तमस्मै शंखमाहार्षीद्वारुणं कलशोदधिः ।
तेनाभिषिक्तः कृष्णेन तत्र मे कश्मलोऽभवत् ॥१५॥

अर्थ—अभिषेक के समय पराक्रमी सात्यकि ने युधिष्ठिर के ऊपर छत्र लगाया, अर्जुन तथा भीमसेन पंखा करते और नकुल तथा सहदेव चमर ढोरते थे, और जिस वारुण नामक शंख को पूर्वकाल में राजा प्रजापति ने इन्द्र को दिया था उससे जल ले २ कर व्यासजी ने युधिष्ठिर का अभिषेक कराया, हे पिता! यह सब देखकर मुझे बड़ा भारी दुःख हुआ॥

तत्रस्म दध्मुः शतशः शंखान्मंगलकारकान् ।
प्राणदन्त समाध्मातास्ततो रोमाणि मेऽहृषन् ।
प्रापतन् भूमिपालाश्च ये तु हीनाः स्वतेजसा ॥१६॥

अर्थ—तदनन्तर वहां पर जो सबने मिलकर बड़े बलपूर्वक मङ्गलकारी शंखध्वनि की उसको सुनते ही मेरे रोम खड़े होगये और उस समय अन्य तेजहीन राजा भी मूर्छित होकर गिरपड़े, औरः—

धृष्टद्युम्नः पाण्डवाश्च सात्यकिः केशवोऽष्टमः ।
सत्वस्था वीर्य्यसम्पन्ना ह्यन्योन्य प्रियदर्शनाः ।
विसंज्ञान् भूमिपान् दृष्ट्वा मांच ते प्राहसंस्तदा ॥१७॥

अर्थ—धृष्टद्युम्न, पांचो पाण्डव, सात्यकि तथा कृष्ण यह आठो प्रसन्नचित्त, उत्साहपूर्ण हुए २ आपस में एक दूसरे को प्रेम से देखते थे, और मेरी तथा उन गिरे हुए राजाओं की गति देखकर यह लोग हंसने लगे ॥

ततः प्रहृष्टो बीभत्सुः प्रादाद्धेम विषाणिनाम् ।
शतान्यनडुहां पंच द्विजमुख्येषु भारत ।
न रंतिदेवो नाभागो यौवनाश्वो मनुर्नच ॥ १९ ॥
नच राजा पृथुर्वैन्यो नचाप्यासीद् भगीरथः ।
ययातिर्नहुषो वापि यथा राजा युधिष्ठिरः ॥ २० ॥

अर्थ—तत्पश्चात् अर्जुन ने हर्ष में भरकर पांचसौ बैल जिनके सींग सुवर्ण से मढ़े हुए थे उत्तम ब्राह्मणों को दान दिये, हे पिता ! राजा रन्तिदेव, नाभाग, यौवनाश्व, मनु, पृथु, वैन्य, भगीरथ, ययाति और नहुष भी युधिष्ठिर की बराबरी नहीं कर सक्के ॥

यथातिमात्रं कौन्तेयः श्रिया परमयायुतः ।
राजसूयमवाप्यैवं हरिश्चन्द्र इव प्रभुः ॥ २१ ॥
एतां दृष्ट्वा श्रियं पार्थे हरिश्चन्द्रे यथाविभो ।
कथं तु जीवितं श्रेयो मम पश्यसि भारत ॥ २२ ॥

अर्थ–अधिक क्या कहूं, युधिष्ठिर की बढ़ी हुई राज्यलक्ष्मी और यह राजसूययज्ञ राजा हरिश्चन्द्र के समान है, हे राजन् ! इसको देखकर तुम्हें मेरा जीना कैसे अच्छा जानपड़ता है ॥

अंधेनेव युगं नद्धं विपर्यस्तं नराधिप ।
कनीयांसो विवर्द्धन्ते ज्येष्ठाहीयंत एव च ॥२३॥
एवं दृष्ट्वा नाभिविंदामि शर्म समीक्ष-
माणोपि कुरुप्रवीर । तेनाहमेवं कृशतां
गतश्च विवर्णतां चैव सशोकतां च ॥ २४ ॥

अर्थ–हे राजन्! विधाता ने यह द्वापर युग अन्धों की भांति उलटा बनाया है, इसीकारण इसमें विपरीत बातें होती हैं, बड़े घटते जाते और छोटे बड़े होरहे हैं, सो हे पिता ! इसी कारण मेरा चित्त स्वस्थ नहीं रहता और मैं चिन्ताग्रस्त दुर्बल होकर ही पीला पड़गया हूं ॥

इति त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ चतुस्त्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०–अब धृतराष्ट्र का दुर्योधन को उपदेश कथन करते हैं:–

धृतराष्ट्र उवाच

त्वं वै ज्येष्ठो ज्यैष्ठिनेयः पुत्रपाण्डवान् द्विषः ।
द्वेष्टाह्यसुखमादत्ते यथैव निधनं तथा ॥१॥
अव्युत्पन्नं समानार्थं तुल्यमित्रं युधिष्ठिरम् ।
अद्विषंतं कथं द्विष्यात्त्वादृशो भरतर्षभ ॥२॥

अर्थ–धृतराष्ट्र बोला कि हे पुत्र दुर्योधन ! निस्सन्देह तू ज्येष्ठ और प्रशंसा के योग्य है, परन्तु तू पाण्डवों से द्वेष न कर, क्योंकि द्वेष करने वाले को मरने के समान दुःख होता है, युधिष्ठिर सीधा,समदृष्टि और निष्कपट पुरुष है वह तुझसे कुछ द्वेष नहीं रखता फिर तू ऐसा योग्य होकर उससे क्यों द्वेष करता है ॥

तुल्याभिजनवीर्यश्च कथंभ्रातुः श्रियं नृप ।
पुत्र कामयसेमोहान्मैवभूः शाम्यमाशुचः ॥३॥
अथ यज्ञविभूतिं तां कांक्षसे भरतर्षभ ।
ऋत्विजस्तव तन्वन्तु सप्ततंन्तु महाध्वरम् ॥४॥
आहरिष्यन्ति राजानस्तवापि विपुलंधनम् ।
प्रीत्या च बहुमानाच्च रत्नान्याभरणानि च ॥५॥

अर्थ–हे पुत्र ! तू बल और कुलीनता में युधिष्ठिर के ही समान है, तुझको उसकी संपत्ति हरण करने की इच्छा करना उचित नहीं,तेरा पराक्रम तथा कुल उससे कुछ अधिक नहीं फिर तू क्यों मोहवश होकर भाई की लक्ष्मी को लेना चाहता है, अतएव तू शान्त हो और शोक को छोड़दे, यदि तेरी इच्छा यज्ञ का उत्सव करने की होतो तू भी अपने ऋत्विजों को बुलाकर "सप्ततन्तु" यज्ञ कर तेरे पास भी राजा लोग धन, रत्न और अभूषणों की भेट लेकर प्रीति और मानपूर्वक आवेंगे ॥

अनार्याचरितं तात परस्व स्पृहणं भृशम् ।
स्वसंतुष्टः स्वधर्मस्थो यः स वै सुखमेधते ॥६॥

अव्यापारः परार्थेषु नित्योद्योगः स्वकर्मसु ।
रक्षणं समुपात्तानामेतद्वैभव लक्षणम् ॥७॥

अर्थ—हे पुत्र ! पराये धन के हरण की इच्छा करना अनार्य्य= नीचों का काम है, इस संसार में उसी पुरुष की वृद्धि होती है जो अपने धर्म में तत्पर रहता और अपने ही धन में सन्तोष करता है, (१) दूसरे के धन की इच्छा न करना (२) अपने काम में सदा उद्योगी होना (३) कमाये हुए धन की रक्षा करना, यह तीनों वैभव के लक्षण हैं अर्थात इनका सेवन करने वाला पुरुष ऐश्वर्य्यशाली होता है ॥

विपत्तिष्वव्यथोदक्षो नित्यमुत्थानवान्नरः ।
अप्रमत्तो विनीतात्मा नित्यं भद्राणि पश्यति ॥८॥

अर्थ—जो पुरुष चतुर, विनीत, नित्य उद्योगी, सावधान और आपत्ति में दुःख नहीं मानता उसका सदा कल्याण होता है ॥

बाहूनिवैतान्माच्छेत्सीः पाण्डुपुत्रास्तथैव ते ।
भ्रातॄणां तद्धनार्थं वै मित्रद्रोहं च माकुरु ॥९॥

अर्थ—हे पुत्र ! यह पाण्डव जो तेरे बाहु के समान हैं इनका छेदन करके अपने स्वार्थ के लिये मित्रवर्गों से द्वेष न कर ॥

पाण्डोः पुत्रान् माद्विषस्वेह राजंस्तथैव ते-
भ्रातृधनं समग्रम् । मित्रद्रोहे तात महान-
धर्मः पितामहा ये तव तेऽपि तेषाम् ॥१०॥

अर्थ—हे पुत्र दुर्योधन ! पाण्डव तेरे भाई हैं उनके पास जो धन है सो तेरा ही है उनसे तुझको द्रोह करना उचित नहीं, क्योंकि

तेरे और पाण्डवों के पितामह एक ही थे, और हे पुत्र ! मित्रों से द्रोह करना बड़ा अधर्म है ॥

अन्तर्वेद्यां ददद्वित्तं कामाननुभवन् प्रियान् ।
क्रीडन् स्त्रीभिर्निरातंकः प्रशाम्य भरतर्षभ ॥११॥

अर्थ—हे भरतकुल में श्रेष्ठ पुत्र ! हम में और उनमें कुछ भेद नहीं, इससे तुझे उचित है कि अपने चित्त को सावधान करके यज्ञ की वेदी में मनमाना दान दे, मनमाने भोगों को भोग और अपनी रुचिकर स्त्रियों से क्रीड़ा कर वैर विरोध को त्याग दे ॥

इति चतुस्त्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ पंचत्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०—अब दुर्योधन का धृतराष्ट्र से नीतियुक्त बचन कहकर उसको पाण्डवों की विभूति लेने के लिये पुनः उत्तेजित करना कथन करते हैं :—

दुर्योधन उवाच

यस्य नास्ति निजाप्रज्ञा केवलं तु बहुश्रुतः ।
न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वीसूपरसानिव ॥१॥
जानन्वै मोहयसि मां नाविनौरिव संयता ।
स्वार्थे किं नावधानं ते उताहोद्वेष्टि मां भवान् ॥२॥

अर्थ—दुर्योधन बोला कि हे पिता ! जिस मनुष्य में अपनी बुद्धि नहीं होती वह केवल सुनी हुई बातों को जानता है, वह

शास्त्र के अर्थ को नहीं जानसक्ता, जैसे कड़छी दाल के स्वाद को नहीं पहचानती, जिसप्रकार एक नाव में बंधी हुई दूसरी नाव स्वतन्त्र नहीं होती किन्तु उसके साथ ही डूब जाती वा मारी २ फिरती है, इसी प्रकार आप मुझको सब पूर्वापर जानने पर भी मोहित कर रहे हैं, न जाने आप स्वार्थ को क्यों भूले हुए हैं क्या आप भी मुझसे द्वेष तो नहीं करते ॥

न संतीमे धार्त्तराष्ट्रा येषां त्वमनुशासिता ।
भविष्यमर्थमाख्यासि सर्वदा कृत्यमात्मनः ॥ ३ ॥
परनेयोग्रणीर्यस्य स मार्गान्प्रति मुह्यति ।
पन्थानमनुगच्छेयुः कथं तस्य पदानुगाः ॥ ४ ॥
राजन्परिणतप्रज्ञो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ।
प्रतिपन्नान् स्वकार्येषु संमोहयसि नो भृशम् ॥५॥

अर्थ–आप अपने पुत्रों को मरे के समान जानते हैं जिनके आप शासक हैं, और अपने स्वार्थ के काम में सदा भविष्य=होनहार को आरोपण कर देते हैं, जिसका नायक=आगे चलने वाला ही दूसरे की शिक्षा के अनुसार चलता है वह अपना मार्ग अवश्य भूलेगा और उसके अनुयायी पुरुषों को भी ठीक मार्ग कदापि नहीं मिलसक्ता, सो हे राजन् ! आप पण्डित, बुद्धिमान्, वृद्धसेवी और जितेन्द्रिय होकर हम लोगों को हमारा अपना कर्तव्य भुलाते हैं ॥

लोकवृत्ताद्राजवृत्तमन्यदाह बृहस्पतिः ।
तस्माद्राज्ञाप्रमत्तेन स्वार्थश्चिन्त्यः सदैव हि ॥ ६ ॥

क्षत्रियस्य महाराज जयेवृत्तिः समाहिता ।
स वै धर्मस्त्वधर्मो वा स्ववृत्तौ का परीक्षणा ॥ ७ ॥
प्रचालयेद्दिशः सर्वाः प्रतोदेनेव सारथिः ।
प्रत्यमित्र श्रियं दीप्तां जिघृक्षुर्भरतर्षभ ॥ ८ ॥

अर्थ–बृहस्पति ने राजाओं की वृत्ति को संसार की वृत्ति से भिन्न कहा है, इसलिये सावधान राजा को अपने स्वार्थ के कार्य्य का विचार सदैव करना उचित है, क्षत्रियों की वृत्ति=धर्म केवल विजय करना ही निश्चित है चाहें उसमें धर्म हो वा अधर्म हो, इसलिये विजय के विषय में संदेह की बातें सोचना ठीक नहीं, हे राजन् ! जो राजा शत्रु की प्रदीप्त लक्ष्मी को हरण करने का विचार करता है उसे उचित है कि वह सब दिशाओं को इस प्रकार से चलायमान करदे जैसे सारथी चाबुक से घोड़ों को कम्पायमान करदेता है ॥

प्रच्छन्नो वा प्रकाशो वा योगो योऽरिं प्रबाधते ।
तद्वै शस्त्रं शस्त्रविदां न शस्त्रं छेदनं स्मृतम् ॥९॥
शत्रुश्चैव हि मित्रं च न लेख्यं नच मातृका ।
यो वै संतापयति यं स शत्रुः प्रोच्यते नृप ॥ १० ॥
असंतोषः श्रियो मूलं तस्मात्तं कामयाम्यहम् ।
समुच्छ्रये यो यतते स राजन् परमो नयः ॥ ११ ॥

अर्थ–वही उपाय राजा का शस्त्र है जिससे शत्रु को जीता जाय, चाहे वह गुप्त हो चाहे प्रकट हो, युद्ध करके लेना ही शस्त्र से लेना नहीं कहाता, हे राजन् ! शत्रु वा मित्र का कुछ लेख

किसी जगह नहीं, जो अपने को संताप=दुःख देवे उसी को विद्वानों ने शत्रु कहा है, लक्ष्मी का मूल असंतोष है अर्थात् तृप्ति न होना, इसलिये मैं कामना वाला हूं, और हे राजन्! अपने को बढ़ाने का यत्न करना यही परम राजनीति है ॥

ममत्वं हि न कर्त्तव्यमैश्वर्ये वा धनेपि वा ।
पूर्वावाप्तं हरंत्यन्ये राजधर्मं हि तं विदुः ॥ १२ ॥
अद्रोहसमयं कृत्वा चिच्छेद नमुचेः शिरः ।
शक्रः साभिमता तस्य रिपौ वृत्तिः सनातनी ॥१३॥
द्वावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ १४ ॥

अर्थ—हे राजन्! ऐश्वर्य्य और धनके विषय में ममता करना बुद्धिमानों का काम नहीं, क्योंकि इनको प्रत्येक राजा एक दूसरे से बलपूर्वक लेता चला आया है, यही राजाओं का परमधर्म है, इन्द्र ने नमुचि दैत्य को मित्रता का विश्वास दिलाकर उसका शिर काट डाला था और आज तक शत्रु को विजय करने की वही सनातन सर्वसंमत वृत्ति चली आती है, शत्रु से विरोध न करने वाले राजा को और देशदेशान्तरों में न घूमने वाले संन्यासी को पृथ्वी इस प्रकार ग्रस लेती है जैसे बिल में रहने वाले जीवों को सांप ग्रस लेता है ॥

नास्ति वै जातितः शत्रुः पुरुषस्य विशांपते ।
येन साधारणी वृत्तिः स शत्रुर्नेतरो जनः ॥ १५ ॥

शत्रुपक्षं समृध्यन्तं यो मोहात्समुपेक्षते ।
व्याधिराप्यायितइव तस्य मूलं छिनत्ति सः ॥१६॥

अर्थ—हे राजन् ! शत्रुता कुछ स्वभाव पर निर्भर नहीं जिस की राज्यलक्ष्मी अपने तुल्य हो वही अपना वैरी है, जो राजा मोह से अपने शत्रुपक्ष की उन्नति को रोकने का यत्न नहीं करता उसकी जड़ इसप्रकार कटती जाती है जैसे रोग बढ़ने से शरीर दिन २ क्षय होता जाता है, और :—

अल्पोपि ह्यरिरत्यर्थं वर्धमानः पराक्रमैः ।
वल्मीको मूलजइव ग्रसते वृक्षमन्तिकात् ॥१७॥

अर्थ—छोटा शत्रु भी पराक्रम में बढ़ जाने से इस प्रकार जड़ काट देता है जैसे वृक्ष की जड़ के पास लगी हुई दीमक वृक्ष को खाजाती है, इसलिये :—

आजमीढारिपोर्लक्ष्मीर्माते रोचिष्ट भारत ।
एष भारः सत्ववतां नयः शिरसिधिष्ठितः ॥१८॥
जन्मवृद्धिमिवार्थानां यो वृद्धिमभिकांक्षते ।
एधते ज्ञातिषु स वै सद्यो वृद्धिर्हि विक्रमः ॥१९॥

अर्थ—हे पिता ! आपको भी शत्रु युधिष्ठिर की लक्ष्मी की वृद्धि चाहना उचित नहीं, पराक्रमी पुरुषों के लिये यह शिरोधार्य्य नीति है, जाति वालों में वृद्धि उसी मनुष्य की होती है जो अपने अर्थ की उन्नति इस प्रकार किया करता है जैसे जन्म होने के पीछे मनुष्य का शरीर दिन २ बढ़ता है, शीघ्र वृद्धि करने वाला संसार में पराक्रम ही है सो हमें इसी का अवलम्बन करना चाहिये ॥

नाप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं संशयो मे भविष्यति ।
अवाप्स्येव श्रियं तां हि शिष्येवा निहतो युधि ॥२०॥
एतादृशस्य किं मेद्य जीवितेन विशांपते ।
वर्धन्ते पाण्डवा नित्यं वयं त्वस्थिरवृद्धयः ॥२१॥

अर्थ–हे पिता ! पाण्डवों के ऐश्वर्य्य को देखकर मैं अत्यन्त दुःखी हूं, जबतक पाण्डवों की सम्पत्ति मैं छीन नहीं लूंगा मेरी चिन्ता बनी रहेगी, सो या तो मैं उस राजलक्ष्मी को लिये ही लेता हूं नहीं तो युद्ध में मरकर निःशेष होजाउंगा, भला आपही बतावें कि मेरे ऐसे जीवन से क्या अर्थ लाभ है जो पाण्डव तो प्रतिदिन बढ़ते जायं और मैं दिन २. घट रहा हूं ॥

इति पंचत्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ षट्त्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०–अब दुर्योधन से प्रेरित हुए धृतराष्ट्र का जुआ खेलने के लिये सभाभवन बनवाना और विदुर को भेजकर पाण्डवों को बुलाना कथन करते हैं :—

शकुनि उवाच

यां त्वमेतां श्रियं दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रे युधिष्ठिरे ।
तप्यसे तां हरिष्यामि द्यूतेन जयतांवरः ॥१॥
आहूयतां परं राजन् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
अगत्वा संशयमहमयुध्वा च चमूमुखे ॥२॥

अक्षान् क्षिपन्न क्षतः सन्विद्वानविदुषो जये ।
ग्लहान्धनूंषि मे विद्धि शरानक्षांश्च भारत ।
अक्षाणां हृदयं मे ज्यां रथं विद्धि ममास्फुरम् ॥३॥

अर्थ–शकुनि बोला कि हे विजयी दुर्योधन ! जिस युधिष्ठिर की लक्ष्मी को देखकर आप इतने दुःखी होरहे हैं उसको मैं जुए में जीतकर तुम्हें देसकता हूं, आप युधिष्ठिर को बुलवायें मैं युद्ध की आपत्ति में बिना पड़े तथा विना शस्त्रों के आघात सहे ही उसको जुआ रूपी युद्ध में विना सेना के ही जीतूंगा, क्योंकि वह खेलना नहीं जानता और मैं पासा फेंकने में बड़ा चतुर हूं इस जुआ रूप युद्ध में तुम मेरे पासों को बाण, दाउ पर लगाने को धनुष्, मेरी जुए की विद्या को चिल्ला और पासों के फेंकने को रथ समझो ॥

दुर्योधन उवाच

अयमुत्सहते राजन् श्रियमाहर्तुमक्षवित् ।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रेभ्यस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥४॥

अर्थ–दुर्योधन बोला कि हे पिता ! हमारे मामा शकुनि जुआ खेलने में बड़े चतुर हैं और वह पाण्डवों की लक्ष्मी को पासों द्वारा जीतने को कहते हैं सो आप उनको जुआ खेलने के लिये आज्ञा दीजिये ॥

धृतराष्ट्र उवाच

स्थितोस्मि शासने भ्रातुर्विदुरस्य महात्मनः ।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम् ॥५॥

अर्थ-धृतराष्ट्र बोला कि हे दुर्योधन ! मैं पहले अपने बुद्धिमान् भाई विदुर से सलाह करलूं, क्योंकि मैं उनके कहे पर चलता हूं तब कुछ निश्चयपूर्वक कहसकुंगा ॥

दुर्योधन उवाच

व्यपनेष्यति ते बुद्धिं विदुरो मुक्तसंशयः ।
पाण्डवानां हिते युक्तो न तथा मम कौरव ॥६॥
नारभेतान्यसामर्थ्यात्पुरुषः कार्य्यमात्मनः ।
मतिसाम्यं द्वयोर्नास्ति कार्येषु कुरुनन्दन ॥७॥
भयं परिहरन्मन्द आत्मानं परिपालयन् ।
वर्षासु क्लिन्नकटवत्तिष्ठन्नेवावसीदति ॥८॥
न व्याधयो नापि यमः प्राप्तुं श्रेयः प्रतीक्षते ।
यावदेव भवेत्कल्पस्तावच्छ्रेयः समाचरेत् ॥९॥

अर्थ-दुर्योधन बोला कि हे पिता ! विदुरजी जैसा पाण्डवों को चाहते हैं वैसा मुझको नहीं चाहते, इसकारण वह जुआ कराने की कदापि सम्मति न देंगे, और किसी मनुष्य को कोई काम दूसरे के आश्रित होकर करना उचित नहीं, क्योंकि दो मनुष्यों की समानबुद्धि कभी नहीं होती, जो मनुष्य शत्रु से होने वाले भय की पर्वाह न करके अपना पालन करता है वह सदैव दुःख पाता है जैसे वर्षा में चटाई भीग जाने से रक्खी रक्खी ही गलजाती है, रोग और मृत्यु मनुष्य के भले बुरे अवसर को नहीं ताकते रहते, इसलिये मनुष्य को उचित है कि जबतक सामर्थ्य हो तबतक अपने कल्याण का उपाय करे ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वथा पुत्र बलिभिर्विग्रहो मे न रोचते ।
वैरं विकारं सृजति तद्वै शस्त्रमनायसम् ॥ १० ॥
अनर्थमर्थं मन्यसे राजपुत्र संग्रन्थनं
कलहस्याति याति । तद्वै प्रवृत्तं तु यथा
कथंचित्सृजेदसीन्निशितान्सायकांश्च ॥ ११ ॥

अर्थ—धृतराष्ट्र बोला कि हे पुत्र ! मुझको बलवानों के साथ विग्रह=युद्ध करना अच्छा नहीं लगता, क्योंकि वैर विकार को उत्पन्न करता और वही विना लोहे का शस्त्र है, सो तू अनर्थ को अर्थ मानकर भयानक कलह के बीज बुआना चाहता है, जिसमें आगे तीक्ष्ण तलवारें और बाण उत्पन्न होंगे अर्थात् इस कलह का परिणाम यह होगा कि शस्त्रों के युद्ध द्वारा सब नाश को प्राप्त होजायंगे ॥

दुर्योधन उवाच

द्यूते पुराणैर्व्यवहारः प्रणीतस्तत्रात्ययो-
नास्ति न संप्रहारः । तद्रोचतां शकुनेर्वाक्य-
मद्य सभां क्षिप्रं त्वमिहाज्ञापयस्व ॥ १२ ॥
स्वर्गद्वारं दीव्यतां नो विशिष्टं तद्वर्तिनां-
चापि तथैव युक्तं । भवेदेवं ह्यात्मना तु-
ल्यमेव दुरोदरं पाण्डवैस्त्वं कुरुष्व ॥ १३ ॥

अर्थ-दुर्योधन बोला कि हे पिता! जुआ खेलने में नाश तथा युद्ध होने की कोई बात नहीं, क्योंकि यह पूर्वकाल का व्यवहार चला आता है अर्थात् नल आदि पूर्वजों ने भी जुआ खेला था, इसलिये आप शकुनि के कथन को स्वीकार करके सभाभवन बनने की आज्ञा दीजिये, और जूआ खेलना हमारे लिये उत्तम सुख का द्वार है, जो खेलता है उसको बड़ा सुख प्राप्त होता है, सो हमको पाण्डवों के साथ जुआ खेलना सुखदायक होने से सर्वथा योग्य ही है॥

धृतराष्ट्र उवाच

वाक्यं न मे रोचते यत्त्वयोक्तं यत्ते प्रियं-
तत् क्रियतां नरेन्द्र। पश्चात्तप्स्यसे तदुपा-
क्रम्य वाक्यं नहीदृशं भावि वचो हि धर्म्यम्॥१४॥
दृष्टं ह्येतद्विदुरेणैव सर्वं विपश्चिता बुद्धि-
विद्यानुगेन। तदेवैतद्दैववशादुपैति
महद्भयं क्षत्रियजीवघाति॥ १५॥

अर्थ-धृतराष्ट्र बोला कि हे दुर्योधन! तू जो कुछ कहता है वह मुझे अच्छा नहीं लगता, अब जो तेरी समझ में आवे सो तू कर, मेरा समझाना तुझे आगे याद आवेगा और फिर तू पछतावेगा, क्योंकि जुआ खेलना कदापि कल्याणकारी और धर्म के अनुकूल नहीं, मुझे याद है जो बुद्धिमान् पण्डित विदुरजी ने कहा था कि इस दुर्योधन के कारण सब कुल का नाश होगा, सो वही क्षत्रिय जीवों का घातक बड़ा भय मेरे सामने आरहा है॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी दैवं मत्वा परमं दुस्तरं च। शशासोच्चैः पुरुषान् पुत्रवाक्ये स्थितो राजा दैवसंमूढचेताः ॥ १६ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय! विद्वान् धृतराष्ट्र ने उक्त प्रकार से सब कुछ कहकर और दैवगति को बलवान् तथा अमिट जानकर दुर्भाग्य से मूढ हो दुर्योधन के कथनानुसार अपने कार्य्यकर्त्ताओं को चिल्लाकर आज्ञा दी, कि :–

सहस्रस्तंभां हेमवैदूर्यचित्रां शतद्वारां तोरण स्फाटिकाख्याम्। सभामग्र्यां क्रोशमात्रा-यतामेताद्विस्तारामाशु कुर्वंतु युक्ताः ॥ १७ ॥

अर्थ–हमारे लिये अतिशीघ्र एक ऐसा उत्तम जूआ खेलने का सभाभवन तैयार करो जो एक कोस लम्बा तथा एक कोस चौड़ा हो, जिसमें सहस्र खंभे और सौ द्वार हों, उस भवन के बाहर का द्वार स्फटिकमणि का बनाया जावे और सब जगह सुवर्ण तथा वैदूर्य्यमणि से चित्रित हो ॥

श्रुत्त्वा तस्य त्वरिता निर्विशंकाः प्राज्ञा दक्षा-स्तां तदा चक्रुराशु। सर्वद्रव्याण्युपजह्रुः स-भायां सहस्रशः शिल्पिनश्चैव युक्ताः ॥१८॥

अर्थ–राजा की आज्ञा पाते ही सहस्रों कारीगरों ने जो बड़े बुद्धिमान् और चतुर थे सभाभवन बनाने के लिये सहस्रों प्रकार का

सामान एकत्रित किया, और थोड़े ही काल में वह सभाभवन बनाकर तैयार करदिया, और :—

कालेनाल्पेनाथ निष्ठां गतां तां सभां रम्यां-
बहुरत्नां विचित्राम्। चित्रैर्हैमैरासनैरभ्युपेता-
माचख्युस्ते तस्य राज्ञः प्रतीताः ॥ १९ ॥

अर्थ—राजा के विश्वासी शिल्पियों ने अल्पकाल में हि अनेक प्रकार के रत्नों से चित्रित करके उस भवन को बड़ा मनोहर बना दिया और उसमें सुवर्ण से चित्रित आसन स्थापित करके उस भवन के पूर्ण होने की सूचना राजा धृतराष्ट्र को देदी ॥

ततो विद्वान् विदुरं मन्त्रिमुख्यमुवाचेदं
धृतराष्ट्रो नरेन्द्रः। युधिष्ठिरं राजपुत्रं च
गत्वा मद्वाक्येन क्षिप्रमिहानयस्व ॥२०॥

अर्थ—तदनन्तर विद्वान् राजा धृतराष्ट्र ने मन्त्री विदुर को बुलाकर आज्ञा दी कि आप इन्द्रप्रस्थ में जायं और मेरी ओर से संदेशा देकर राजकुमार युधिष्ठिर आदि सब पाण्डवों को यहां शीघ्र लिवालायें, और :—

सभेयं मे बहुरत्ना विचित्रा शय्यासनैरुप-
पन्ना महार्हैः। सादृश्यतां भ्रातृभिः सार्द्ध-
मेत्य सुहृद्द्यूतं वर्त्ततामत्र चेति ॥२१॥

अर्थ—उनसे कहदें कि आप लोगों को सभाभवन देखने के लिये बुलाया है जो अनेक प्रकार के रत्नों से चित्रित और

विचित्र शय्या तथा आसनों से सुशोभित है उस भवन में आप सब भाई मिलकर मित्रतापूर्वक जूआ खेलना ॥

इति षट्त्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ सप्तत्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०-अब विदुरजी का इन्द्रप्रस्थ में जाकर सब पाण्डवों को हस्तिनापुर में लाना कथन करते हैं :—

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रायाद्विदुरोऽश्वैरुदारैर्महाजवैर्बलिभिः
साधुदान्तैः। बलान्नियुक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा
मनीषिणां पाण्डवानां सकाशे ॥ १ ॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! धृतराष्ट्र से हठपूर्वक आज्ञा पाये हुए विदुरजी शीघ्रगामी घोड़ों से जुते हुए रथ पर चढ़कर महात्मा पाण्डवों के समीप गये, और :—

सोऽभिपत्य तदध्वानमासाद्य नृपतेः पुरम् ।
प्रविवेश महाबुद्धिः पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥२॥
स राजगृहमासाद्य कुबेरभवनोपमम् ।
अभ्यागच्छत धर्मात्मा धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥३॥

अर्थ-महाबुद्धिमान् धर्मात्मा विदुर मार्गयात्रा को समाप्त करके राजा के नगर में पहुंचे, वहां ब्राह्मणादि वर्णों से पूजित

हुए २ युधिष्ठिर के महलों में जो कुबेर के भवन सदृश बने हुए थे प्रविष्ट होकर धर्मपुत्र युधिष्ठिर के समीप गये॥

तं वै राजा सत्यधृतिर्महात्मा अजातशत्रुर्विदुरं यथावत्। पूजापूर्वं प्रतिगृह्याजमीढ-
स्ततोऽपृच्छद्धृतराष्ट्रं सपुत्रम् ॥ ४ ॥

अर्थ—तदनन्तर सत्यव्रतधारी महात्मा अजातशत्रु युधिष्ठिर ने विदुरजी की यथायोग्य पूजा की और उन्हें आदरपूर्वक बिठाया, पुनः धृतराष्ट्र और उसके पुत्रों की क्षेमकुशल पूछकर बोले कि :-

विज्ञायते ते मनसोऽप्रहर्षः कच्चित् क्षत्तः कुशलेनागतोसि। कच्चित्पुत्राः स्थविरस्या-
नुलोमा वशानुगाश्चापि विशोथ कच्चित् ॥५॥

अर्थ—हे महाराज! आपका मन कुछ उदास प्रतीत होता है, कहिये आप कुशलपूर्वक आये हैं? और यह भी बताइये कि वृद्ध धृतराष्ट्र के पुत्र उनके आज्ञाकारी तो हैं और प्रजा उनके वश में है वा नहीं॥

विदुर उवाच

राजा महात्मा कुशली सपुत्र आस्ते वृतो ज्ञातिभिरिन्द्रकल्पः। प्रीतो राजन् पुत्रगुणै-
र्विनीतो विशोक एवात्मरतिर्महात्मा ॥६॥

अर्थ—विदुरजी बोले कि हे राजन्! महात्मा धृतराष्ट्र अपने पुत्र सहित कुशलपूर्वक हैं और अपने भाई बन्धुओं से इन्द्र के

समान घिरे रहते हैं, वह स्वयं प्रसन्न तथा शोक रहित हैं, परन्तु अब पुत्र के गुणों से उनकी दशा कुछ पलटी हुई है ॥

इदं तु त्वां कुरुराजोऽभ्युवाच पूर्वं पृष्ट्वा
कुशलं चाव्ययं च । इयं सभात्वत्सभा तु-
ल्यरूपा भ्रातॄणां ते दृश्यतामेत्य पुत्र ॥७॥

अर्थ—उन्होंने आपकी कुशलक्षेम पूछकर यह कहला भेजा है कि हे पुत्र युधिष्ठिर ! तुम्हारे भाइयों ने भी एक सभाभवन तुम्हारे सभाभवन के सदृश बनवाया है सो उसको आप सब भाई आकर देखें, और :—

समागम्य भ्रातृभिः पार्थ तस्यां सुहृद्द्यूतं
क्रियतां रम्यतां च । प्रीयामहे भवतां सं-
गमेन समागता कुरवश्चापि सर्वे ॥८॥

अर्थ—भाई २ मिलकर वहां मित्रतापूर्वक जूआ खेलें तथा आनन्द मनावें, यहां सब कौरवकुल के मनुष्य एकत्रित हुए २ तुम्हारे दर्शनों की अभिलाषा रखते हैं, तुम्हारे आगमन से हमें बड़ा हर्ष होगा ॥

दुरोदरा विहिता ये तु तत्र महात्मना धृत-
राष्ट्रेण राज्ञा । तान् द्रक्ष्यसे कितवान्स-
न्निविष्टानित्यागतोहं नृपते तज्जुषस्व ॥९॥

अर्थ—सो हे राजा युधिष्ठिर ! आप वहां पहुंचकर उन खिलाड़ियों को जिन्हें महात्मा राजा धृतराष्ट्र ने जूआ खेलने को नियत किया हुआ है देखोगे, इसीलिये मैं आया हूं ॥

युधिष्ठिर उवाच

द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते नः को वै द्यूतं रोचते बुद्धमानः । किं वा भवान् मन्यते युक्तरूपं भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताः स्म ॥ १० ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोले कि हे विदुरजी ! जूआ खेलने में हमें कलह दिखाई देता है कल्याण नहीं, और बुद्धिमान् पुरुष कदापि जूआ नहीं खेलते, परन्तु हम सब तो आपकी आज्ञानुसार चलने वाले हैं, आप कहिये आपकी जूआ खेलने में क्या सम्मति है ॥

विदुर उवाच

जानाम्यहं द्यूतमनर्थमूलं कृतश्चयत्नो-
स्य मया निवारणे । राजा च मां प्राहिरणो
त्त्वत्सकाशं श्रुत्वा विद्वन् श्रेय इहाचरस्व ॥ ११ ॥

अर्थ—विदुरजी बोले कि हे राजन् ! मैं तो जूए को सदैव अनर्थ की जड़ समझता हूं, मैंने इसके निवारण करने के अनेक यत्न किये परन्तु मेरा कोई उपाय न चला, अंत को धृतराष्ट्र का भेजा हुआ तुम्हें बुलाने को यहां चला आया हूं, सो आप विद्वान् हैं जिसमें कल्याण देखें वही करें ॥

युधिष्ठिर उवाच

ते तत्रान्ये कितवा दीव्यमाना विना राज्ञो
धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः । पृच्छामि त्वां विदुर
ब्रूहि नस्तान् यैर्दीव्यामः शतशः सन्निपत्य ॥ १२ ॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोले कि हे विदुरजी ! वहां धृतराष्ट्र के पुत्रों से भिन्न और कौन २ खिलाड़ी हैं जिनके साथ हम असंख्य धन लेकर जूआ खेलेंगे ॥

विदुर उवाच

गान्धारराजः शकुनिर्विशांपते राजाऽतिदेवी-
कृतहस्तो मताक्षः । विविंशतिश्चित्रसेनश्च
राजा सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयश्च ॥ १३ ॥

अर्थ–विदुरजी बोले कि हे युधिष्ठिर ! वहां कन्धार का राजा शकुनि बड़ा खिलाड़ी है उसने पासा डालने में अपना हाथ साधा हुआ है और अपनी इच्छानुसार पासे डाल सकता है, इसके अतिरिक्त राजा विविंशति, चित्रसेन, राजा सत्यव्रत, पुरमित्र और जय भी वहां उपस्थित हैं ॥

युधिष्ठिर उवाच

महाभयाः कितवाः सन्निविष्टा मायोपधा-
देवितारोत्र सन्ति । धात्रा तु दिष्टस्य वशे
किलेदं सर्वं जगत्तिष्ठति न स्वतन्त्रम् ॥ १४ ॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोले कि हे विदुरजी ! आप सत्य कहते हैं वहां बड़े २ छली, कपटी तथा भय देने वाले खिलाड़ी एकत्रित हुए हैं, परन्तु मनुष्य के अधीन न होने से यह सब जगत् दैवाधीन ही स्थित है, न जाने हमारे लिये क्या होनहार है ॥

नाहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य शासनान्न गन्तु-
मिच्छामि कवे दुरोदरम् । इष्टो हि पुत्रस्य
पिता सदैव तदस्मि कर्त्ता विदुरात्थ मां यथा ॥१५॥

अर्थ—मैं धृतराष्ट्र की आज्ञा से जूए में जाने की कोई आवश्यकता नहीं समझता, क्योंकि पिता सदा पुत्र का ही पक्षपात किया करता है, हां आप मुझे जो आज्ञा देंगे उसे मैं अवश्य करूंगा ॥

नचाकामः शकुनिनादेविताहं नचेन्मां जिष्णु-
राह्वयिता सभायाम् । आहूतोहं न निवर्ते
कदाचित्तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे ॥ १६ ॥

अर्थ—जूआ खेलने की मेरी अपनी इच्छा कदापि नहीं है, इसलिये यदि मुझको वहां कोई नहीं बुलावेगा तो मैं शकुनि से जूआ नहीं खेलूंगा, किंतु बुलाने पर हटूंगा भी नहीं, यह मेरा सनातन व्रत है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा विदुरं धर्मराजः प्रायात्रिकं-
सर्वमाज्ञाप्यतूर्णम् । प्रायाच्छ्वो भूते सगणः
सानुयात्रः सहस्त्रीभिर्द्रौपदीमादिकृत्वा ॥१७॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिर ने विदुरजी से उक्त प्रकार कहकर यात्रा का सब सामान शीघ्र तैयार करने की आज्ञा दी और प्रातःकाल होते ही सब भाई, सेवक और द्रौपदी आदि स्त्रियों सहित हस्तिनापुर को चलदिये ॥

दैवं हि प्रज्ञां मुष्णाति चक्षुस्तेज इवापतत् ।
धातुश्चवशमन्वेति पाशैरिव नरः सितः ॥१८॥

इत्युक्त्वाप्रययौ राजा सहक्षत्रा युधिष्ठिरः ।
अमृष्यमाणस्तस्याथ समाह्वानमरिंदमः ॥१९॥
बाह्लिकेन रथं यत्तमास्थाय परवीरहा ।
परिच्छन्नो ययौ पार्थो भ्रातृभिः सहपाण्डवः ॥२०॥

अर्थ-हा !!! जब मनुष्य को दैवगति प्राप्त होती है अर्थात् जब दैव प्रतिकूल होता है तब उसकी बुद्धि नाश को प्राप्त होजाती है, जैसे कि सूर्य के तेज से आखें चकाचोंध होजाती हैं और वह जाल में बंधे हुए मनुष्य की भांति दैवाधीन होता है, इसी कारण युधिष्ठिर धृतराष्ट्र के बुलाने को स्वीकार कर विदुरजी के साथ भाइयों सहित राजा बाह्लीक के दिये हुए रथ पर चढ़ हास्तिना-पुर पहुंचा ॥

तथा भीष्मेण द्रोणेन कर्णेन च कृपेण च ।
समियाय यथान्यायं द्रौणिना च विभुः सह ॥२१॥
समेत्य च महाबाहुः सोमदत्तेन चैव ह ।
दुर्योधनेन शल्येन सौबलेन च वीर्य्यवान् ॥२२॥
येचान्ये तत्र राजनः पूर्वमेव समागताः ।
दुःशासनेन वीरेण सर्वैर्भ्रातृभिरेव च ।
जयद्रथेन च तथा कुरुभिश्चापि सर्वशः ॥२३॥

अर्थ-तत्पश्चात् महाबाहु राजा युधिष्ठिर भीष्म, द्रोणाचार्य्य, कर्ण, कृपाचार्य्य, द्रोण के पुत्र अश्वत्थामा, सोमदत्त, दुर्योधन, शल्य, शकुनि, वीर दुःशासन, जयद्रथ तथा अन्य राजा लोग जो

पहले से ही वहां आये हुए थे और कौरवकुल के सब भाई बन्धु-ओं से यथायोग्य मिलकर :-

ततः सर्वैर्महाबाहुर्भ्रातृभिः परिवारितः ।
प्रविवेश गृहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः॥२४॥
ददर्श तत्र गान्धारीं देवीं पतिमनुव्रताम् ।
स्नुषाभिः संवृतां शश्वत्ताराभिरिवरोहिणीम् ॥२५॥
अभिवाद्य स गान्धारीं तया च प्रतिनन्दितः ।
ददर्श पितरं वृद्धं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ॥ २६ ॥

अर्थ—पश्चात् युधिष्ठिर सब भाइयों के साथ बुद्धिमान् धृतराष्ट्र के महल में गया, वहां जाकर उन्होंने पतिव्रता गान्धारी देवी के दर्शन किये जो सदा अपनी बहुओं से ऐसे घिरी रहती थी जैसे छोटे २ नक्षत्रों से रोहिणी नक्षत्र घिरा रहता है, पुनः गान्धारी को अभिवादन किया और उनसे आशीर्वाद पाकर उस वृद्ध प्रज्ञाचक्षु पिता राजा धृतराष्ट्र के समीप गया, और :—

राज्ञामूर्द्धन्युपाघ्रातास्ते च कौरवनन्दनाः ।
चत्वारः पाण्डवा राजन् भीमसेनपुरोगमाः ॥२७॥
ततो हर्षः समभवत्कौरवाणां विशांपते ।
तान्दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान्पाण्डवान्प्रियदर्शनान् ॥२८॥

अर्थ—राजा धृतराष्ट्र ने उसका तथा भीमसेन आदि शेष चारों पाण्डवों का प्यार से माथा चूमा, और उन वीर रूपवान् पाण्डवों को देखकर कौरवकुल के सब मनुष्य प्रसन्न हुए ॥

विविशुस्तेऽभ्यनुज्ञाता रत्नवन्ति गृहाणि च ।
ददृशुश्चोपयातांस्तान् द्रौपदीप्रमुखाः स्त्रियः ॥२९॥
याज्ञसेन्याः परामृद्धिं दृष्ट्वा प्रज्वलितामिव ।
स्नुषास्ता धृतराष्ट्रस्य नातिप्रमनसोऽभवन् ॥३०॥

अर्थ—तदनन्तर युधिष्ठिर आदि पांचो भाई द्रौपदी आदि स्त्रियों सहित रत्नजटित महलों में आज्ञा पाकर टिकगये, उस समय धृतराष्ट्र के पुत्रों की स्त्रियां द्रौपदी के महान् वैभव को देखकर ईर्षा के कारण अप्रसन्न हुईं ॥

ततस्ते पुरुषव्याघ्रा गत्वा स्त्रीभिस्तु संविदम् ।
कृत्वा व्यायामपूर्वाणि कृत्यानि प्रतिकर्म च ॥३१॥
ततः कृतान्हिकाः सर्वे दिव्यचन्दनभूषिताः ।
कल्याणमनसश्चैव ब्राह्मणान्स्वस्तिवाच्य च ॥३२॥
मनोज्ञमशनंभुक्त्वा विविशुः शरणान्यथ ।
उपगीयमाना नारीभिरस्वपन् कुरुपुंगवाः ॥३३॥

अर्थ—तदनन्तर सिंहपुरुष पाण्डवों ने स्त्रियों सहित उन महलों में टिककर विश्राम किया और स्त्रियों से बात करके व्यायाम करने के पश्चात् सायंकाल के सन्ध्या, अग्निहोत्रादि सब कर्मों से निवृत्त होकर दिव्य वस्त्र, आभूषण और चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों को धारण करके पुनः अपने कल्याणार्थ ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराया, फिर उत्तमोत्तम भोजन करके स्त्रियों के मधुर गान सुनते २ सब आनन्दपूर्वक सोगये ॥

सुखोषितास्ते रजनीं प्रातः सर्वे कृतान्हिकाः ।
सभां रम्यां प्रविविशुः कितवैरभिनन्दिताः ॥३४॥

अर्थ—सुखपूर्वक रात्रि के व्यतीत होने पर निद्रा से निवृत्त हो सब प्रातःकाल उठे और सब ने प्रातःकालिक सन्ध्या अग्निहोत्रादि कर्म किये, पुनः युधिष्ठिरादि पांचो भाई शकुनि आदि जूआ खेलने वालों से प्रशंसित और उत्साहित होते हुए सब साथ २ उस उत्तम सभाभवन में गये ॥

इति सप्तत्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ अष्टत्रिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०—अब सभाभवन में पहुंचकर युधिष्ठिर और शकुनि का वार्त्तालाप कथन करते हैं :-

वैशम्पायन उवाच

प्रविश्यतां सभां पार्था युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
समेत्य पार्थिवान्सर्वान्पूजार्हानभिपूज्य च ॥१॥
यथावयः समेयाना उपविष्टा यथार्हतः ।
आसनेषु विचित्रेषु स्पर्द्ध्यास्तरणवत्सु च ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! राजा युधिष्ठिर अपने सब भाइयों सहित सभा में गया और वहां पूजा योग्य पुरुषों का

सत्कार कर तथा बराबर वाले सब राजाओं से यथायोग्य मिलकर स्पर्द्धा के योग्य विचित्र आसनों पर सब भाइयों सहित बैठगया ॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु सर्वेष्वथ नृपेषु च ।
शकुनिः सौबलस्तत्र युधिष्ठिरमभाषत ॥३॥

अर्थ–तदनन्तर जब सब राजा लोग बैठगये तब राजा सुबल का पुत्र शकुनि युधिष्ठिर से बोला कि :–

उपस्तीर्णा सभा राजन् सर्वे त्वयि कृतक्षणाः ।
अक्षानुप्वादेवनस्य समयोस्तु युधिष्ठिर ॥४॥

अर्थ–हे युधिष्ठिर! इस सभाभवन में चौपड़ बिछी हुई और पासे भी रखे हुए हैं, आइये जूआ खेलें, यह समय भी अच्छा है और सब लोग आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥

युधिष्ठिर उवाच

निकृतिर्देवनं पापं न क्षात्रोत्र पराक्रमः ।
नच नीतिर्ध्रुवा राजन् किं त्वं द्यूतं प्रशंससि ॥५॥
नहि मानं प्रशंसन्ति निकृतौ कितवस्य हि ।
शकुने मैवं नो जैषीरमार्गेण नृशंसवत् ॥६॥

अथ–युधिष्ठिर बोला कि हे राजन् ! जूआ छलरूप और पाप की जड़ है, इसमें न कुछ क्षत्रिय का पराक्रम और नाही यह नीति के अनुसार है, इसलिये तुम्हें जूए की प्रशंसा करना

उचित नहीं, सज्जन लोग ज्वारियों की प्रशंसा नहीं करते, अतएव हे शकुनि ! तुम्हें निर्दय होकर मुझे कुमार्ग से जीतना निन्दा के योग्य है ॥

शकुनि उवाच

यो वेत्ति संख्यां निकृतौ विधिज्ञश्चेष्टास्व-
खिन्नः कितवोक्षजासु । महामतिर्यश्च जा-
नाति द्यूतं स वै सर्वं सहते प्रक्रियासु ॥७॥

अर्थ–शकुनि बोला कि हे राजन् ! जो जूआ खेलना भले-प्रकार जानता है वह महाबुद्धिमान् और सब क्रियाओं में चतुर होजाता है ॥

अक्षग्लहः सोऽभिभवेत्परंनस्तेनैवं दोषो
भवतीह पार्थ । दिव्यामहे पार्थिवमा-
विशंकां कुरुष्वपाणं च चिरं च माकृथा ॥८॥

अर्थ–हे राजन् ! इसमें कोई दोष नहीं, क्योंकि जीतना हारना तो केवल पासों के अधीन है, आप कोई शंका न करें और अपने योग्य दाउ पर लगाकर जूआ खेलें, विलम्ब करना वृथा है ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमाहायमसितो देवलो मुनिसत्तमः ।
इमानि लोकद्वाराणि यो वै भ्राम्यति सर्वदा ॥ ९ ॥
इदं वै देवनं पापं निकृत्या कितवैः सह ।
धर्मेण तु जयो युद्धे तत्परं न तु देवनम् ॥ १० ॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि ! असित और देवल आदि बड़े २ ऋषि जो लोकमर्यादा को स्थिर करते हुए संसार में सदा भ्रमण करते रहते हैं उनका कथन है कि जूआ खेलना छलरूप और बड़ा पाप है किन्तु धर्मपूर्वक युद्ध करके जीतना ही श्रेष्ठ है ॥

नार्याम्लेच्छन्ति भाषाभिर्मायया नचरंत्युत ।
अजिह्ममशठंयुद्धमेतत्सत्पुरुषव्रतम् ॥ ११ ॥
शक्तितो ब्राह्मणार्थाय शिक्षितुं प्रयतामहे ।
तद्वै वित्तं मातिदेवीर्माजैषीः शकुने परान् ॥१२॥
निकृत्या कामयेनाहं सुखान्युत धनानि वा ।
कितवस्येह कृतिनो वृत्तमेतन्न पूज्यते ॥१३॥

अर्थ–जो आर्य्य=श्रेष्ठ पुरुष हैं वह वृथा नहीं बोलते और न किसी काम में कपट करते हैं वह केवल युद्ध ही की इच्छा करते हैं, यह सत्पुरुषों का ब्रत है, हे शकुनि ! जिस धन से ब्राह्मणों के प्रयोजन सिद्ध होते और जिससे विद्याध्ययन का यत्न किया जाता है उस धन से जूआ खेलकर तुम्हें दूसरों को जीतना उचित नहीं, मेरी इच्छा दूसरे को हराकर सुख भोगने और दूसरे के धन को लेने की नहीं है, यह काम कपटी मनुष्यों का है सत्पुरुष इसको अच्छा नहीं कहते ॥

शकुनि उवाच

श्रोत्रियः श्रोत्रियानेति निकृत्यैव युधिष्ठिर ।
विद्वानविदुषोऽभ्येतिनाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥१४॥

अक्षैर्हि शिक्षितोऽभ्येति निकृत्यैव युधिष्ठिर ।
अकृतास्त्रं कृतास्त्रश्च दुर्बलं बलवत्तरः ।
एवं कर्मसु सर्वेषु निकृत्यैव युधिष्ठिर ॥१५॥
एवं त्वं मामिहाभ्येत्य निकृतिं यदि मन्यसे ।
देवनाद्विनिवर्तस्व यदि ते विद्यते भयम् ॥१६॥

अर्थ–शकुनि बोला कि हे राजन् ! यदि आप जूआ खेलने में छल कहते हैं तो देखिये कि वेदपाठी का वेद न जानने वाले से, पण्डित का मूर्ख से, जूआ खेलने वाले का अनाड़ियों से, और अस्त्रविद्या जानने वाले का बिना अस्त्र जानने वाले से जब सामना होता है तब बलवान् दुर्बल को जीतलेता है, हे युधिष्ठिर ! इसी प्रकार सब कर्मों में हार जीत जाननी चाहिये, इसमें छल की कोई बात नहीं, यदि आप यहां मेरे पास आकर भी हार जीत के विचार से खेलना नहीं चाहते, और खेलने को छल समझकर भयभीत हैं तो न खेलिये ॥

युधिष्ठिर उवाच

आहूतो न निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम् ।
विधिश्च बलवान्राजन् दिष्टस्यास्मि वशेस्थितः॥१७॥
अस्मिन् समागमेकेन देवनं मे भविष्यति ।
प्रतिपाणश्च को अन्योस्ति ततो द्यूतं प्रवर्त्तताम्॥१८॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि ! यह मेरा सनातन व्रत है कि जो कोई मुझे जूआ खेलने को बुलाता है उससे मैं अवश्य खेलता हूं, हे राजन्! दैवगति बलवान् है और मैं भी उस दैव के

वश में हूं, अब आप यह बतावें कि कौन मेरे साथ खेलेगा और दाउ लगाने वाला अन्य कौन है ? ताकि उसको जानकर खेलना प्रारम्भ करें ॥

दुर्योधन उवाच

अहं दातास्मि रत्नानां धनानां च विशांपते ।
मदर्थे देविता चायं शकुनिर्मातुलो मम ॥१९॥

अर्थ-दुर्योधन बोला कि हे राजन् ! दाउ पर लगाने को रत्न और धन तो मैं दूंगा और मेरे मामा शकुनि मेरी ओर से आपके साथ जूआ खेलेंगे ॥

युधिष्ठिर उवाच

अन्येनान्यस्य वै द्यूतं विषमं प्रतिभाति मे ।
एतद्विद्वन्नुपादत्स्व काममेवं प्रवर्त्तताम् ॥२०॥

अर्थ-युधिष्ठिर बोला कि हे दुर्योधन ! यह जूआ मुझको विषम प्रतीत होता है जिसमें दाउ पर कोई लगावेगा और कोई खेलेगा, परन्तु तुम जूआ के जानने वाले यदि इसको स्वीकार करते हो तो अच्छा आइयें खेलना प्रारम्भ करें ॥

इति अष्टत्रिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०—अब युधिष्ठिर का शकुनि के साथ जूआ खेलना और उस का बहुत धन हरण होना कथन करते हैं :—

वैशम्पायन उवाच

उपोह्यमाने द्यूते तु राजानः सर्व एव ते ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां ततः ॥१॥
भीष्मो द्रोणःकृपश्चैव विदुरश्च महामतिः ।
नातिप्रीतेन मनसा तेन्ववर्त्तंत भारत ॥२॥
ते द्वंद्वशः पृथक् चैव सिंहग्रीवा महौजसः ।
सिंहासनानि भूरीणि विचित्राणि च भेजिरे ॥३॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! युधिष्ठिर के जूआ खेलने को तैयार होने पर राजा धृतराष्ट्र सब राजाओं सहित उस सभा में गया. और उसके पीछे भीष्म, द्रोणाचार्य्य, कृपाचार्य्य तथा बुद्धिमान् विदुरजी भी मन में उदास से हुए २ गये, वह सिंह जैसी ग्रीवा वाले प्रतापी राजा लोग सुन्दर सिंहासनों पर एक २ और दो २ यथायोग्य बैठ गये ॥

शुशुभे सा सभा राजन् राजभिस्तैः समागतैः ।
देवैरिव महाभागैः समवेतैस्त्रिविष्टपम् ॥४॥
सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे भास्वरमूर्त्तयः ।
प्रावर्त्तत महाराज सुहृद्द्यूतमनन्तरम् ॥५॥

अर्थ–हे राजन् ! उन सब राजाओं के बैठने पर वह सभा ऐसी शोभायमान प्रतीत होती थी कि मानो स्वर्ग में सब देवता विराजमान हैं, वह सब लोग वेद के जानने वाले, शूरवीर और सब तेजस्वी थे, हे महाराज ! उन सब के बैठजाने पर पुनः जूए का प्रारम्भ हुआ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं बहुधनो राजन् सागरावर्त्तसंभवः ।
मणिहारोत्तरः श्रीमान् कनकोत्तमभूषणः ॥ ६ ॥
एतद्राजन्मम धनं प्रतिपाणोऽस्तिकस्तव ।
येन मां त्वं महाराज धनेन प्रतिदीव्यसे ॥ ७ ॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोले कि हे राजन् ! यह सागरावर्त्त में उत्पन्न हुई मणियों की उत्तम माला जो सुवर्ण जटित और बहुमूल्य भूषण है, उसको मैं दाउ पर लगाता हूं, आपभी कहें इसके बराबर क्या धन दाउ पर लगाते हैं ? ॥

दुर्योधन उवाच

सन्ति मे मणयश्चैव धनानि सुबहूनि च ।
मत्सरश्च न मेऽर्थेषु जयस्वैनं दुरोदरम् ॥ ८ ॥

अर्थ–दुर्योधन बोला कि हे राजन् ! मेरे पास बहुत धन तथा मणि हैं और अपने धन में मुझे कोई ममता नहीं, आप दाउ को जीतें ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो जग्राह शकुनिस्तानक्षानक्षतत्त्ववित ।

जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ९ ॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! तदनन्तर जूए के तत्त्व को जानने वाले शकुनि ने पासे उठालिये और उनको फेंककर युधिष्ठिर से बोला कि मैं जीता ॥

युधिष्ठिर उवाच

मत्तकैतवकेनैव यज्जितोस्मि दुरोदरे ।
शकुनेऽहं तद्दीव्यामो ग्लहमानाः परस्परम् ॥१०॥
सन्ति निष्कसहस्रस्य भाण्डिन्यो भरिताः शुभाः ।
कोशो हिरण्यमक्षय्यं जातरूपमनेकशः ।
एतद्राजन्ममधनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ११ ॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि ! जो आपने मेरे धन को जूए में छल से जीता है तो मैं और धन दाउ पर लगाकर तुम्हारे साथ खेलता हूं, यह सुवर्ण की मोहरें और चांदी से भरे हुए सहस्र कुंभ जिनमें असंख्य धन है, इसी के बराबर आप भी लगावें॥

वैशम्पायन उवाच

कौरवाणां कुलकरं ज्येष्ठं पाण्डवमच्युतम् ।
इत्युक्तः शकुनिः प्राह जितमित्येव तं नृपम् ॥१२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तब कौरवों के वंशधर, कर्तव्य से च्युत न होने वाले सरल राजा युधिष्ठिर के मुख से यह सुनकर शकुनि ने पासे फेंककर कहा कि मैं यह भी जीता॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं सहस्रसमितो वैयाघ्रः सुप्रतिष्ठितः ।
सुचक्रोपस्करः श्रीमान् किंकिणीजालमंडितः ॥१३॥
संह्रादनोराजरथो य इहास्मानुपावहत् ।
जैत्रोरथवरः पुण्यो मेघसागरनिःस्वनः ॥ १४ ॥
अष्टौयंकुररच्छायाः सदश्वा राष्ट्रसंमताः ।
वहन्ति नैषां मुच्येत पदाद्भूमिमुपस्पृशन् ।
एतद्राजन्धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥१५॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि ! यह जड़ाऊ रथ जिस पर हम चढ़कर आये हैं, जो सहस्र रथों के समान, व्याघ्रचर्म से मढ़ा हुआ, सुन्दर पहियों से भूषित, घंटालियों से युक्त, मधुर शब्द वाला, विजय कराने वाला, रथों का राजा, जिसमें श्वेतरंग के श्रेष्ठ आठ घोड़े जुते हुए हैं और जिसके चलने में मेघ तथा समुद्र की गर्जना के समान झंझनाहट होता है और जिसके घोड़े दौड़ते हुए पृथ्वी को नहीं छूते उसको मैं दाउ पर लगाता हूं, आपभी उतना ही धन लगावें ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥१६॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! छली शकुनि ने यह सुनकर पासे फेंके और युधिष्ठिर से कहा कि मैं जीता ॥

युधिष्ठिर उवाच

शतं दासी सहस्राणि तरुण्यो हेमभद्रिकाः ।
कंबुकेयूरधारिण्यो निष्ककंठ्यः स्वलंकृताः ॥१७॥
महार्हमाल्याभरणाः सुवस्त्राश्चन्दनोक्षिताः ।
मणीन् हेमं च बिभ्रत्यश्चतुःषष्टि विशारदाः ॥१८॥
अनुसेवां चरन्तीमाः कुशला नृत्यसामसु ।
स्नातकानाममात्यानां राज्ञां च ममशासनात् ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया॥१९॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि ! मेरी एकलक्ष तरुण दासियां जो सुवर्ण की माला, कंगन, बाजूबन्द, हार आदि अनेक मणिजटित सुवर्ण के आभूषणों तथा चन्दन से सुगन्धित सुन्दर वस्त्रों से अलंकृत, चौंसठकला सम्पन्न, नाचने, सामवेद के गाने तथा बजाने में बड़ी प्रवीण, और जो मेरी आज्ञा से स्नातक ब्राह्मण, मन्त्री तथा राजा लोगों की सेवा करती हैं उनको मैं दाउ पर लगता हूं ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥२०॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! उस छली शकुनि ने यह सुनकर छल के साथ पासे फेंके और युधिष्ठिर से कहा कि यह भी मैं जीता ॥

युधिष्ठिर उवाच

एतावन्ति च दासानां सहस्राण्युत सन्ति मे ।
प्रदक्षिणानुलोमाश्च प्रावारवसनाः सदा ॥२१॥
प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता युवानो मृष्टकुण्डलाः ।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन् भोजयंत्युत ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥२२॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि ! जितनी मेरी दासी हैं उतने ही अर्थात् एकलक्ष और कई सहस्र मेरे दास भी हैं जो सरल स्वभाव, सदा आज्ञा में रहने वाले, सब बड़े ज्ञानी, जितेन्द्रिय, युवा और रेशमी वस्त्र तथा कुण्डल धारण किये हुए दिन रात हाथों में सुवर्ण के जलपात्र लेकर अतिथियों को भोजन कराया करते हैं, मैं उन सब को दाउ पर लगाता हूं ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥२३॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! यह सुनकर वह शकुनि छल से पासे फेंककर युधिष्ठिर से बोला कि मैं जीता ॥

युधिष्ठिर उवाच

सहस्रसंख्या नागा मे मत्तास्तिष्ठन्ति सौबल ।
हेमकक्षाः कृतापीडाः पद्मिनो हेममालिनः ॥२४॥
सुदांता राजवहनाः सर्वशब्दक्षमा युधि ।

ईषादंता महाकायाः सर्वे चाष्टकरेणवः ॥२५॥
सर्वे च पुरभेत्तारो नवमेघनिभा गजाः ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥२६॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि ! मेरे समीप सहस्र मतवाले हाथी जो सुनहरी ज़ंजीर से बंधे तथा सुवर्ण की माला धारण किये हुए, कमल से सुशोभित, भलेप्रकार सुशिक्षित, राजाओं की सवारी के योग्य, युद्ध में किसी शब्द से भयभीत न होने वाले, आठ २ हथिनियों से युक्त, लम्बे दांत और बड़े २ शरीरवाले, शत्रुओं के नगर को तोड़ सकने वाले और जो नवीन मेघ के समान हैं उनको मैं दाउ पर लगाता हूं ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवं वादिनं पार्थं प्रहसन्निव सौबलः ।
जितमित्येवशकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥२७॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! शकुनि ने युधिष्ठिर के मुख से यह सुन, हंसकर पासा फेंका और युधिष्ठिर से कहा कि मैं यह भी जीता ॥

युधिष्ठिर उवाच

रथास्तावंत एवेमे हेमदंडाः पताकिनः ।
हयैर्विनीतैः सम्पन्ना रथिभिश्चित्रयोधिभिः ॥२८॥
एकैकोह्यत्र लभते सहस्रपरमां भृतिम् ।
युध्यतोऽयुध्यतो वापि वेतनं मासकालिकम् ।

एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥२९॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि ! हाथियों की संख्या के समान जो मेरे रथ हैं जिनमें सुनहरी दंडे तथा ध्वजा लगी हुई और शिक्षत घोड़े जुते हुए हैं, जिनपर नियत किये हुए चित्रयोधी अर्थात् विचित्र युद्ध करने वाले रथी युद्ध में और बिना युद्ध भी जो सदा सहस्र २ मुद्रा मासिक वेतन पाते हैं उनको मैं दाउ पर लगाता हूं ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्ते वचने कृतवैरो दुरात्मवान् ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥३०॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! यह सुनकर उस दुरात्मा तथा वैर रखने वाले शकुनि ने पासा फेंककर युधिष्ठिर से कहा कि मैं जीता ॥

युधिष्ठिर उवाच

अश्वांस्तित्तिरिकल्माषान् गांधर्वान् हेममालिनः ।
ददौ चित्ररथस्तुष्टो यांस्तान् गांडीवधन्वने ॥३१॥
युद्धेजितः पराभूतः प्रीतिपूर्वमरिंदमः ।
एतद्राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥३२॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि ! मेरे पास गन्धर्वों के दिये हुए तित्तर जैसे चितकबरे वर्ण वाले सुनहरी माला पहने हुए जो घोड़े हैं जिनको चित्ररथ गन्धर्व ने युद्ध में जीते जाने के कारण अर्जुन को प्रीतिपूर्वक दिये थे, उनको मैं दाउ पर लगाता हूं ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥३३॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! यह सुनकर उस छली शकुनि ने छल से पासा फेंककर कहा कि "यह भी मैं जीता" ॥

युधिष्ठिर उवाच

रथानां शकटानां च श्रेष्ठानां चायुतानि मे ।
युक्तान्येव हि तिष्ठन्ति वाहैरुच्चावचैस्तथा ॥३४॥
एवं वर्णस्य वर्णस्य समुच्चीय सहस्रशः ।
यथा समुदिता वीराः सर्वे वीरपराक्रमाः ॥३५॥
क्षीरं पिबंतस्तिष्ठंति भुंजानाः शालितंडुलान् ।
षष्टिस्तानि सहस्राणि सर्वे विपुलवक्षसः ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥३६॥

अर्थ-युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि ! मेरे पास अयुत=दस हज़ार अच्छे २ रथ तथा छकड़े हैं जिनमें छोटे बड़े घोड़े जुते ही रहते हैं और इसी प्रकार वर्ण २ के साठ सहस्र घोड़े जिनपर सवारी लेनेवाले वीर तथा बड़ी २ छातियों वाले पुष्ट योद्धा जो नित्य चावल और दूध का भोजन करते हैं मैंने संग्रह किये हुए हैं, मैं उन रथ और छकड़ों तथा सवारों सहित घोड़ों को दाउ पर लगाता हूं ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।

जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥३७॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! वह छली शकुनि फिर छल से पासा फेंककर युधिष्ठिर से बोला कि मैं जीता ॥

युधिष्ठिर उवाच

ताम्रलोहैः परिवृतानिधयो ये चतुःशताः ।
पंचद्रौणिक एकैकः सुवर्णस्याहतस्य वै ॥३८॥
जातरूपस्य मुख्यस्य अनर्घेयस्य भारत ।
एतद्राजन्मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥३९॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि ! मेरे पास तांबे तथा लोहे से सब ओर सुरक्षित चारसौ ख़ज़ाने हैं जिनमें पांच २ द्रोण उत्तम सुवर्ण की मोहरें तथा उत्तम चांदी भरी हुई रखी है, उनको मैं दाउ पर लगाता हूं ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥४०॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! उस छली शकुनि ने युधिष्ठिर का उक्त कथन सुनकर पासे फेंके और बोला कि मैं जीता ॥

इति एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ चत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०—अब विदुरजी का धृतराष्ट्र को समझाना और दुर्योधन को त्यागने का उपदेश करना कथन करते हैं :—

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रवर्तिते द्यूते घोरे सर्वापहारिणि ।
सर्वसंशयनिर्मोक्ता विदुरो वाक्यमब्रवीत् ॥१॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! जब उक्त प्रकार से सबका नाशक घोर जूआ होने लगा तब सब संशयों को निवृत्त करने वाले विदुरजी बोले कि :—

महाराज विजानीहि यत्त्वां वक्ष्यामि भारत ।
मुमूर्षोरौषधमिव न रोचेतापि ते श्रुतम् ॥२॥

अर्थ—हे भरतवंशी राजा धृतराष्ट्र ! जो मैं आपसे कहता हूं उसको आप भलेप्रकार सोचें समझें, यद्यपि मैं यह जानता हूं कि जैसे असाध्य रोगी को औषध गुणदायक नहीं होती वैसे ही मेरा कहना आपको रुचिकर नहीं होगा ॥

यद्वै पुरो जातमात्रो रुराव गोमायुवद्वि-
स्वरंपापचेताः । दुर्योधनो भारतानां कु-
लघ्नः सोयं युक्तो भवतां कालहेतुः ॥ ३ ॥

अर्थ—अब मैंने निश्चयपूर्वक जानलिया कि इस पापी दुर्योधन ने उत्पन्न होते ही जो गीदड़ के रोने जैसा बेसुरा शब्द किया था

उसका फल अब प्रत्यक्ष दीखता है कि यही दुर्योधन भारतों के कुल का नाशक और आप लोगों के काल=मौत का हेतु होगा ॥

गृहे वसन्तं गोमायुं त्वं वै मोहान्न बुध्यसे ।
दुर्योधनस्य रूपेण शृणु काव्यां गिरं मम ॥४॥

अर्थ–आपने इस दुर्योधन को मोह से अपने घर में अपना पुत्र नहीं किन्तु एक गीदड़ पाला है, सो इसके विषय में जो कुछ करना उचित है वह मैं तुम्हें शुक्र की कही हुई नीति के अनुसार कहता हूं, आप मेरे कथन को सुनें :—

मधु वै माध्विको लब्ध्वा प्रपातं नैव बुध्यते ।
आरुह्य तं मज्जति वा पतनं चाधिगच्छति ॥५॥
सोयं मत्तोक्षद्यूतेन मधुवन्न परीक्षते ।
प्रपातं बुध्यते नैव वैरं कृत्वा महारथैः ॥६॥

अर्थ–जैसे मधु=शहद का व्यापार करने वाला शहद लगा हुआ देखकर लोभवशात् उसे लेने को आश्रय रहित पर्वत के शिखर पर चढ़जाता है, परन्तु वह शहद के लोभ में रत हुआ यह नहीं जानता कि मैं इसपर चढ़कर गिरूंगा और अंत में उसकी यही दशा होती है कि वह गिरता है, इसी प्रकार यह दुर्योधन अपना गिरना न जानता हुआ जूए के धन को मधु समझकर मतवाला हुआ और इन महारथियों के साथ जूआ खेलकर वैर बढ़ा रहा है ॥

विदितं मे महाप्राज्ञ भोजेष्वेवासमंजसम् ।
पुत्रं संत्यक्तवान्पूर्वं पौराणां हितकाम्यया ॥७॥

अंधका यादवा भोजाः समेताः कंसमत्यजन् ।
नियोगात्तु हते तस्मिन् कृष्णेनामित्रघातिना ।
एवं ते ज्ञातयः सर्वे मोदमानाः शतंसमाः ॥८॥

अर्थ—हे बुद्धिमान् राजन् ! मुझे एक इतिहास याद है कि पूर्वकाल में राजा भोज के वंश में एक राजा ने पुरवासियों के हित की कामना से अपने अयोग्य पुत्र "असमंजस" को त्याग दिया था, इसके अतिरिक्त सब अंधक, यादव तथा भोजवंशियों ने भी "कंस" को त्यागा जिसका दैवयोग से कृष्ण ने वध किया था, देखिये उसके मारे जाने पर उसके सब भाई बन्धु सौ वर्ष तक कुशलपूर्वक प्रसन्न रहे ॥

त्वन्नियुक्तः सव्यसाची निगृह्णातु सुयोधनम् ।
निग्रहादस्य पापस्य मोदन्तां कुरवः सुखम् ॥९॥
काकेनेमांश्चित्रवर्हान् शार्दूलान् क्रोष्टुकेन च ।
क्रीणीष्व पांडवान् राजन् मामज्ञीः शोकसागरे ॥१०॥

अर्थ—इसी प्रकार आप अर्जुन को आज्ञा दें कि वह पापी दुर्योधन को पकड़ लेवे, ऐसा करने से सब कौरवों को बड़ा सुख होगा, हे धृतराष्ट्र ! आप इस काक तथा गीदड़ रूपी दुर्योधन के बदले इन सुन्दर मयूर और शार्दूलरूप पाण्डवों को मोल लेलें और अपने को शोकसागर में न डुबावें ॥

त्यजेत्कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनदपस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥११॥

अर्थ–पुरुष को उचित है कि कुल के लिये एक मनुष्य को अर्थात् एक आदमी के त्याग से कुल बचजाय तो उसको त्यागदे, तथा ग्राम के लिये एक कुल को, देश के लिये एक ग्राम को और अपनी आत्मा की रक्षा के लिये पृथिवी का त्याग श्रेष्ठ है ॥

सर्वज्ञः सर्वभावज्ञः सर्वशत्रुभयंकरः ।
इतिस्म भाषते काव्यो जंभत्यागे महासुरान् ॥१२॥

अर्थ—सर्वज्ञ, सबकी चित्तवृत्ति जानने वाले तथा सब शत्रु. ओं को भय देने वाले शुक्र–आचार्य ने असुरों को उपरोक्त वचन कहकर उपदेश किया था कि यह तुम्हारा पुत्र "जंभ" तुम सबका शत्रु और सबको भय दिलाने वाला होगा, एवं "जंभ" का उनसे त्याग करादिया था, इसीप्रकार आपको भी इस दुर्योधन को त्याग देना चाहिये ॥

हिरण्यष्ठीविनः कांश्चित्पक्षिणो वनगोचरान् ।
गृहे किल कृतावासान् लोभाद्राजा न्यपीडयत् ।
सचोपभोगलोभान्धो हिरण्यार्थी परंतप ॥१३॥
आयतिं च तदात्वं च उभे सद्यो व्यनाशयत् ।
तदर्थकामस्तद्वत्त्वं मा द्रुहः पाण्डवान्नृप ।
मोहात्मा तप्स्यसे पश्चात्पत्रिहा पुरुषो यथा ॥१४॥

अर्थ–हे राजन्! किसी राजा ने सुवर्ण के लोभ से किन्हीं पक्षिओं को जो वन में घोंसला बनाकर रहते और नित्य सुवर्ण उगलते थे मारडाला, ऐसा करने से उस राजा का यह लोक और

परलोक दोनों नाश होगये, अतएव आप भी पाण्डवों से इनका धन छीनने के लिये द्रोह न कीजिये नहीं तो आपको भी इस भूल से उस राजा के समान दुःख होगा ॥

जातं जातं पाण्डवेभ्यः पुष्पमादत्स्व भारत ।
मालाकारइवा रामे स्नेहं कुर्वन् पुनः पुनः ॥१५॥
वृक्षानंगारकारीव मैनान्धाक्षीः समूलकान् ।
मागमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥१६॥
समवेतान् हि कः पार्थान् प्रतियुध्येत भारत ।
मरुद्भिः सहतो राजन्नपि साक्षान्मरुत्पतिः ॥१७॥

अर्थ– हे भरतवंशी राजन्! आपको उचित है कि जैसे माली बागों में फूलों को बड़े स्नेह से तोड़लेता है इसी प्रकार आपभी कामरूपवृक्ष के समान इन पाण्डवों में से गुणरूप पुष्प चुनलीजिये, आप अग्नि के समान इन वृक्षों को समूल नष्ट करके इनके अंगारे=कोयले न करें, आप इन पाण्डवरूप वृक्षों में जूआरूप अग्नि लगाकर, पुत्र मंत्रियों तथा सेना सहित क्यों मरना चाहते हैं, हे राजन्! याद रखिये कि यदि इन्द्र भी मरुद्गणों सहित पाण्डवों से युद्ध करे तो वह भी जीवित नहीं रहसकता ॥

द्यूतं मूलं कलहस्याभ्युपैतिमिथोभेदं
महते दारुणाय। तदास्थितोयं धृतरा-
ष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनः सृजते वैरमुग्रम् ॥१८॥

अर्थ–हे राजा धृतराष्ट्र! यह जूआ कलह की जड़ तथा आपस

में बड़ी भयानक फूट डालने वाला है, आपका पुत्र दुर्योधन जूआ नहीं खेलता किन्तु उग्र वैर की जड़ जमा रहा है ॥

प्रातिपेयाः शान्तनवा भैमसेनाः सबाह्लिकाः ।
दुर्योधनापराधेन कृच्छ्रं प्राप्स्यंति सर्वशः ॥१९॥
दुर्योधनोमदेनैषक्षेमंराष्ट्राद्व्यपोहति ।
विषाणं गौरिव मदात्स्वयमारुजतेत्मनः ॥२०॥

अर्थ–हे राजन् ! इसी दुर्योधन के अपराध से प्रतीत, शन्तनु तथा भीमसेनवंशी यह कौरव और बाह्लीकवंशी यह अन्य क्षात्रिय सब महाकष्ट भोगेंगे, यह दुष्ट मदोन्मत्त होकर क्षेमता को देश से इस प्रकार बाहर निकाले देता है जैसे गाय मतवाली होने पर अपने सींगों को आपही पीड़ित करती है ॥

यश्चित्तमन्वेति परस्य राजन् वीरः कविः
स्वामवमन्यद्दृष्टिम् । नावं समुद्रे इव
बालनेत्रामारुह्य घोरे व्यसने निमज्जेत् ॥२१॥

अर्थ–हे राजन् ! जो मनुष्य बुद्धिमान्, वीर और पण्डित होकर दूसरे की मति पर चलता और अपनी बुद्धि का तिरस्कार करता है वह दुखरूप समुद्र में इस प्रकार गोते खाता है जैसे अज्ञानी मल्लाह की नौका पर चढ़कर मनुष्य घोर समुद्र में डूबता है ॥

दुर्योधनोग्लहते पाण्डवेन प्रीयायसे त्वं
जयतीति तच्च । अतिनर्माजायते संप्रहारो
यतो विनाशः समुपैति पुंसाम् ॥ २२ ॥

अर्थ–अब तो आप यह जानकर प्रसन्न होते हैं कि मेरा पुत्र दुर्योधन युधिष्ठिर को जूए में जीत रहा है और इस समय यह आपको विनोद दीख पड़ता है परन्तु आपको स्मरण रहे कि यह बहुत हंसी अन्त में युद्धरूप होकर मनुष्यों का नाश करेगी ॥

आकर्षस्तेऽवाक्फलः सुप्रणीतोहृदि प्रौढो-
मंत्रपदः समाधिः । युधिष्ठिरेण कलहस्त-
वायमाचिंतितोऽभिमतः स्वबन्धुना ॥२३॥

अर्थ–आपने यह बुरे फल लाने वाला जूआ ही एक अपने हृदय में बड़ा भारी राजमन्त्र स्थिर करलिया है, परन्तु आप याद रक्खें कि यह आपने अचानक ही अपने बन्धु युधिष्ठिर के साथ कलह ठान ली है ॥

प्रातिपेयाः शान्तनवाः शृणुध्वं काव्यां वाचं
संसदि कौरवाणां । वैश्वानरं प्रज्वलितं सु-
घोरं मायास्यध्वं मदमनुप्रपन्नाः ॥ २४ ॥

अर्थ–हे कौरवों की सभा में विराजमान प्रतीप तथा शन्तनु वंशियो! आपतो सब दीर्घदर्शी हैं परन्तु मैं शुक्र की कही नीति कहता हूं उसको सुनो, आप लोग इस मन्दबुद्धि दुर्योधन की मति पर चलकर अपने आपको प्रज्वालित घोर अग्नि में मत जलाओ ॥

यदा मन्युं पाण्डवोऽजातशत्रुर्न संयच्छेद-
क्षमदाभिभूतः । वृकोदरः सव्यसाचीय-
मौच कोऽत्र द्वीपः स्यात्तुमुलेवस्तदानीम् ॥२५॥

अर्थ–भला !! आप लोग यह तो बतावें कि जब इस जूए के मद से मतवाले होकर युधिष्ठिर तथा भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव क्रोध को न रोककर घोर युद्ध करेंगे तब आप लोगों की इस समस्त द्वीप में कौन रक्षा करेगा ॥

महाराज प्रभावस्त्वंधनानां पुराद्यूतान्
मनसायावदिच्छेः । बहुवित्तान्पाण्डवां-
श्रेज्जयस्त्वं किं ते तत्स्याद्वसुविन्देह पार्थान् ।।२६।।

अर्थ–तुम्हारे जूआ खेलने से पहले किस बात की कमी थी और जो अब तुम जूआ खेलकर पाण्डवों का धन जीत भी लोगे तो तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? तुम सबको तो पाण्डवों को ही अपना धन जानना चाहिये ॥

जानीमहे देवितं सौबलस्य वेदद्यूते निकृतिं
पार्वतीयः । यतः प्राप्तः शकुनिस्तत्र यातु
मा युयुधो भारत पाण्डवेयान् ।। २७ ।।

अर्थ–मैं इस पहाड़ी शकुनि को भलेप्रकार जानता हूं यह छल से जूआ खेलना अच्छी तरह जानता है, सो हे भारतीय राजन् ! इसको जहां से आया है वहीं जाने दो, और पाण्डवों को मत लड़ाओ ॥

इति चत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकचत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०—अब दुर्योधन का क्रोधित होकर विदुरजी को अप शब्द बोलना और विदुरजी का अनेक हितकारी बातें कहकर चुप हो जाना कथन करते हैं :—

दुर्योधन उवाच

परेषामेव यशसा श्लाघसे त्वं सदा क्षत्तः
कुत्सयन् धार्त्तराष्ट्रान्। जानीमहे विदुर यत्
प्रियस्त्वं बालानिवास्मानवमन्यसे नित्यमेव॥१॥

अर्थ—दुर्योधन बोला कि हे विदुर ! तुम सदैव हम लोगों की निन्दा करके दूसरों के यश की प्रशंसा किया करते हो, मैं भलेप्रकार जानता हूं जिन लोगों के हित में रत होकर तुम हम लोगों का मूर्खों का सा अपमान करते हो ॥

सविज्ञेयः पुरुषोऽन्यत्र कामो निन्दा प्रशंसे-
हि तथा युनक्ति। जिह्वा मनस्ते हृदयं व्यन-
क्तिज्यायोऽन्तरात्मन् मनसः प्रातिकूल्यम् ॥२॥

अर्थ—जो मनुष्य अपने स्वामी की निन्दा और दूसरों की स्तुति करता है उसको समझना चाहिये कि यह अपने स्वामी को नहीं चाहता, तुम्हारी जिह्वा और मन ही तुम्हारे अन्तःकरण की भारी द्वेषता को प्रकट करते हैं ॥

उत्संगे च व्यालइवाहितोसि मार्जारवत्
पोषकं चोपहंसि। भर्तृघ्नंत्वां नहि पापीय-
आहुस्तस्मात्क्षत्तः किंनविभेषि पापात् ॥३॥

अर्थ—हे विदुर ! तुम सर्प के समान गोद में और बिल्ली के समान हमारे घर में रहकर अपने पालने वालों का ही हनन करते हो, स्वामी के साथ द्रोह करना बड़ा पाप है परन्तु तुम्हें कोई पापी नहीं कहता क्या इसीलिये तुम इस पाप से भयभीत नहीं होते ॥

जित्वा शत्रून् फलमाप्तं महद्वै मास्मान् क्षत्तः
परुषाणीहवोचः । द्विषद्भिस्त्वं संप्रयोगा-
भिनन्दीमुहुर्द्वेषं यासिनः संप्रयोगात् ॥४॥

अर्थ—हे विदुर ! हमने अपने शत्रुओं को जीतकर बड़ा लाभ उठाया है तुम मुझसे यहां खोटे बचन मत कहो, हमसे मित्रता करके शत्रु से मेल और अन्तःकरण में हमसे द्वेष रखना तुम्हें उचित नहीं ॥

अमित्रतां याति नरोऽक्षमं ब्रुवन्निगूहतेगुह्य-
ममित्रसंस्तवे । तदाश्रितोऽपत्रप किन्नु
बाधसे यदिच्छसि त्वं तदिहाभिभाषसे ॥५॥

अर्थ—जो मनुष्य क्षमा न करने योग्य बचन कहता और शत्रु की स्तुति के समय उसके दोषों को छिपा रखता है उसको शत्रु जानना चाहिये, शत्रु की श्लाघा करने से तुम्हारा छिपा हुआ बैर भलेप्रकार प्रकट होता है. हे निर्लज्ज ! तुम्हें लज्जा नहीं

आती जो तुम हमारे आश्रित होकर हमारे विरुद्ध हमसे जो चाहे सो कहते हो ॥

मा नोवमंस्था विद्म मनंस्तवेदं शिक्षस्वबुद्धिं
स्थविराणां सकाशात् । यशो रक्षस्व विदुर
संप्रणीतं मा व्याप्रतः परकार्य्येषुभूस्त्वम् ॥६॥

अर्थ—हे विदुर ! अब तुम हमारा अपमान न करो हम तुम्हारे मन की बात भलेप्रकार जानते हैं, वृद्ध पुरुषों के समीप बैठकर बुद्धि सीखो, अपनी बनी हुई प्रतिष्ठा को धूल में मत मिलाओ, और दूसरों के कार्य में हस्ताक्षेप मत करो ॥

अहं कर्त्तेति विदुर माचमंस्थामानोनित्यं
परुषाणीहवोचः । नत्वां पृच्छामि विदुर
यद्धितंमेस्वास्ति क्षत्तर्मातितिक्षून्क्षिणुत्वम् ॥७॥

अर्थ—हे विदुर ! इस सबका कर्त्ता मैं हूं, ऐसा अपने आपको मानकर तुम्हें हमारा अपमान करना और कठोर बचन बोलना अनुचित है, मैं तुमसे कोई हित की सलाह नहीं पूछता, हम लोग तुम्हारी बहुत कठोर बातें सह चुके हैं अब तुम हमें बार२ दुःख मत दो ॥

एकःशास्ता न द्वितीयोस्ति शास्ता गर्भे शयानं
पुरुषं शास्ति शास्ता । तेनानुशिष्टः प्रवणादि
वांभो यथा नियुक्तोस्मि तथा भवामि ॥८॥

अर्थ—इस संसार में शासन करने वाला एक ईश्वर ही है

दूसरा कोई नहीं, वही गर्भ में भी बालक को शासन करता, और उसी की प्रेरणा से मैं भी यह कर्म कर रहा हूं, जैसे कि ढालू पृथ्वी पर पानी आपही आप बहता चला जाता है ॥

भिनत्ति शिरसा शैलमहिं भोजयते च यः ।
धीरेव कुरुते तस्य कार्याणामनुशासनम् ॥९॥
यो बलादनुशास्तीह सोऽमित्रं तेन विन्दति ।
मित्रतामनुवृत्तं तु समुपेक्षेत पण्डितः ॥१०॥

अर्थ–जो मनुष्य सांप को खिलाता और पहाड़ को सिर से गिराता है उसको वैसा करने की प्रेरणा उसका अन्तरात्मा ही करता है किन्तु जो मनुष्य बलपूर्वक किसी को किसी काम में लगाता या हटाता है वह वृथा उसका वैरी बनता है, इसीलिये पण्डित लोग अपने मित्र को बलपूर्वक कभी शिक्षा नहीं करते ॥

प्रदीप्य यः प्रदीप्ताग्निं प्राक्चिरं नाभिधावति ।
भस्मापि न स विन्देत शिष्टं क्वचन भारत ॥११॥

अर्थ–हे भरतवंशी ! जो मनुष्य कपूर में आग लगाकर और शीघ्र ही उसको बुझाने का यत्न न करे तो उस कपूर की फिर उसे राख भी नहीं मिलती ॥

न वासयेत्पारवर्ग्यं द्विषंतं विशेषतः क्षत्त-
रहितं मनुष्यम् । सयत्रेच्छसि विदुर तत्र
गच्छ सुसांत्विताह्यसतीस्त्री जहाति ॥१२॥

अर्थ–हे विदुर ! जो मनुष्य शत्रुओं से मिला हुआ भीतर

से द्वेष रखकर सदा स्वामी का बुरा चाहता हो उसको अपने देश में बसाना उचित नहीं, इसलिये जहां तू जाना चाहता है वहां चला जा, देखो व्यभिचारिणी स्त्री जो दूसरे पति से मिली रहती है वह भी बहुत समझाने बुझाने पर अपने व्यभिचार को त्याग देती है परन्तु तुम ऐसे निर्लज्ज हो कि अपने गुप्त स्वामी से ही प्रेम रखते हो ॥

विदुर उवाच

एतावतापुरुषं ये त्यजन्ति तेषां सख्य
मंतवद्ब्रूहि राजन्। राज्ञां हि चित्तानि
परिप्लुतानि सांत्वं दत्वामुसलैर्घातयन्ति ॥१३॥

अर्थ–विदुरजी बोले कि हे राजन् ! जो मनुष्य इतनी बात पर ही दूसरे का त्याग करता है उसकी मित्रता किसी के साथ भी सदैव नहीं रहती, अब मुझे निश्चय होगया कि राजा लोगों के चित्त चंचल होते हैं, पहले तो वह मिलकर मित्र बनाते और पीछे उसी को मूसलों से मारते हैं ॥

अबालत्वं मन्यसे राजपुत्र बालोहमि-
त्येव सुमंदबुद्धे। यः सौहृदे पुरुषं स्था-
पयित्वा पश्चादेनं दूषयते स बालः ॥१४॥

अर्थ–हे मन्दबुद्धि राजपुत्र ! तुम मुझको अज्ञानी जानकर अपने को पण्डित समझते हो, परन्तु अज्ञानी वही है जो पहले तो किसी को सुहृद् माने और पीछे उसी में दोष लगाकर उसकी बात का विश्वास न करे ॥

न श्रेयसे नीयते मंदबुद्धिः स्त्री श्रोत्रिय-
स्येव गृहेप्रदुष्टा । ध्रुवं न रोचेद्भरतर्षभस्य
पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ॥१५॥

अर्थ–मन्दबुद्धि पुरुष किसी प्रकार भी कल्याणकारी कार्य्य में नहीं लगाया जासकता, जैसे वेदपाठी के घर में भी दुष्ट स्त्री योग्य कर्म नहीं करती, हे भरतसन्तान ! निःसन्देह तुम्हें हमारा हितकारी उपदेश रुचिकर नहीं, जैसे कुमारी स्त्री को साठवर्ष का पति रुचिकर नहीं होता ॥

अतः प्रियं चेदनुकांक्षसेत्वं सर्वेषु कार्येषु
हिताहितेषु । स्त्रियश्च राजन् जडपंगु
कांश्च पृच्छत्वंवैतादृशांश्चैवसर्वान् ॥१६॥

अर्थ–हे राजा दुर्योधन ! जो तुम्हें हितकर तथा अहितकर सब काम अपनी इच्छानुसार ही करने हैं तो हमसे सलाह मत लो, स्त्री, मूर्ख तथा लूले लंगड़ों से पूछकर सब काम अपनी इच्छानुसार करो ॥

लभ्यते खलु पापीयान्नरोनुप्रियवागिह ।
अप्रियस्य हि पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥१७॥

अर्थ–इस संसार में मुंह देखी प्यारी बात कहने वाले बहुत पापी पुरुष मिलेंगे परन्तु अप्रिय जिसका परिणाम हितकारी हो ऐसे वाक्य के वक्ता और श्रोता संसार में दुर्लभ हैं ॥

यस्तु धर्मे परश्चस्याद्धित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये ।

अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥१८॥

अर्थ–वही मनुष्य राजा की सहायता करसकता है जो उसके प्रिय अप्रिय की पर्वाह न कर धर्म को श्रेष्ठ मानता हुआ परिणाम में हित करने वाले अप्रिय वचन कहता है ॥

अव्याधिजं कटुजं तीक्ष्णमुष्णंयशोमुषं
परुषं पूति गन्धिम्। सतां पेयं यन्न पिबं-
त्यसंतो मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥१९॥

अर्थ–बुद्धिमान् रोगी पुरुष कड़वी, तीक्ष्ण, उष्ण, निन्दा कराने वालीं, कठोर तथा दुर्गन्धयुक्त औषध पीकर नीरोग होजाता है, हे महाराज! इसी प्रकार आपभी हमारे कटु आदि गुणों वाले औषधरूप वाक्य पीकर इस कलहरूप रोग को शान्त करें ॥

वैचित्रवीर्यस्य यशोधनं च वांछाम्यहं
सहपुत्रस्य शश्वत्। यथा तथा तेस्तुन-
मश्च तेस्तु ममापि च स्वस्तिदिशं तु विप्राः ॥२०॥

अर्थ–परमात्मा ऐसी कृपा करें कि तुम्हारा कल्याण उसी प्रकार हो जैसे मैं धृतराष्ट्र के यश और धन का कल्याण चाहता रहता हूं, तुम्हें अब मेरा नमस्कार है और ब्राह्मण लोग मेरे कल्याण के लिये आशीर्वाद दें ॥

आशीविषान्नेत्र विषान् कोपयेन्नच पण्डितः।
एवं तेहं वदामिदं प्रयतः कुरुनन्दन ॥२१॥

अर्थ–हे कुरुनन्दन दुर्योधन ! पण्डित लोग फण में विष रखने वाले सर्पों तथा नेत्रों में विष रखने वाले पुरुषों को क्रोध नहीं दिलाते, बस मैं इतना कहकर अब चुप होजाता हूं ।

इति एकचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ द्विचत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०–अब पुनः जूए का प्रारम्भ होकर युधिष्ठिर का सर्वस्व हारना कथन करते हैं :—

शकुनि उवाच

वहुवित्तं पराजैषीः पाण्डवानां युधिष्ठिर ।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदितेस्त्यपराजितम् ॥१॥

अर्थ–शकुनि बोला कि हे युधिष्ठिर ! आप पाण्डवों का बहुत धन हारचुके हैं, अब जो कुछ विना हारा हुआ अपना निज का धन आपके समीप हो वह भी लगाइये ॥

युधिष्ठिर उवाच

ममवित्तमसंख्येयं यदहं वेद सौबल ।
अथत्वं शकुने कस्माद्वित्तं समनुपृच्छसि ॥२॥
अयुतं प्रयुतं चैव शंकुं पद्मं तथार्वुदं ।

खर्वं शंखं निखर्वं च महापद्मं च कोटयः ॥३॥
मध्यं चैव परार्धं च स परं चात्र पण्यताम् ।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥४॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि ! मेरे धन की संख्या नहीं होसकती, मैं हारे और विनाहारे धन को भलेप्रकार जानता हूं परन्तु तुम्हें इस बात के पूछने की क्या आवश्यकता हुई, अब मेरे पास जो अयुत, प्रयुत, कोटि, अर्बुद, पद्म, खर्व, निखर्व, महापद्म, शंख, मध्य, परार्ध और इससे भी अधिक जितना धन है उस सबको दाउ पर लगाता हूं, आप पासे फेकें ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥५॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! यह सुनकर उस खिलाड़ी शकुनि ने पासा फेंका और बोला कि मैं यह सब धन जीता ॥

युधिष्ठिर उवाच

गवाश्वं बहुधेनूकमसंख्येयमजाविकम् ।
यत्किंचिदनुपर्णाशां प्राक्सिंधोरपि सौबल ।
एतन्ममधनं सर्वं तेनदीव्यम्यहं त्वया ॥६॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोले कि हे शकुनि ! अब मेरे पास जो बैल, घोड़े, गौ और असंख्य भेड़ बकरियें जो पर्णाशानदी तथा समुद्र के समीप हैं, उन सबको भी मैं दाउ पर लगाता हूं ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥७॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! उस छली शकुनि ने यह प्रण सुनकर पासे फेंके और युधिष्ठिर के प्रति बोला कि मैं जीता ॥

युधिष्ठिर उवाच

पुरंजनपदोभूमिरब्राह्मण धनैः सह ।
अब्राह्मणाश्च पुरुषा राजन् शिष्टंधनं मम ।
एतद्राजन्ममधनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥८॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोला कि हे राजन् ! नगर, देश, पृथिवी और ब्राह्मणों के धन से अतिरिक्त सब वर्णों का धन तथा ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य सब मनुष्यों को दाउ पर लगाता हूं, यह सब मेरा शेष धन है, आप पासे फेंकें ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥९॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! वह शकुनि उक्त प्रण को सुनकर प्रसन्न हुआ और पासे फेंककर बोला कि मैं जीता ॥

युधिष्ठिर उवाच

राजपुत्रा इमे राजन् शोभन्ते यैर्विभूषिताः ।

कुण्डलानि च निष्काश्च सर्वं राजविभूषणम् ।
एतन्ममधनं राजंस्तेनदीव्याम्यहं त्वया ॥१०॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि ! यह मेरे भाई राजपुत्र जिन कुण्डलादि आभूषणों से विभूषित हुए बैठे हैं इन सब आभूषणों को दाउ पर लगाता हूं, क्योंकि यह सब राजा होने से मेरा धन है ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥११॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! यह सुनकर शकुनि ने फिर पासे फेंके और कहा कि मैं जीता ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्यामो युवा लोहिताक्षः सिंहस्कन्धो महाभुजः ।
नकुलो ग्लह एवैको विध्येतन्ममतद्धनम् ॥१२॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि ! मेरा भाई नकुल जो श्यामवर्ण, युवावस्था को प्राप्त, जिसके लाल नेत्र, सिंह के समान कंधे और जिसकी बाहें लंबी हैं उसको दाउ पर लगाता हूं ॥

शकुनि उवाच

प्रियस्ते नकुलो राजन् राजपुत्रो युधिष्ठिर ।
अस्माकं वशतां प्राप्तो भूयः केनेह दीव्यसे ॥१३॥

अर्थ–शकुनि बोला कि हे राजा युधिष्ठिर ! इस अपने प्रिय

भाई राजकुमार नकुल को हारकर फिर हमारे साथ क्या दाउ लगाकर जूआ खेलोगे ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु तानक्षान् शकुनिः प्रत्यदीव्यत ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥१४॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! युधिष्ठिर से उक्त बचन कहकर शकुनि ने फिर पासे फेंके और बोला कि मैं जीता ॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं धर्मान् सहदेवोनुशास्ति लोकेह्यास्मिन्
पण्डिताख्यांगतश्च । अनर्हता राजपुत्रेण
तेन दीव्याम्यहं चाप्रियवत् प्रियेण ॥१५॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि ! अब मेरा यह भाई सहदेव जो लोक में धर्म का उपदेश करने वाला तथा पण्डित विख्यात है, यद्यपि यह इस योग्य नहीं कि दाउ पर लगाया जावे तथापि आज इस अपने प्रिय को अप्रिय के समान दाउ पर लगाता हूं ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १६ ॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! वह शकुनि यह सुन और पासे फेंककर बोला कि मैं जीता ॥

शकुनि उवाच

माद्रीपुत्रौ प्रियौ राजंस्तवेमौ विजितौ मया ॥
गरीयांसौ तु ते मन्ये भीमसेनधनंजयौ ॥१७॥

अर्थ–शकुनि बोला कि हे राजा युधिष्ठिर! मैंने आपके प्रिय माद्री के दोनों पुत्र नकुल तथा सहदेव तो जीत लिये, अब यह भीमसेन और अर्जुन आपके पास बड़े धनरूप हैं इनको भी दाउ पर रखकर खेलिये ॥

युधिष्ठिर उवाच

अधर्मं चरसे नूनं यो नावेक्षसि वै नयम् ।
यो नः सुमनसां मूढ विभेदं कर्तुमिच्छसि ॥१८॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि! तू बड़ा मूढ है जो अधर्म करता हुआ नीति को नहीं देखता और हम एकचित्त वाले भाइयों में फूट डालना चाहता है ॥

शकुनि उवाच

गर्त्ते मत्तः प्रपतते प्रमत्तः स्थाणुमृच्छति ।
ज्येष्ठो राजन् वरिष्ठोसि नमस्ते भरतर्षभ ॥१९॥
स्वप्ने तानि न दृश्यन्ते जाग्रतो वा युधिष्ठिर ।
कितवा यानि दीव्यंतः प्रलपन्त्युत्कटाइव ॥२०॥

अर्थ–शकुनि बोला कि हे युधिष्ठिर! आप बड़े हैं इसलिये मैं आपको नमस्ते करके कहता हूं कि धन के मद में मत्त हुआ २ अधर्म करने वाला मनुष्य गढ़े में गिरता और नरकगामी होता है,

हे युधिष्ठिर ! जिन बातों को मतवाले ज्वारी लोग जूआ खेलते हुए कहते हैं वह बातें स्वप्न अथवा जागृत अवस्था में भी ध्यान में नहीं आसकतीं ॥

युधिष्ठिर उवाच

योनः संख्ये नौरिव पारनेता जेता रिपूणां
राजपुत्रस्तरस्वी । अनर्हता लोकवीरेण
तेन दीव्याम्यहं शकुने फाल्गुनेन ॥ २१ ॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि ! अब मैं अपने प्रतापी भाई अर्जुन को जो हम सबको युद्ध में नौका की भांति पार उतारने वाला और शत्रुओं को जीतने वाला है, यद्यपि वह इस योग्य नहीं परन्तु अब मैं उसी वीर को दाउ पर लगाता हूं ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥२२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! युधिष्ठिर का उक्त प्रण सुनकर उस छली शकुनि ने पासा फेंककर कहा कि मैं जीता ॥

शकुनि उवाच

अयं मया पाण्डवानां धनुर्धरः पराजितः
पाण्डवः सव्यसाची। भीमेन राजन् दयि-
तेन दीव्य यत्कैतवं पाण्डव तेऽवशिष्टम् ॥२३॥

अर्थ–शकुनि बोला कि हे युधिष्ठिर ! मैं पाण्डवों के बड़े धनुर्धारी

अर्जुन को तो जीत चुका, अब आपके पास भीमसेनरूपी धन शेष रह गया है उसको भी दाउ पर लगावें, वह धन भी खिलाड़ियों से जीतने योग्य है ॥

युधिष्ठिर उवाच

यो नो नेता यो युधि न प्रणेता यथा वज्री-
दानवशत्रुरेकः । तिर्यक्प्रेक्षीसन्नतभ्रूर्म-
हात्मा सिंहस्कंधो यश्च सदात्यमर्षी ॥२४॥
बलेन तुल्यो यस्य पुमान्न विद्यते गदाभृता-
मग्र्य इहारिमर्दनः । अनर्हता राजपुत्रेण
तेन दीव्याम्यहं भीमसेनेन राजन् ॥२५॥

अर्थ—युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि! अब मैं अपने भीमसेन नामक गदाधारियों में श्रेष्ठ भाई को जो अकेला ही हम सब का नेता, हमको युद्ध में राक्षसों के शत्रु इन्द्र के समान पार करने वाला, क्रोधी, महात्मा, महाबलवान, सिंहसमान कंधों वाला, शत्रुओं का नाशक और निरूपम पराक्रमधारी जिसकी भोहें टेढ़ी और जो तिरछी चितवन वाला है, हे राजन ! यद्यपि वह इस योग्य नहीं तथापि मैं उसको दाउ पर लगाता हूं ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥२६॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन ! वह शकुनि यह सुनकर और पासे फेंककर बोला कि मैं जीता ॥

शकुनि उवाच

बहुवित्तं पराजैषीर्भ्रातृँश्च सहयद्धिपान् ।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदितेरत्यपराजितम् ॥२७॥

अर्थ–शकुनि बोला कि हे युधिष्ठिर ! आप हाथी, घोड़े और सब धन सहित अपने भाइयों को तो हारचुके, अब जो कुछ धन आपके पास हारा हुआ न हो उसे भी दाउ पर लगाइये ॥

युधिष्ठिर उवाच

अहं विशिष्टः सर्वेषां भ्रातृणां दयितस्तथा ।
कुर्यामहं जितः कर्म स्वयमात्मन्युपप्लुते ॥२८॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि ! मैं सब भाइयों का प्यारा और सबमें श्रेष्ठ हूं, परन्तु अब मेरी आत्मा पर विपत्ति आगई है, इसलिये अब मैं अपने आपको ही दाउ पर लगाता हूं ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥२९॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! उस छली शकुनि ने यह सुनकर पासा फेंका और कहा कि मैं जीता ॥

शकुनि उवाच

एतत्पापिष्ठमकरोर्यदात्मानं पराजयेः ।
शिष्टे सति धने राजन् पाप आत्मपराजयः ॥३०॥

अर्थ–तदनन्तर शकुनि बोला कि हे युधिष्ठिर ! यह तुमने

बड़ा नीचकर्म किया जो कि एक धन के शेष रहजाने पर भी अपने आपको हार दिया, हे राजन् ! धन के शेष रहने पर अपने को हारना पाप है ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वामताक्षस्तान्ग्लहेसर्वानवस्थितान् ।
पराजयं लोकवीरानुक्त्वा राज्ञां पृथक् पृथक् ॥३१॥
अस्ति ते वै प्रिया राजन् ग्लह एकोऽपराजितः ।
पणस्व कृष्णां पांचालीं तयात्मानं पुनर्जय ॥३२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तदनन्तर जूए का खिलाड़ी शकुनि उन हारे हुए लोकप्रसिद्ध पाण्डवों की हार का वृत्तान्त एक २ कर सब राजाओं के आगे वर्णन करके बोला कि हे युधिष्ठिर ! तुम्हारी स्त्री पांचाली एक दाउ पर लगाने को और शेष है उसको दाउ पर लगाकर फिर अपने आपको जितवा लीजिये ॥

युधिष्ठिर उवाच

नैव ह्रस्वा न महती न कृशा नातिरोहिणी ।
नीलकुंचितकेशी च तया दीव्याम्यहं त्वया ॥३३॥
शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगंधया ।
शारदोत्पल सेविन्या रूपेण श्रीसमानया ॥३४॥
तथैव स्यादानृशंस्यात्तथास्याद्रूपसंपदा ।
तथास्याच्छीलसंपत्त्यायामिच्छेत्पुरुषः स्त्रियम् ॥३५॥

सर्वैर्गुणैर्हि सम्पन्नामनुकूलां प्रियंवदाम् ।
यादृशीं धर्मकामार्थ सिद्धिमिच्छेन्नरः स्त्रियम् ॥३६॥

अर्थ–युधिष्ठिर बोला कि हे शकुनि ! जो द्रौपदी न बहुत छोटी, न बड़ी और न अति कृश=दुबली, न बहुत मोटी है, जिसके केश घुंघराले और काले, जिसके शरीर में से कमलों जैसी सुगन्ध आती तथा जिसके नेत्र शरदऋतु के फूले हुए कमलों के समान, जो कमलों को धारण करने वाली, जिसका स्वरूप लक्ष्मी जैसा, जिसका शील ही सम्पत्ति और जिसमें दया भी लक्ष्मी के समान है, जिसके आज्ञापालनरूप गुण, मधुर भाषण और धर्म, अर्थ तथा काम की सिद्धि को देखकर ऐसा कौन मनुष्य है जो उसे न चाहे ॥

तयैवं विधया राजन् पांचाल्याहं सुमध्यया ।
ग्लहं दीव्या मिचार्वंग्या द्रौपद्या हंत सौबल ॥३७॥

अर्थ–हे राजन् ! उस सुन्दर कमर वाली पांचाली को इस प्रकार दाउ पर लगाना बड़े दुःख की बात है परन्तु मैं उसे भी दाउ पर लगाकर खेलता हूं ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन धीमता ।
धिग्धगित्येववृद्धानां सभ्यानां निःसृतागिरः ॥३८॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! धर्मराज युधिष्ठिर के मुख से ऐसे शब्द निकलते ही कि उस सभा के सब सभ्य वृद्ध पुरुष दुखमय वाणी से धिक् धिक् कहने लगे ॥

चुक्षुभे सा सभा राजन् राज्ञां संजज्ञिरे शुचः ।
भीष्मद्रोणकृपादीनां स्वेदश्च समजायत ॥ ३९ ॥
शिरो गृहीत्वा विदुरो गतसत्व इवाभवत् ।
आस्तेध्यायन्नधो वक्रो निःश्वसन्निवपन्नगः ॥ ४० ॥

अर्थ–हे राजन् ! उस समय उस सभा में बड़ी हलचल मच गई सब राजा लोग शोक करने लगे और भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य्य तथा कृपाचार्य्य की देह से पसीना निकलने लगा, और विदुरजी शिर पकड़कर सत्त्व निकले हुए की भांति नीचे मुख किये हुए चिन्ता में निमग्न होकर सर्प के सामान श्वास लेने लगे ॥

धृतराष्ट्रस्तु संहृष्टः पर्यपृच्छत् पुनः पुनः ।
किं जितं किं जितमिति ह्याकारं नाभ्यरक्षत ॥४१॥
जहर्ष कर्णोति भृशं सहदुःशासनादिभिः ।
इतरेषां तु सभ्यानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ ४२ ॥

अर्थ–हे राजन् ! उस समय धृतराष्ट्र प्रसन्न होकर बार २ पूछने लगा कि क्या जीता, क्या जीता, और वह अपने गुप्तभाव को न छिपा सका, कर्ण, दुःशासन आदि हर्ष से हंसने लगे और सभा में बैठे हुए अन्य सभ्य पुरुषों की आंखों से आंसू गिरने लगे॥

सौवलस्त्वभिधायैवं जितकाशीमदोत्कटः ।
जितमित्येव तानक्षान्पुनरेवान्वपद्यत ॥ ४३ ॥

अर्थ–तदनन्तर उस मतवाले छली शकुनी ने द्रौपदी को

दाउ पर रखा हुआ सुनकर पासे उठा लिये और फेंककर कहने लगा कि फिर भी मैं ही जीता ॥

इति द्विचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०—अब दुर्योधन का द्रौपदी को दासीकर्म करने के लिये बुलाना और विदुर का ऐसा न करने का उसे उपदेश करना कथन करते हैं

दुर्योधन उवाच

एहि क्षत्तर्द्रौपदीमानयस्व प्रियांभार्यां सं-
मतां पाण्डवानाम् । सम्मार्जतां वेश्म परै
तु शीघ्रं तत्रास्तु दासीभिरपुण्यशीला ॥ १ ॥

अर्थ—दुर्योधन बोला कि हे विदुर! अब तुम द्रौपदी को जो पाण्डवों की प्यारी स्त्री है यहां लेआओ ताकि वह अपुण्यशीला दासियों के साथ रहकर हमारे महलों में झाड़ू बुहारी दिया करे ॥

विदुर उवाच

दुर्विभाषं भाषितं त्वादृशेन न मंदसंबु-
ध्यसि पाशबद्धः । प्रपाते त्वं लंबमानो
न वेत्सि व्याघ्रान्मृगः कोपयसेति वेलम ॥ २ ॥

अर्थ-विदुरजी बोले कि हे मन्दबुद्धि दुर्योधन! तू मृत्यु की पाश में बंधा हुआ होने के कारण अचेत होरहा है जो ऐसे दुर्बचन कहता है, तू यह नहीं जानता कि अब तेरे गिरने के दिन आये हुए हैं, जो तू मृगरूप होकर व्याघ्रों को क्रोध दिला रहा है॥

आशीविषास्ते शिरसि पूर्णकोपा महाविषाः ।
मा कोपिष्ठाः सुमंदात्मन्मागमस्त्वं यमक्षयम् ॥३॥

अर्थ-हे दुष्टात्मा दुर्योधन! तू यह नहीं जानता कि तेरे शिर पर बड़े २ क्रोधी विषधर सर्प बैठे हुए हैं उनको क्रोधित करके अपनी हठ से तू क्यों यमलोक को जाना चाहता है॥

नहिदासीत्वमापन्ना कृष्णा भवितुमर्हति ।
अनीशेन हि राज्ञैषापणेन्यस्तेति मे मतिः ॥४॥

अर्थ-द्रौपदी किसी प्रकार भी दासी नहीं होसकती, क्योंकि युधिष्ठिर ने पहले अपने को हारकर पुनः द्रौपदी को दाउ पर रखा है अर्थात् अपने हारने पर वह द्रौपदी का स्वामी नहीं रहा और फिर उसे द्रौपदी को दाउ पर रखने का अधिकार भी नहीं, यह मेरी सम्मति है॥

अयं धत्तेवेणुरिवात्मघाती फलं राजा
धृतराष्ट्रस्य पुत्रः। द्यूतं हि वैराय महा-
भयाय मत्तो न बुध्यत्ययमंतकालम् ॥५॥

अर्थ-मुझे प्रतीत होता है कि यह दुर्योधन राजा वेणु की भांति शीघ्र ही नष्ट होजायगा, क्योंकि इस जूए के कारण बड़ा

बैर उत्पन्न होगा और दुर्योधन अंत समय आने के कारण मतवाला होरहा है ॥

नारुंतुदःस्यान्ननृशंसवादीनहीनतः परमभ्याददीत । ययास्य वाचा पर उद्विजेतनतांवदेदुषतीं पापलोक्याम् ॥ ६ ॥

अर्थ-किसी की निन्दा करना, मर्मों को छेदना, नीचकर्म से किसी को वश में करना, दूसरे को जलाने वाली तथा उद्वेग करने वाली बात कहना उचित नहीं, ऐसा करने से मनुष्य नरक गामी होता है ॥

समुच्चरंत्यति वादाश्चवक्त्राद्यैराहतः शोचति रात्र्यहनि । परस्यनामर्मसु तेपतंति तान्पण्डितोनाव सृजेत्परेषु ॥७।

अर्थ-जो पुरुष मर्यादा के विपरीत ऐसे वचन दूसरे से कहे जिनके कारण उसको रात्रि दिन शोच रहे तो उसका फल कहने वाला ही भोगता है दूसरे की उससे कुछ हानि नहीं होती, जो पण्डित हैं वह ऐसे वचन दूसरे से कदापि नहीं कहते ॥

अजो हि शस्त्रमगिलत्किलैकः शस्त्रे विपन्ने शरसास्य भूमौ । निकृंतनं स्वस्य कंठस्य घोरं तद्वद्वैरंमाकृथाः पाण्डुपुत्रैः ॥८॥

अर्थ-जैसे मछली आटे के लोभ से कांटे को निगल जाती

और वह कांटा उसी के गले को छेद डालता है इसी प्रकार तुम लोभ के वशीभूत होकर पाण्डवों से वैर मत करो ॥

न किञ्चिदित्थं प्रवदन्ति पार्था वनेचरं वा
गृहमेधिनं वा । तपस्विनं वा परिपूर्ण
विद्यं भषंति हैवं श्वनराः सदैव ॥९॥

अर्थ—पाण्डवों ने कभी किसी विद्वान्, तपस्वी, वानप्रस्थी वा गृहस्थी को कभी कोई ऐसी बात नहीं कही जैसीकि आप कहरहे हैं, इस प्रकार तो श्वानवृत्ति वाले मनुष्य कहा करते हैं ॥

द्वारंसुघोरं नरकस्यजिह्मं न बुध्यते
धृतराष्ट्रस्यपुत्रः । तमन्वेतारो बहवः
कुरूणां द्यूतोदये सह दुःशासनेन ॥१०॥

अर्थ—कुटिलता नरक का बड़ा द्वार है, सो धृतराष्ट्र का पुत्र दुर्योधन इस बात को नहीं जानता और दुःशासन आदि बहुत मनुष्य इस द्यूतकर्म में उसके साथी हैं ॥

मज्जंत्यलाबूनिशिलाः प्लवंते मुह्यंतिनावों-
भसि शश्वदेव । मूढो राजा धृतराष्ट्रस्य
पुत्रो न मे वाचः पथ्यरूपाः शृणोति॥ ११॥

अर्थ—बड़े आश्चर्य की बात है कि यह सब मोह को प्राप्त हुए हिताहित नहीं जानते और जल में तूबी के डूबने तथा पत्थर की नौका के तरने के समान विपरीत करते हैं, यह मूढ हुए राजा धृतराष्ट्र के पुत्र मेरे पथ्यरूपी वचनों को नहीं सुनते ॥

अंतो नूनं भवितायं कुरूणां सुदारुणः
सर्वहरो विनाशः । वाचः काव्याः सुहृदां
पथ्यरूपा न श्रूयन्ते वर्धते लोभ एव ॥१२॥

अर्थ-अब इस दुर्योधन के कारण सर्वहरण और कुरुवंशियों का अत्यन्त दुःखदायी नाश होना चाहता है, मैंने जो सब सुहृदों को पथ्य के समान महात्मा शुक्र के कहे हुए वाक्य सुनाये हैं उनको यह लोग नहीं सुनते और अपने लोभ को बढ़ाते जाते हैं ॥

इति त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०-अब दुःशासन का द्रौपदी को बाल पकड़कर खींचते हुए सभा में लाना और वहां द्रौपदी का दासी होने वा न होने का प्रश्न करना कथन करते हैंः—

वैशम्पायन उवाच

धिगस्तु क्षत्तारमिति ब्रुवाणो दर्पेणमत्तो
धृतराष्ट्रस्य पुत्रः । अवैक्षत प्रातिकामीं
सभायामुवाचचैनं परमार्यमध्ये ॥१॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! अभिमान से मत्त हुआ दुर्योधन विदुरजी के उक्त वचन सुनकर धिक्कारता हुआ सभा में सब श्रेष्ठ मनुष्यों के बीच प्रातिकामी सूत को देखकर बोला किः—

प्रातिकामिन् द्रौपदीमानयस्व न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः। क्षत्ताह्ययं विवद त्येवभीतो नचास्माकं वृद्धिकामः सदैव ॥२॥

अर्थ—हे प्रातिकामिन् ! तू जाकर द्रौपदी को यहां लेआ और पाण्डवों का अब भय न कर, यह विदुरजी भयभीत होने के कारण सदैव विपरीत ही कहते हैं, हमारी वृद्धि कभी नहीं चाहते॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रातिकामी ससूतः प्रायाच्छीघ्रं राजवचोनिशम्य। प्रविश्य च श्वेव हि सिंह-गोष्ठं समासदन्महिषीं पाण्डवानाम् ॥३॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! वह प्रातिकामी सूत दुर्योधन की आज्ञा पाकर पाण्डवों के निवासस्थान में इस प्रकार घुस गया जैसे सिंहों के घर में कुत्ता घुस जाता है, और वहां पाण्डवों की रानी द्रौपदी के समीप जाकर बोला कि :—

युधिष्ठिरो द्यूतमदेन मत्तो दुर्योधनोद्रौपदित्वा-मजैषीत्। सात्वं प्रपद्यस्व धृतराष्ट्रस्य वेश्म नयामि त्वां कर्मणे याज्ञसेनि ॥४॥

अर्थ—हे द्रौपदी ! युधिष्ठिर जूए के मद में मतवाले होकर तुम्हें हारगये हैं और तुम्हें दुर्योधन ने जीता है सो अब तुम दुर्योधन के घर चलो और वहां दासियों के साथ कामकाज करो॥

द्रौपदी उवाच

कथं त्वेवं वदसि प्रातिकामिन् कोहि दीव्ये

द्वार्यया राजपुत्रः । मूढो राजा द्यूतमदेन-
मत्तोह्यभून्नान्यत्कैतवमस्य किंचित ॥५॥

अर्थ-द्रौपदी बोली कि हे प्रातिकामिन ! ऐसा कौन मूढ़ राजपुत्र जूए के मद से मतवाला होगा जो अपनी स्त्री को दाउ पर लगाकर जूआ खेलेगा, तू क्या कह रहा है, क्या युधिष्ठिर के पास जूआ खेलने को और कुछ धन नहीं है ॥

प्रातिकामी उवाच

यदानाभूत्कैतवमन्यदस्यतदादेवीत्पां-
डवोजातशत्रुः । न्यस्ताः पूर्वं भ्रातरस्तेन
राज्ञास्वयंचात्मात्वमथो राजपुत्रि ॥६॥

अर्थ-प्रातिकामी बोला कि हे राजपुत्रि ! युधिष्ठिर जूए में सब राज्य और धन हारगये, अंत में जब कुछ न रहा तब उन्होंने पहले अपने भाई तथा अपने को हार दिया और पीछे तुम्हें भी हारगये ॥

द्रौपदी उवाच

गच्छ त्वं कितवं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज ।
किंतु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवानुमाम् ॥७॥
एतज्ज्ञात्वा समागच्छ ततो मां नय सूतज ।
ज्ञात्वा चिकीर्षितमहं राज्ञो यास्यामि दुःखिता ॥८॥

अर्थ-द्रौपदी बोली कि हे सूतपुत्र ! तू सभा में जाकर उस खिलाड़ी राजा से यह पूछकर आओ कि आपने पहले मुझको

हारा है वा अपने को ? यद्यपि इस घटना का मुझे बड़ा दुःख है तो भी राजा के उत्तर को सुनकर फिर तेरे साथ चलुंगी ॥

वैशम्पायन उवाच

सभांगत्वा सचोवाच द्रौपद्यास्तद्वचस्तदा ।
युधिष्ठिरं नरेन्द्राणां मध्येस्थितमिदंवचः ॥९॥
कस्येशोनः पराजैषीरितित्वामाह द्रौपदी ।
किंनु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवापि माम् ॥१०॥
युधिष्ठिरःतुनिश्चेता गतसत्व इवाभवत् ।
न तं सूतं प्रत्युवाच वचनं साध्वसाधुवा ॥११॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! द्रौपदी के उक्त वचन सुनकर वह प्रातिकामी सभा में गया और वहां जाकर राजाओं के मध्य में बैठे हुए युधिष्ठिर से बोला कि आपसे द्रौपदी ने यह पूछा है कि आपने पहले किसको हारा है मुझको वा अपने को ? यह सुनकर युधिष्ठिर ने अच्छा वा बुरा कुछ उत्तर न दिया और वह चेष्टारहित हुआ निर्बल की भांति चुपचाप बैठा रहा ॥

दुर्योधन उवाच

इहैवागत्य पांचाली प्रश्नमेनं प्रभाषताम् ।
इहैव सर्वे शृण्वन्तु तस्याश्चैतस्य यद्वचः ॥१२॥

अर्थ-दुर्योधन बोला कि हे प्रातिकामिन् ! तुम जाकर द्रौपदी से कहदो कि तू यहीं आकर यह प्रश्न कर ताकि जो कुछ बात हो उसको यहां सब लोग सुनें ॥

वैशम्पायन उवाच

स गत्वा राजभवनं दुर्योधन वशानुगः ।
उवाच द्रौपदीं सूतः प्रातिकामी व्यथन्निव ॥१३॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! वह प्रातिकामी दुर्योधन की आज्ञानुसार फिर द्रौपदी के समीप गया और वहां पहुंच दुःखी होकर उससे बोला किः—

सभ्यास्त्वमी राजपुत्राह्वयंति मन्येप्राप्तः संशयः
कौरवाणाम् । न वै समृद्धिं पालयते लघी-
यान् यस्त्वां सभां नेष्यति राजपुत्रि ॥१४॥

अर्थ–हे राजपुत्रि ! तुम्हें सभारूढ लोग वहां सभा में ही बुलाते हैं, मुझे ज्ञात होता है कि अब कौरवों की दशा शोचनीय है, और नीच दुर्योधन अब अपनी वृद्धि नहीं चाहता, इसी कारण तुम्हें सभा में बुलाया है ॥

द्रौपदी उवाच

एवं नूनं व्यदधात्संविधाता स्पर्शावुभौ
स्पृशतो वृद्धवालौ । धर्मंत्वेकं परमं प्राह
लोके स नः शमं धास्यति गोप्यमानः ॥१५॥

अर्थ–द्रौपदी बोली कि हे प्रातिकामिन् ! दैवयोग बड़ा प्रबल है, क्या मूर्ख और क्या पण्डित सब किसी को सुख दुःख भोगने पड़ते हैं, परन्तु संसार में एक धर्म ही परम श्रेष्ठ है और मुझे पूर्ण निश्चय है कि मेरा धर्म ही मेरी रक्षा करेगा ॥

सोयं धर्मो मात्यगात्कौरवान्वै सभ्यान् गत्वा पृच्छधर्म्यं वचो मे। ते मां ब्रूयुर्निश्चितं तत्करिष्ये धर्मात्मानो नीतिमंतोवरिष्ठाः ॥१६॥

अर्थ-सो तू अब फिर सभा में जाकर वहां बैठे हुए सब नीतिज्ञ, गुणवान् और श्रेष्ठ सभासदों से कहदे कि कौरवों को अपना धर्म छोड़ना उचित नहीं, और मुझे निश्चयपूर्वक ठीक २ उत्तर दें, फिर उनकी आज्ञानुसार जैसा वह कहेंगे वैसा ही करुंगी॥

श्रुत्वा सूतस्तद्वचो याज्ञसेन्याः सभां गत्वा प्राह वाक्यं तदानीम्। अधोमुखास्ते नच किंचिदूचुर्निर्बन्धं तं धार्त्तराष्ट्रस्यबुध्वा ॥१७॥

अर्थ-द्रौपदी का उक्त कथन सुनकर वह प्रातिकामी फिर सभा में गया और द्रौपदी का कहा हुआ सब कह सुनाया, परन्तु सभासदों ने दुर्योधन की हठ जानकर कुछ उत्तर न दिया और सब नीचे को गर्दन झुकाये बैठे रहे॥

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा दुर्योधनचिकीर्षितम्।
द्रौपद्याः संमतं दूतं प्राहिणोद्भरतर्षभ ॥१८॥
एकवस्त्रा त्वधोनीवी रोदमाना रजस्वला।
सभामागम्य पांचालि श्वशुरस्याग्रतो भव ॥१९॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! तत्पश्चात् युधिष्ठिर ने दुर्योधन की इच्छा को सुनकर पुनः द्रौपदी के पास दूत द्वारा

कहला भेजा कि तू यद्यापि रजस्वला होने से एक ही वस्त्र पहरे हुए है परन्तु अब यहां सभा में आकर अपने श्वशुर राजा धृतराष्ट्र के सन्मुख खड़ी होजा ॥

ततस्त्वेषां मुखमालोक्य राजा दुर्योधनः
सूतमुवाच हृष्टः । इहैवैतामानय प्राति-
कामिन् प्रत्यक्षमस्याः कुरवो ब्रुवन्तु ॥२०॥

अर्थ–तदनन्तर दुर्योधन ने पाण्डवों का मलिन मुख देख प्रसन्न होकर प्रातिकामी को आज्ञा दी कि तुम द्रौपदी को यहां लाओ, उसको जो कुछ कहना हो सो वह यहां सब कुरुवंशियों के सन्मुख कहे ॥

ततः सूतस्तस्य वशानुगामी भीतश्च को-
पाद्द्रुपदात्मजायाः । विहाय मानं पुनरेव
सभ्यानुवाच कृष्णां किमहं ब्रवीमि ॥२१॥

अर्थ–तत्पश्चात् उस प्रातिकामी नामक सूत ने द्रौपदी के कोप से भयभीत होकर दुर्योधन की आज्ञा का तिरस्कार करके उस सभा के सभासदों से पूछा कि मैं द्रौपदी से जाकर क्या कहूं ॥

दुःशासनैष मम सूतपुत्रो वृकोदरादुद्वि
जतेल्पचेताः । स्वयं प्रगृह्यानय याज्ञ-
सेनीं किं ते करिष्यन्त्यवशाः सपत्नाः ॥२२॥

अर्थ–यह सुनकर दुर्योधन ने दुःशासन को आज्ञा दी कि यह मेरे सूत का बेटा क्षुद्रचित्तवाला होने के कारण भीमसेन से डरा

हुआ है और अब तेरा शत्रु कुछ नहीं करसकते तू आप जाकर द्रौपदी को पकड़ला ॥

ततः समुत्थाय स राजपुत्रः श्रुत्वा भ्रातुः
शासनं रक्तदृष्टिः । प्रविश्य तद्वेश्म महा-
रथानामित्यब्रवीद्द्रौपदीं राजपुत्रीम् ॥ २३ ॥

अर्थ-दुर्योधन की आज्ञा पाते ही लाल २ नेत्र किये हुए दुःशासन सभा से उठकर उन महारथी पाण्डवों के घर में भीतर चलागया और वहां जाकर द्रौपदी से बोला कि :—

एह्येहि पांचालि जितासि कृष्णे दुर्योधनं
पश्य विमुक्तलज्जा । कुरून् भजस्वायतपत्र-
नेत्रे धर्मेण लब्धासि सभां परैहि ॥ २४ ॥

अर्थ-हे पांचालि ! "इधर आ, इधर आ" तुझको कौरवों ने जूए में जीतकर धर्मपूर्वक पाया है, सो हे कमल के पत्र समान स्फीत नेत्रों वाली तू अब लाज छोड़कर दुर्योधन के सन्मुख अपने को धिक्कार देती हुई चल और कौरवों की सेवा कर ॥

ततःसमुत्थाय सुदुर्मनाः साविवर्णमामृज्य
मुखं करेण । आर्त्ता प्रदुद्रावयतः स्त्रि-
यस्तावृद्धस्य राज्ञः कुरुपुंगवस्य ॥ २५ ॥

अर्थ-यह सुनते ही द्रौपदी अत्यन्त दुखित हो अपने मुख को हाथों से पोंछती और रोती हुई कुरुश्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्र के घर की स्त्रियों की ओर भागी ॥

ततो जवेनाभिससार रोषाद्दुःशासनस्ता-
मभिगर्जमानः । दीर्घेषु नीलेष्वथ
चोर्मिमत्सु जग्राह केशेषु नरेन्द्रपत्नीम् ॥२६॥

अर्थ—यह देखकर दुःशासन क्रोधित हो गर्जता हुआ उसके पीछे दौड़ा और उस नीले तथा घुंघराले दीर्घ केशों वाली नरेन्द्र पत्नी को केशों से पकड़लिया ॥

यो राजसूयावभृथेजलेनमहाक्रतौ मंत्रपूतेनसिक्ताः ।
ते पाण्डवानां परिभूयवीर्यं बलात्प्रमृष्टा धृतराष्ट्रजेन ।२७।

अर्थ—देखो दैवयोग कैसा प्रबल है कि जो बाल राजसूय यज्ञ के अंत में अवभृथ स्नान समय मंत्रों के जल से सिंचन किये गये थे उन्हीं को दुःशासन ने पाण्डवों के पराक्रम का तिरस्कार करते हुए बलपूर्वक मरोड़ डाला, और:—

स तां पराकृष्यसभासमीपमानीयकृष्णामति-
दीर्घकेशीम् । दुःशासनो नाथवतीमनाथ
वच्चकर्ष वायुः कदलीमिवार्त्ताम् ॥२८॥

अर्थ—वायु से कम्पायमान केले के पत्र समान अत्यन्त दुःख से कांपती हुई उस बड़े २ केशों वाली सनाथा द्रौपदी को अनाथा की भांति खींचता हुआ दुःशासन सभा की ओर लेचला ॥

साकृष्यमाणा नमितांगयष्टिः शनैरुवाचाथ
रजस्वलाऽस्मि । एकं च वासो मम मंद-
बुद्धे सभां नेतुं नार्हसि मामनार्य ॥२९॥

अर्थ—तब द्रौपदी ने उसके खींचते समय -कमर झुकाये हुए नम्रतापूर्वक धीरे से कहा कि अरे मंदबुद्धि! अरे अनार्य्य! मैं रजस्वला हूं और एक वस्त्र पहरे हुए हूं, तू मुझको सभा में न लेचल॥

ततोऽब्रवीत्तां प्रसभं निगृह्य केशेषु कृष्णेषु
तदा स कृष्णाम्। कृष्णं च जिष्णुं च हरिं-
नरं च त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ॥३०॥

अर्थ—तदनन्तर उस पकड़े हुए केशों वाली द्रौपदी ने हे कृष्ण! हे विष्णु! हे हरि! हे नर! कह २ कर रक्षा के लिये पुकारा और रोने लगी, तब दुःशासन बोला किः—

रजस्वला वा भव याज्ञसेनि एकांबरा वाप्य-
थवा विवस्त्रा। द्यूते जिता चासिकृतासि
दासी दासीषु वासश्च यथोपजोषम् ॥३१॥

अर्थ—तू चाहे रजस्वला हो, चाहे एक वस्त्र पहरे हो, चाहे नंगी हो, तुझको हमने जूए में जीतकर दासी किया है सो तेरा दासियों में ही रहना योग्य है॥

वैशम्पायन उवाच

प्रकीर्णकेशी पतितार्धवस्त्रा दुःशासनेन
व्यवधूयमाना। ह्रीमत्यमर्षेण च दह्य
माना शनैरिदं वाक्यमुवाच कृष्णा ॥३२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! तब वह द्रौपदी जिस आधा वस्त्र गिरगया था और बाल फैल गये थे, दुःशासन

के खींचने के कारण कांपती हुई क्रोधित होकर लज्जापूर्वक धीरे से बोली कि :—

इमे सभायामुपनीतशास्त्राः क्रियावंतः
सर्व एवेन्द्रकल्पाः । गुरुस्थाना गुरवश्चैव
सर्वे तेषामग्रे नोत्सहे स्थातुमेवम् ॥३३॥

अर्थ—इस सभा में सब बड़े बूढ़े गुरु के समान सम्पूर्ण शास्त्र जानने वाले बैठे हुए हैं उनके आगे मैं इस प्रकार कैसे जासक्ती हूं ॥

नृशंसकर्मस्त्वमनार्यवृत्त मामा विवस्त्रां-
कुरुमाविकार्षीः । न मर्षयेयुस्तव राज-
पुत्राः सेन्द्रापि देवा यदि ते सहायाः ॥३४॥

अर्थ—अरे हे निर्दय ! तू मुझे खींचकर वस्त्रहीन मत कर, हे अनार्य ! यदि इन्द्र भी तेरी सहायता को आवें तब भी तू इन राजपुत्रों के क्रोध करने पर नहीं बच सकेगा ॥

धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा धर्मश्च सूक्ष्मो
निपुणोपलक्ष्यः । वाचापि भर्त्तुः परमाणुमात्र-
मिच्छामि दोषं न गुणान् विसृज्य ॥३५॥

अर्थ—अरे दुष्ट ! इस समय महात्मा युधिष्ठिर धर्म के विचार में हैं जो बड़ा सूक्ष्म है, "उस धर्म को वही लोग जानते हैं जिन की बड़ी सूक्ष्मबुद्धि होती है" सो मैं उस युधिष्ठिर में गुणों के सिवाय दोष तो यत्किंचिन्मात्र भी नहीं देखती ॥

इदं त्वकार्यं कुरुवीरमध्ये रजस्वलां यत्प-

रिकर्षसे माम्। नचापि कश्चित् कुरुतेऽत्र
कुत्सां ध्रुवं तवेदं मतमभ्युपेतः॥ ३६ ॥

अर्थ–हाय तू मुझको इस रजस्वला की अवस्था में कौरवों के सन्मुख खींचे लिये जाता है, इन कौरवों में से किसी को यह देखकर लज्जा नहीं आती और कोई इस कर्म की निन्दा नहीं करता, अब मुझे निश्चय होगया कि यह सब भी तेरी ही सलाह में हैं॥

धिगस्तु नष्टः खलु भारतानां धर्मस्तथा
क्षात्रविदां च वृत्तम्। यत्र ह्यतीतां कुरु-
धर्मवेलां प्रक्ष्यन्ति सर्वे कुरवः सभायाम् ॥३७॥

अर्थ–इन कौरवों को धिक्कार है जो इस अधर्म और मर्यादा रहित काम को देख रहे हैं, निश्चय अब इन सब भरतवंशियों का धर्म और क्षत्रियपन नष्ट होगया है॥

द्रोणस्य भीष्मस्य च नास्ति सत्वं क्षत्तुस्तथै-
वास्य महात्मनोपि । राज्ञस्तथाहि ममधर्म-
मुग्रं न लक्षयन्ते कुरु वृद्धमुख्याः ॥३८॥

अर्थ–आज द्रोणाचार्य्य, भीष्म, विदुर और धृतराष्ट्र सब पराक्रम रहित होगये हैं जो कुरुवंशियों में वृद्ध और मुख्य होकर भी ऐसा अधर्म देखते हैं॥

तथाब्रुवन्ती करुणं सुमध्यमा भर्तॄन् कटाक्षैः
कुपितानपश्यत । सा पाण्डवान् कोपपरी-
तदेहान्संदीपयामास कटाक्षपातैः ॥३९॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले के हे राजन्! तदनन्तर शोभन कटि-वाली द्रौपदी ने उक्त प्रकार कहकर अपने पतियों की ओर क्रोध से कटाक्ष करके देखा जिससे उन क्रोधित हुए पाण्डवों के क्रोध को और भी प्रदीप्त कर दिया ॥

हृतेन राज्येन तथा धनेन रत्नैश्च मुख्यैर्न
तथा बभूव । यथात्रपाकोपसमीरितेन
कृष्णा कटाक्षेण बभूव दुःखम् ॥४०॥

अर्थ–तब उन को द्रौपदी के कटाक्ष से ऐसा दुःख हुआ जैसा राज्य, धन और रत्नों के हारने समय भी नहीं हुआ था ॥

दुःशासनश्चापि समीक्ष्य कृष्णामवेक्षमा-
णां कृपणान्पतींस्तान् । आधूय वेगेन
विसंज्ञकल्पामुवाच दासीति हसन् सशब्दम् ॥४१॥

अर्थ–दुःशासन ने घबराई हुई द्रौपदी को अपने दीन पतियों की ओर देखते हुए देखकर बाल पकड़कर हिलाया और बड़े शब्द से हंसकर अरे दासी, अरे दासी, कहा ॥

कर्णस्तु तद्वाक्यमतीवहृष्टःसंपूजयामास
हसन् स शब्दम् । गान्धारराजःसुबलस्य
पुत्रस्तथैव दुःशासनमभ्यनन्दत् ॥४२॥

अर्थ–कर्ण भी दुःशासन के उक्त वाक्य सुनकर अतिप्रसन्न हुआ तथा उसने भी उस बात को माना और सुबल के पुत्र राजा शकुनी ने भी उसकी प्रशंसा की ॥

सभ्यास्तु ये तत्र बभूवुरन्ये ताभ्यामृते धार्त्त-
राष्ट्रेणचैव । तेषामभूद्दुःखमतीव कृष्णां
दृष्ट्वा सभायां परिकृष्यमाणाम् ॥ ४३ ॥

अर्थ—उस समय कर्ण, दुर्योधन तथा दुःशासन को छोड़कर जितने अन्य सभ्य पुरुष सभा में बैठे हुए थे उन्हें खिंचती हुई द्रौपदी को देखकर बड़ा दुःख हुआ ॥

भीष्म उवाच

नधर्मसौक्ष्म्यात्सुभगे विवेक्तुं शक्नोमि ते
प्रश्नमिमं यथावत् । अस्वाम्यशक्तः पणितुं
परस्वं स्त्रियाश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य ॥४४॥

अर्थ—भीष्मजी बोले कि हे सुभगे ! निर्धनमनुष्य दूसरे के धन को जूए में दाउ पर नहीं लगा सकता, परन्तु स्त्री को अपने पति के अधीन समझकर धर्म की सूक्ष्मता को विचारता हुआ मैं तेरे प्रश्न का ठीक २ उत्तर नहीं देसकता ॥

त्यजेतसर्वां पृथिवीं समृद्धां युधिष्ठिरो धर्म-
मथो न जह्यात् । उक्तंजितोस्मीति च पाण्ड-
वेन तस्मान्न शक्नोमि विवेक्तुमेतत् ॥४५॥

अर्थ—हां युधिष्ठिर ने यह तो सब के सन्मुख कहा था कि पहिले मैं जीता गया हूं, परन्तु युधिष्ठिर चाहे सब पृथ्वी छोड़दे परन्तु धर्म को नहीं छोड़ेगा, इससे मैं तेरे प्रश्न का क्या उत्तर दूं ॥

द्यूतेऽद्वितीयःशकुनिर्नरेषु कुन्तीसुतस्ते-

न निसृष्टकामः । न मन्यतेतां निकृतिं
युधिष्ठिरस्तस्मान्न ते प्रश्नमिमं ब्रवीमि ॥४६॥

अर्थ-हे सुभगे ! यह शकुनि जूआ खेलने में अपने समान दूसरा नहीं रखता, और इस शकुनि की प्रेरणा से ही युधिष्ठिर ने तुझे दाउ पर लगाया था, परन्तु यह युधिष्ठिर ही कहता है कि तू छल से दाउ पर नहीं लगाई गई, इस कारण मैं तेरे प्रश्न का यथोचित उत्तर नहीं देसकता ॥

द्रौपदी उवाच

आहूय राजा कुशलैरनार्यैर्दुष्टात्मभिर्नै
कृतिकैःसभायाम् । द्यूतप्रियैर्नातिकृत-
प्रयत्नःकस्मादयं नामनिसृष्टकामः ॥४७॥

अर्थ-द्रौपदी बोली कि हे पितामह ! इस राजा ने जो जूआ खेलना नहीं जानता दूसरों की प्रेरणा से जूआ खेलकर इन अनार्य्य, दुष्ट तथा जूआ खेलने को अच्छा जानने वाले ज्वारियों के कहने से मुझे क्यों इस सभा में बुलाया है, और:—

अशुद्धभावैर्निकृतिप्रवृत्तैरबुध्यमानः
कुरुपाण्डवाग्र्यः । संभूय सर्वैश्च जितो-
पि यस्मात्पश्चादयं कैतवमभ्युपेतः ॥४८॥

अर्थ-युधिष्ठिर जो सब पाण्डव तथा कौरवों में श्रेष्ठ हैं वह इन नीच और छल से खेलने वाले ज्वारियों से जूआ खेलकर अपने हारजाने से पीछे मुझे हारकर कैसे इन्हें देसकते हैं ॥

तिष्ठन्ति चेमे कुरवः सभायामीशः सुतानां
च तथा स्नुषाणाम्। समीक्ष्य सर्वे मम चापि
वाक्यं विब्रूत मे प्रश्नमिमं यथावत् ॥४९॥

अर्थ—मैं इन कौरवों से जो सब पुत्र और पुत्रों की स्त्रियों के स्वामी हैं अपने उक्त प्रश्न को पूछती हूं, सो सब इसको विचारकर ठीक २ उत्तर दें॥

वैशम्पायन उवाच

तथा ब्रुवन्तीं करुणं रुदन्तीमवेक्षमाणां
कृपणान्पतींस्तान्। दुःशासनः पुरुषाण्य-
प्रियाणि वाक्यान्युवाचामधुराणि चैव ॥५०॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय! उस समय उस आर्द्रचित्त से दीन वचन कहती, रोती और अपने पतियों की ओर देखती हुई द्रौपदी से दुःशासन ने बहुत कठोर और अप्रिय वचन कहे॥

तां कृष्यमाणां च रजस्वलां च स्रस्तोत्तरी-
यामतदर्हमाणाम्। वृकोदरः प्रेक्ष्य युधिष्ठिरं
च चकार कोपं परमार्त्तरूपः ॥ ५१ ॥

अर्थ—हे राजन्! भीमसेन ने उस दुःखी तथा रजस्वला द्रौपदी को जो दुःख के योग्य न थी और जिसका उत्तरीय वस्त्र गिरपड़ा था दुःशासन से खेंची हुई देखकर युधिष्ठिर पर महान् क्रोध किया॥

इति चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ पंचचत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०–अब भीमसेन का युधिष्ठिर पर कोप करना, दुःशासन का द्रौपदी को सभा में लाना, द्रौपदी के प्रश्न का सभा में उत्तर न मिलना और दुःशासन का द्रौपदी को नंगा करने के लिये उसका वस्त्र खींचना कथन करते हैं :—

भीम उवाच

भवन्ति गेहे बंधक्यः कितवानां युधिष्ठिर ।
न ताभिरुतदीव्यन्ति दयाचैवास्तितास्वपि ॥१॥
काश्योयद्धनमाहार्षीद्द्रव्यं यच्चान्यदुत्तमम् ।
तथान्ये पृथिवीपाला यानिरत्नान्युपाहरन् ॥२॥
वाहनानि धनंचैव कवचान्यायुधानि च ।
राज्यमात्मा वयंचैव कैतवेन हृतं परैः ॥३॥
नच मे तत्र कोपोभूत्सर्वस्येशोहिनोभवान् ।
इमं त्वतिक्रमं मन्ये द्रौपदी यत्र पण्यते ॥४॥

अर्थ–भीमसेन बोला कि हे युधिष्ठिर ! ज्वारियों के घर में जो कोई दासी होती है तो उस पर भी दया करके उसको जूए में दाउ पर नहीं लगाते, राजा काशीनरेश तथायन्य राजाओं ने जो उत्तम रत्न, धन तथा अन्य पदार्थ भेट किये थे उनको और सब वाहन, शस्त्र, राज्य, हम सब और अपने आपको जिन्हें इन छलियों ने कपट छल द्वारा आपसे जीत लिया है, जूए में दाउ पर

लगाते हुए देखकर मुझको क्रोध नहीं हुआ, क्योंकि आप इन सबके स्वामी हैं परन्तु आपने जो द्रौपदी को दाउ पर लगाया यह बड़ा मर्यादा से विपरीत काम किया है, क्योंकि :—

एषा ह्यनर्हती बाला पाण्डवान्प्राप्य कौरवैः ।
त्वत्कृते क्लिश्यते क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥५॥

अर्थ—यह द्रौपदी जो दुःख के योग्य नहीं है वह पाण्डवों से विवाहे जाने पर आपके कारण इन क्षुद्र, दयाहीन तथा पापी कौरवों द्वारा बड़ा क्लेश पारही है ॥

अस्याः कृते मन्युरयं त्वयि राजन्निपात्यते ।
बाहू ते संप्रधक्ष्यामि सहदेवाग्निमानय ॥६॥

अर्थ—इस कारण अब मैं तुम पर क्रोध करता हूं, हे सहदेव ! तू उठकर अग्नि ला, मैं इस युधिष्ठिर की दोनों भुजाओं को जलाउंगा ॥

अर्जुन उवाच

न पुरा भीमसेन त्वमीदृशीर्वदिता गिरः ।
परैस्ते नाशितं नूनं नृशंसैर्धर्मगौरवम् ॥७॥

अर्थ—अर्जुन बोला कि हे भीमसेन ! आपने ऐसी बात पहले कभी नहीं कही थी, मैं जानता हूं कि इन निर्दयी शत्रुओं ने तुम्हारे धर्म और गौरव का नाश करदिया है ॥

न सकामाः परे कार्या धर्ममेवाचरोत्तमम् ।
भ्रातरं धार्मिकं ज्येष्ठं कोतिवर्तितुमर्हति ॥८॥
आहूतो हि परै राजा क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ।

दीव्यते परकामेन तन्नः कीर्तिकरं महत् ॥९॥

अर्थ—हे भीमसेन ! तुम्हें धर्म पर रहना उचित है, भला ऐसा कौन होगा जो धर्मात्मा तथा शीलवान् बड़े भाई को छोड़कर जैसा मन में आवे वैसा करे, और जो शत्रु के बुलाने पर राजा ने क्षत्रियों का धर्म विचारकर जूआ खेला है वह भी महान् कीर्ति का करने वाला है ॥

भीम उवाच

एवमस्मिन् कृतं विद्यां यदि नाहं धनंजय ।
दीप्ताऽग्नौ सहितौ बाहूनिर्दहेयं बलादिव ॥१०॥

अर्थ—भीमसेन बोला कि हे अर्जुन ! यदि मैं तुम्हारे कथनानुसार धर्म को न समझता होता तो अपने बल से इनकी दोनों बाहों को प्रज्वलित हुई अग्नि में अवश्य जला देता ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा तान्दुःखितान्दृष्ट्वापाण्डवान् धृतराष्ट्रजः ।
कृष्यमाणां च पांचालीं विकर्ण इदमब्रवीत् ॥११॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तत्पश्चात् धृतराष्ट्र का पुत्र विकर्ण पांडवों को दुःखी और द्रौपदी को क्लेशित देखकर बोला कि:—

याज्ञसेन्या यदुक्तं तद्वाक्यं विब्रूत पार्थिवाः ।
अविवेकेन वाक्यस्य नरकः सद्य एव नः ॥१२॥

अर्थ—हे राजाओ ! जो बात द्रौपदी पूछती है उसको विचार

कर स्पष्ट कहो नहीं तो वाक्य के अविवेक से अर्थात् उसके प्रश्न का उत्तर न देने के कारण आप सब राजा लोग शीघ्र नरकगामी होंगे॥

भीष्मश्च धृतराष्ट्रश्च कुरुवृद्धतमावुभौ ।
समेत्यनाहतुः किंचिद्विदुरश्च महामतिः ॥१३॥
भारद्वाजश्च सर्वेषामाचार्य कृपएव च ।
कुत एतावपि प्रश्नं नाहतुर्द्विजसत्तमौ॥१४॥

अर्थ—हमारे कुल में जो वृद्ध लोग भीष्मपितामह, धृतराष्ट्र तथा महा बुद्धिमान् विदुर जी हैं उन्होंने और हम सब के गुरु द्रोणाचार्य्य तथा कृपाचार्य्य ने द्रौपदी के प्रश्न का कुछ उत्तर नहीं दिया, अतएव उचित है किः—

ये त्वन्ये पृथिवीपालाः समेता सर्वतो दिशम् ।
कामक्रोधौ समुत्सृज्य ते ब्रुवन्त यथामतिः ॥१५॥

अर्थ—आप सब राजा लोग जो चारों दिशाओं से आकर यहां इकट्ठे हुए हैं वह काम तथा क्रोध को छोड़कर अपनी २ मति अनुसार उचित उत्तर दें ॥

एवं स बहुशःसर्वानुक्तवांस्तान् सभासदः ।
नच ते पृथिवीपालास्तमूचुः साध्वसाधु वा ॥१६॥
उक्त्वासकृत्तथा सर्वान् विकणः पृथिवीपतीन् ।
पाणौपाणिं विनिष्पिष्य निःश्वसन्निदमब्रवीत्॥१७॥

अर्थ—इस प्रकार विकर्ण ने अनेक बातें बार२ उन राजाओं से कहीं परन्तु किसी ने भी कुछ भला बुरा उत्तर न दिया, तब

विकर्ण ऊंचा श्वास भरकर और हाथ मलकर सब राजाओं के प्रति बोला किः—

विब्रूत पृथिवीपाला वाक्यं मा वा कथंचन ।
मन्ये न्याय्यं यदत्राहं तद्धि वक्ष्यामि कौरवाः ॥१८॥

अर्थ—हे राजाओ ! आप लोग स्पष्टतया कहें चाहे न कहें, परन्तु मैं अपनी मति अनुसार जैसा समझा हूं वह आप सब कौरवों के समक्ष कहता हूं ॥

चत्वार्याहुर्नरश्रेष्ठा व्यसनानि महीक्षिताम् ।
मृगयां पानमक्षांश्च ग्राम्येचैवातिरक्तताम् ॥ १९ ॥
एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्त्तते ।
यथायुक्तेन च कृतां क्रियां लोको न मन्यते ॥२०॥

अर्थ—(१) मृगया=शिकार खेलना (२) मद्यपान (३) जूआ खेलना (४) स्त्री प्रिय होना, यह राजाओं के चार व्यसन हैं, राजा इन व्यसनों में सदैव धर्ममार्ग छोड़कर वर्तता है अर्थात् इन व्यसनों के प्रवृत्त होने पर राजा धर्म से गिरजाता है, और इस अवस्था में वह जो कुछ काम करता है उसको कोई नहीं मानता ॥

यदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्त्तता भृशम् ।
समाहूतेन कितवैरास्थितो द्रौपदीपणः ॥२१॥
साधारणी च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता ।
जितेन पूर्वं चानेन पाण्डवेन कृतः पणः ॥२२॥
इयं च कीर्त्तिता कृष्णासौ बलेन पणार्थिना ।
एतत्सर्वं विचार्याहं मन्ये न विजितामिमाम्॥२३॥

अर्थ–इस खेलरूप बड़े व्यसन में प्रवृत्त हुए युधिष्ठिर को ज्वारियों ने निमंत्रित करके खेलने बुलाया था, युधिष्ठिर अपने आप खेलने नहीं आया, और जिस समय युधिष्ठिर खेल में सर्वस्व हारकर भाइयों सहित अपने आपको भी हारगया उस समय उस जूए की आग में इसने शकुनी आदि खिलाड़ियों की प्रेरणा से निष्पाप द्रौपदी को जो साधारणतः पांचो पाण्डवों की पत्नी है दाउ पर लगा दिया, इससे मेरे विचार में द्रौपदी जीती नहीं गई ॥

एतच्छ्रुत्वा महान्नादः सभ्यानामुदतिष्ठत ।
विकर्णं शंसमानानां सौबलं चापि निन्दताम् ॥२४॥

अर्थ–यह सुनकर सभा में बैठे हुए सब सभासद विकर्ण की प्रशंसा और शकुनि की निन्दा करते हुए बड़ा शब्द करने लगे ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे राधेयः क्रोधमूर्छितः ।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुमिदं वचनमब्रवीत् ॥२५॥

अर्थ–जब वह शब्द शान्त होगया तब क्रोध से मूर्च्छित हुए कर्ण ने विकर्ण की बांह पकड़कर कहा कि :—

दृश्यन्ते वै विकर्णेह वैकृतानि बहून्यपि ।
तज्जातस्तद्विनाशाय यथाग्निरराणिप्रजः ॥२६॥

अर्थ–हे विकर्ण! तू इस समय बड़ा विपरीत बोलता है, जैसे अरणि नामक काष्ठ से अग्नि उत्पन्न होकर उसी काष्ठ को जला देती है इसी प्रकार तू भी जिस कुल में उत्पन्न हुआ है उसी का नाश करना चाहता है ॥

एतेन किंचिदप्याहुश्चोदिता ह्यपि कृष्णया ।
धर्मेण विजितामेतां मन्यन्ते द्रुपदात्मजाम् ॥२७॥

अर्थ–देख यहां पर सब बड़े २ प्रतिष्ठित पुरुष बैठे हुए हैं वह सब द्रौपदी को धर्मपूर्वक जीती हुई मानकर उसके बार २ पूछने पर भी कुछ उत्तर नहीं देते ॥

त्वं तु केवल बाल्येन धार्त्तराष्ट्र विदीर्यसे ।
यद्ब्रीषि सभामध्ये बालः स्थविरभाषितम् ॥२८॥
नचधर्मं यथावत्त्वं वेत्सि दुर्योधनावर ।
यद्ब्रीषि जितां कृष्णां न जितेति सुमंदधीः ॥२९॥

अर्थ–तू अज्ञानी बालक होकर क्यों निकला पढ़ता है जो सभा के मध्य में वृद्धों की भांति बोलता है, हे मंदबुद्धि दुर्योधन के छोटे भाई विकर्ण! तेरा यह कहना कि द्रौपदी जीती नहीं गई, यह तेरे यथावत् धर्म न जानने का कारण है ॥

कथं ह्यविजितां कृष्णां मन्यसे धृतराष्ट्रज ।
यदा सभायां सर्वस्वं न्यस्तवान् पाण्डवाग्रजः ॥३०॥
अभ्यंतरा च सर्वस्वे द्रौपदी भरतर्षभ ।
एवं धर्मजितां कृष्णां मन्यसे न जितां कथम् ॥३१॥

अर्थ–भला हमें भी तो बता कि तू द्रौपदी को बिना जीती कैसे मानता है, जब युधिष्ठिर ने सब सभा के सन्मुख अपना सम्पूर्ण धन दाउ पर लगा दिया तो क्या द्रौपदी सब धन में नहीं है जो तू उसको बिना जीती हुई कहता है ॥

कीर्तिता द्रौपदी वाचा अनुज्ञाता च पाण्डवैः ।
भवत्यविजिताकेन हेतुनैषामतातव ॥३२॥

अर्थ-जब पांडवों ने आपही कहदिया और आज्ञा देदी "कि तू अपने श्वशुर धृतराष्ट्र के समीप आजा" फिर कौनसी ऐसी बात रही जिससे तैने उसको बिना जीती समझा ॥

यच्चैषां द्रविणं किंचिद्याचैषा येच पाण्डवाः ।
सौबलेनेह तत्सर्वं धर्मेण विजितं वसु ॥३३॥
दुःशासन सुबालोयं विकर्णः प्राज्ञवादिकः ।
पाण्डवानां च वासांसि द्रौपद्याश्चाप्युपाहर ॥३४॥

अर्थ-शकुनि ने पांचो पाण्डव और द्रौपदी को सम्पूर्ण धन सहित धर्मपूर्वक जूए में जीता है, सो हे दुःशासन ! यह विकर्ण तो अज्ञानी है तुम इन पाण्डव और द्रौपदी के वस्त्रों को भी उतार लो ॥

तच्छ्रुत्वा पाण्डवाः सर्वे स्वानि वासांसि भारत ।
अवकीर्योत्तरीयाणि सभायां समुपाविशन् ॥ ३५ ॥
ततो दुःशासनः राजन् द्रौपद्या वसनं बलात् ।
सभामध्ये समाक्षिप्यव्यपाकृष्टं प्रचक्रमे ॥ ३६ ॥

अर्थ-यह सुनकर सब पाण्डवों ने अपने २ वस्त्र उतारकर अलग रखदिये और सभा में बैठ गये, तत्पश्चात् दुःशासन सभा के बीच में बल से द्रौपदी के वस्त्रों को खेंचकर उतारने लगा ॥

वैशम्पायन उवाच

आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्या चिंतितो हरिः ।
गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्णगोपीजनप्रिय ।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येवसीदतीम् ॥३७॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! तब द्रौपदी वस्त्रों के उतारते समय कृष्ण को अपना सहायक जानकर बोली कि हे गोविन्द ! हे द्वारकावासी ! हे कृष्ण ! हे गोपीजनप्रिय ! मैं आपको प्राप्त हूं आप मेरी रक्षा करें, हे गोविन्द ! इस कौरवरूपी समुद्र में डूबती हुई मुझको बाहर निकालें ॥

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा कृष्णो गह्वरितोभवत् ।
आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्यास्तु विशांपते ।
तद्रूपमपरंवस्त्रं प्रादुरासीदनेकशः ॥३८॥

अर्थ—द्रौपदी का उक्त बचन सुनकर कृष्ण गद गद होगये, तब वस्त्र के खींचने पर कृष्ण ने द्रौपदी को उसी के समान नाना प्रकार के अनेक उत्तम वस्त्र दिये ॥

ततो हलहला शब्दस्तत्रासीद्घोरदर्शनः ।
शशंसुर्द्रौपदीं तत्र कुत्संतो धृतराष्ट्रजम् ॥ ३९ ॥

नोट—जो इस स्थल में यह लिखा है कि द्रौपदी के स्मरण करते समय श्रीकृष्ण द्वारकापुरी से आये और द्रौपदी को नाना प्रकार के उत्तम वस्त्रों से ढक दिया, और ज्यों २ दुःशासन उन वस्त्रों को खींचता जाता था त्यों २ श्वेत, काले, पीले वस्त्र निकलते आते थे, दुःशासन खींचतेर थक गया और वस्त्रों का बोझ एक छकड़े के समान होगया, इत्यादि ॥

यहां यह अर्थवाद है; द्रौपदी के स्मरण करते समय द्वारका से तत्काल ही कृष्णजी नहीं आये प्रत्युत वह वहीं थे, कृष्णजी को बलवान् तथा तेजस्वी जानकर अपनी अप्रतिष्ठा होते समय द्रौपदी ने उनकी शरण ली और उन्होंने उसको तत्काल ही और वस्त्र देदिये जिससे उसने अपना शरीर ढांप लिया और इसी अन्तर में सभा में कोलाहल होकर सभी लोग दुःशासन आदि का दुष्कर्म देख उससे विपरीत होगये ॥

अर्थ—तदनन्तर वहां बैठे हुए योद्धाओं का बड़ा हलहला शब्द होने लगा, और सब राजा लोग दुर्योधन की निन्दा और द्रौपदी की प्रशंसा करने लगे ॥

शशाप तत्र भीमस्तु राजमध्ये बृहत्स्वनः ।
क्रोधाद्विस्फुरमाणौष्ठो निष्पिष्य करे करम् ॥ ४० ॥

अर्थ—तब भीमसेन के क्रोध से ओष्ठ फड़कने लगे और हाथ से हाथ मलकर सब राजाओं के बीच यह शपथ खाई कि:—

इदं मे वाक्यमादध्वं क्षत्रिया लोकवासिनः ।
नोक्तपूर्वं नरैरन्यैर्न चान्यो यद्वदिष्यति ॥ ४१ ॥
अस्य पापस्य दुर्बुद्धेर्भारतापसदस्य च ।
न पिबेयं बलाद्वक्षो भित्त्वा चेद्रुधिरं युधि ॥४२॥
यद्येतदेवमुक्त्वाहं न कुर्यां पृथिवीश्वराः ।
पितामहानां पूर्वेषां नाहं गतिमवाप्नुयाम् ॥४३॥

अर्थ—मैं सब राजाओं को सुनाकर प्रतिज्ञा करता हूं कि मैं युद्ध में इस नीच और महापापी भरतकुलकलंक दुःशासन के हृदय को फाड़कर इसका लोहू पीऊंगा, आज तक ऐसी प्रतिज्ञा न किसी ने की और न कोई करेगा, परन्तु जो मैं इस अपनी प्रतिज्ञा को सत्य न करूं तो मुझको मेरे पूर्व पुरुषाओं की गति न मिले ॥

इति पंचचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ षट्चत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०—अब धृतराष्ट्र का द्रौपदी को वर देना और पाण्डवों का दासभाव से छूटना कथन करते हैं:—

विदुर उवाच

परंभयं पश्यत भीमसेनात्तद्बुद्धयध्वं
पार्थिवाःप्रातिपेयाः। दैवेरितोनूनमयं
पुरस्तात्परोनयो भरतेषूदपादि ॥ १ ॥

अर्थ—तत्पश्चात् विदुरजी बाल कि हे प्रतीपवंशी राजा लोगो! अब भी समझो भीमसेन का बड़ा भय है, और इन भरतवंशियों की मति तो देवताओं ने पहिले ही हरली है जिसके कारण यह बड़ी अनीति कर रहे हैं ॥

अतिद्यूतं कृतमिदं धार्त्तराष्ट्र यस्मात्स्त्रियं
विवदध्वं सभायां। योगक्षेमौ नश्यतो वः
समग्रौ पापान्मंत्रान्कुरवो मंत्रयन्ति ॥२॥

अर्थ—हे दुर्योधन! यह जूआ मर्यादा से आगे बढ़गया जिसके कारण तुम स्त्री को सभा में लाकर विवाद कर रहे हो, तुम लोगों का ऐश्वर्य तथा बड़प्पन तो स्त्री को सभा में लाकर उसको क्लेशित करने से ही नष्ट होचुका, और अभीतक कुमंत्र= खोटी सलाह ही करते चले जारहे हो, मुझे तुम सब का कल्याण दिखाई नहीं देता ॥

इमं धर्मं कुरवो जानता शुच्वस्ते धर्मे
परिषत्संप्रदुष्येत्। इमां चेत्पूर्वं कितवोऽ
ग्लहिष्यदीशोऽभविष्यदपराजितात्मा ॥३॥

अर्थ-हे कौरवो! आप लोगों को यह धर्म समझना उचित है, क्योंकि इस धर्म को न समझने से सभा को दूषण लगता है, जो युधिष्ठिर अपने को विना हारे द्रौपदी को हारजाता तो निस्सन्देह वह उसका स्वामी रहता, और :—

स्वप्ने यथैतद्विजितं धनं स्यादेवं मन्ये
यस्य दीव्यत्यनीशः। गान्धारराजस्य
वचो निशम्य धर्मादस्मात्कुरवोमापयात॥४॥

अर्थ-ऐसे ज्वारी से धन जीतना जो उस धन का स्वामी नहीं है वह जीता हुआ धन स्वप्न में मिले हुए धन के समान है, इस लिये आप लोगों को कन्धार के राजा शकुनी की सलाह सुनकर धर्म से हटना उचित नहीं ॥

दुर्योधन उवाच

भीमस्यवाक्ये तद्वदेवार्जुनस्यास्थितोहं
वै यमयोश्चैवमेव। युधिष्ठिरं ते प्रवदं-
त्वनीशमथोदास्यान्मोक्ष्यसे याज्ञसेनि ॥५॥

अर्थ-दुर्योधन बोला कि हे विदुर! अब मैं इस बात को भीमसेन, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव के ऊपर ही छोड़ता हूं, यह अपने मुख से कहदें कि युधिष्ठिर इसका स्वामी नहीं है तो मैं अभी द्रौपदी को दासीभाव से मुक्त करदूंगा॥

अर्जुन उवाच

ईशो राजा पूर्वमासीद्ग्लहे नः कुन्तीसुतो धर्मराजो महात्मा। ईशस्त्वयं कस्य पराजितात्मा तज्जानीध्वं कुरवः सर्व एव ॥ ६ ॥

अर्थ-अर्जुन बोला कि हे दुर्योधन ! यह धर्मराज युधिष्ठिर पहले हम सबके स्वामी थे परन्तु आप सब लोग इस बात को समझें कि अपने आपको हारने पर यह युधिष्ठिर किसी के स्वामी रहे ? अर्थात् नहीं रहे ॥

धृतराष्ट्र उवाच

हतोसि दुर्योधन मंदबुद्धे यस्त्वं सभायां कुरुपुंगवानां । स्त्रियं समाभाषसिदुर्विनीत विशेषतो द्रौपदीं धर्मपत्नीम् ॥७॥

अर्थ-धृतराष्ट्र बोला कि हे दुर्बुद्धि दुर्योधन ! तू बड़ा नीच है जो श्रेष्ठ कुरुवंशियों की सभा में स्त्री से बात करता है और विशेषकर इस धर्मपत्नी द्रौपदी से ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषीहितान्वेषी बान्धवानामपायात्। कृष्णां पांचालीमब्रवीत्सांत्वपूर्वं विमृश्यैतत्प्रज्ञया तत्त्वबुद्धिः ॥८॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तत्वज्ञ तथा बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र दुर्योधन से उक्त प्रकार कहकर अपने भाइयों के वियोग समय विचारपूर्वक द्रौपदी से बोले कि:—

वरं वृणीष्व पांचालि मत्तो यदभिवांछसि ।
वधूनां हि विशिष्टामे त्वं धर्मपरमासती ॥९॥

अर्थ–हे द्रौपदि ! तू वधुओं में श्रेष्ठ, धर्मचारिणी और पतिव्रता है, सो जो तेरी इच्छा हो सो मुझसे वर मांग ॥

द्रौपदी उवाच

ददासि चेद्वरं मह्यं वृणोमि भरतर्षभ ।
सर्वधर्मानुगः श्रीमानदासोस्तु युधिष्ठिरः ॥१०॥
मनास्विनमजानन्तो मैवं ब्रूयुः कुमारकाः ।
एष वै दास पुत्रो हि प्रतिविंध्यं ममात्मजम् ॥११॥

अर्थ–द्रौपदी बोली कि हे भरतकुलभूषण महाराज ! जो आप मुझे वर देना चाहते हैं तो यह वर दें कि श्रीमान् धर्मात्मा युधिष्ठिर अदास हों, और मेरे मनस्वी प्रतिविंध्य पुत्र को कोई दासपुत्र न कहे, जैसा वह राजाओं मे लालित होकर राजपुत्र कहाता था वैसा ही रहे ॥

धृतराष्ट्र उवाच

एवंभवतु कल्याणि यथात्वमभिभाषसे ।
द्वितीयं ते वरं भद्रे ददानि वरयस्व ह ।
मनोहि मे वितरतिनैकं त्वं वरमर्हसि ॥१२॥

अर्थ–धृतराष्ट्र बोले कि हे द्रौपदी ! जो तू कहती है वह तुझे वरदान दिया, ऐसा ही होगा, परन्तु तू एक ही वरदान के योग्य नहीं, मैं तुझको और वर देना चाहता हूं जो इच्छा हो सो मांग ॥

द्रौपदी उवाच

सरथौ सधनुषौ च भीमसेनधनंजयौ ।
यमौ च वरये राजन्नदासान् स्ववशानहम् ॥१३॥

अर्थ–द्रौपदी बोली कि हे महाराज! भीमसेन, अर्जुन, नकुल तथा सहदेव अदास हों, और उनको उनके रथ तथा धनुष देदिये जायं ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तथास्तु ते महाभागे यथात्वं नन्दिनीच्छसि ।
तृतीयंवरयास्मत्तो नासिद्वाभ्यां सुसंस्कृता ।
त्वं हि सर्वस्नुषाणां मे श्रेयसी धर्मचारिणी ॥१४॥

अर्थ–धृतराष्ट्र बोले कि हे महाभाग! तथास्तु=ऐसा ही होगा, अब तू तीसरा वर मुझसे और मांग, तुझे दो वरदान देने से मेरी तृप्ति नहीं हुई, क्योंकि तू धर्मचारिणी और मेरी सब बहुओं में श्रेष्ठ है ॥

द्रौपदी उवाच

लोभो धर्मस्य नाशाय भगवन्नाहमुत्सहे ।
अनर्हा वरमादातुं तृतीयं राजसत्तम ॥१५॥

अर्थ–द्रौपदी बोली कि हे राजाओं में श्रेष्ठ महाराज! अधिक लोभ करने से धर्म का नाश होता है, इसलिये मैं अब तीसरा वर मांगना नहीं चाहती ॥

एकमाहुर्वैश्यवरं द्वौ तु क्षत्रास्त्रयो वरौ ।
त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ब्राह्मणस्य शतंवराः ॥१६॥

पापीयांस इमे भूत्वा संतीर्णाः पतयो मम ।
वेत्स्यन्ति चैव भद्राणि राजन्पुण्येन कर्मणा ॥१७॥

अर्थ–शास्त्र में वैश्य को एक वर, क्षत्राणी को दो, राजा को तीन और ब्राह्मण को सौ वर तक लिखा है, सो हे राजन् ! मेरे यह पति अब दासभावरूप पाप से छूटकर शुभकर्म करके बहुत कल्याण को प्राप्त होंगे ॥

इति षट्चत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०–अब कर्ण की बात सुनकर भीमसेन का क्रोधित होना और युधिष्ठिर का उसके क्रोध को शान्त करना कथन करते हैंः—

कर्ण उवाच

यानः श्रुता मनुष्येषु स्त्रियो रूपेण संमताः ।
तासामेतादृशं कर्म न कस्याश्च न शुश्रुम ॥१॥
क्रोधाविष्टेषु पार्थेषु धार्त्तराष्ट्रेषु चाप्यति ।
द्रौपदी पाण्डुपुत्राणां कृष्णा शान्तिरिहाभवत् ॥२॥
अप्लवेऽम्भसि मग्नानामप्रतिष्ठे निमज्जताम् ।
पांचाली पाण्डुपुत्राणां नौरेषा पारगाभवत् ॥३॥

अर्थ–कर्ण बोला कि मैंने आज तक जितनी स्वरूपवान् स्त्रियां सुनी हैं उनमें से ऐसा कर्म किसी स्त्री का नहीं सुना

जैसा इस द्रौपदी ने किया कि पाण्डव तथा धृतराष्ट्र के पुत्रों के क्रोध को शान्त करके पाण्डवों को महादुःखरूप समुद्र में से नौकारूप होकर निकाला है ॥

वैशम्पायन उवाच

तद्वैश्रुत्वा भीमसेनः कुरुमध्येत्यमर्षणः ।
स्त्रीगतिः पाण्डुपुत्राणामित्युवाचसुदुर्मनाः ॥४॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! भीमसेन यह बात सुनकर कि "पाण्डवों की गति स्त्री हुई" बड़ा क्रोधित हुआ और दुःखी होकर बोला कि:—

त्रीणि ज्योतींषि पुरुष इति वै देवलोऽब्रवीत् ।
अपत्यंकर्म विद्या च यतः सृष्टाः प्रजास्ततः ॥५॥

अर्थ–मैंने देवल ऋषि से सुना है कि सन्तान, शुभकर्म और विद्या, यह तीनों लोक के प्रकाश करने वाले हैं अर्थात् इन्हीं तीनों प्रकाशरूप ज्योति से प्रजा उत्पन्न होती है, और:—

अमेध्ये वै गतप्राणे शून्य ज्ञाति भिरुज्झिते ।
देहेत्रितयमेवैतत्पुरुषस्योपयुज्यते ॥६॥

अर्थ–यही तीनों उन मनुष्यों का "जिनके प्राण अपवित्रता से छुटे वा जिनको जाति वालों ने छोड़दिया अथवा जो शून्य स्थान में हैं" उपकार करने वाले हैं ॥

तन्नो ज्योतिरभिहतं दाराणामभिमर्शनात् ।
धनंजय कथंस्वित्स्यादपत्यमभिमृष्टजम् ॥७॥

अर्थ–सो वह सन्तान विना स्त्री के कैसे होसकती है, इस

कारण स्त्री ही सबकी परमगति है, हे अर्जुन! सत्य है जो मनुष्य परपुरुष की संगत से उत्पन्न हो वह ऐसा क्यों न कहे, जैसा कर्ण कहता है ॥

अर्जुन उवाच

नचैवोक्ता नचानुक्ता हीनतः परुषागिरः ।
भारत प्रतिजल्पन्ति सदातूत्तम पूरुषाः ॥८॥
स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।
संतः प्रतिविजानन्तो लब्धसंभावनाःस्वयम् ॥९॥

अर्थ-अर्जुन बोला कि हे भीमसेन! जो भले पुरुष होते हैं वह नीच आदमी से बात नहीं करते चाहे वह कुछ कहे वा न कहे, और संत=सत्पुरुष दूसरे के किये उपकार को जानकर सदैव सुकृत=कल्याणकर कर्मों का ही स्मरण करते अर्थात् सदा उसका भला ही चिन्तन करते हैं और किये हुए वैर को कभी हृदय में नहीं आने देते ॥

भीम उवाच

इहैवैतांस्तूर्णसर्वान्हन्मिशत्रून्समागतान् ।
अथ निष्क्रम्य राजेन्द्र समूलान्हन्मि भारत ॥१०॥
किन्नो विवदितेनेह किमुक्तेन च भारत ।
अद्यैवैतान्निहन्मीह प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ॥११॥

अर्थ-फिर भीमसेन राजा युधिष्ठिर से बोला कि हे राजेन्द्र! यहां वृथा वाद विवाद करने से क्या लाभ, यदि आप आज्ञा दें तो हम लोग बाहर निकलकर इन सब शत्रुओं का हनन करके निर्मूल करदें, फिर आप इस पृथ्वी का शासन भलेप्रकार करें ॥

इत्युक्त्वा भीमसेनस्तुकनिष्ठैर्भ्रातृभिः सह ।
मृगमध्ये यथासिंहो मुहुर्मुहुरुदैक्षत ॥१२॥

अर्थ–यह कहकर भीमसेन वहां भाइयों सहित इस प्रकार वार २ देखने लगा जैसे मृगों के वीच सिंह देखता है ॥

सांत्व्यमानो वीक्षमाणः पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा ।
खिद्यत्येव महावाहुरंतर्दाहेन वीर्य्यवान् ॥१३॥
क्रुद्धस्य तस्य स्रोतेभ्यः कर्णादिभ्यो नराधिप ।
सधूमः सस्फुलिंगार्चिः पावकः समजायत ॥१४॥
भ्रुकुटीकृत दुष्प्रेक्षमभवत्तस्यतन्मुखम् ।
युगान्तकाले संप्राप्ते कृतांतस्येव रूपिणः ॥१५॥

अर्थ–उस समय बलवान् भीमसेन बड़े क्लिष्टकर्म करने वाले युधिष्ठिर के शान्तस्वरूप को देखकर दुःखित हुआ और क्रोध के कारण उसके कान, नाक आदि सब स्रोतों से धूम और चिनगारियां सहित आग निकलने लगी अर्थात् वह क्रोध के मारे जल उठा, और प्रलयकाल के रुद्ररूप सदृश उसका मुख, भोहें आदि चढ़ाने से ऐसा भयानक होगया कि उसके सन्मुख मनुष्य नहीं देखसकता था ॥

युधिष्ठिरस्तमावार्य बाहुनाबाहुशालिनम् ।
मैवमित्यब्रवीच्चैनं जोषमास्वेति भारत ॥१६॥

अर्थ–तव युधिष्ठिर ने उसका ऐसा स्वरूप देख हाथ पकड़कर कहा कि भाई ऐसा मत कहो चुप होकर बैठे रहो ॥

निवार्य च महाबाहुं कोपसंरक्तलोचनम् ।
पितरं समुपातिष्ठत् धृतराष्ट्रं कृतांजलिः ॥१७॥

अर्थ-इस प्रकार महाबाहु भीमसेन को सान्त्वना देकर युधिष्ठिर दोनों हाथ जोड़कर धृतराष्ट्र के सन्मुख खड़ा होगया ॥

इति सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०-अब धृतराष्ट्र का युधिष्ठिर को शिक्षा करना और सब भाइयों सहित युधिष्ठिर का इन्द्रप्रस्थ को जाना कथन करते हैं:—

युधिष्ठिर उवाच

राजन् किंकरवामस्ते प्रशाध्यस्मांस्त्वमीश्वरः ।
नित्यंहि स्थातुमिच्छामस्तवभारतशासने ॥१॥

अर्थ-युधिष्ठिर बोले कि हे महाराज ! आप मेरे स्वामी हैं सो अब मेरे लिये क्या आज्ञा है ? मैं आपही की आज्ञा में रहना चाहता हूं ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अजातशत्रो भद्रं ते अरिष्टं स्वस्ति गच्छत।
अनुज्ञाताः सहधनाः स्वराज्यमनुशासत ॥२॥

इदं चैवावबोद्धव्यं वृद्धस्य मम शासनम् ।
मया निगदितं सर्वं पथ्यं निःश्रेयसं परम् ॥३॥

अर्थ–धृतराष्ट्र बोले कि हे अजातशत्रु युधिष्ठिर ! तुम्हारा कल्याण हो, अब तुम निर्विघ्न तथा शान्तिपूर्वक अपने घर को जाओ और धन सहित आनन्द से राज्य करो, और मुझे वृद्ध जानकर मेरी आज्ञा को अपने लिये कल्याणकारी समझो ॥

वेत्थ त्वं तात धर्माणां गतिं सूक्ष्मां युधिष्ठिर ।
विनीतोसि महाप्राज्ञ वृद्धानां पर्युपासिता ॥४॥

अर्थ–हे तात ! तुम धर्म की सूक्ष्म गति को जानते हो, और तुम नम्र, ज्ञानी तथा वृद्धों की सेवा करने वाले हो ॥

यतो बुद्धिस्ततः शान्तिः प्रशमं गच्छ भारत ।
नादारुणिपतेच्छस्त्रं दारुण्येतन्निपात्यते ॥५॥

अर्थ–जहां बुद्धि होती है वहां शान्ति रहती है अर्थात् बुद्धिमान् पुरुषों में सदैव क्षमा वास करती है, इससे अब तुम भी शान्त होकर रहो, और इस नीति को याद रखो कि शस्त्र पत्थर आदि कड़ी वस्तुओं पर नहीं चलता और नरम वस्तुओं को काट डालता है ॥

नैवराण्यभिजानन्ति गुणान्पश्यन्तिनागुणान् ।
विरोधं नाधिगच्छन्ति ये त उत्तमपूरुषाः ॥६॥

अर्थ–उत्तम पुरुष वैर को अपने मन में नहीं रखते और न विरोध करते हैं किन्तु गुणों पर ही ध्यान रखते हैं ॥

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।
संतः परार्थं कुर्वाणानावेक्षं ते प्रतिक्रियाम् ॥७॥

अर्थ—हे युधिष्ठिर ! संत=श्रेष्ठ पुरुष किसी से वैर न करते हुए मनुष्य के कल्याणकर कर्मों का ही स्मरण करते हैं और वह दूसरे के वैर को याद करके बदला लेने का उपाय नहीं करते ॥

संवादे परुषाण्याहुर्युधिष्ठिर नराधमाः ।
प्रत्याहुर्मध्यमास्त्वेतेऽनुक्ताः परुषमुत्तरम् ॥८॥
नचोक्ता नैव चानुक्तास्त्वहिताःपरुषागिरः ।
प्रतिजल्पन्ति वै धीराः सदातूत्तमपूरुषाः ॥९॥

अर्थ—हे युधिष्ठिर ! जो पुरुष बात चीत करने में खोटे वचन बोलते हैं वह अधम=नीच होते हैं, जो उस खोटे वचन को सुन कर वैसा ही उत्तर देते हैं वह मध्यम पुरुष हैं, और जो उत्तम तथा धैर्यवान हैं वह अप्रिय तथा मर्मछेदन करने वाले वचन सुनकर विषाद नहीं करते तथा नाही प्रत्युत्तर देते हैं, और:—

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।
संतः प्रतिविजानन्तो लब्ध्वा प्रत्ययमात्मनः॥१०॥

अर्थ—वह सत्पुरुष अपने आत्मा के समान ही दूसरे का भला चाहते हुए शुभकर्मों में प्रवृत्त रहते हैं, और जो कोई उन से कदाचित् वैर भी करे तो भी वह क्षमादृष्टि ही रखते हैं ॥

असंभिन्नार्यमर्यादाः साधवः प्रियदर्शनाः ।
तथा चरितमार्येण त्वयास्मिन्सत्समागमे ॥११॥

अर्थ-जैसे साधु पुरुष आर्य्यमर्यादा से बाहर नहीं होते वैसे ही इस सभा में आप लोगों ने किया है कि अपनी धर्ममर्यादा से बाहर नहीं हुए ॥

दुर्योधनस्य पारुष्यं तत्तात हृदि माकृथाः ।
मातरं चैव गांधारीं मां च त्वं गुणकांक्षया ॥१२॥
उपस्थितं वृद्धमन्धं पितरं पश्य भारत ।
प्रेक्षापूर्वं मयाद्यूतमिदमासीदुपेक्षितम् ॥१३॥

अर्थ-सो हे युधिष्ठिर ! अब तुम मुझ वृद्ध, अंधे तथा अपनी माता गान्धारी की ओर देखकर इस दुर्योधन के किये हुए कर्म को अपने मन से निकाल दो, यह जूआ केवल एक विलासमात्र के लिये मेरी ही प्रेरणा से हुआ था ॥

मित्राणि द्रष्टुकामेन पुत्राणां च बलाबलम् ।
अशोच्याः कुरवो राजन् येषां त्वमनुशासिता॥१४॥

अर्थ-मुझे अपने पुत्रों का बलाबल और मित्रों को देखना था, शोच न करने योग्य कौरवों के आप राजा हैं इसलिये आप को किसी बात का शोच करना उचित नहीं ॥

मंत्री च विदुरो धीमान् सर्वशास्त्रविशारदः ।
त्वयि धर्मोऽर्जुने धैर्यं भीमसेने पराक्रमः॥१५॥
श्रद्धा च गुरुशुश्रूषा यमयोः पुरुषाग्र्ययोः ।
अजातशत्रो भद्रं ते खाण्डवप्रस्थमाविश ।
भ्रातृभिस्तेऽस्तु सौभ्रात्रं धर्मे ते धीयतां मनः॥१६॥

अर्थ-निस्सन्देह हमारे मंत्री विदुरजी बड़े पण्डित तथा बुद्धिमान् हैं और तुम धर्मात्मा, अर्जुन धैर्य्यवान्, भीमसेन पराक्रमी तथा नकुल, सहदेव बड़ों की शुश्रूषा करने वाले हैं, ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे, तुम्हारी बुद्धि धर्म में तत्पर रहे और दुर्योधन आदि भाइयों से तुम्हारी प्रीति रहे, अब तुम लोग खाण्डवप्रस्थ को जाओ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तो भरतश्रेष्ठ धर्मराजो युधिष्ठिरः।
कृत्वार्यसमयं सर्वं प्रतस्थे भ्रातृभिःसह ॥१७॥
ते रथान्मेघसंकाशानास्थाय सह कृष्णया।
प्रययुर्हृष्टमनस इन्द्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ॥१८॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे भरतकुलश्रेष्ठ राजन्! धृतराष्ट्र की उक्त बातें सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर ने सब बातों के करने की प्रतिज्ञा की, और वहां से सब भाई द्रौपदी सहित रथों में बैठकर इन्द्रप्रस्थ को चलदिये॥

इति अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकोनपंचाशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०-अब दुर्योधन का धृतराष्ट्र से अनेक कारण कहकर पाण्डवों को पुनः जूआ खेलने के लिये बुलाना कथन करते हैं:—

जनमेजय उवाच

अनुज्ञातांस्तान् विदित्वा सरत्नधनसंचयान् ।
पाण्डवान्धार्त्तराष्ट्राणां कथमासीन्मनस्तदा ॥१॥

अर्थ–जनमेजय बोले कि हे महाराज! जब धृतराष्ट्र ने पाण्डवों को सब रत्न तथा धन देकर इन्द्रप्रस्थ चलेजाने की आज्ञा दे दी तब धृतराष्ट्र के पुत्रों के मन की क्या गति हुई ? ॥

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातांस्तान्विदित्वा धृतराष्ट्रेण धीमता ।
राजन् दुःशासन क्षिप्रं जगाम भ्रातरं प्रति ॥२॥
दुर्योधनं समासाद्य सामात्यं भरतर्षभ ।
दुःखार्त्तो भरतश्रेष्ठ इदं बचनमब्रवीत् ॥३॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! दुःशासन बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्र से पाण्डवों को राज्य सहित इन्द्रप्रस्थ जाने की आज्ञा दीहुई जानकर महादुःखी हुआ और मन्त्री तथा अपने भाई दुर्योधन के समीप जाकर यह बचन बोला कि :—

दुःखेनैतत्समानीतं स्थविरो नाशयत्यसौ ।
शत्रुसाद्गमयद्द्रव्यं तद्बुध्यध्वं महारथाः ॥४॥
अथ दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
मिथः संगम्य सहिताः पाण्डवान्प्रतिमानिनः ॥५॥
वैचित्रवीर्यं राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् ।
अभिगम्यत्वरायुक्ताः श्लक्ष्णं बचनमब्रुवन् ॥६॥

अर्थ–हे भाई दुर्योधन! देखो किस दुःख से तो शत्रु को वश करके हमने धन लिया था परन्तु इस बुड्ढे ने सब किया कराया व्यर्थ करदिया, यह सुनकर दुर्योधन, शकुनि और कर्ण तीनों पाण्डवों से बदला लेने की इच्छा से तुरन्त ही धृतराष्ट्र के पास पहुंचे और उनसे स्नेहसहित कहने लगे कि :—

नत्वयेदं श्रुतं राजन् यज्जगाद बृहस्पतिः ।
शुक्रस्य नीतिं प्रवदन् विद्वान् देव पुरोहितः ॥७॥

अर्थ–हे राजन! आपने शुक्र की कही हुई नीति जो बृहस्पति जी ने देवताओं से उनके हितार्थ कही थी वह नहीं सुनी ॥

सर्वोपायैर्निहंतव्याः शत्रवः शत्रुसूदन ।
पुरायुद्धाद्बलाद्वापि प्रकुर्वन्ति तवाहितम् ॥८॥

अर्थ–हे शत्रुनाशक राजन्! मनुष्य को चाहिये कि अपने शत्रु को युद्ध तथा पराक्रम करने से पहले ही जिस उपाय द्वारा होसके मारडाले, क्योंकि शत्रु सदा ही अहित करता है ॥

ते वयं पाण्डवधनैः सर्वान्संपूज्य पार्थिवान् ।
यदि तान् योधयिष्यामः किं वै नः परिहास्यति॥९॥

अर्थ–हमारी इच्छा थी कि हम पाण्डवों के धन से सब राजाओं को अपने वश में करलें, और यदि ऐसा करने पर पाण्डवों से हमारा युद्ध भी होता तो कुछ हानि न थी ॥

अहीनाशीविषान्क्रुद्धान्नाशायसमुपस्थितान् ।
कृत्वा कंठे च पृष्ठे च कः समुत्स्रष्टुमर्हति ॥१०॥

अर्थ–भला ऐसा कौन मनुष्य होगा जो विषधारी सर्पों को अपने आपको नाश करने के लिये अपने कंधों और पीठ पर छोड़ेगा ॥

आत्तशस्त्रारथगताः कुपितास्तात पाण्डवाः ।
निःशेषं वः करिष्यन्ति क्रुद्धाह्याशीविषा इव ॥११॥

अर्थ—सो हे पिता ! पाण्डव भी सांपों की भांति क्रोधित हो-रहे हैं वह जिस समय शस्त्र लिये हुए रथों पर चढ़कर आवेंगे उसी समय हम सबका हनन करदेंगे, एक को भी शेष न छोड़ेंगे ॥

सन्नद्धो ह्यर्जुनो याति विधृत्य परमेषुधी ।
गांडीवं मुहुरादत्ते निःश्वसंश्च निरीक्षते ॥१२॥
गदां गुर्वीं समुद्यम्य त्वरितश्च वृकोदरः ।
स्वरथंयोजयित्वाशु निर्यात इति नः श्रुतम्॥१३॥

अर्थ—हे राजन् ! अर्जुन यहां से चलते समय रथ में बैठ तरकसों को बांधकर वार २ गाण्डीव धनुष को उठाता तथा श्वास भरकर वार २ चारो ओर देखता था, और भीमसेन भी अपनी भारी गदा को उठा अपना रथ जोतकर शीघ्र ही चल दिया, ऐसा हमने सुना है ॥

नकुलः खड्गमादाय चर्मचाप्यर्द्धचन्द्रवत् ।
सहदेवश्च राजाच चक्रुराकारमिंगितैः ॥१४॥
ते त्वास्थाय रथान्सर्वे बहुशस्त्रपरिच्छदान् ।
अभिघ्नन्तो रथव्रातान्सेनायोगाय निर्ययुः ॥१५॥
न क्षंस्यन्तेतथास्माभिर्जातु विप्र कृताहिते ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं कस्तेषां क्षन्तुमर्हति ॥१६॥

अर्थ—नकुल ने भी अपनी अर्द्धचन्द्रमा के समान ढाल और तलवार उठाली, सहदेव तथा युधिष्ठिर यों ही गये हैं, उन के आकार

तथा चेष्टा से ऐसा प्रतीत होता था कि वह सब रथों को दौड़ाते हुए अनेक शस्त्र और सेना लेने के लिये गये हैं, सो वह सेना लाकर अवश्य उत्पात करेंगे, क्योंकि हमने उनके साथ जो वर्ताव किया तथा द्रौपदी को जो क्लेश दिये हैं उनको वह कभी न सह सकेंगे, इसलिये :—

पुनर्दीव्याम भद्रं ते वनवासाय पाण्डवैः ।
एवमेतान्वशे कर्तुं शक्ष्यामः पुरुषर्षभ ॥१७॥
ते वा द्वादशवर्षाणि वयं वा द्यूतनिर्जिताः ।
प्रविशेम महारण्यमजिनैः प्रतिवासिताः ॥१८॥
त्रयोदशं सजनेन अज्ञाताः प्रतिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥१९॥
निवसेम वयं ते वा तथा द्यूतं प्रवर्त्तताम् ।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥२०॥
एतत्कृत्यतमं राजन्नस्माकं भरतर्षभ ।
अयं हि शकुनिर्वेदसविद्यामक्षसंपदम् ॥२१॥

अर्थ—हे पुरुषोत्तम ! मैं यह चाहता हूं कि आप फिर उनको लौटाकर जूआ करायें, अबकी वार हम उनसे यह प्रण करेंगे अर्थात् यह दाउ बदेंगे कि जो जीते वह दोनों का राज्य पावे और हारने वाला मृगछाला ओढ़कर बारहवर्ष बन में वसे, तेरहवें वर्ष में गुप्त रहे और जो उस तेरहवें वर्ष में कोई उसको यह जानले कि यह अमुक है तो वह फिर बारहवर्ष तक वनवास करे, हे राजन् ! ऐसा करने से हम पाण्डवों को अपने वश में करलेंगे, क्योंकि यह शकुनि पासे फेंकने में बड़ा चतुर है ॥

दृढ़मूला वयं राज्ये मित्राणि परिगृह्य च ।
सारवद्विपुलं सैन्यं सत्कृत्य च दुरासदम् ॥२२॥
ते च त्रयोदशं वर्षं पारयिष्यन्ति चेद्व्रतम् ।
जेष्यामस्तान्वयं राजन् रोचतां ते परंतप ॥२३॥

अर्थ–यदि पाण्डव तेरहवर्ष का व्रत पूरा करके आभी जावेंगे तो भी उतने काल में हम सब मित्रों को वश करके तथा बहुतसी सेना को आदर सहित इकट्ठा कर हाथों हाथ उनको युद्ध में जीत लेंगे, सो हे राजन्! आपको हमारा यह कथन मानना उचित है ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तूर्णं प्रत्यानयस्वैतान्कामं व्यध्वगतानपि ।
आगच्छन्तु पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥२४॥

अर्थ–धृतराष्ट्र बोला कि अभी जाकर पाण्डवों को जो दूर भी निकल गये हों तो भी शीघ्र लौटा लाओ ताकि वह यहां आकर पुनः उक्त दाउ बदकर जूआ खेलें ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणः सोमदत्तो बह्लीकश्चैव गौतमः ।
विदुरो द्रोणपुत्रश्च वैश्यापुत्रश्च वीर्य्यवान् ॥२५॥
भूरिश्रवाः शान्तनवो विकर्णश्च महारथः ।
माद्यूतमित्यभाषंत शमोऽस्त्विति च सर्वशः ॥२६॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! द्रोणाचार्य्य, सोमदत्त, वाह्लीक, कृपाचार्य्य, विदुर, अश्वत्थामा, पराक्रमी युयुत्सु, भूरि-

श्रवा, भीष्मपितामह और विकर्ण इन सब महारथियों ने राजा धृतराष्ट्र से पृथक् २ कहा कि अब जूआ होना उचित नहीं ॥

अकामानां च सर्वेषां सुहृदामर्थदर्शिनाम् ।
अकरोत्पाण्डवाह्वानं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ॥२७॥

अर्थ—परन्तु धृतराष्ट्र ने उनके कथन पर ध्यान न देकर अपने पुत्र का प्रिय करने की इच्छा से उन पाण्डवों को फिर बुलाया जो जूआ खेलना नहीं चाहते थे ॥

इति एकोनपंचाशोऽध्यायः समाप्तः

अथ पंचाशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०—अब गान्धारी का धृतराष्ट्र को दुर्योधन के त्याग का उपदेश कथन करते हैं :—

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्महाराज धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
पुत्रहार्दाद्धर्मयुक्ता गान्धारीशोककर्षिता ॥१॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! तत्पश्चात् गान्धारी पुत्र के स्नेह से अपने पति राजा धृतराष्ट्र के पास आई और शोकयुक्त होकर धर्मानुसार उनसे कहने लगी कि:—

जाते दुर्योधने क्षत्ता महामतिरभाषत ।
नीयतां परलोकाय साध्वयं कुलपांसनः ॥२॥

व्यनदज्जातमात्रो हि गोमायुरिवभारत ।
अन्तो नूनं कुलस्यास्य कुरवस्तन्निबोधत ॥३॥
मान्निमज्जीः स्वदोषेण महाप्सु त्वं हि भारत ।
माबालानामशिष्टानामभिमस्थामतिं प्रभो ॥४॥

अर्थ--हे राजन् ! आपको वह बात अब स्मरण करने योग्य है जो महाबुद्धिमान् विदुरजी ने दुर्योधन के जन्म समय कही थी कि इस कुलकलंकी का त्याग करदो, क्योंकि इसने उत्पन्न होते ही गीदड़ के रोने जैसा शब्द किया था, सो मुझे दीखता है कि अब कुल का नाश होने वाला है, आप वृद्ध होते हुए अपनी बुद्धि का तिरस्कार करके इन बालकों की बातों में आकर क्यों गहरे पानी में डूबते हैं ॥

माकुलस्यक्षयेघोरे कारणं त्वं भविष्यसि ।
बद्धंसेतुंकोनुभिंद्याद्धमेच्छांतं च पावकम् ॥५॥

अर्थ–आपको इस कुल के नाश होने का कारण बनकर बंधे हुए पुल को गिराना और बुझी हुई अग्नि को जलाना उचित नहीं है ॥

शमे स्थितान् कोनुपार्थान् कोपयेद्भरतर्षभ ।
स्मरंतंत्वामाजमीढं स्मारयिष्याम्यहं पुनः ॥६॥
शास्त्रं न शास्ति दुर्बुद्धिं श्रेयसेचेतराय च ।
न वै वृद्धो बालमतिर्भवेद्राजन् कथंचन ॥७॥
त्वन्नेत्राः संतुतेपुत्रामात्वांदीर्णाः प्रहासिषुः ।
तस्मादयंमद्वचनात्त्यज्यतां कुलपांसनः ॥८॥

अर्थ–भला ऐसा कौन काल का मारा हुआ होगा जो शान्त हुए पाण्डवों को फिर से कुपित करके अपना नाश कराना चाहे, हे राजन् ! मैं पुनः स्मरण दिलाती हूं कि आप वृद्ध हैं आपको बालकों की सी बुद्धि करना उचित नहीं, हां जो दुर्बुद्धि हो उसको तो शास्त्र का देखना भी गुणकारक नहीं होसकता पर आपतो बुद्धिमान् हैं, नेत्रों के तारे के समान आपके पुत्र आपको हंसी २ में कहीं नष्ट न करदें, इसलिये आप मेरे कहने से इस कुल के नाश करने वाले दुर्योधन को त्याग दीजिये ॥

तथातेन कृतंराजन्पुत्रस्नेहान्नराधिप ।
तस्य प्राप्तं फलं विद्धि कुलांतकरणाययत ॥९॥
शमेन धर्मेणनयेनयुक्तायातेबुद्धिःसास्तु
ते माप्रमादीः । प्रध्वंसिनीक्रूरसमाहिताश्री-
र्मृदु प्रौढागच्छति पुत्रपौत्रान् ॥ १० ॥

अर्थ–हे राजन् ! आपने पहिले भी इसको पुत्र के स्नेह से नहीं त्यागा था सो अब उसका कुलनाशक फल समीप आन पहुंचा है, आप तो धर्मात्मा, ब्रह्मज्ञानी और शमपरायण हैं आप अपनी बुद्धि को असावधान न करें, जो मनुष्य क्रूर होते हैं उनके घर की लक्ष्मी शीघ्र ही नष्ट होजाती है, और शीलवान् पुरुषों के घर में लक्ष्मी दिन २ बढ़कर बेटे पोते तक को प्राप्त होती है ॥

अथाब्रवीन्महाराजो गान्धारीं धर्मदर्शिनीम् ।
अंतःकामं कुलस्यास्तु न शक्नोमि निवारितुम् ॥११॥

यथेच्छन्ति तथैवास्तु प्रत्यागच्छन्तु पाण्डवाः ।
पुनर्द्यूतं च कुर्वन्तु मामकाः पाण्डवैःसह ॥१२॥

अर्थ–धर्मपरायण गान्धारी के उक्त वचन सुनकर राजा धृतराष्ट्र बोले कि जो इस कुल का नाश ही होना है तो मैं उसको नहीं रोक सकता. जो तू कहती है वह सब हो परन्तु पाण्डव यहां आकर मेरे पुत्रों से जूआ अवश्य खेलें ॥

इति पंचाशोऽध्यायः समाप्तः

अथ एकपंचाशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०–अब धृतराष्ट्र की आज्ञा से युधिष्ठिर का शकुनि के साथ पुनः जूआ खेलना और सर्वस्व हारकर वन को जाना कथन करते हैं:–

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यध्वगतं पार्थं प्रातिकामी युधिष्ठिरम् ।
उवाच बचनाद्राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥१॥
उपास्तीर्णासभाराजन्नक्षानुप्त्वा युधिष्ठिर ।
एहि पाण्डव दीव्येति ।पितात्वाहेति भारत ॥२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तदनन्तर प्रातिकामी बुद्धिमान् धृतराष्ट्र की आज्ञा से पाण्डवों के पास जो दूर निकल गये थे पहुंचा, और कहने लगा कि आपको धृतराष्ट्र ने बुलाया है और यह कहा है कि सभा में चौपड़ बिछरही है आप लोग यहां आवें और पासे फेंककर पुनः जूआ खेलें ॥

युधिष्ठिर उवाच

धातुर्नियोगाद्भूतानि प्राप्नुवंति शुभाशुभम् ।
न निवृत्तिरतयोरस्ति देवितव्यं पुनर्यदि ॥३॥
अक्षद्यूते समाह्वानं नियोगात्स्थविरस्य च ।
जानन्नपि क्षयकरं नातिक्रमितुमुत्सहे ॥४॥

अर्थ-युधिष्ठिर बोला कि मनुष्य को भली बुरी दोनों प्रकार की गति ईश्वर ही की इच्छा से मिलती है उसको कोई मनुष्य दूर नहीं करसकता, यद्यपि मैं जानता हूं कि जूआ खेलने में सिवाय हानि के कोई लाभ नहीं परन्तु मैं जूआ को नाशकारी जानता हुआ भी वृद्ध धृतराष्ट्र की आज्ञा उल्लङ्घन न करसकने के कारण जूआ अवश्य खेलुंगा ॥

वैशम्पायन उवाच

असंभवेहेममयस्यजंतोस्तथापिरामो
लुलुभे मृगाय। प्रायः समासन्नपरा-
भवाणां धियो विपर्यस्ततराभवन्ति ॥५॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! जब विपत्ति मनुष्य के निकट आती है तब उसकी बुद्धि भी विपरीत होजाती है, जैसे सुवर्णमय हरिण होना असम्भव होने पर भी राम का मन लुभायमान होगया था ॥

इतिब्रुवन्निववृते भ्रातृभिः सहपाण्डवः ।
जानंश्चशकुनेर्मायां पार्थो द्यूतमियात्पुनः ॥६॥
विविशुस्ते सभां तां तु पुनरेव महारथाः ।
व्यथयंतिस्म चेतांसि सुहृदां भरतर्षभाः ॥७॥

यथोपजोषमासीनाः पुनर्द्यूत प्रवृत्तये ।
सर्वलोकविनाशाय दैवेनोपनिपीडिताः ॥८॥

अर्थ—सब पाण्डव लोग उक्त रीति से कहते और शकुनि के छल को विचारते हुए जूआ खेलने को फिर लौटपड़े, और हस्तिनापुर में आकर उन सब महारथियों ने उसी सभाभवन में पुनः प्रवेश किया, हे भरतकुलश्रेष्ठ ! उनके सभाभवन में प्रवेश करने पर सब सुहृद् व्यथा को प्राप्त हुए और दैव की प्रेरणा से सब संसार का नाश करने के लिये फिर जूआ खेलने को बैटगये ॥

शकुनि उवाच

अमुंचत्स्थविरो यद्वोधनं पूजितमेवतत् ।
महाधनंग्लहंत्वेकं शृणुभो भरतर्षभ ॥९॥

अर्थ—तब शकुनि बोला कि हे युधिष्ठिर ! जो धन तुम्हें वृद्ध धृतराष्ट्र ने छोड़दिया है उस बड़े धन का हम आपसे एक दाउ बदकर खेलना चाहते हैं, सो हे भरतकुलश्रेष्ठ ! आप सुनें वह इस प्रकार है कि:—

वयं वा द्वादशाब्दानि युष्माभिर्द्यूतनिर्जिताः ।
प्रविशेम महारण्यं रौरवाजिनवाससः ॥१०॥
त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्चपुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥११॥
अस्माभिर्निर्जिता यूयं वने द्वादशवत्सरान् ।
वसध्वं कृष्णयासार्धमजिनैः प्रतिवासिताः ॥१२॥

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम् ।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥१३॥
त्रयोदशे च निर्वृत्ते पुनरेव यथोचितम् ।
स्वराज्यं प्रतिपत्तव्यमितरै रथवेतरैः ॥१४॥
अनेन व्यवसायेन सहास्माभिर्युधिष्ठिर ।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमेहि दीव्यस्व भारत ॥१५॥

अर्थ-एक ओर तो "दोनों का राज्य और घोड़ा, हाथी, बैल, बकरी तथा रत्न सुवर्णादि सब धन" और दूसरी ओर बारहवर्ष का बनवास अर्थात् जो जीते वह दोनों ओर का राज्य पावे और जो हारे वह मृगचर्म ओढ़कर बारहवर्ष तक घोर बन में वास करे और तेरहवें वर्ष में गुप्त रहे, वह इस नियम से कि उस तेरहवें वर्ष में जो कोई बराबर वाला यह जानले कि यह "अमुक" है तो फिर बारहवर्ष तक बन में वास करे, और तेरहवें वर्ष गुप्त रहे, सो हम में से जो जीते वह दोनों ओर का राज्य करे और हारने वाला मृगचर्म ओढ़कर बन को चलाजाय, हे युधिष्ठिर ! आओ दाउ बदकर हमसे जूआ खेलो ॥

अथ सभ्याः सभामध्ये समुच्छ्रित करास्तदा ।
ऊचुरुद्विग्नमनसः संवेगात्सर्व एवहि ॥१६॥
अहोधिग्बान्धवानैनं बोधयन्ति महद्भयम् ।
बुद्ध्याबुद्ध्येन्न वाबुद्ध्येदयं वै भरतर्षभ ॥१७॥

अर्थ-यह सुनकर सभा के सब सभ्य सभारूढ दुःखी मन वाले हुए २ ऊपर को हाथ उठाकर बड़े वेग से कहने लगे कि

हे धृतराष्ट्र! इन बान्धवों को धिक्कार है, यह लोग इस जूए से उत्पन्न होने वाले बड़े भय को नहीं जानते, हे भरतकुलश्रेष्ठ ! इस भय को जानकर इन्हें कोई समझाता नहीं अथवा इस भय को कोई जानता ही नहीं ॥

वैशम्पायन उवाच

जनप्रवादान्सु बहून् शृणवन्नपि नराधिपः ।
ह्रिया च धर्मसंयोगात्पार्थो द्यूतमियात्पुनः ॥१८॥
जानन्नपि महाबुद्धिः पुनर्द्यूतमवर्त्तयत् ।
अप्यासन्नोविनाशःस्यात्कुरूणामितिचिन्तयन्॥१९॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! युधिष्ठिर उस जनसमुदाय की बात सुनकर भी धर्म और लोकलाज के वश में हुआ २ कौरवों का नाश निकट जानकर चिन्ताग्रस्त हो पुनः जूआ खेलने की इच्छा से कहने लगा किः—

कथं वै मद्विधो राजा स्वधर्ममनुपालयन् ।
आहूतो विनिवर्त्तेतदीव्यामि शकुने त्वया ॥२०॥

अर्थ–हे शकुनि ! अपने धर्म का पालन करने वाला मुझसा राजा जूआ खेलने को बुलाया हुआ कैसे लौट सकता है सो आओ तुम्हारे साथ जूआ खेलें ॥

शकुनि उवाच

गवाश्वं बहुधेनूकमपर्यन्तमजाविकम् ।
गजाः कोशो हिरण्यं च दासीदासाश्च सर्वशः॥२१॥

एष नो ग्लह एवैको वनवासाय पाण्डवाः ।
यूयं वयं वा विजितावसेम वनमाश्रिताः ॥२२॥
त्रयोदशं च वै वर्षमज्ञाताः सजने तथा ।
अनेन व्यवसायेन दीव्याम पुरुषर्षभाः ॥२३॥

अर्थ-शकुनि बोला कि हे युधिष्ठिर ! आप दाउ को फिर समझलें, एक ओर तो हम तुम दोनों का राज्य, घोड़ा हाथी, बैल, बकरी, कोष, सुवर्ण और दास, दासी सब रखा हुआ है, और दूसरी ओर बारहवर्ष का वनवास और तेरहवें वर्ष में गुप्त-वास करना है, यदि तेरहवें वर्ष में कोई बराबर वाला मनुष्य वनवास करने वाले को जानले तो वह पुनः बारहवर्ष तक वन में बसे और हे पुरुषश्रेष्ठ ! जीतने वाला दोनों ओर का राज्य करे॥

समुत्क्षेपेण चैकेन वनवासाय भारत ।
प्रतिजग्राह तं पार्थो ग्लहं जग्राह सौबलः।
जितमित्येवशकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥२४॥

अर्थ-शकुनि का उक्त कथन सुनकर युधिष्ठिर ने एक बार के कहने ही से उस दाउ को स्वीकार किया, और शकुनि पासे फेंककर युधिष्ठिर से बोला कि मैं जीता ॥

इति एकपंचाशोऽध्यायः समाप्तः

अथ द्विपंचाशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०-अब पाण्डवों का मृगचर्म ओढ़कर वन को जाते समय उनकी प्रतिज्ञायें कथन करते हैं :—

वैशम्पायन उवाच

ततः पराजिताः पार्था वनवासाय दीक्षिताः ।
अजिनान्युत्तरीयाणि जगृहुश्च यथाक्रमम् ॥१॥
अजिनैः संवृतान् दृष्ट्वा हृतराज्यानरिन्दमान् ।
प्रस्थितान्वनवासाय ततो दुःशानोऽब्रवीत् ॥२॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! तत्पश्चात् पाण्डव सर्वस्व हारकर वन जाने के लिये तैयार होगये और सबने यथाक्रम मृगचर्म लेलिये, उस समय उनको राज्यहीन तथा मृगचर्म धारण किये वन जाने को तैयार देखकर दुःशासन बोला किः—

प्रवृत्तं धार्त्तराष्ट्रस्य चक्रं राज्ञो महात्मानः ।
पराजिताः पाण्डवेया विपत्तिं परमां गताः ॥३॥
अद्य देवाः संप्रयाताः समैर्वर्त्मभिरस्थलैः ।
गुणज्येष्ठास्तथा श्रेष्ठाः श्रेयांसो यद्वयं परैः ॥४॥

अर्थ—अहा !!! अब महात्मा दुर्योधन चक्रवर्त्ती राजा होगया और पाण्डव सर्वस्व हारकर महाविपत्ति में पड़गये, देवताओं ने हम पर सब ओर से कृपा की जो आज हम अपने शत्रुओं से गुणों में अधिक और श्रेष्ठ होगये ॥

नरकं पातिताः पार्था दीर्घकालमनन्तकम् ।
सुखाच्च हीना राज्याच्च विनष्टाःशाश्वतीःसमाः॥५॥

अर्थ—अब पाण्डव बहुत दिनों तक नरक भोगेंगे और राज्य के विनाश होने पर सुख से हीन हुए सब ओर निरन्तर बहुत काल तक मारे २ फिरेंगे ॥

धनेन मत्ता ये तेस्म धार्त्तराष्ट्रान्प्रहासिषुः ।
ते निर्जिता हृतधना वनमेष्यन्ति पाण्डवाः ॥६॥

अर्थ-यही पाण्डव थे जिन्होंने धन के मद से धृतराष्ट्र के पुत्रों की हंसी की थी, अब यह लोग अपना सर्वस्व हारकर बन को जाते हैं ॥

चित्रान्सन्नाहानवमुंचंतु चैषां वासांसिदि-
व्यानि च भानुमंति । विवास्यंतांरुरु-
चर्माणि सर्वे यथाग्लहं सौवलस्याभ्युपेताः॥७॥

अर्थ-अब इनके दिव्य प्रकाशमान चित्रविचित्र वस्त्र और सुन्दर कवचों को उतारकर इन्हें मृगछाला ओढ़ने को देदो, क्योंकि शकुनि से जूए के दाउ में इन्होंने यही प्रण किया था ॥

न सन्तिलोकेषुपुमांस ईदृशा इत्येव ये भावि-
त बुद्धयः सदा । ज्ञास्यन्ति तेत्मानमिमेद्य
पाण्डवा विपर्यये षंढातिला इवाफलाः ॥८॥

अर्थ-आज हमारे समान इस संसार में कौन है, यह पाण्डव जो सदा भविष्य की सोचा करते थे वह भी आज थोथे तिलों के समान पराक्रम हीन होगये ॥

इदं हि वासो यदि वेदृशानां मनस्विनां
रौरवमाहवेषु । अदीक्षितानामजिनानि
यद्वद्बलीयसां पश्यत पाण्डवानाम् ॥९॥

अर्थ-इन पराक्रमी पाण्डवों के यह मृगछाला के वस्त्र यज्ञ में दीक्षित हुए मनस्वियों के सदृश नहीं किन्तु यह मृगचर्म अदीक्षित कैवर्तों के समान हैं

महाप्राज्ञः सौमकिर्यज्ञसेनः कन्यां पांचालीं
पाण्डवेभ्यः प्रदाय । अकार्षीद्वै सुकृतं नेह
किंचित् क्लीबाः पार्थाः पतयो याज्ञसेन्याः ॥१०॥

अर्थ–राजा द्रुपद तो बड़ा बुद्धिमान् था उसने यह अच्छा नहीं किया जो अपनी सुन्दर कन्या द्रौपदी का इन नपुंसक पाण्डवों के साथ विवाह करदिया ॥

सूक्ष्मप्रावारानजिनोत्तरीयान्दृष्ट्वारण्ये-
निर्धनानप्रतिष्ठान् । कांत्वंप्रीतिंलप्स्यसे
याज्ञसेनिपतिंवृर्णाष्वेहयमन्यमिच्छसि॥११॥
एते हि सर्वे कुरवःसमेताःक्षांतादांताःसुद्र-
विणोपपन्नाः। एषांवृणीष्वैकतमं पतित्वे न
त्वां नयेत्कालविपर्ययोऽयम् ॥ १२ ॥

अर्थ–हे द्रौपदी ! इन पाण्डवों के साथ वन में जाकर तुझे क्या सुख प्राप्त होगा, यह विचारे धन तथा स्थान से हीन होकर मृगछाला ओढ़े हुए आपही दीन होरहे हैं, इसलिये तू हम सब कौरवों में से जो क्षमावान्, जितेन्द्रिय और धनवान् हैं जिसको चाहे अपना पति वरले जिससे तुझे वन का दुःख भोगना न पड़ेगा ॥

यथाऽफलाःषंढतिला यथा चर्ममया मृगाः ।
तथैव पाण्डवाःसर्वे यथा काक यवा अपि ॥१३॥

अर्थ–हे द्रौपदी ! अब यह पाण्डव ऐसे निष्फल हैं जैसे थोथे तिल वा चमड़े के बनाये हुए मृग अथवा चावलों से रहित धान होते हैं ॥

किं पाण्डवांस्ते पतितानुपास्य मोघःश्रमः
षंढतिलानुपास्य । एवं नृशंसःपुरुषाणि-
पार्थानश्रावयद्धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ॥१४॥

अर्थ—सो जैसे थोथे तिलों को बटोरने से कुछ लाभ नहीं होता इसी प्रकार इन पतित पाण्डवों की सेवा करने से तुझे कुछ सुख प्राप्त न होगा, इस प्रकार धृतराष्ट्र के पुत्र ने द्रौपदी से कठोर वाक्य कहे ॥

तद्वै श्रुत्वा भीमसेनोत्यमर्षीनिर्भत्स्योर्-
च्चैःसन्निगृह्यैव रोषात् । उवाच चैनंसह-
सैवोपगम्य सिंहो यथा हैमवतःश्रृगालम्॥१५॥

अर्थ—भीमसेन उस दयाहीन दुःशासन के उक्त कठोर बचन सुनकर क्रोध से भरगया और उसके पास जाकर उसे इस प्रकार पकड़कर जैसे सिंह मृग को पकड़ लेता है कहने लगा कि:—

क्रूरपापजनैर्जुष्टमकृतार्थं प्रभाषसे ।
गान्धारविद्यया हि त्वं राजमध्ये विकत्थसे॥१६॥
यथा तुदसि मर्माणिवाक्शरैरिह नो भृशम् ।
तथास्मारयितातेहंकृंतन्मर्माणि संयुगे ॥१७॥
येचत्वामनुवर्त्तन्ते क्रोधलोभवशानुगाः ।
गोप्तारःसानुबन्धांस्तान्नेतास्मि यमसादनम्॥१८॥

अर्थ—हे दुष्ट, हे पापी ! तू इन राजाओं के बीच ऐसे निष्फल निन्दित बचन शकुनी की चतुराई से धन जीतकर कहता है, और

इन बचनरूपी बाणों से हमारे मर्मस्थानों का बार २ छेदन कर रहा है, तू क्यों घबराता है मैं तेरे भी मर्मस्थानों को युद्ध में छेदन करके तेरे क्रोधी तथा लोभी सब सहायकों को मारकर तुझे इन बातों की याद दिलाउंगा ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणमजिनैर्विवासितं दुःशासनस्तं-
परिनृत्यातिस्म । मध्ये कुरूणां धर्मनिब-
द्धमार्गं गौर्गौरितिस्माह्वयन्मुक्तलज्जः॥१९॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! वह निर्दय दुःशासन जिसने लज्जा छोड़दी थी उस मृगचर्म ओढ़े हुए भीमसेन की उक्त बात सुनकर गौ, गौ कहकर नाचने लगा जिसका तात्पर्य्य यह था कि हम तुझे गौ जानकर छोड़े देते हैं ॥

भीमसेन उवाच

नृशंस परुषं वक्तुं शक्यं दुःशासन त्वया ।
निकृत्या हि धनं लब्ध्वा कोविकत्थितुमर्हति॥२०॥

अर्थ—भीमसेन बोला कि हे दयाहीन दुःशासन ! तू क्यों ऐसे परुष बचन बोलता है, तू छल से धन जीतकर क्यों बरबरा रहा है ॥

मैवस्मसुकृतां लोकान् गच्छेत्पार्थो वृकोदरः ।
यदि वक्षोहि ते भित्त्वा न पिबच्छोणितं रणे॥२१॥
धार्त्तराष्ट्रान् रणे हत्वामिषतां सर्वधन्विनाम् ।
शमं गंतास्मि न चिरात्सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥२२॥

अर्थ—मैं यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूं कि युद्ध में तेरी छाती को फाड़कर तेरा लोहू पीऊंगा, और तेरे सब भाइयों को मारकर अपनी छाती ठंडी करूंगा, यदि मैं ऐसा न करूं तो मेरी सद्गति न हो ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य राजासिंहगतेः सखेलं दुर्योधनो
भीमसेनस्य हर्षात् । गतिं स्वगत्यानुच-
कारमंदोनिर्गच्छतां पाण्डवानां सभायाः॥२३॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! जब पाण्डव वन को चलने लगे तब दुर्योधन खेल की भांति अपनी चाल भीमसेन की सी बनाकर चलने लगा ॥

नैतावताकृतमित्यब्रवीत्तं वृकोदरः सन्नि-
वृत्तार्धकायः । शीघ्रंहित्वां निहतं सानु-
बंधं संस्मार्याहंप्रतिवक्ष्यामि मूढ ॥२४॥

अर्थ—तब भीमसेन उसको मुख फेरकर नक़ल बनाते हुए देख कहने लगा कि हे मूर्ख ! चाल बनाने से तू भीमसेन नहीं होसक्ता, तुझे भाई बेटों सहित मारकर इस बात को याद कराउंगा और तेरी इस हंसी का उत्तर दूंगा ॥

एवं समीक्ष्यात्मनि चावमानंनियम्यमन्युं
बलवान्समानी । गजानुगः संसदि कौर-
वाणां विनिष्क्रामन्वाक्यमुवाच भीमः ॥२५॥

अर्थ–सभा से निकलते समय युधिष्ठिर के पीछे चलते हुए भीमसेन ने दुर्योधन की हंसी का स्मरण करके क्रोध रोककर कहा कि:–

अहं दुर्योधनं हंता कर्णं हंता धनंजयः ।
शकुनिं चाक्षकितवं सहदेवो हनिष्यति ॥२६॥
इदं च भूयो वक्ष्यामि सभामध्ये बृहद्वचः ।
सत्यंदेवाः करिष्यन्ति यन्नोयुद्धं भविष्यति ॥२७॥

अर्थ–मैं दुर्योधन का हनन करूंगा, अर्जुन कर्ण को मारेगा और इस ज्वारी शकुनि का सहदेव वध करेगा, और मैं इस सभा के बीच में दूसरी बड़ी यह प्रतिज्ञा करता हूं, देवता मेरी इस प्रतिज्ञा को युद्ध के आने पर सत्य करें, वह यह है कि:—

सुयोधनमिमं पापं हंतास्मि गदया युधि ।
शिरः पादेनचाम्याहमधिष्ठास्यामि भूतले ॥२८॥
वाक्यशूरस्य चैवास्य परुषस्य दुरात्मनः ।
दुःशासनस्य रुधिरं पातास्मि मृगराडिव ॥२९॥

अर्थ–मैं इस पापी दुर्योधन का युद्ध में गदा से हनन करके पृथिवी पर गिराकर इसके शिर को अपने पांव से रगडुंगा, और इस कटुभाषी, बोलने में शूरवीर दुरात्मा दुःशासन की छाती को सिंह के समान फाड़कर इसका लोहू पीउंगा ॥

अर्जुन उवाच

नैवं वाचाव्यवसितं भीम विज्ञायते सताम् ।
इतश्चतुर्दशे वर्षे द्रष्टारो यद्भविष्यति ॥३०॥

अर्थ-अर्जुन बोला कि हे भीमसेन ! सत्पुरुषों का निश्चय बातों से नहीं जाना जाता, अब से चौदहवें वर्ष में जो कुछ होगा सो देखेंगे ॥

भीमसेन उवाच

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः ।
दुःशासन चतुर्थानां भूमिःपास्याति शोणितम्॥३१॥

अर्थ-तब भीमसेन बोला कि दुर्योधन, कर्ण, शकुनि और दुःशासन, इन चारो दुरात्माओं के लोहू को पृथ्वी पीवेगी ॥

अर्जुन उवाच

अर्जुनः प्रतिजानीते भीमस्य प्रियकाम्यया ।
कर्णं कर्णानुगांश्चैव रणेहंतास्मिपत्रिभिः ॥३२॥
असूयितारं द्रष्टारं प्रवक्तारं विकत्थनम् ।
भीमसेन नियोगात्ते हंताहं कर्णमाहवे ॥३३॥
येचान्ये प्रतियोत्स्यंति बुद्धिमोहेन मां नृपाः ।
तांश्चसर्वानहंवाणैर्नेतास्मि यमसादनम् ॥३४॥

अर्थ-अर्जुन ने भीमसेन को प्रसन्न करने की इच्छा से यह प्रतिज्ञा की कि मैं तुम्हारी आज्ञा से इस नीच, निन्दित वचन बोलने वाले तथा कुबुद्धि कर्ण और इसके साथी सब राजाओं को जो मेरे सन्मुख आवेंगे अपने बाणों से हनन करके यम के घर पहुंचाउंगा ॥

न प्रदास्यति चेद्राज्यमितो वर्षेचतुर्दशे ।
दुर्योधनोऽभिसत्कृत्य सत्यमेतद्भविष्यति ॥३५॥

चलेद्धिहिमवान् स्थानान्निष्प्रभःस्याद्दिवाकरः ।
शैत्यंसोमात्प्रणश्येतमत्सत्यं विचलेद्यदि ॥३६॥

अर्थ–जो आज से चौदहवें वर्ष में यह नीच दुर्योधन हमारे राज्य को हमें न देगा तो निस्सन्देह मैं इन सब बातों को सच करके दिखाउंगा, चाहे हिमालय चलने लगे, चाहे सूर्य्य की प्रभा जाती रहे और चाहे चन्द्रमा में शीतलता न रहे, परन्तु मैं अपनी प्रतिज्ञा से चलायमान नहीं होउंगा ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवति पार्थे तु श्रीमान्माद्रवती सुतः ।
प्रगृह्य विपुलं बाहुं सहदेवः प्रतापवान् ॥३७॥
सौबलस्य बधं प्रेप्सुरिदं बचनमब्रवीत् ।
क्रोधसंरक्तनयनो निःश्वसन्निवपन्नगः ॥३८॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तत्पश्चात् प्रतापवान् सहदेव क्रोध से लाल आखें किये हुए और सांप की तरह श्वास लेता हुआ शकुनि को मारने की इच्छा से अपनी भुजायें पकड़-कर कहने लगा कि:—

अक्षान्यान्मन्यसे मूढ गान्धाराणां यशोहर ।
नैतेक्षानिशिताबाणास्त्वयैतेसमरेवृताः ॥३९॥
यथाचैवोक्तवान्भीमस्त्वामुद्दिश्यसबान्धवम् ।
कर्त्ताहं कर्मणस्तस्य कुरुकार्याणि सर्वशः ॥४०॥
हंतास्मितरसायुद्धेत्वामेवेहसबान्धवम् ।
यदिस्थास्यसि संग्रामे क्षत्रधर्मेण सौबल ॥४१॥

अर्थ—हे गान्धार देशवासी मनुष्यों के यश को हरने वाले शकुनि ! यह पासे जिनके बल पर तू नाच रहा है पासे नहीं हैं किन्तु ये समर में तेरे प्राणों को हनन करने वाले तीक्ष्ण बाण हैं, यदि तू क्षत्रियधर्म को छोड़कर युद्ध में भाग न जायगा तो जैसी भीमसेन ने आज्ञा दी है उसी प्रकार मैं तुझको तेरे भाई बन्धु और साथियों सहित युद्ध में हनन करूंगा ॥

नकुल उवाच

सहदेव वचः श्रुत्वा नकुलोपि विशांपते ।
दर्शनीयतमोनृणामिदं वचनमब्रवीत् ॥४२॥

अर्थ—सहदेव की उक्त प्रतिज्ञा सुनकर मनुष्यों में अतिरूपवान् नकुल ने भी यह प्रतिज्ञा की किः—

सुतेयं यज्ञसेनस्य द्यूतेस्मिन् धृतराष्ट्रजैः ।
यैर्वाचः श्रावितारूक्षाः स्थितैर्दुर्योधनप्रिये ॥४३॥
तान् धार्त्तराष्ट्रान् दुर्वृत्तान् मुमूर्षून्कालनोदितान् ।
गमयिष्यामिभूयिष्ठानहं वैवस्वतक्षयम् ॥४४॥
निदेशाद्धर्मराजस्य द्रौपद्याः पदवींचरन् ।
निर्धार्तराष्ट्रां पृथिवीं कर्त्तास्मिनचिरादिव ॥४५॥

अर्थ—इस जूए में दुर्योधन को प्रसन्न करने की इच्छा से धृतराष्ट्र के पुत्रों ने जो द्रौपदी को रूखे बचन सुनाये हैं, मैं उन काल से प्रेरित हुए मरने की इच्छा वाले दुष्टों को युधिष्ठिर की आज्ञा से मारकर यमलोक में पहुंचाउंगा, और द्रौपदी को प्रसन्न करने के लिये पृथ्वी पर से धृतराष्ट्र के पुत्रों का बीच नाश करदूंगा॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ते पुरुषव्याघ्राःसर्वे व्यायतबाहवः ।
प्रतिज्ञा बहुलाः कृत्वा धृतराष्ट्रमुपागमन् ॥४६॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! वह लम्बी भुजाओं वाले सिंहपुरुष पाण्डव उक्त प्रकार से अनेक प्रतिज्ञायें करके राजा धृतराष्ट्र के समीप गये ॥

इति द्विपंचाशोऽध्यायः समाप्तः

अथ त्रिपंचाशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं–अब युधिष्ठिर का धृतराष्ट्र तथा भीष्मपितामह आदि सब वृद्ध पुरुषों से विदा मांगकर बन को जाना कथन करते हैं:–

युधिष्ठिर उवाच

आमंत्रयामि भरतांस्तथा वृद्धं पितामहम् ।
राजानं सोमदत्तं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥१॥
द्रोणंकृपंनृपांश्चान्यानश्वत्थामानमेवच ।
विदुरं धृतराष्ट्रं च धार्त्तराष्ट्रांश्च सर्वशः ॥२॥
युयुत्सुं संजयं चैव तथैवान्यान्सभासदः ।
सर्वानामंत्र्य गच्छामि द्रष्टास्मि पुनरेत्यवः ॥३॥

अर्थ–युधिष्ठिर ने धृतराष्ट्र की सभा में जाकर कहा कि मैं आप सब भरतवंशी पुरुषों अर्थात् वृद्ध भीष्मपितामह, राजा

सोमदत्त, महाराज बाह्लीक, द्रोणाचार्य्य, कृपाचार्य्य, अश्वत्थामा, विदुर, धृतराष्ट्र, धृतराष्ट्र के सब पुत्र, युयुत्सु, संजय और अन्य सब सभासद जो इस सभा में बैठे हुए हैं जाने की आज्ञा मांगता हूं और थोड़े दिनों में यह बनवास का समय बिताकर पुनः आप लोगों के दर्शन करूंगा ॥

वैशम्पायन उवाच

नचकिंचिदथोचुस्तंह्रियासन्नायुधिष्ठिरम् ।
मनोभिरेवकल्याणं दध्युस्तेतस्य धीमतः ॥४॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! युधिष्ठिर का उक्त कथन सुनकर किसी ने कुछ उत्तर नहीं दिया,लज्जा से सब नीचे को मुख किये हुए बैठे रहे, परन्तु उन सबने मन से पाण्डवों को आशीर्वाद दिये ॥

विदुर उवाच

आर्या पृथा राजपुत्री नारण्यं गन्तुमर्हति ।
सुकुमारी च वृद्धा च नित्यं चैव सुखोचिता ॥५॥
इह वत्स्यति कल्याणी सत्कृताममवेश्मनि ।
इति पार्था विजानीध्वमगदंवोस्तु सर्वशः ॥६॥

अर्थ–विदुरजी बोले कि हे युधिष्ठिर ! यह आर्या कुन्ती सुकुमारी, वृद्ध और नित्य सुख भोगने योग्य है, यह राजपुत्री बन जाने के योग्य नहीं,सो इस सौभाग्यवती को यहीं छोड़जाओ यह सत्कारपूर्वक मेरे घर रहेगी, और परमात्मा तुम्हारा सब प्रका से कल्याण करे ॥

पाण्डवा ऊचुः

तथेत्युक्त्वा ब्रुवन्सर्वे यथा नोवदसेऽनघ ।
त्वं पितृव्यः पितृसमो वयं च त्वत्परायणाः ॥७॥
यथाज्ञापयसे विद्वंस्त्वं हि नः परमो गुरुः ।
यच्चान्यदपि कर्त्तव्यं तद्विधत्स्व महामते ॥८॥

अर्थ–पाण्डव बोले कि हे निष्पाप ! आप हमारे चचा होने से पिता के समान हैं, हम सब आपकी शरण हैं जैसा आप कहते हैं वैसा ही होगा, आप हमारे परमगुरु हैं, हे महाबुद्धिमान् ! जो आपकी आज्ञा होगी वही हम करेंगे ॥

विदुर उवाच

युधिष्ठिर विजानीहि ममेदं भरतर्षभ ।
नाधर्मेण जितः कश्चिद्व्यथते वै पराजये ॥९॥

अर्थ–विदुरजी बोले कि हे युधिष्ठिर ! जिसको कोई अधर्म और अनीति से जीत लेता है उस पराजित को विपत्ति पाकर दुःखी होना उचित नहीं ॥

त्वं वै धर्मं विजानीषे युद्धे जेता धनंजयः ।
हन्तारीणां भीमसेनो नकुलस्त्वर्थसंग्रही ॥१०॥
संयंता सहदेवस्तु धौम्यो ब्रह्मविदुत्तमः ।
धर्मार्थकुशलाचैव द्रौपदी धर्मचारिणी ॥११॥

अर्थ–आपतो धर्म को भलेप्रकार जानते हैं, यह अर्जुन जय करने वाला, भीमसेन शत्रुओं का हनन करने वाला, नकुल अर्थ=

धन संग्रह करने वाला, सहदेव दण्ड देने वाला, धौम्य पुरोहित ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ और धर्मचारिणी द्रौपदी धर्म तथा अर्थ में कुशल है ॥

अन्योन्यस्य प्रियाः सर्वे तथैव प्रियदर्शनाः ।
परैरभेद्याः संतुष्टाः कोवोनस्पृहयेदिह ।।१२।।
एष वै सर्वकल्याणः समाधिस्तव भारत ।
नैनं शत्रुर्विषहते शक्रेणापि समोप्युत ।।१३।।

अर्थ–तुम सब आपस में प्रीतिपूर्वक सन्तुष्ट होकर रहना, शत्रु तुम्हारे बीच में फूट न डालने पावें, तुम्हें सब चाहते हैं, और तुम्हारे इस जत्थे के बने रहने से इन्द्र समान प्रबलशत्रु भी तुम्हारा कुछ नहीं करसक्ता ॥

हिमवत्यनुशिष्टोसि मेरुसावर्णिना पुरा ।
द्वैपायनेनकृष्णेन नगरे वारणावते ।।१४।।
भृगुतुंगे च रामेण दृषद्धत्यां च शंभुना ।
अश्रौषीरसितस्यापि महर्षे रंजनं प्रति ।।१५।।
कल्माषीतीरसंस्थस्य गतस्त्वं शिष्यतां भृगोः ।
द्रष्टासदानारदस्ते धौम्यस्तेयं पुरोहितः ।।१६।।
माहासीःसांपरायेत्वं बुद्धिं तामृषिपूजिताम् ।
पुरुरवसमैलं त्वं बुद्ध्याजयसि पाण्डव ।।१७।।

अर्थ–आप लोगों ने पहले हिमालय पर्वत में सावर्ण ऋषि से, वारणावत नगर में व्यासजी से, भृगुतुंगपर्वत पर परशुरामजी से,

दृषद्वती नदी पर शिवजी से, अंजन पर्वत पर असित नामक महर्षि से, कल्माष नदी के किनारे भृगुजी से शिक्षा पाई और नारदजी सदैव तुम्हारे शिक्षक रहे हैं, इनके अतिरिक्त धौम्यऋषि तुम्हारे पुरोहित हैं, सो तुम्हें अपनी बुद्धि मलिन करना उचित नहीं, तुम्हारी बुद्धि ऐलवंशी राजा पुरूरव[1] से भी अधिक है ॥

शक्त्या जयसि राज्ञोन्यानृषीन् धर्मोपसेवया ।
ऐन्द्रेजये धृतमनायाम्येकोपविधारणे ॥१८॥

अर्थ–तुम्हारी शक्ति से सब राजा जीते जासकते हैं और तुम धार्मिक ऐसे हो कि ऋषि लोग भी वैसा धर्माचरण नहीं कर सकते, सो तुम अपना मन उस जय में जो इन्द्र तथा यमराज के अधीन है लगाना और कोप करने के नियम में सदा तत्पर रहना ॥

तथा विसर्गे कौबेरे वारुणे चैव संयमे ।
आत्मप्रदानं सौम्यत्वमद्भ्यश्चैवोपजीवनम् ॥१९॥

अर्थ–परमात्मा ऐसी कृपा करें कि तुम दान करने में कुबेर के समान तथा वशीकरण में वरुण के समान हो, जल आदि सब खाद्य वस्तुएं तुम्हें सौम्यता, परोपकार और सबका उपजीवन होने के गुण दें ॥

भूमेःक्षमा च तेजश्च समग्रं सूर्य्यमण्डलात् ।
वायोर्बलं प्राप्नुहि त्वं भूतेभ्यश्चात्मसम्पदम् ॥२०॥

अर्थ–तुम्हें पृथिवी क्षमा देवे, सूर्य्यमण्डल से तुम्हें सब प्रकार का तेज मिले, वायु तुम्हें पराक्रम देवे अर्थात् यह सब पंचभूत आप लोगों को सब प्रकार की बाह्य सम्पत्ति तथा आत्मिक बल देवें ॥

अगदंवोस्तु भद्रं वो द्रष्टास्मि पुनरागतान् ।
आपद्धर्मार्थकृच्छ्रेषु सर्वकार्य्येषु वा पुनः ॥२१॥
यथावत् प्रतिपद्येथाः काले काले युधिष्ठिर ।
आपृष्टोसीह कौन्तेय स्वास्ति प्राप्नुहि भारत ॥२२॥
कृतार्थं स्वस्तिमंतं त्वां द्रक्ष्यामः पुनरागतम् ।
नहि वो वृजिनं किंचिद्वेदकश्चित्पुराकृतम् ॥२३॥

अर्थ–अब हम तुम्हें जाने की आज्ञा देते हैं जाओ, तुम्हारा कल्याण होगा, परमेश्वर कृपा करे तुम आरोग्य रहो, और तुम्हारे सब काम सिद्ध हों, इस धर्मसंकट की विपत्ति को सहकर जब पुनः लौटकर आओगे तब हम तुम्हें देखेंगे ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा पाण्डवः सत्यविक्रमः ।
भीष्मद्रोणौ नमस्कृत्य प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः ॥२४॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय! सत्य पराक्रम वाला युधिष्ठिर उक्त बातों को सुनकर और तथास्तु कहकर भीष्म तथा द्रोणाचार्य्य को नमस्कार करके चलदिया ॥

इति त्रिपंचाशोऽध्यायः समाप्तः

अथ चतुष्पंचाशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०–अब द्रौपदी का कुन्ती से विदा मांगना और कुन्ती का विलाप करना कथन करते हैं.—

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन्संप्रास्थिते कृष्णा पृथांप्राप्य यशस्विनीम् ।
आपृच्छद्भृश दुःखार्त्ता याश्चान्यास्तत्र योषितः ॥१॥
यथार्हं वंदनाश्लेषान्कृत्वा गन्तुमियेष सा ।
ततो निनादःसुमहान् पाण्डवान्तःपुरेऽभवत् ॥२॥
कुंती च भृशसंतप्ता द्रौपदीं प्रेक्ष्य गच्छतीम् ।
शोकविह्वलया वाचा कृच्छ्राद्वचनमब्रवीत् ॥३॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन्! युधिष्ठिर के वन जाते समय द्रौपदी ने कुन्ती आदि स्त्रियों को जो वहां उपस्थित थीं नमस्कार करके सबसे जाने की आज्ञा मांगी, उस समय पाण्डवों के महलों में रोने का बड़ा घोर शब्द हुआ, और कुन्ती द्रौपदी को जाते हुए देखकर शोक से विह्वल हो बड़े दुःख से कहने लगी कि:—

वत्से शोको न ते कार्यः प्राप्येदं व्यसनं महत् ।
स्त्रीधर्माणामभिज्ञासि शीलाचारवती तथा॥४॥

अर्थ—हे पुत्री ! तुझे इस विपत्ति को देखकर चिन्तातुर होना उचित नहीं, तू स्त्रीधर्म को भलेप्रकार जानती और सुशीला है ॥

न त्वां संदेष्टुमर्हामि भर्तॄन् प्रतिशुचिस्मिते ।
साध्वीगुणसमापन्नाभूषितं ते कुलद्वयम् ॥५॥

अर्थ—हे शोभनमुस्कानवाली ! तुझे पतिसेवा आदि धर्म के उपदेश करने की भी मुझे आवश्यकता नहीं, क्योंकि तू आप पतिव्रता और दोनों कुलों की भूषण है ॥

सभाग्याः कुरवश्चेमे ये न दग्धास्त्वयाऽनघे ।
अरिष्टंव्रजपंथानंमदनुध्यानबृंहिता ॥६॥

अर्थ–हे निष्पाप ! यह कौरव बड़े भाग्यवान् हैं जो तेरे तेज से भस्म नहीं हुए, अच्छा अब तू निर्विघ्न होकर जा, तू मेरे ध्यान से कभी नहीं उतरेगी ॥

भाविन्यर्थे हि सत्स्त्रीणां वैकृतं नोपजायते ।
गुरुधर्माभिगुप्ता च श्रेयः क्षिप्रमवाप्स्यसि ॥७॥

अर्थ–हे द्रौपदी ! चाहे भावी विपत्ति कैसी ही क्यों न आवे पर श्रेष्ठ स्त्रियों का चलन नहीं बिगड़ता, तू अपने धर्म पर आरूढ़ है इससे तेरा कल्याण शीघ्र ही होगा ॥

सहदेवश्च मे पुत्रः सदावेक्ष्यो बनेवसन् ।
यथेदं व्यसनं प्राप्य नायं सीदेन्महामतिः ॥८॥

अर्थ–हे द्रौपदी ! मेरे बुद्धिमान पुत्र सहदेव का तू वन में वास करती हुई सदा ध्यान रखना यह वनवास का अधिक दुःख अनुभव न करे, क्योंकि यह सब से छोटा है ॥

तथेत्युक्त्वा तु सा देवी स्रवन्नेत्रजलाविला ।
शोणिताक्तैकवसना मुक्तकेशी विनिर्ययौ ॥९॥

अर्थ–यह सुनकर द्रौपदी जो रजस्वला थी और जिसके शिर के बाल खुले हुए थे, यह कहकर कि "ऐसा ही होगा" रोती हुई चलदी ॥

तां क्रोशंतीं पृथा दुःखादनुवव्राज गच्छतीम् ।
अथापश्यत् सुतान् सर्वान् हृताभरणवाससः ॥१०॥

अर्थ—उसके पीछे २ कुन्ती भी महादुःखी होकर रुदन करती हुई चली, और उसने आगे जाकर अपने पुत्रों को जिनके सब वस्त्र तथा आभूषण उतार लिये गये थे देखा ॥

रुरुचर्मावृततनूर्ह्रिया किंचिदवाङ्मुखान् ।
परैः परीतान्संहृष्टैः सुहृद्भिश्चानुशोचितान् ॥११॥
तदवस्थान्सुतान्सर्वानुपसृत्यातिवत्सला ।
स्वजमानावदच्छोकात्तत्तद्विपलती बहु ॥१२॥

अर्थ—जिन पाण्डवों के लिये सब सुहृद्गण शोच कररहे थे कुन्ती ने उन सब को मृगछाला ओढ़े हुए तथा लज्जा से नीचे को शिर झुकाये हुए देखकर छाती से लगाया और महादुःखी होकर विलाप करती हुई कहने लगी कि :—

कथं सद्धर्मचारित्रान् व्रतस्थितिविभूषितान् ।
अक्षुद्रान् दृढ़भक्तांश्च दैवतेज्यापरान्सदा ॥१३॥
व्यसनं वः समभ्यागात्कोयं विधिविपर्ययः ।
कस्यापध्यानजंचेदभागः पश्यामि वो धिया ॥१४॥

अर्थ—हे पुत्रो ! तुमने सदैव दृढ़भक्ति से देवताओं का सत्कार करते हुए सत्य, धर्म तथा मर्यादा से विपरीत कभी कोई काम नहीं किया, न जाने तुमको यह दुःख कैसे प्राप्त हुआ, हाय!! यह विधाता की विपरीत गति है, मैं नहीं जानती हूं कि किसके शाप से तुम्हें यह कष्ट भोगना पड़ा है ॥

स्यात्तु मद्भाग्यदोषोयं याहं युष्मानजीजनम् ।
दुःखायासभुजोत्यर्थं युक्तानप्युत्तमैर्गुणैः ॥१५॥

कथं वत्स्यथ दुर्गेषु वने ऋद्धिविनाकृताः ।
वीर्यसत्वबलोत्साह तेजोभिरकृशाःकृशाः ॥१६॥

अर्थ–यह मेरे ही भाग्य का दोष है, मैंने तो तुम सबको उत्तम गुणों से उत्पन्न किया है, तुम सब पराक्रमी, बली, सत्यपरायण तथा तेजस्वी हो, हाय तुम सब वन के भयंकर स्थानों में विना धन के दुर्बल होकर कैसे रहोगे ॥

यद्येतदेवमज्ञास्यं वनेवासो हि वो ध्रुवम् ।
शतशृङ्गान्मृतेपाण्डौ नागमिष्यं गजाह्वयम् ॥१७॥

अर्थ–जो मुझे यह ज्ञात होता कि तुम्हें वनवास होगा तो मैं शतशृंग पर्वत पर से पाण्डु के मरने पर यहां हस्तिनापुर कभी न आती॥

धन्यं वः पितरं मन्ये तपो मेधान्वितं तथा ।
यः पुत्राधिमसंप्राप्य स्वर्गेच्छामकरोत्प्रियाम् ॥१८॥

अर्थ–तुम्हारा तपस्वी और बुद्धिमान् पिता पाण्डु बड़ा धन्य था जिसने अपने पुत्रों की पीड़ा को नहीं देखा और स्वर्ग में रहना अङ्गीकार किया ॥

धन्यां चातीन्द्रियज्ञानामिमां प्राप्तां परांगतिम् ।
मन्येतुमाद्रीं धर्मज्ञां कल्याणीं सर्वथैवतु ॥१९॥
रत्या मत्या च गत्या च ययाहमभिसंधिता ।
जीवितप्रियतां मह्यं धिङ्मांसंक्लेशभागिनीम् ॥२०॥

अर्थ– माद्री भी जो धर्मज्ञा, कल्याणी और परमगति थी धन्य है जो मरकर पति के साथ चली गई, मैं भी सब गुणों में

उसी के समान हूं परन्तु मैंने जीवित रहकर यह क्लेश पाया मुझको धिक्कार है ॥

पुत्रकानविहास्ये वः कृच्छ्रलब्धान्प्रियान्सुतः ।
साहं यास्यामि हि वनं हा कृष्णे किं जहासि माम्॥२१॥

अर्थ—मैं तुम सब दुःखी, महात्मा तथा प्यारे पुत्रों को नहीं छोड़ुंगी, मैं भी वन को तुम्हारे साथ चलुंगी, हाय द्रौपदी मुझे क्यों छोड़े जाती है ॥

अंतवत्यसुधर्मोम्मिन् धात्रा किंनुप्रमादतः ।
ममांतोनैव विहितस्तेनायुर्नजहाति माम् ॥२२॥

अर्थ—क्या विधाता ने प्रमाद से मेरे शरीर का अन्त नहीं लिखा जो ऐसी विपत्ति में भी मेरे प्राण नहीं निकलते हैं ॥

हा कृष्ण द्वारकावासिन् क्वासिसंकर्षणानुज ।
कस्मान्न त्रायसे दुःखान्मां चेमांश्च नरोत्तमान् ॥२३॥
इमे सद्धर्ममाहात्म्यं यशोवीर्यानुवर्तिनः ।
नार्हंति व्यसनं भोक्तुं नन्वेषां क्रियतां दया ॥२४॥

अर्थ—हे कृष्ण द्वारकावासी, हे बलदेव के छोटे भाई ! इस समय तुम कहां हो जो मेरी और इन सब नरश्रेष्ठों की इस दुःख से रक्षा नहीं करते हो, हे कृष्ण ! यह पाण्डव धर्मात्मा, महात्मा, यशस्वी और पराक्रमी होने से दुःख पाने योग्य नहीं, इन पर अपनी दया करो ॥

सेयं नीत्यर्थं विज्ञेषु भीष्म द्रोण कृपादिषु ।
स्थितेषु कुलनाथेषु कथमापदुपागता ॥२५॥

अर्थ-हाय इन पाण्डवों पर यह विपत्ति भीष्म, द्रोणाचार्य्य तथा कृपाचार्य्य की उपस्थिति में जो नीति के जानने वाले और इस कुल के शिरोमणि हैं कैसे आपड़ी ॥

हा पाण्डो हा महाराज क्वासि किं समुपेक्षसे ।
पुत्रान्विवास्यतः साधुनरिभिर्द्यूतनिर्जितान् ॥२६॥

अर्थ-हाय हे महाराज पाण्डु ! अब तुम कहां हो, इन अपने पुत्रों को जो जूए में हारकर वनवास के लिये आज्ञा पाये हुए हैं क्या शिक्षा करते हो ॥

सहदेव निवर्त्तस्वननुत्वमसि मे प्रियः ।
शरीरादपिमाद्रेय मां मात्याक्षीः कुपुत्रवत ॥२७॥

अर्थ-हे माद्री के पुत्र सहदेव ! तू मतजाय लौटआ तू मुझको अपने शरीर से भी अधिक प्यारा है, कुपुत्र की भांति मेरा त्याग न कर ॥

व्रजंतु भ्रातरस्तेमीयदिसत्याभिसंधिनः ।
मत्परित्राणजंधर्ममिहैवत्वमवाप्नुहि ॥२८॥

अर्थ-तेरे यह सब भाई सत्यप्रतिज्ञ हैं इसलिये तू इन्हें ही जाने दे, तू यहां रहकर मेरी रक्षा कर तुझे मेरी रक्षा करने का यहीं फल प्राप्त होगा ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विलपतीं कुन्तीमभिवाद्य प्रणम्य च ।
पाण्डवा विगतानन्दा वनायैव प्रवव्रजुः ॥२९॥

विदुरश्चापितामार्त्तां कुन्तीमाश्वास्यहेतुभिः ।
प्रावेशयद्गृहं क्षत्ता स्वयमार्त्ततरःशनैः ॥३०॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! पाण्डव उस विलाप करती हुई कुन्ती से आज्ञा लेकर और उसे प्रणाम करके आनन्द रहित हुए बन को चलदिये, और महादुःखी होकर विलाप करती हुई उस कुन्ती को विदुरजी अनेक प्रकार से धैर्य्य देकर अपने घर लेगये ॥

धार्त्तराष्ट्रस्त्रियस्ताश्चनिखिलेनोपलभ्यतत् ।
गमनं परिकर्षं च कृष्णाया द्यूतमंडले ॥३१॥
रुरुदुःसुस्वनं सर्वा विनिंदन्त्यःकुरून्भृशम् ।
दध्युश्च सुचिरंकालं करासक्तमुखांवुजाः ॥३२॥

अर्थ–धृतराष्ट्र के पुत्रों की स्त्रियां द्रौपदी को सभा में लेजाने और उसके वस्त्र उतारने का हाल सुनकर कौरवों की निन्दा कर २ रोने लगीं और अपने २ कमल सदृश मुखों पर हाथ रखकर चिन्ता करने लगीं ॥

राजा च धृतराष्ट्रस्तु पुत्राणामनयं तदा ।
ध्यायन्नुद्विग्नहृदयो न शान्तिमधिजग्मिवान् ॥३३॥

अर्थ–राजा धृतराष्ट्र को भी अपने पुत्रों की अनीति का स्मरण करके दुःख के कारण चैन नहीं पड़ा ॥

सचिन्तयन्ननेकाग्रः शोकव्याकुलचेतनः ।
क्षत्तुः संप्रेषयामासशीघ्रमागम्यतामिति ॥३४॥

अर्थ–उस समय राजा ने शोक और चिन्ता से व्याकुल होकर विदुरजी को शीघ्र बुलाने की आज्ञा दी ॥

ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ।
तं पर्यपृच्छत्संविग्नो धृतराष्ट्रो जनाधिपः ॥३५॥

अर्थ-तत्पश्चात विदुरजी सुनते ही धृतराष्ट्र के समीप गये तब वह धृतराष्ट्र महादुःखी हुआ २ विदुरजी से पूछने लगा ॥

इति चतुष्पंचाशोऽध्यायः समाप्तः

अथ पंचपंचाशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०-अब धृतराष्ट्र के पूछने पर विदुरजी का पाण्डवों के वन जाने विषयक वृतान्त कहना और दुर्योधन का द्रोणाचार्य्य की शरण में जाना कथन करते हैं :—

वैशम्पायन उवाच

तमागतमथोराजा विदुरं दीर्घदर्शिनम् ।
साशंकइव पप्रच्छ धृतराष्ट्रोंविकासुतः ॥१॥
कथं गच्छति कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
भीमसेनः सव्यसाची माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥२॥
धौम्यश्चैव कथं क्षत्तर्द्रौपदी च यशस्विनी ।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं तेषां शंस विचेष्टितम् ॥३॥

अर्थ-वैशम्पायन बोले कि हे राजा जनमेजय ! दीर्घदर्शी विदुर को आया हुआ जानकर अम्बिका के पुत्र राजा धृतराष्ट्र शोकयुक्त होकर पूछने लगे कि हे विदुर ! धर्मपुत्र युधि-

ष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव, धौम्य पुरोहित और यशस्विनी द्रौपदी यह सब किस प्रकार से बन को जारहे हैं ? ॥

विदुर उवाच

वस्त्रेण संवृत्यमुखं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
बाहूविशालौ संपश्यन् भीमो गच्छति पाण्डवः॥४॥
सिकतावपन्सव्यसाची राजानमनुगच्छति ।
माद्रीपुत्रः सहदेवो मुखमालिप्य गच्छति ॥५॥
पांसूपलिप्तसर्वांगो नकुलश्चित्तविह्वलः ।
दर्शनीयतमो लोके राजानमनुगच्छति ॥६॥
कृष्णा तु केशैःप्रच्छाद्यमुखमायतलोचना ।
दर्शनीया प्ररुदती राजानमनुगच्छति ॥७॥
धौम्यो रौद्राणि सामानि याम्यानि च विशांपते ।
गायन्गच्छति मार्गेषु कुशानादाय पाणिना॥८॥

अर्थ–विदुरजी बोले कि हे धृतराष्ट्र ! कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर अपने मुख को कपड़े से ढांपकर, भीमसेन अपनी विशाल भुजाओं को देखता हुआ, अर्जुन रेत को पृथ्वी पर फेंकता हुआ, माद्रीपुत्र सहदेव मुख पर भस्म लगाता हुआ, नकुल चित्त में विह्वल हुआ अपने शरीर में धूल मलता हुआ, द्रौपदी अपने शिर के खुले हुए बालों से मुख ढके हुए रोती हुई और धौम्य पुरोहित हाथ में कुशा लिये हुए सामवेद के उन मंत्रों को पढ़ता हुआ जिनके देवता यम और रुद्र हैं जारहे हैं, युधिष्ठिर सब के आगे २ और उसके पीछे अन्य सब हैं ॥

धृतराष्ट्र उवाच

विविधानीह रूपाणि कृत्वा गच्छन्ति पाण्डवाः ।
तन्ममाचक्ष्व विदुर कस्मादेवं व्रजंति ते ॥९॥

अर्थ—धृतराष्ट्र बोला कि हे विदुर! पाण्डव इस प्रकार नाना रूप बनाकर किस कारण जारहे हैं वह सब मुझसे कह ॥

विदुर उवाच

निकृतस्यापि ते पुत्रैर्हृते राज्ये धनेषु च ।
न धर्माच्चलते बुद्धिर्धर्मराजस्य धीमतः ॥१०॥
योसौ राजा घृणी नित्यं धार्त्तराष्ट्रे भारत ।
निकृत्याभ्रंशितः क्रोधान्नोन्मीलयति लोचने ॥११॥
नाहं जनं निर्दहेयं दृष्ट्वा घोरेण चक्षुषा ।
स पिधायमुखं राजा तस्माद्गच्छति पाण्डवः ॥१२॥

अर्थ—विदुरजी बोले कि हे राजा धृतराष्ट्र! यद्यपि आपके पुत्रों ने युधिष्ठिर का धन और राज्य छलकर लेलिया है परन्तु वह बुद्धिमान् धर्मराज अपने धर्म को नहीं छोड़ना चाहता, इस कारण उसने तुम्हारे पुत्रों पर दया करके इस विचार से कि जो मैं अपनी क्रोधभरी आंखे खोल दूंगा तो सब मनुष्य भस्म होजायंगे, इसलिये अपने मुख को कपड़े से ढ़क लिया है ॥

यथा च भीमो व्रजति तन्मे निगदतः शृणु ।
बाह्वोर्बले नास्ति समो ममेति भरतर्षभ ॥१३॥
बाहू विशालौ कृत्वासौ तेन भीमोपि गच्छति ।
बाहू विदर्शयन् राजन् बाहुद्रविणदर्पितः ॥१४॥

चिकीर्षन्कर्म शत्रुभ्यो बाहुद्रव्यानुरूपतः ।
प्रदिशन् शरसंपातान्कुंतीपुत्रोऽर्जुनस्तदा ॥१५॥

अर्थ-हे भरतकुलभूषण ! इसी प्रकार भीमसेन विषयक सुनिये, भीमसेन अपनी भुजाओं के बल से गर्वित होकर इस विचार से भुजाओं को देखता जाता है कि मेरे समान किसी की भुजाओं में बल नहीं, मैं अपनी भुजाओं के अनुरूप शत्रुओं को मारने में कृतकार्य्य होऊंगा और कुन्तीपुत्र अर्जुन क्रोध से सब ओर रेत इस कारण बखेरता जाता है कि:—

असक्ताःसिकतास्तस्य यथा सम्पत्ति भारत ।
असक्तं शरवर्षाणि तथा मोक्ष्यति त्रु ॥१६॥
न मे कश्चिद्विजानीयान्मुखमद्येति भारत ।
मुखमालिप्य तेनासौ सहदेवोपि गच्छति ॥१७॥

अर्थ-मैं इसी प्रकार बाणों के समूह के समूह शत्रुओं पर छोडुंगा, और सहदेव ने मुख पर भस्म इस प्रयोजन से लागाई है कि मुझको इस समय कोई पहिचान न सके ॥

नाहं मनांस्यादददेयं मार्गे स्त्रीणामिति प्रभो ।
पांसूपलिप्तसर्वांगो नकुलस्तेन गच्छति ॥१८॥

अर्थ-नकुल का स्वरूप बहुत सुन्दर है सो उसने सब देह में धूल इसकारण लगाई है कि मार्ग में मुझे देखकर कोई स्त्री अनुरक्त न होजाय ॥

एकवस्त्रा प्ररुदती मुक्तकेशी रजस्वला ।
शोणितेनाक्तवसना द्रौपदी वाक्यमब्रवीत् ॥१९॥

यत्कृतेहमिदं प्राप्ता तेषां वर्षे चतुर्दशे ।
हतपत्यो हतसुता हतबन्धुजनप्रियाः ॥२०॥
बहुशोणितदिग्धांग्यो मुक्तकेश्यो रजस्वलाः ।
एवं कृतोदका भार्याः प्रवेक्ष्यन्ति गजाह्वयम् ॥२१॥

अर्थ–हे धृतराष्ट्र ! द्रौपदी महादुःखी रोती हुई एक वस्त्र पहेर हुए रजस्वलावस्था में रज से गीले वस्त्र को लिये हुए यह कहती हुई जारही है कि जिनके कारण मुझको यह दुःख प्राप्त हुआ है उनकी स्त्रियां अब से चौदहवें वर्ष में विधवा होकर अपने २ पतियों को रज के लोहू से भरी हुई जलदान देकर हस्तिनापुर को जावें, और :—

कृत्वा तु नैर्ऋतान्दर्भान् धीरो धौम्यः पुरोहितः ।
सामानि गायन् याम्यानि पुरतो याति भारत॥२२॥
हतेषु भरतेष्वाजौ कुरूणां गुरवस्तदा ।
एवं सामानि गास्यंतीत्युक्त्वाधौम्योपिगच्छति॥२३॥

अर्थ–धौम्य ऋषि कुशाओं को नैऋत्य कोण की ओर किये हुए यम सम्बन्धी सामवेद के मन्त्र गाता हुआ इस कारण जारहा है कि कौरवों के नाश होने पर मैं इसीप्रकार सामवेद पढ़ता हुआ पाण्डवों के आगे २ चलुंगा, और :—

हाहा गच्छन्ति नो नाथाः समवेक्षध्वमीदृशम् ।
अहो धिक्कुरवृद्धानां बालानामिव चेष्टितम्॥२४॥

अर्थ—सब पुरवासी उन पाण्डवों को जाता देखकर यह कहते हैं कि हाय हाय हमारा स्वामी इस प्रकार जारहा है, कुरुओं को धिक्कार है जिनकी बुद्धि वृद्ध होने पर भी बालकों की सी है ॥

राष्ट्रेभ्यःपाण्डुदायादांल्लोभान्निर्वासयन्ति ये ।
अनाथाःस्म वयं सर्वे वियुक्ताःपाण्डुनन्दनैः ॥२५॥
दुर्विनीतेषुलुब्धेषु का प्रीतिः कौरवेषु नः ।
इति पौराःसुदुःखार्त्ताःक्रोशंतिस्म पुनःपुनः ॥२६॥

अर्थ—जिन्होंने लोभ के कारण पाण्डु के पुत्रों को देश से निकालकर हम सब को अनाथ करदिया है, इन लोभी और क्रूर कौरवों से हम क्या प्रीति करें, एवं दुखी हुए पुर के लोग इस प्रकार बार २ कौरवों को कोस रहे हैं ॥

एवमाकारलिङ्गैस्ते व्यवसायं मनोगतम् ।
कथयंतश्च कौन्तेया वनं जग्मुर्मनस्विनः ॥२७॥

अर्थ—सो हे राजा धृतराष्ट्र! वह पाण्डव उक्त रीति से अपने मन की बात को आकार और चिन्हों से दर्शाते हुए वन की ओर चले गये ॥

एवं तेषु नराग्र्येषु निर्यत्सु गजसाह्वयात् ।
अनभ्रे विद्युतश्चासन् भूमिश्च समकंपत ॥२८॥
राहुरग्रसदादित्यमपर्वणि विशांपते ।
उल्का चाप्यपसव्येन पुरं कृत्वा व्यशीर्यत ॥२९॥

अर्थ–इस प्रकार उनके हस्तिनापुर से निकलते ही बिना बादल के आकाश में बिजली चमकी, पृथ्वी में भूकम्प हुआ राहु ने बिना पर्व के सूर्य्य को ग्रस लिया तथा नगर के दहिनी ओर उल्कापात हुआ, और :—

प्रत्याहरन्ति क्रव्यादा गृध्रगोमायुवायसाः ।
देवायतनचैत्येषु प्राकाराट्टालकेषु च ॥३०॥
एवमेते महोत्पाताः प्रादुरासन्दुरासदाः ।
भरतानामभावाय राजन् दुर्मंत्रिते तव ॥३१॥

अर्थ–देवालय, अटारियां तथा यज्ञस्थानों में मांस खाने वाले गृध्र तथा काक आदि पक्षी और गीदड़ बोलने लगे, सो हे धृतराष्ट्र ! यह सम्पूर्ण उत्पात तुम्हारे खोटे मंत्र के कारण भरतकुल का नाश होने के निमित्त हुए हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रवदतोरेव तयोस्तत्र विशांपते ।
धृतराष्ट्रस्य राज्ञश्च विदुरस्य च धीमतः ॥३२॥
नारदश्च सभामध्ये कुरूणामग्रतः स्थितः ।
महर्षिभिः परिवृतो रौद्रं वाक्यमुवाच ह ॥३३॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! जिस समय बुद्धिमान् विदुरजी राजा धृतराष्ट्र से उक्त प्रकार कहरहे थे उसी समय उन कौरवों की सभा में महर्षियों को साथ लिये हुए नारदजी आये और आकर यह कठोर वाक्य बोले कि :—

इतश्चतुर्दशेवर्षे विनंक्ष्यंतीह कौरवाः ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥३४॥

अर्थ—आज से चौदहवें वर्ष में दुर्योधन के अपराध से भीमसेन तथा अर्जुन के बलद्वारा सब कौरवों का नाश होजायगा ॥

इत्युक्त्वा दिवमाक्रम्य क्षिप्रमन्तरधीयत ।
ब्राह्मींश्रियं सुविपुलां बिभ्रद्देवर्षिसत्तमः ॥३५॥

अर्थ—यह कहकर ब्राह्मीसिद्धि को प्राप्त किये हुए देवर्षि नारद शीघ्र ही अन्तर्धान होगये अर्थात् वहां से चले गये ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
द्रोणं द्वीपममन्यंत राज्यं चास्मै न्यवेदयन् ॥३६॥
अथाब्रवीत्ततो द्रोणो दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःशासनं च कर्णं च सर्वानेव च भारतान् ॥३७॥

अर्थ—वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! तत्पश्चात् दुर्योधन, कर्ण और शकुनी द्रोणाचार्य्य की शरण में गये और उनको सब राज्य देने लगे, तब द्रोणाचार्य्य ने क्रोधित होकर दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण और सब भरतवंशियों से कहा कि :—

अवध्यान् पाण्डवान्प्राहुर्देवपुत्रान्द्विजातयः ।
अहं वै शरणं प्राप्तान् वर्त्तमानो यथा बलम् ॥३८॥
गंता सर्वात्मना भक्त्या धार्त्तराष्ट्रान्सराजकान् ।
नोत्सहेयं परित्यक्तुं दैवं हि बलवत्तरम् ॥३९॥

धर्मतः पाण्डुपुत्रा वै वनं गच्छन्ति निर्जिताः ।
ते च त्रयोदशवर्षाणि वनेवत्स्यन्ति पाण्डवाः॥४०॥
चरित ब्रह्मचर्याश्चक्रोधामर्षवशानुगाः ।
वैरं निर्यातयिष्यन्ति महद्दुःखाय पाण्डवाः॥४१॥

अर्थ–इन देवपुत्र पाण्डवों को सब ब्राह्मण अवध्य कहते हैं अर्थात् वह मारे नहीं जासकते, परन्तु मैं इन शरण आये हुए धृतराष्ट्र के पुत्रों की सब राजाओं सहित अपने दल के अनुसार अवश्य रक्षा करूंगा, इन्हें त्यागुंगा नहीं, दैवयोग बड़ा प्रबल है, अब तो पाण्डव हारजाने के कारण धर्मानुसार वन को चले गये हैं परन्तु जब तेरहवर्ष व्यतीत होने पर वन से लौटेंगे तब वह ब्रह्मचारी महादुःख भोगकर क्रोध के वेग में आये हुए इस वैर का बदला अवश्य लेंगे ॥

मया च भ्रंशितो राजन् द्रुपदः सखिविग्रहे ।
पुत्रार्थमयजद्राजा वधाय मम भारत ॥४२॥
याजोपयाज तपसा पुत्रं लेभे स पावकात् ।
धृष्टद्युम्नं द्रौपदीं च वेदीमध्यात्सु मध्यमाम् ॥४३॥

अर्थ–मैंने पाहिले राजा द्रुपद को मित्रता की लड़ाई में भ्रंशित किया था, सो हे भरतवंशियो ! उसने मेरे मारने के लिये ऋषियों से पुत्र होने के निमित्त याज और उपयाज नामक यज्ञ कराया था, उस यज्ञ से उसके धृष्टद्युम्न पुत्र और द्रौपदी नामक कन्या उत्पन्न हुई ॥

धृष्टद्युम्नस्तुपार्थानां स्यालः सम्बन्धतो मतः ।
पाण्डवानां प्रियरतस्तस्मान्मां भयमाविशत् ॥४४॥

अर्थ–वह धृष्टद्युम्न द्रौपदी का सम्बन्ध होने से पाण्डवों का साला और उनसे बड़ी प्रीति रखता है सो मुझको उससे बड़ा भय है, क्योंकि :—

गतो हि पक्षतां तेषां पार्षतः परवीरहा ।
रथातिरथसंख्यायांयोग्रणीरर्जुनो युवा ॥४५॥
सृष्टप्राणो भृशतरं तेनचेत्संगमो मम ।
किमन्यद्दुःखमधिकं परमंभुवि कौरवाः ॥४६॥
धृष्टद्युम्नोद्रोणमृत्युरिति विप्रथितंवचः ।
मद्धधायश्रुतोप्येष लोके चाप्यतिविश्रुतः ॥४७॥

अर्थ–वह पाण्डवों के पक्ष में रहेगा और दूसरे अर्जुन सब रथी और महारथियों में श्रेष्ठ है, अतएव उसके साथ युद्ध होने पर मेरे प्राणों का अवश्य नाश होगा, सो हे कौरव ! इससे बढ़कर और कौनसी दुःख की बात है, और यह सब लोकों में विख्यात है कि धृष्टद्युम्न द्रोणाचार्य्य के मारने को उत्पन्न कियें जाने के कारण वह उनकी मृत्यु है ॥

सोयंनूनमनुप्राप्तस्त्वत्कृते काल उत्तमः ।
मुहूर्त्तं सुखमेवैतत्तालच्छायेव हैमनी ।
यजध्वं च महायज्ञैर्भोगानश्नीतदत्त च ॥४८॥

अर्थ–हे दुर्योधन ! यह काल तेरे कारण से प्राप्त हुआ है, और यह तेरा सुख हिमऋतु में ताड़ के वृक्ष की छाया के समान एक मुहूर्त्तमात्र है, सो अब तुम इस अल्पकाल में यज्ञ करो, दान दो और सुख भोगो, क्योंकि :—

इतश्चतुर्दशे वर्षे महात्प्राप्स्यथवैशसम् ।
द्रोणस्य वचनंश्रुत्वा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥४९॥

अर्थ-चौदहवें वर्ष में तो तुम्हारा नाश हो ही जायगा, तब द्रोणाचार्य्य के उक्त बचन सुनकर धृतराष्ट्र बोला कि:—

सम्यगाह गुरुः क्षत्तरुपावर्तय पाण्डवान् ।
यदि ते न निवर्तन्ते सत्कृतायां तु पाण्डवाः।
सशस्त्ररथपादाता भोगवन्तश्च पुत्रकाः॥५०॥

अर्थ-हे विदुर ! आचार्य्यजी ठीक कहते हैं अब तुम शीघ्र ही जाकर पाण्डवों को लौटालाओ, और यदि वह न लौटें तो इस प्रकार से न जावें जैसे जारहे हैं, यहां से सत्कारपूर्वक रथों पर सवार होकर शस्त्र लिये हुए प्यादों के साथ जावें ॥

इति पंचपंचाशोऽध्यायः समाप्तः

अथ षट्पंचाशोऽध्यायः प्रारभ्यते

सं०-अब पाण्डवों के बन जाने पर धृतराष्ट्र का चिन्तातुर होना कथन करते हैं :—

वैशम्पायन उवाच

वनगतेषु पार्थेषु निर्जितेषु दुरोदरे ।
धृतराष्ट्रं महाराज तदा चिन्ता समाविशत् ॥१॥

तं चिन्तयानमासीनं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
निःश्वसंतमनेकाग्रमिति होवाच संजय ॥२॥

अर्थ–वैशम्पायन बोले कि हे राजन् ! जब पाण्डव जूए में हारकर वन को चले गये तब राजा धृतराष्ट्र बड़ा चिन्तातुर हुआ, उस समय धृतराष्ट्र को व्याकुल चित्त और चिन्ता से श्वास लेते हुए बैठा देखकर संजय बोला कि :—

अवाप्य वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिप ।
प्रव्राज्य पाण्डवान्राज्याद्राजन्किमनुशोचसि ॥३॥

अर्थ–हे राजन् ! धन सहित सम्पूर्ण पृथ्वी पाकर और पाण्डवों को बनवास देकर अब क्या सोच कररहे हो ? ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अशोच्यं त्वं कुतस्तेषां येषां वैरं भविष्यति ।
पाण्डवैर्युद्धशौण्डैर्हि बलवद्भिर्महारथैः ॥४॥

अर्थ–धृतराष्ट्र बोला कि हे संजय ! जिसका उन पाण्डवों से जो महारथी, बलवान् और युद्ध विद्या में बड़े चतुर हैं वैर होजावे तो वह निश्चिन्त होकर कैसे बैठ सकता है ॥

संजय उवाच

तवेदं सुकृतं राजन् महद्वैरमुपस्थितम् ।
विनाशो येन लोकस्य सानुबंधो भविष्यति ॥५॥
वीर्य्यमाणो हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ।
पाण्डवानां प्रियां भार्यां द्रौपदीं धर्मचारिणीम् ॥६॥
प्राहिणोदानयेहेति पुत्रोदुर्योधनस्तव ।
सूतपुत्रं सुमंदात्मा निर्लज्जः प्रातिकामिनम् ॥७॥

अर्थ–संजय बोला कि हे धृतराष्ट्र ! यह वैर भी तो आपही का किया हुआ है जिसके कारण अब सब लोक का नाश होजायगा. शोक !!! तुम्हारे निर्लज्ज तथा मंदबुद्धि पुत्र दुर्योधन ने भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य्य और विदुरजी के वर्जन करने पर भी प्रातिकामी को भेजकर धर्मचारिणी द्रौपदी को सभा में बुलाया॥

यस्मैदेवाःप्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिंतस्यापकर्षंतिसोवाचीनानि पश्यति ॥८॥

अर्थ–सत्य है जिसको देवता पराभव=तिरस्कृत करना चाहते हैं उसकी बुद्धि पहले ही हरलेते हैं जिसके कारण वह अधोगति ही देखता है ॥

बुद्धौकलुषभूतायां विनाशे समुपस्थिते ।
अनयोनयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥९॥
अनर्थाश्चार्थरूपेण अर्थाश्चानर्थरूपिणः ।
उत्तिष्ठन्ति विनाशाय नूनं तच्चास्य रोचते ॥१०॥

अर्थ–जब नाश होने का समय आता है तब बुद्धि के पाप रूप होजाने से अनीति ही नीति जान पड़ती और हित अहित तथा अहित हित दिखाई देता और वही उसको अच्छा जान पड़ता है॥

न कालो दण्डमुद्यम्य शिरःकृंतति कस्यचित् ।
कालस्यबलमेतावद्विपरीतार्थ दर्शनम् ॥११॥
आसादितमिदंघोरं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
पांचालीमपकर्षद्भिःसभामध्ये तपस्विनीम् ॥१२॥

अर्थ—काल कुछ दण्डा लेकर किसी के शिर को नहीं फोड़-ता, विपरीत बातों को अनुकूल मानने ही से जाना जाता है कि यह काल के वश में होरहा है, यह बड़ा रोम खड़े करने वाला घोर युद्ध सभा में तपस्विनी द्रौपदी को लाने वालों ने ही खड़ा किया है॥

अयोनिजां रूपवतीं कुलेजातां विभावसोः ।
कोनुतां सर्वधर्मज्ञां परिभूय यशस्विनीम् ॥१३॥
पर्यानयेत्सभामध्ये विनादुर्द्यूतदेविनम् ।
स्त्रीधर्मिणीवरारोहा शोणितेनपरिप्लुता ॥१४॥

अर्थ—भला वह अयोनिजा द्रौपदी* इस योग्य थी, जैसा उस उच्चकुल में उत्पन्न हुई, सब धर्मों को जानने वाली, यशस्विनी और रूपवती देवी के साथ वर्ताव किया गया है, ऐसी देवी को ज्वारियों के सिवाय सभा में बुलाने का कौन साहस करसक्ता है और ऐसी दशा में जब कि वह अपने रजस्वला धर्म में रुधिर से भरी हुई हो, और :—

एकवस्त्राथ पांचाली पाण्डवानभ्यवैक्षत ।
हृतस्वान्हृतराज्यांश्च हृतवस्त्रान् हृतप्रियः ॥१५॥
विहीनान्सर्वकामेभ्यो दासभावमुपागतान् ।
धर्मपाशपरिक्षिप्तानशक्तानिव विक्रमे ॥१६॥

अर्थ—एक वस्त्र पहिरे हुए अपने पतियों को जो धन, राज्य, वस्त्र और प्रियजनों को हार जाने के कारण दासभाव को प्राप्त थे उन्हें सब कामनाओं से रहित, धर्मपाश में बन्धे हुए होने से पराक्रमहीन हुए के समान देख रही थी ॥

---

*इस स्थाल में द्रौपदी को "अयोनिजा" कहना अर्थवाद है वास्तव में वह "योनिजा" थी ॥

क्रुद्धाचानर्हतीं कृष्णां दुःखितां कुरुसंसदि ।
दुर्योधनश्चकर्णश्चकटुकान्यभ्यभाषताम् ॥१७॥
इतिसर्वमिदंराजन्नाकुलं प्रतिभाति मे ।
तस्याःकृपण चक्षुर्भ्यां प्रदह्येतापि मेदिनी ॥१८॥

अर्थ—उस समय दुर्योधन और कर्ण ने कुरुओं की सभा में उस दुखिया से जो अनादर करने के योग्य न थी बहुत कटुवचन कहे, यह सुनकर धृतराष्ट्र बोला कि हे संजय ! आप सच कहते हैं वह द्रौपदी अपनी क्रोधभरी आंखों से देखकर पृथ्वी को भी भस्म करसक्ती है और मेरे पुत्र भी मुझे भस्म हुए के समान ही प्रतीत होते हैं ॥

अपिशेषं भवेदद्य पुत्राणां मम संजय ।
भरतानांस्त्रियःसर्वागांधार्यासहसंगताः ॥१९॥
प्राक्रोशन् भैरवं तत्र दृष्ट्वा कृष्णां सभागताम् ।
धर्मिष्ठां धर्मपत्नीं च रूपयौवनशालिनीम् ॥२०॥

अर्थ—हे संजय ! जब गान्धारी सहित सब भरतवंश की स्त्रियां उस धर्मिष्ठा, युवा तथा स्वरूपवान् धर्मपत्नी द्रौपदी को सभा में आई हुई देखकर रो रही थीं, और :—

प्रजाभिःसहसंगम्यह्यनुशोचन्ति नित्यशः ।
अग्निहोत्राणि सायाह्ने नचाहूयन्त सर्वशः ॥२१॥
ब्राह्मणाःकुपिताश्चासन् द्रौपद्याः परिकर्षणे ।
आसीन्निष्ठानकोघोरो निर्घातश्च महानभूत ॥२२॥

दिवउल्काश्चापतंत राहुश्चार्कमुपाग्रसत् ।
अपर्वणि महाघोरं प्रजानां जनयन्भयम् ॥२३॥
तथैव रथशालासु प्रादुरासीद्धुताशनः ।
ध्वजाश्चापि व्यशीर्यन्त भरतानामभूतये ॥२४॥

अर्थ—अपने २ पुत्रों के पास बैठी हुई सोच कररही थीं, ब्राह्मणों ने द्रौपदी का सभा में लाना देखकर क्रोध किया और सायंकाल को अग्निहोत्र भी नहीं किया था, तब प्रलय की सी दुन्दुभी बजने लगी, वज्र के गिरने जैसा शब्द हुआ, दिन में उल्का गिरे तथा पर्व न होने पर भी प्रजाओं को भय उत्पन्न करने वाले राहु ने सूर्य्य को ग्रस लिया, इसी प्रकार रथशाला में अपने आप आग लग गई और भारतवंशियों की ध्वजा भी गिरगई ॥

प्रातिष्ठत ततो भीष्मो द्रोणेन सहसंजय ।
कृपश्च सोमदत्तश्चबाह्लीकश्च महामनाः॥२५॥
ततोहमब्रुवं तत्र विदुरेण प्रचोदितः ।
वरं ददानि कृष्णायैकांक्षितं यद्यदिच्छति ॥२६॥

अर्थ—यह देखकर भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य्य, संजय, कृपाचार्य्य, सोमदत्त और बाह्लीक तो चलदिये, और विदुरजी की प्रेरणा से मैंने कहा कि हे द्रौपदी ! तू मुझसे वर मांग, जो तेरी इच्छा होगी वही वर तुझे दूंगा ॥॥

अवृणोत्तत्र पांचाली पाण्डवानामदासताम् ।
सरथान्सधनुष्कांश्चाप्यनुज्ञासिषमप्यहम् ॥२७॥

अथाब्रवीन्महाप्राज्ञो विदुरःसर्वधर्मवित् ।
एतदंतास्तुभरतायद्धःकृष्णासभांगता ॥२८॥
यैषा पांचालराजस्य सुतासाश्रीरनुत्तमा ।
पांचाली पाण्डवानेतान्दैवसृष्टोपसर्पति ॥२९॥

अर्थ–तब द्रौपदी ने मुझसे यह वर मांगा कि सब पाण्डव अदास करादिये जायं, मैंने वह वरदान उसको देदिया और पाण्डवों को धनुष तथा रथों सहित इन्द्रप्रस्थ जाने की आज्ञा देदी, तदनन्तर सब धर्मों के जानने वाले महाबुद्धिमान् विदुरजी ने कहा कि भरतवंशियों का अन्त यहीं तक है जो द्रौपदी को इस प्रकार सभा में लाया गया है, यह द्रौपदी राजा पांचाल की पुत्री अनुत्तम लक्ष्मी है इसके समान अन्य कोई उत्तम स्त्री नहीं, और पाण्डवों ने इसको दैव इच्छा से पाया है ॥

तस्याः पार्थाः परिक्लेशं न क्षंस्यंतेह्यमर्षणाः ।
वृष्णयो वा महेष्वासाः पंचाला वा महारथाः ।
तेन सत्याभिसन्धेन वासुदेवेन रक्षिता ॥३०॥

अर्थ–सो इसके सभा में लाने के क्लेश को पाण्डव कभी न सहसकेंगे और न महारथी पांचालनरेश तथा वृष्णीवंशी लोग इसके दुःख को सहेंगे जिसकी रक्षा सत्यप्रतिज्ञ कृष्ण करते हैं ॥

आगमिष्यति बीभत्सुः पंचालैः परिवारितः ।
तेषां मध्ये महेश्वासो भीमसेनो महाबलः ।
आगमिष्यति धन्वानो गदांदण्डमिवांतकः ॥३१॥

ततो गाण्डीवनिर्घोषं श्रुत्वा पार्थस्य धीमतः ।
गदावेगं च भीमस्य नालं सो‍ढुं नराधिपाः ॥३२॥

अर्थ—जिस समय अर्जुन पांचालदेश की सेना लेकर आवेगा और महाबली भीमसेन उस सेना में अपनी गदा घुमाता हुआ युद्ध के लिये खड़ा होगा उस समय कोई राजा अर्जुन के गांडीव-धनुष का शब्द सुनकर भीमसेन की गदा के वेग को न सह सकेगा, इसलिये :—

तत्र मे रोचते नित्यं पार्थैः साम न विग्रहः ।
कुरुभ्यो हि सदामन्ये पाण्डवान् बलवत्तरान् ॥३३॥

अर्थ—मैं पाण्डवों के साथ विग्रह करना अच्छा नहीं समझता, मेरी समझ में आप पाण्डवों से शीघ्र सन्धि करलें, क्योंकि मैं पाण्डवों को कौरवों से सदैव बलवान् मानता हूं ॥

तथा हि बलवान् राजा जरासंधो महाद्युतिः ।
बाहुप्रहरणेनैव भीमेन निहतो युधि ॥३४॥

अर्थ—देखो जरासन्ध जो बड़ा तेजस्वी और बलवान् था वह भी भीमसेन के हाथों से युद्ध में मारा गया, इसलिये :—

तस्य ते शम एवास्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ ।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं क्रियतामविशंकया ।
एवं कृते महाराज परंश्रेयस्त्वमाप्स्यसि ॥३५॥
एवं गावल्गणो क्षत्ता धर्मार्थसहितं वचः ।
उक्तवान्न गृहीतं वै मया पुत्रहितैषिणा ॥३६॥

अर्थ–हे भरतकुलभूषण ! पाण्डवों से आपकी सन्धि रहना ही अच्छा है, आप शंका छोड़के दोनों ओर का बलाबल विचार कर जैसा उचित समझें वैसा करें इस प्रकार सोच विचारकर करने से आपका कल्याण होगा, सो हे संजय ! विदुरजी ने उक्त प्रकार से अनेक बार धर्म और अर्थ सहित वचन कहकर मुझको बहुत समझाया परन्तु मैंने अपने पुत्र के हित की कामना से उनकी सलाह को स्वीकार न किया ॥

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
महाभारते-आर्य्यटीकायां
सभापर्व समाप्तम्

